हिन्दी भाषा
का
उद्गम और विकास
डॉ. उदयनारायण तिवारी

हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास

उदयनारायण तिवारी एम० ए०, डी० लिट्०
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय

भारती-भण्डार
प्रयाग

ग्रन्थ-संख्या — १६४

प्रकाशक तथा विक्रेता

भारती भंडार

लीडर प्रेस, प्रयाग

प्रथम संस्करण

सं० २०१२ वि०

मूल्य ११)

मुद्रक

राम आसरे कक्कड़

हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

समर्पण

जिन महानुभावों के व्यक्तित्व और कृतित्व से भाषा-विज्ञान के
अध्ययन की प्रेरणा मिली

उन्हीं

डा० राल्फलिली टर्नर, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, महापण्डित
राहुल सांकृत्यायन, डा० सुकुमार सेन, डा० बाबूराम
सक्सेना, पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय
तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा

को

सादर समर्पित

यैः शब्दशास्त्रोदधिमन्थनेन
रत्नान्यमूल्यानि प्रसारितानि ।
तेषां गुरूणां करपल्लवेषु
कृतिर्मदीया प्रहिताऽऽदरेण ॥

दो शब्द

'भोजपुरी भाषा और साहित्य' के प्रणयन के पश्चात् मेरा ध्यान हिन्दी-भाषा की ओर आकृष्ट हुआ। यद्यपि हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हो गई है और समस्त देश में उसके प्रसार एवं प्रचार का प्रयत्न हो रहा है तथापि अभी तक न तो उसका ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक व्याकरण ही लिखा गया और न भाषा-तात्त्विक दृष्टि से इसका गम्भीर अध्ययन ही प्रस्तुत हो सका। व्रज-भाषा को छोड़कर पश्चिमी-हिन्दी की अन्य बोलियों—नागरी-हिन्दी (खड़ीबोली), बाँगरू, कनौजी तथा बुन्देली—की भी यही दशा है। पूर्वी-हिन्दी की बोलियों में अवधी तथा बिहारी की बोलियों में मैथिली एवं भोजपुरी का अध्ययन हो चुका है। बँगला भाषा के अध्ययन के लिए तो डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या की पुस्तक 'बँगला का उद्गम और विकास' (द ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आव बेङ्गाली लैंग्वेज) वस्तुतः श्रेष्ठतम कृति है। भारतीय भाषाओं एवं बोलियों के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन करनेवालों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए तो यह पुस्तक वरदान सदृश है। असमिया भाषा का भी अध्ययन हो गया है। उधर लहँदी, पंजाबी, मराठी, गुजराती तथा कोंकणी का अध्ययन भी योग्य विद्वानों द्वारा सम्पन्न हो चुका है। ऐसी दशा में हिन्दी जैसी महत्त्वपूर्ण भाषा का अध्ययन न होना कम आश्चर्य की बात नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि यद्यपि हिन्दी नितान्त पश्चिम की भाषा है तथापि इसके आधुनिक-साहित्य का अभ्युदय पूरब में ही हुआ है। किसी समय कलकत्ता हिन्दी का प्रधान केन्द्र था, तदुपरांत काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा तथा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना से काशी एवं प्रयाग हिन्दी के केन्द्र बने। इधर स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से दिल्ली, हिन्दी-प्रकाशन का केन्द्र बन रहा है किन्तु हिन्दी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन-अध्यापन का वहाँ सूत्रपात नहीं हो सका है। आशा है, भविष्य में, आगरे, मेरठ तथा दिल्ली में अनुकूल अवसर प्राप्त कर लोग भाषा के अध्ययन में अभिरुचि लेना प्रारम्भ कर देंगे।

"हिन्दी के उद्गम तथा विकास" में मैंने हिन्दी का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक व्याकरण उपस्थित करने का यत्न किया है। विवेचन के लिए मैंने परिनिष्ठित हिन्दी के रूप को ही लिया है। इसका कारण यह भी है कि हिन्दी

की विभिन्न-बोलियों के सम्बन्ध में अब तक अल्प सामग्री ही प्रकाश में आई है। इस पुस्तक के दो भाग हैं। पूर्व-पीठिका में भारोपीय से लेकर अपभ्रंश तथा संक्रांति-कालीन भाषा की सामग्री दी गई है और उत्तर-पीठिका में केवल हिन्दी भाषा का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक व्याकरण दिया गया है। पुस्तक का ढाँचा डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या कृत 'बँगला का उद्गम और विकास' तथा अपने भोजपुरी के प्रबन्ध का रखा है। इसमें 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' की कुछ सामग्री का उपयोग किया गया है किन्तु इस पुस्तक में अपेक्षाकृत अधिक सामग्री दी गई है। हिन्दी परसर्गों अथवा अनुसर्गों तथा समासों पर नवीन-दृष्टि से समुचित प्रकाश डाला गया है।

पुस्तक की पूर्व-पीठिका में भारोपीय, वैदिक संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि के सम्बन्ध में जो सामग्री दी गई है उसे जाने बिना भाषा-विज्ञान का अध्ययन करना व्यर्थ का परिश्रम करना है। यह सामग्री केवल हिन्दी के भाषा-विज्ञान के अध्ययन करनेवालों के लिए ही आवश्यक नहीं है अपितु पालि, प्राकृत तथा अपभ्रश के भी प्रारम्भिक अध्ययन के लिए आवश्यक है। आशा है कि हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत एवं पालि-प्राकृत के विद्यार्थी भी इससे लाभ उठायेंगे।

परिशिष्ट में संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी एवं अरबी से हिन्दी की तुलना की गई है। यह समस्त सामग्री डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के भाषणों एवं व्याख्यानों से ली गई है। इसी प्रकार प्राकृतों की अधिकांश सामग्री डा० सुकुमार सेन के व्याख्यानों से उपलब्ध हुई है। सच तो यह है कि भाषा-विज्ञान के अध्ययन में मुझे सर्वाधिक सहायता डा० चाटुर्ज्या एवं डा० सेन से मिली है और इस पुस्तक पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से इन दोनों गुरुजनों की पूरी छाप है।

उत्तरार्ध के लिखने में मुझे सबसे अधिक सहायता डा० राल्फ लिली टर्नर कृत 'नेपाली शब्दकोश' (नेपाली डिक्शनरी), डा० चाटुर्ज्या कृत 'बँगला का उद्गम और विकास' तथा अपनी पुस्तक 'भोजपुरी भाषा एवं साहित्य' से प्राप्त हुई है। विविध बोलियों की तुलनात्मक सामग्री का तो एकमात्र आधार 'नेपाली शब्दकोश' है। डा० टर्नर के तत्त्वावधान में भाषाशास्त्र के अध्ययन का मुझे सुअवसर नहीं मिला, किन्तु वे मेरे आदरणीय गुरु डा० बाबूराम सक्सेना के गुरु हैं। इस प्रकार मेरे गुरुजनों में उनका मूर्धन्य-स्थान है। आज से दो वर्ष पूर्व पुणे के डेकन कालेज में उनके दर्शन एवं सान्निध्य का अवसर मिला था। उनके व्यक्तित्व से मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ; उनका सारल्य, उनकी प्रखर

प्रतिभा, उनकी गम्भीर-मुद्रा तथा उनके पाण्डित्य में मुझे प्राचीन भारतीय पण्डितों का दर्शन हुआ। सच तो यह है कि पाण्डित्य, जाति-धर्म तथा देश-काल की सीमा से परे की वस्तु है।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए कलकत्ता जाने से पूर्व, प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष डा० बाबूराम सक्सेना की देखरेख में ही मैंने भोजपुरी का अध्ययन प्रारम्भ किया था और मैं दो वर्षों तक निरन्तर कार्य करता रहा। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन तथा पं० क्षेत्रेशचन्द्र जी चट्टोपाध्याय भी मेरे अध्ययन में सदैव सहायक रहे और डा० धीरेन्द्र वर्मा से मुझे भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने के लिए सर्वप्रथम प्रेरणा मिली थी। इन सभी गुरुजनों का मैं अत्यधिक आभारी हूँ और उन्हें शिरसा अभिनन्दन करता हूँ।

हिन्दी-हिन्दुस्तानी की परिभाषा एवं उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मुझे सब से अधिक सहायता अपने मित्र पं० चन्द्रबली पाँड़े की पुस्तकों एवं उनके लेखों से मिली है। सच तो यह है कि हिन्दी-हिन्दुस्तानी तथा उर्दू के रूप-भेदों एवं उनकी ऐतिहासिक परम्परा को स्पष्ट रूप से न समझने के कारण आज भी लोगों में पर्याप्त भ्रम है। इस विषय में अँग्रेजी के हाब्सन-जाब्सन-कोष में मुझे जो सामग्री उपलब्ध हुई उससे पाँड़े जी के निष्कर्षों को और भी पुष्टि हुई। पाँड़े जी के ये निष्कर्ष तथा उनके द्वारा प्रस्तुत की हुई सामग्री अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। भाषा-सम्बन्धी पुस्तकों में इसे अब तक आ जाना चाहिए था। खड़ी-बोली के स्थान पर, इस पुस्तक में, मैंने जगह-जगह पर, 'नागरी-हिन्दी' का प्रयोग किया है। यह भी वास्तव में पं० चन्द्रबली पाँड़े की ही देन है। सब से पहले मेरठ-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक-अधिवेशन के अवसर पर पाँड़े जी ने इसके व्यवहार का सुझाव दिया था। मेरठ में 'देवनागरी' शब्द वस्तुतः 'हिन्दी भाषा' का द्योतक है। खड़ीबोली के स्थान पर 'नागरी-हिन्दी' कहने से हिन्दी की पूरी रूप-रेखा सामने आ जाती है और किसी प्रकार की द्विविधा नहीं रह जाती।

पुस्तक-रचना की प्रेरणा मेरे मन में एक क्रम से विकसित हुई है, अतः पाठकों के सामने उसे भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। भारत में जहाँ यास्क, पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि जैसे भाषा-शास्त्री एवं वैयाकरण हो गए हैं वहीं पर आज यहाँ के महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में भाषा तथा व्याकरण का अध्ययन नितान्त उपेक्षित है और कलकत्ता एवं पूना विश्व-विद्यालयों को छोड़कर भारत के अन्य विश्वविद्यालयों में न तो भाषा-शास्त्र का

अलग विभाग ही है और न उसके अध्ययन-अध्यापन का ही समुचित प्रबन्ध है। हमारे देश के विश्वविद्यालयों की उच्चतर कक्षाओं के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत भाषा-शास्त्र की जो शिक्षा दी जाती है उसका स्तर इतना निम्न है कि कभी-कभी छात्रों तथा छात्राओं को इसका साधारण परिचय भी नहीं हो पाता। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि हमारे देश के अनेक उच्चशिक्षा-प्राप्त व्यक्ति भी भाषा के कारण उत्पन्न हुई अनेक राजनीतिक-समस्याओं एवं ग्रन्थियों के समझने में अक्षम हैं।

भाषा का सामाजिक दायित्व भी है और इसीसे प्रेरित होकर साहित्य की सृष्टि होती है। जब भाषा तथा भाषाशास्त्र के अध्ययन की गति मन्द पड़ जाती है तब साहित्य-रचना में भी शिथिलता आ जाती है। आज हमारे साहित्य-शैथिल्य का एक कारण भाषा तथा भाषाशास्त्र के अध्ययन का अभाव भी है। किन्तु इस शिथिलता के कारण हमें कार्यविमुख नहीं होना है, अपितु अपने लुप्त-गौरव को पुनः प्राप्त करने के लिए भाषा-विज्ञान का गम्भीर अध्ययन करना है। हर्ष की बात है कि डा० एस० एम० कत्रे के प्रयास के परिणामस्वरूप डेकन कालेज पूना के 'लिंग्विस्टिक स्कूल' में इसका सूत्रपात हो चुका है, जहाँ पर देश-विदेश के प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री एकत्र होकर नवयुवकों को भाषा-विज्ञान के अध्ययन की रीति तथा उसके महत्त्व को समझाने के साथ ही, उसकी ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते हैं। इससे स्पष्ट है कि भाषा-विज्ञान के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता देश के समस्त विद्वान् स्वीकार कर रहे हैं। आशा है, शीघ्र ही देश के समस्त विश्वविद्यालयों में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अध्ययन का प्रबन्ध हो जायगा और तब इस दिशा में समुचित कार्य हो सकेगा। अब वह दिन दूर नहीं जब हम पुनः जाग्रत होकर विश्व को ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश प्रदान कर अपने लुप्त-गौरव को प्रकट करने के अधिकारी होंगे। अतः आज आवश्यक है कि भाषा-विज्ञान के अध्ययन को सरस, सुलभ और बोधगम्य बनाया जाय। इसी आवश्यकता से प्रेरित होकर मैंने इस पुस्तक की रचना की है।

विश्वविद्यालय में भाषा-शास्त्र के अध्यापक के रूप में मुझे छात्रों तथा छात्राओं की कठिनाइयों एवं उनके स्तर का पूरा अनुभव है। इसे ध्यान में रखकर ही मैंने इस पुस्तक का प्रणयन किया है। पहले मैं पुस्तक के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध को दो, अलग-अलग, भागों में प्रकाशित करना चाहता था; किन्तु इसमें आशंका यह थी कि कहीं हिन्दी के छात्र पूर्वार्ध-सामग्री से सर्वथा

वंचित न रह जायँ। यही कारण है कि, अन्ततोगत्वा, मैंने दोनों भागों को एक ही में संयुक्त रखने का निश्चय किया। पृष्ठ संख्या तथा मूल्य को कम करने के लिए ही मैंने पुस्तक में छोटे टाइप का प्रयोग किया है। पुस्तक की उपादेयता के सम्बन्ध में तो भाषा-विज्ञान के अध्यापक तथा छात्र ही कुछ कहने के अधिकारी हैं। हाँ, यदि इस पुस्तक से भाषा-विज्ञान के अध्ययन के स्तर को ऊँचा उठाने में कुछ भी सहायता मिली तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

जिस समय पुस्तक की पाण्डुलिपि समाप्त हो रही थी उसी समय मेरी नवागता पुत्र-वधू सौभाग्यवती इन्दिरा का देहावसान हो गया। उसे मेरे घर में आए हुए अभी छै ही मास हुए थे। इस दुःखद घटना के कारण परिवार में शोक-संताप की काली घटा छा गई जिसके फलस्वरूप पुस्तक का प्रकाशन कुछ दिनों के लिए स्थगित हो गया।

पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने में मेरे मित्र पं० महावीरप्रसाद लखेड़ा एम० ए० ने अत्यधिक परिश्रम किया है। श्री लखेड़ा जी संस्कृत के पण्डित हैं और आपने वैदिक-संस्कृत तथा साहित्य का विशेष अध्ययन गुरुवर पं० क्षेत्रशचन्द्र जी चट्टोपाध्याय के तत्त्वावधान में किया है। यदि आपकी सहायता प्राप्त न होती तो इतना शीघ्र पुस्तक का प्रकाशन सम्भव न था। मैं आपकी इस सहायता के लिए अत्यधिक आभारी हूँ।

मेरे शिष्य श्री तिलकराज चोपड़ा बी० ए०, शास्त्री तथा उनके कनिष्ठ भ्राता ने पुस्तक की पाण्डु-लिपि करने में मेरी सहायता की है। मेरी पुत्री आयुष्मती रामकुमारी एम० ए० ने अत्यन्त परिश्रम से संकेतपत्र तथा विषयसूची तैयार की है और मेरे शोधछात्र श्री सत्यव्रत अवस्थी एम० ए० तथा मेरे एम ए० [द्वितीय वर्ष] के छात्र श्री श्रीवल्लभ अग्रवाल, श्री प्रेमशंकर चौबे तथा श्री अमरनाथ सिनहा ने पुस्तक की अनुक्रमणिका प्रस्तुत करके इसका वैज्ञानिक-मूल्य बढ़ा दिया है। ये सभी लोग मेरे आशीर्वाद के अधिकारी तथा धन्यवाद के पात्र हैं।

अंत में मैं भारती-भंडार के संचालक, अपने स्नेही मित्र पं० वाचस्पति पाठक तथा लीडर प्रेस के व्यवस्थापक श्री बिन्दाप्रसाद ठाकुर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। यह उन्हीं के प्रयासों का परिणाम है कि पुस्तक इस रूप में पाठकों के पास पहुँच रही है। मुझे सब से अन्त में पाठकों

से एक बात कहनी है। वह यह कि काफी सावधानी रखने पर भी पुस्तक में मुद्रण-सम्बन्धी अनेक अशुद्धियाँ रह गई हैं। व्यस्तता के कारण शुद्धिपत्र भी नहीं दिया जा सका। अगले संस्करण में इन त्रुटियों को दूर करने का प्रयास करूँगा।

अलोपीबाग, प्रयाग।
देवोत्थान एकादशी,
संवत् २०१२ वैक्रमी
२५-११-१९५५

उदयनारायण तिवारी

संकेत-पत्र

ā = अँग्रेजी स्वर-ध्वनियों के ऊपर पड़ीरेखा दीर्घरूप प्रकट करती है ; यथा— ā = आ; ī = ई।

/ = अक्षरों के ऊपर यह चिह्न, स्वराघात प्रकट करता है।

— पदों के बीच यह छोटी रेखा समास द्योतित करने तथा एक ही पद में प्रयुक्त होने पर पद के मूलरूप एवं प्रत्यय-उपसर्ग को अलग-अलग दिखलाने के लिए प्रयुक्त हुई है।

थ़ = अक्षरों के नीचे का बिन्दु उनका ऊष्म-उच्चारण प्रकट करता है। यहाँ थ के नीचे बिन्दु लगाने से इसका उच्चारण ग्रीक के थीटा अथवा अँग्रेजी थिंक [Think] में उच्चरित 'थ' के समान होगा।

= इस चिह्न का अर्थ है, बराबर।

˘ = स्वरों के ऊपर यह चिह्न उनका निर्बल-उच्चारण प्रकट करता है।

अ ऽ = अ के बाद का यह खण्डाकार चिह्न उसका विलम्बित उच्चारण प्रकट करता है।

√ = धातुचिह्न।
* = कल्पितरूप।
> = उत्पन्न करता है।
< = उत्पन्न हुआ है या बना है।
अ० = अंग्रेजी
अ० = अरबी
अ० त० = अर्द्धतत्सम
अधि०, अधिक० = अधिकरण कारक
अप० = अपभ्रंश
अपा० = अपादानकारक
अ० पु०, अन्य० पु० = अन्यपुरुष
अ० मा० = अर्द्धमागधी
अर्वा० = अर्वाचीन
अव० = अवधी
अवे० = अवेस्ता
अशो० = अशोक का शिलालेख
अस० = असमिया
असम्प० = असम्पन्न-काल
आ० आ० = आधुनिक आर्यभाषा
आत्मने० = आत्मनेपद
आ० भा० = आर्यभाषा
आ० भा० आ० भा० = आधुनिक-भारतीय-आर्यभाषा
आ० हि० = आधुनिक-हिन्दी
उ०, उड़ि०, = उड़िया
उ० पु० = उत्तम पुरुष
उभयलि० = उभयलिङ्ग
ए० व०, एक वच० = एकवचन

कर्त्ता० = कर्त्ता कारक
कनौ० = कनौजी
कर्म० = कर्मकारक
करण० = करणकारक
काश्मी० = काश्मीरी
ख० बो० = खड़ीबोली
गढ़० = गढ़वाली
गॉ० = गॉथिक
गु० = गुजराती
गौ० ग्रा० = गौडियनग्रामर
च० = चतुर्थीविभक्ति
ति० = तिर्यक
तृ० = तृतीया
द्वि० व०, द्विवच० = द्विवचन
दे० = देशी
दे० = देखिए
न०, न० पुं० = नपुंसक
ने० = नेपाली
पंच० = पञ्चमीविभक्ति
पं०, पञ्जा० = पञ्जाबी
प० = पहाड़ी
प० अप०, पश्चि० अप० = पश्चिमी-अपभ्रंश
प० हि० = पश्चिमी-हिन्दी
पृ० = पृष्ठ-संख्या
प्र० = प्रथमा विभक्ति
प्र० वा० = प्रश्नवाचक
पा० = पालि
प्रा० = प्राकृत
प्रा० इरानी = प्राचीनइरानी
प्रा० फा० = प्राचीनफारसी
प्रा० भा० आ० = प्राचीन-भारतीय-आर्यभाषा
प्रा० वा० = प्राणिवाचक
प्रा० वै० = प्राचीनवैदिक
पुं०, पु० लिं० = पुल्लिङ्ग
पु० वा० = पुरुषवाचक
पु० हि० = पुरानीहिन्दी
पू० अप० = पूर्वी-अपभ्रंश
पू० हि० = पूर्वी-हिन्दी
फ़ा० = फारसी
बं०, बंग० = बँगला या बंगभाषा
ब० व०, बहुवच० = बहुवचन
ब्र०, ब्र० भा० = ब्रजभाषा
बि०, बिहा० = बिहारी-भाषा
बुँ० = बुन्देली
बैं० लैं० = बैंगाली लैंग्वेज़
भविष्यत् का० = भविष्यत्-काल
भारो० = भारोपीय-भाषा
भूतका० = भूतकाल
भू० का० कृ०, भू० का० कृदन्त = भूतकालिक कृदन्त
भो०, भो० पु० = भोजपुरीभाषा
म० = मगही-भाषा
म० पु० = मध्यम पुरुष
म० भा०आ०भा०, म०भा०आ० = मध्यकालीन-भारतीय-आर्यभाषा
मरा० = मराठी
महा० = महाराष्ट्री-प्राकृत
मा० = मागधी
मा० अप० = मागधी-अपभ्रंश
मा० प्रा० = मागधी-प्राकृत

मार० = मारवड़ी-
मि० = मिलाओ
मैं० — मैथिली
राज० = राजस्थानी
लह० = लहँदी
लिथु० = लिथुआनीय
लिं० स० = लिंग्विस्टिकसर्वे
लैं० = लैटिन
वर्त्त० = वर्त्तमानकाल
वर्त्त० निर्दे० = वर्त्तमाननिर्देशक
वै० = वैदिक
शाह० = शाहबाजगढ़ी
शौ०, शौ० से० = शौरसेनी
शौ० अप० = शौरसेनी-अपभ्रंश
शौ० प्रा० = शौरसेनी-प्राकृत
सं० = संस्कृत
सं० = संवत्
सं० को० = संस्कृत-कोष
संकेत वा० = संकेत-वाचक
स० = सप्तमी-विभक्ति
सम्प्र० = सम्प्रदान-कारक
सम्ब० = सम्बन्ध-कारक
सामा० = सामान्यकाल
सा० हि० = साहित्यिक हिन्दी
सिं० = सिंधी
सिंघा० = सिंघाली
स्त्री०, स्त्री० लिं० = स्त्री-लिङ्ग
हि० = हिन्दी
हि० (बो०) = हिन्दी, बोलचाल की
हे० च०, हेम० = हेमचन्द्र का व्याकरण

विषय-सूची

पूर्व-पीठिका १-३१०

पहला अध्याय १-३०

दूसरा अध्याय ३१-५७

तीसरा अध्याय ५८-११९

चौथा अध्याय १२०-१३६

पाँचवाँ अध्याय १४०-१८२

छठाँ अध्याय १८३-३१०

उत्तर-पीठिका ३११-५१२

सातवाँ अध्याय ३१३-३६६

(Sibilant) 'स्' ३६४; हिन्दी स् की उत्पत्ति ३६४-३६५; आदि स् ३६५; मध्य स ३६५; कंठ्य-संघर्षी, घोष तथा अघोष ह् ३६५; आदि 'ह' (घोष) ३६५; मध्य एवं पदान्त 'ह' ३६५-३६६ ।

आठवाँ अध्याय ३६७-४२६

प्रत्यय

स्वदेशी-प्रत्यय ३६७-४२४

(१) अ (२) अक्कड़ (३) अता (४) अतो,-ती (५) अन्,-न् (६) अन्त् (७) ना (८) नी (६) आ (१०) आ (११) आइ (१२) आऊ (१३) आक्-आका (१४) आटा (१५) आड़ी (१६) आन् (१७) आप् (१८) आर (१६) आरा (२०) आपा (२१) आर (२२) आरी (२३) आरी (२४) आल् या आर् (२५) आल् ,-आला (२६) आली (२७) आलू (२८) आव्-आवा (२६) आवट् (३०) आवना (३१) आस् (३२) आहट् (३३) इन-आइन् (३४) इया (३५) उआ (३६) ऊ (३७) ई (३८) ईला (३६) एला (४०) ऐल,-ऐला (४१) एल (४२) एलो (४३) एरा (४४) एरा (४५) एरा (४६) क्,-अक्,-इक्,-उक् (४७) जा,-जी (४८) जा (४६) ट (५०) ड़,-ड़ी (५१) ड़ा (५२) ड़,-ड़ा,-ड़ (५३) ता (५४) त (५५) ता (५६) ता,-ती (५७) था,-थी (५८) नी,-इनी,-अन् (५६) पन् (६०) पा (६१) री,-रू (६२) ला,-ली (६३) ल् (६४) वाँ (६५) वाँ (६६) वाल् (६७) वाला (६८) स् (६६) सर,-सरा (७०) हर (७१) हरा (७२) हारा ।

विदेशी-प्रत्यय—४२४-४२६

(१) आना (२) खाना (३) खोर (४) गर् (५) गिरी (६) चा (७) ची (८) दान,-दानी (६) दार् (१०) नवीस् (११) बन्द,-बन्दी (१२) बाज् (१३) बान् ।

उपसर्ग—४२६-४२६

स्वदेशी-उपसर्ग ४२६-४२७

(१) अ,-अन् (२) अति (३) अव् (४) कु (५) दु,-दुर (६) नि (७) सु,-स ।

विदेशी-उपसर्ग ४२७-४२६

(१) कम् (२) खुस् (३) गैर (४) दर् (५) ना (६) ला (७) फी (८) बद् (६) बे (१०) हर् तथा अंग्रेजी के हेड, हाफ् और सब् ।

तेरहवाँ अध्याय ४७७-५०६

क्रिया-पद

चौदहवाँ अध्याय ५०७-५१२

अव्यय

परिशिष्ट (१) ५१५—५४५

परिशिष्ट (२) ५४६-५८८

अनुक्रमणिका (१)

अनुक्रमणिका (२)

अनुक्रमणिका (३)

अनुक्रमणिका (४)

पूर्व-पीठिका

पहला अध्याय

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण

उपभाषाओं अथवा बोलियों को छोड़कर संसार की भाषाओं की संख्या दो सहस्र के लगभग है। इनमें से प्रसिद्ध तथा प्रधान-भाषाओं का तो थोड़ा-बहुत अध्ययन अवश्य हुआ है, किन्तु आज भी अमेरिका, अफ्रीका तथा प्रशान्त-महासागर के दुर्गम-प्रदेशों एवं द्वीपों की अनेक ऐसी भाषाएँ हैं जिनका नाममात्र का ही अध्ययन हुआ है। कठोर-काल के प्रहार से अतीतकाल की अनेक भाषाएँ विलुप्त हो चुकी हैं और संस्कृत-भाषाओं (classical languages) के प्रहार तथा वैज्ञानिक अध्ययन के अभाव में अनेक बोलचाल की साधारण भाषाएँ विनष्ट होने के मार्ग में हैं।

भाषा-विज्ञान के आचार्यों ने भाषाओं की विभिन्नता में एकता ढूँढ़कर ही उनका पारिवारिक वर्गीकरण किया है। इसके परिणामस्वरूप परस्पर सम्बन्ध रखनेवाली भाषाओं को एक परिवार के अन्तर्गत रखा गया है। यहाँ 'परस्पर सम्बन्ध' का भी स्पष्ट अर्थ जान लेना आवश्यक है। बात यह है कि प्रत्येक परिवार की विभिन्न भाषाओं का समय की प्रगति के साथ-साथ विकास हुआ है, किन्तु जब हम किसी एक परिवार के विकासक्रम का अध्ययन करते हुए अतीत अथवा प्राचीन-युग की ओर बढ़ते हैं तो हमें एक ऐसी मूल भाषा मिलती है जिससे इस परिवार की सभी भाषाएँ उद्भूत हुई हैं। प्रत्येक परिवार की इन्हीं मूल भाषाओं को लेकर विभिन्न परिवारों की सृष्टि हुई है और एक परिवार की विभिन्न भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का भी रहस्य यही है। इस सूत्र के अनुसार अध्ययन करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि संस्कृत, अवेस्ता की भाषा, प्राचीन-फारसी, आर्मेनीय, प्राचीन-स्लाविक, प्राचीन-ग्रीक, लैटिन, प्राचीन-जर्मनिक तथा प्राचीन-केल्तिक आदि भाषाएँ एक विशेष वर्ग अथवा परिवार की हैं। इस वर्ग की भाषाओं को 'भारोपीय' अथवा 'भारत-योरोपीय' या इन्दोयोरोपीय के नाम से अभिहित किया गया है क्योंकि भारत से लेकर योरप तक इनका प्रसार है।

इस सम्बन्ध में एक और बात उल्लेखनीय है। यथेष्ट सामग्री के अभाव अथवा सम्बन्धित भाषाओं के लुप्त हो जाने के कारण, आज, कई प्राचीन तथा

अर्वाचीन भाषाओं का वर्गीकरण नितान्त कठिन है। इन भाषाओं में मेसोपोटेमिया की प्राचीनतम-भाषा सुमेरीय (Sumerian), पश्चिमी ईरान के सूसा प्रान्त की भाषा एलामीय (Elamite), पूर्वी मेसोपोटेमिया की भाषा मितन्नी (Mitanni), क्रीट-द्वीप की प्राचीन-भाषा एवं इटली की प्राचीन-भाषा एत्रस्कन आदि मुख्य हैं। इसीप्रकार आधुनिक भाषाओं में फ्रांस तथा स्पेन के मध्य, पिरेनिज़ पर्वतमाला के पश्चिम में बोली जाने वाली बास्क (Basque), दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका की बुशमन (Bushman) एवं हॉटेन्टॉट (Hottentot) भाषाएँ तथा जापान, कोरिया और आस्ट्रेलिया की प्राचीन-भाषाओं का अब तक वर्गीकरण नहीं हो पाया है।

ऊपर की भाषाओं को छोड़कर अध्ययन एवं विश्लेषण के पश्चात् संसार की अन्य भाषाओं को निम्नलिखित वर्गों अथवा परिवारों में विभाजित किया गया है —(क) भारोपीय अथवा भारत-योरोपीय (ख) सामी-हामी अथवा सेमेटिक-हेमेटिक-वर्ग (ग) बण्टू वर्ग (घ) फिन्नो-उग्रीयवर्ग (ङ) तुर्क-मङ्गोल-मञ्चूवर्ग (च) काकेशीय-वर्ग (छ) द्रविड़-वर्ग (ज) आस्ट्रिक-वर्ग (झ) भोट-चीनी-वर्ग (ञ) उत्तरी-पूर्वी सीमान्त की भाषाएँ (ट) एस्किमो-वर्ग तथा (ठ-द) अमेरिका के आदि-वासियों की भाषाएँ।

भारोपीय-परिवार की भाषाओं का विस्तृत परिचय आगे दिया जायेगा। यहाँ अन्य भाषाओं का परिचय दिया जाता है।

सामी-हामी अथवा सेमेटिक-हेमेटिक वर्ग—इस परिवार के अन्तर्गत सामी तथा हामी, दो प्रधान शाखाएँ हैं। अनेक भाषा-तत्वविद् इन दोनों शाखाओं को स्वतंत्र परिवार की भाषाएँ मानते हैं। इस परिवार के नामकरण के सम्बन्ध में बाइबिल का आख्यान प्रसिद्ध है। हज़रत नौह के ज्येष्ठ पुत्र "सैम" दक्षिणी-पश्चिमी एशिया के 'अरब', 'असीरिया' और 'सीरिया' के निवासियों एवं यहूदियों के आदि पुरुष माने जाते हैं। इसीप्रकार "सैम" के छोटे भाई "हैम" अफ्रीका के 'मिस्र', 'फोनीशिया', 'इथियोपिया' आदि के निवासियों एवं कनानीय (Cananite) लोगों के पूर्वज बतलाये जाते हैं। इन्हीं "सैम" तथा "हैम" के नाम पर इस वर्ग का यह नाम पड़ा।

सामी भाषा की पूर्वी उपशाखा के अन्तर्गत ही आसिरीय (Assyrian), आक्कदीय (Accadian) अथवा बाबिलोनीय (Babylonian) जैसी प्राचीन भाषाएँ आती हैं। इन दोनों भाषाओं में कीलाक्षर (बाणमुख अक्षर) में प्रस्तर तथा मिट्टी की खपरैल पर लिखित २५०० वर्ष ईस्वी सन् पूर्व के प्रत-

लेख मिले हैं। पश्चिमी उपशाखा के उत्तर वर्ग के अन्तर्गत कनानीय (Cananite), फिनिशीय (Phoenician) तथा आरामीय (Aramaic) भाषाएँ आती हैं। बाइबिल के 'ओल्डटेस्टामेण्ट' की मूल भाषा, हिब्रू, भी इसी परिवार की है। पश्चिमी-उपशाखा के दक्षिण-वर्ग के अन्तर्गत अरबी तथा अबीसीनिया की बोलचाल की भाषाएँ आती हैं। इनमें अरबी तो जीवित-भाषा के रूप में सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका में परिव्याप्त है। इस्लाम के प्रचार तथा प्रसार के साथ-साथ इसने पूर्वी एशिया की अनेक भाषाओं को दबाकर शक्तिशाली रूप धारण कर लिया है। अरबी में उपलब्ध प्राचीनतम लेख ३२८ ईस्वी का है।

हामी-शाखा का एकमात्र उदाहरण है, प्राचीन-मिस्र की भाषा। ईस्वी पूर्व, चार सहस्र वर्ष के, इसके नमूने उपलब्ध हैं। मिस्र की प्राचीन-भाषा से ही काप्टिक (Coptic) की उत्पत्ति हुई है। इसमें दूसरी तीसरी शताब्दि का इसाई तथा बाद का इस्लामी-साहित्य मिलता है। इसके शब्द समूह पर ग्रीक-भाषा का अत्यधिक प्रभाव है। १७ वीं शताब्दि से काप्टिक भाषा विलुप्त हो गई है और तब से सम्पूर्ण मिस्र में बोलचाल की भाषा के रूप में अरबी का व्यवहार हो रहा है।

इस वर्ग की दो उपशाखाओं का उल्लेख आवश्यक है। इनमें एक है बर्बर (Berber) अथवा लीबीय (Lybian) और दूसरी है कुशीय (Kushite) अथवा एथियोपीय (Ethiopean)। बर्बर-भाषाएँ अफ्रीका स्थित पश्चिमी सहारा, मोरक्को तथा अल्जीरिया आदि स्थानों में बोली जाती हैं। कुशीय-उपशाखा के अंतर्गत भी अनेक कथ्य-भाषाएँ हैं। इनमें सोमाली भाषा व्यापारियों के बड़े काम की है।

बाण्टू-वर्ग—इस परिवार की भाषाएँ दक्षिण और मध्य अफ्रीका में नेटाल और पाँच अंश देशान्तर के बीच बोली जाती हैं। 'बा-ण्टू' का अर्थ है "मनुष्यों"। इसमें 'बा' बहुवचनार्थक उपसर्ग है। भाषाविद् इसके अन्तर्गत लगभग डेढ़ सौ विभाषाओं की गणना करते हैं जिनमें परस्पर थोड़ा-बहुत अन्तर है। इन विभाषाओं को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से, पूर्वी, मध्यवर्ती तथा पश्चिमी वर्गों में भी विभाजित किया जाता है। इस परिवार की सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा है जंज़ीबार की स्वाहिली। यह सम्पूर्ण पूर्वी अफ्रीकातट की राष्ट्रभाषा है। इसमें थोड़ा बहुत साहित्य भी है और आजकल स्कूलों में यह पढ़ाई भी जाती है। तुर्कों की भाँति ही, यहाँ भी, अरबीलिपि के स्थान पर अब लिखने के लिए रोमन का प्रयोग होने लगा है। बाण्टू के अन्तर्गत आने वाली गंडा, बेम्बा,

ख़ोसा, ज़ूलू आदि विभाषाओं के प्रचार तथा प्रसार के लिए दक्षिणी अफ्रीका की सरकार उद्योग कर रही है। सरकार द्वारा प्राचीन बाण्टू के ग्राम-गीतों, ग्राम-कथाओं तथा ग्राम-गाथाओं के जो संग्रह प्रकाशित हुए हैं उनमें जन-इतिहास तथा भाषा-विज्ञान सम्बन्धी प्रभूत सामग्री है।

फिनोउग्रीय-वर्ग—इसके अन्तर्गत फिनलैण्ड की फिन्नीय तथा हुंगेरी की हुंगेरीय अथवा मग्यार (Magyar) भाषाएँ आती हैं। फिन्नीय (Finnish) के अन्तर्गत फिनलैण्ड तथा उत्तरीरूस से श्वेतसागर तक एस्थोनिया, लिवोनिया तथा लैपलैण्ड में बोली जाने वाली अनेक विभाषाएँ आती हैं। इनमें फिनलैण्ड की फिन्नीय अथवा सुओमी सभ्य-स्तर की भाषा है। इसमें तेरहवीं शताब्दि से अब तक का अच्छा साहित्य भी मिलता है। कलेवला इस भाषा का राष्ट्रीय-महाकाव्य है। फिन्नीय तथा मग्यार भाषाओं पर जर्मन का अत्यधिक प्रभाव है। एक ओर इनमें जर्मन की शब्दावली ग्रहण कर ली गई है तो दूसरी ओर जर्मन पदरचना का भी मग्यार पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

तुर्क-मङ्गोल-मञ्चू-वर्ग—इस परिवार के तीन विभाग हैं—तुर्क-तातार, मङ्गोल एवं मञ्चू। भाषा-विज्ञान के अनेक आचार्य इन तीन विभागों को तीन स्वतन्त्र परिवार मानते हैं। प्रथम विभाग की भाषाओं में तुर्क (Turkish) तातार (Tartar), किरगिज (Kirgiz) तथा उज़बेग आदि उल्लेखनीय हैं। अभी कुछ समय पूर्व तक तुर्की भाषाओं में अरबी-फारसी शब्दों का बाहुल्य था, किन्तु राष्ट्रीय-नेता कमालपाशा के समय से भाषा और साहित्य में पुनरुज्जीवन की लहर दौड़ गई है। अरबी-लिपि की जगह रोमन-लिपि अपना ली गई है तथा विदेशी अरबी-फारसी शब्दों का स्थान तुर्की शब्दों ने ले लिया है।

मङ्गोल-शाखा की भाषाएँ केवल मङ्गोलिया की सीमा में ही नहीं बोली जातीं, अपितु एशिया के बाहर यूरप स्थित रूस तक इनका विस्तार है।

मञ्चू के अन्तर्गत मञ्चूरिया की मञ्चू भाषा तथा येनिस्सी नदी से पूर्व और दक्षिण दिशाओं में ओखोतस्क तथा जापान तक के भूभाग की तुङ्गुज़ लोगों की तुङ्गुज़ भाषा आती है। तुङ्गुज़-भाषियों की संख्या बीस सहस्र के लगभग है। इन भाषाओं में साहित्य का अभाव है।

काकेशीय-वर्ग—इस वर्ग की भाषाओं का क्षेत्र कृष्णसागर से कैस्पियन सागर के बीच, काकेशस-पर्वत-शृङ्खला है। पर्वतीय-प्रकृति के कारण यहाँ की विभाषाओं की विविधता बहुत बढ़ गई है। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही यह प्रदेश आक्रमणकारियों से आतंकित जातियों का शरण-स्थल रहा है। इस कारण

इन भाषाओं की पद-रचना में बाह्य-प्रभावों के कारण क्लिष्टता एवं जटिलता का आ जाना सर्वथा स्वाभाविक है। काकेशीय-वर्ग की उल्लेखनीय भाषा जार्जिया की जार्जीय (Georgian) भाषा है।

द्रविड़-वर्ग—इस परिवार की भाषाओं के बोलने वाले आजकल दक्षिण-भारत में निवास करते हैं। विद्वानों का मत है कि आर्यों के आगमन से पूर्व ये लोग सिन्ध तथा पंजाब तक के भूभाग में फैले हुए थे तथा मोहन-जो-दड़ो एवं हड़प्पा की सभ्यताओं के यही जनक थे। इस समय भारत के लगभग ७ करोड़ १० लाख व्यक्ति विभिन्न द्रविड़-भाषाओं का व्यवहार करते हैं। इसप्रकार भारतीय जनसंख्या के २० प्रतिशत व्यक्ति द्रविड़-भाषा-भाषी हैं। इन भाषाओं में चार ऐसी हैं जिनमें प्राचीनकाल से ही लिखित-साहित्य उपलब्ध है। ये हैं (क) तेलुगु या आन्ध्र (२ करोड़ ६० लाख) (ख) कन्नड़ (१ करोड़ १० लाख) (ग) तमिळ या द्रमिड़ या द्रविड़ (भारत में दो करोड़ तथा सिंहल में २० लाख) (घ) मलयालम या केरल—इसके अन्तर्गत लाक्षाद्वीपीय-भाषा भी आती है (६० लाख से ऊपर)।

इन साहित्य-सम्पन्न द्रविड़-भाषाओं के अतिरिक्त आदिम उपजातियों में प्रचलित कतिपय अन्य द्रविड़-भाषाएँ भी दक्षिण में प्रचलित हैं; यथा तुळू (१ लाख ५२ हजार), कोडगू या कुर्ग प्रदेश की भाषा (४८ हजार), तोदा (केवल ६००), गोंडी भाषा (१० लाख ८६ हजार से ऊपर, मद्रास प्रदेश तथा हैदराबाद में), कन्ध या कुई (५ लाख ८६ हजार, उड़ीसा में), कुँड़ख़ू या ओराँव (१० लाख ३८ हजार, बिहार, उड़ीसा और असम प्रदेश में) तथा माल्तो (७१ हजार, राजमहल की पहाड़ियों में)। इन समस्त साहित्य-विहीन द्रविड़ भाषा-भाषियों को अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त एक-न-एक पड़ोस की साहित्य-सम्पन्न-भाषा अवश्य सीखनी पड़ती है।

साहित्य-सम्पन्न द्रविड़-भाषाओं में तमिळ का स्थान ऊँचा है। इसमें ईसा के बाद की दूसरी-तीसरी शताब्दि के काव्य-ग्रंथ वर्तमान हैं। यह साहित्य 'चङ्कम्-साहित्य' अर्थात् संघ या प्राचीन-तमिळ-साहित्य-संघ द्वारा अनुमोदित साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। इन काव्यग्रंथों से प्राचीन-तमिळ-संस्कृति का सुन्दर परिचय मिलता है। परवर्ती तमिळ में वैष्णव अलवार भक्तों द्वारा पदों की रचना है जिनका भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन के इतिहास में गौरवपूर्ण-स्थान है।

कन्नड़-साहित्य, प्राचीनता में, प्रायः तमिळ के ही समकक्ष है। इसमें ईसा की सातवीं शताब्दि के शिलालेख उपलब्ध हैं। प्राचीन कन्नड़ भाषा ('पले

कन्नड़' या 'हले कन्नड़') ही वस्तुतः आधुनिक कन्नड़ ('पोस्-कन्नड़' या होस-गन्नड़') में परिवर्तित हो गई है। अत्यन्त प्राचीन-काल से ही कन्नड़ पर संस्कृत भाषा का प्रभाव रहा है।

तेलुगु-साहित्य का प्राचीनतम-ग्रन्थ नन्नय भट्ट का महाभारत है। इसका रचना-काल १००० ई० है। इसके पूर्व भी अवश्य ही तेलुगु में साहित्य-रचना हुई होगी। अत्यन्त प्राचीन-काल से ही तेलुगु पर संस्कृत का प्रभाव यथेष्ट मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। किन्तु कभी-कभी तेलुगु पण्डितों ने 'अच्च तेलुगु' (ठेठ या संस्कृत-विहीन तेलुगु) में रचना करने का प्रयास किया है।

मलायालम की उत्पत्ति प्राचीन तमिळ से हुई है। इसे तमिळ की छोटी बहन कहा जाता है। पन्द्रहवीं शताब्दि में इसमें स्वतंत्र साहित्य-रचना का प्रारम्भ हुआ था। सापेक्षिक दृष्टि से मलायालम कन्नड़ से भी अधिक संस्कृत से प्रभावित है।

आस्ट्रिक-वर्ग—इसका दूसरा नाम निषाद भी है। इस वर्ग की दो शाखायें हैं—आस्ट्रो-एशियाटिक (Austro-asiatic) एवं आस्ट्रोनेशियन (Austro-nesian)। प्रथम शाखा की दो उपशाखायें हैं—(१) मॉनख्मेर (Mon-khmer) तथा (२) कोल या मुण्डा। मॉनख्मेर उपशाखा की भाषायें बर्मा, स्याम, तथा निकोबार द्वीपसमूह में बोली जाती हैं। कोल या मुण्डा उप-शाखा की भाषाएँ भारतवर्ष के अनेक स्थानों—पश्चिमबङ्ग, छोटानागपुर, मध्य-प्रदेश तथा मद्रास-प्रदेश के पूर्वोत्तरभाग—में बोली जाती हैं। संथाली भाषा इसी के अन्तर्गत आती है। संथाल लोग बिहार के निवासी हैं। संथाली से ही सम्बन्ध रखने वाली मुण्डारी, हो, भूमिज, खड़िया आदि भाषाएँ बिहार के कोल-भाषा-भाषियों द्वारा बोली जाती हैं। असमप्रान्त के खसिया पहाड़ की खसी बोली भी इसी के अन्तर्गत आती है। द्वितीय उपशाखा की उल्लेखनीय भाषाएँ, मलय (Malay), जवद्वीपीय (Javanese), बलिद्वीपीय (Balinese), आदि हैं। इनके अतिरिक्त फिलिपाइन द्वीप-समूह, न्यूजीलैण्ड, हवाई, तथा फिजी आदि प्रशान्त महासागर के द्वीपों में भी यह प्रचलित है।

भोट-चीनी-वर्ग—इस वर्ग की तीन शाखायें—(१) चीनी (Chinese) (२) थाई (Thai) अथवा ताई (Tai), एवँ (३) भोट बर्मी (Tibeto-Burman) हैं। बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से चीनी-भाषा संसार की सबसे बड़ी भाषा है। इसके प्राचीनतम-नमूने ईसा पूर्व दो सहस्र वर्ष के उपलब्ध हैं। द्वितीय शाखा की भाषा स्याम देश में बोली जाती है। तृतीय शाखा की तीन

प्रधान उपशाखाएँ हैं। ये हैं—(१) भोट अथवा तिब्बती (२) बर्मी एवं (३) बोडो। बोडो की अन्य उपजातियाँ गारो, लुशेई तथा नागा आदि हैं।

उत्तरी पूर्वी सीमान्त की भाषाएँ—इस वर्ग की भाषाएँ एशिया के उत्तरीपूर्वी सीमान्त में बोली जाती हैं। इनके बोलने वालों की संख्या भी अत्यल्प ही है। इनमें एकमात्र उल्लेखनीय भाषा है चुक्ची (Chukchee)।

एस्किमो-वर्ग—इस वर्ग की भाषाएँ उत्तर सीमान्त देशों से ग्रीनलैण्ड होते हुए एलूशियन द्वीप-समूह तक के भूभाग में बोली जाती हैं।

अमेरिका के आदिवासियों की भाषाएँ—अमेरिका के आदिवासियों के ध्वंस के साथ-साथ वहाँ की भाषाएँ भी विनष्ट हो गई हैं और उनका स्थान योरप की अंग्रेज़ी, फ्रेंच तथा स्पेन की भाषाओं ने ले लिया है। किन्तु आज भी कहीं-कहीं ये आदिवासी बच गए हैं। इनकी भाषाओं को आठ प्रधान वर्गों में बाँटा जा सकता है। ये हैं (१) ऑलगङ्क्वियन् (Algonquian), (२) आथाबास्कन्, (Athabascan) (३) इरोक्वोयीयन् (Iroquoion), (४) मुस्कोगियन् (Muskogean), (५) सियोयन् (Siouan), (६) पिमन् (Piman), (७) शोशोनियन (Shoshonean), तथा (८) नाहुआॅट्लन् (Nahuatlan)। शेष वर्ग की आज़्टेक (Aztec) भाषा उल्लेखनीय है।

भारोपीय परिवार

जिस मूलभाषा से भारोपीयपरिवार की विविध भाषाओं की उत्पत्ति हुई है उसके नमूने आज उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी इस परिवार की प्राचीन-भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् विद्वानों ने उस मूलभाषा की कल्पना अवश्य की है। इस कल्पना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अनुमानतः २७००-२६०० वर्ष, ईसा पूर्व, उस मूल भाषा से इस परिवार की प्राचीन-भाषाओं की उत्पत्ति हुई होगी और समय की प्रगति के साथ-साथ ये भाषाएँ यूरप तथा एशिया के विभिन्न-देशों में फैली होंगी। भारोपीय-भाषा-भाषियों का आदिम अथवा मूल निवास-स्थान कहाँ था, इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है किन्तु इस परिवार की परवर्ती भाषाओं के गहरे अध्ययन के बाद पण्डित लोग इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह स्थान यूरप में ही था।

भारोपीय-परिवार के अन्तर्गत निम्नलिखित दश भाषाओं की गणना की जाती है। ये हैं :—

(१) केल्तिक (२) इतालिक (३) जर्मनिक अथवा ट्यूटनिक (४)

ग्रीक (५) बाल्तोस्लाविक (६) आल्बनीय (Albanian) (७) आर्मनीय (Armenian) (८) खत्ती अथवा हत्ती (Hittite) (९) तुखारीय (Tokharian) (१०) भारत-इरानी अथवा आर्य।

ऊपर की भाषाओं में से खत्ती तथा तुखारीय भाषाएँ लुप्त हो चुकी हैं। शेष आठ भाषाएँ अद्यावधि प्रचलित हैं। इन भाषाओं के संक्षिप्त-परिचय के पूर्व मूल भारोपीय-भाषा की विशेषता के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत विचार करना आवश्यक है।

भारोपीय-परिवार की प्राचीन-भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से विदित होता है कि इसमें निम्नलिखित ध्वनियाँ वर्तमान थीं।

स्वर

(क) ह्रस्व—अ (a), इ (i), उ (u), ए (e), ओ (o),
दीर्घ—आ ($\bar{a}$), ई ($\bar{i}$), ऊ ($\bar{u}$), ए ($\bar{e}$), ओ ($\bar{o}$)।
अति ह्रस्व—अ (ə)

(ख) अर्द्धव्यञ्जन—ह्रस्व ऋ (ṛ), लृ (ḷ)
दीर्घ ॠ ($\bar{ṛ}$), ॡ ($\bar{ḷ}$) एवं
ह्रस्व तथा दीर्घ न् (ṇ), म् (ṃ)।

(ग) अर्द्धस्वर—य् (y), व् (w)।

(घ) (१) व्यञ्जन (स्पर्श)
(१) पुरःकण्ठ्य[1] —कँ, खँ, गँ, घँ, ङँ (k, kh, g, gh, ṇ)
(२) कण्ठ्य अथवा
पश्चात्कण्ठ्य[2]—क्, ख्, ग्, घ, ङ् (q, qh, g, gh, ṇ)

---

१. इन ध्वनियों को योरप के भाषाविज्ञानियों ने तालव्य संज्ञा दी है और वहाँ भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में यही मिलता है किन्तु वास्तव में ये ध्वनियाँ, संस्कृत की तालव्य-ध्वनियों के समान नहीं हैं, अपितु ये कण्ठ्य-ध्वनियों के समान हैं। डा० चटर्जी के अनुसार ये Advanced velar अथवा पुरःकण्ठ्य ध्वनियाँ हैं।

२. इन्हें योरप के भाषाविदों ने velar अथवा कण्ठ्य की संज्ञा दी है किन्तु डा० चटर्जी के अनुसार ये Back velar (पश्चात्-कण्ठ्य) अथवा uvular (अलिजिह्वजात) ध्वनियाँ हैं।

(३) कण्ठोष्ठ्य[३] —क्, ख्, ग्, घ्, ङ् (qw, qwh, gw, gwh, ŋ)

(४) दन्त्य अथवा
दन्तमूलीय —त्, थ्, द्, ध्, न् (t, th, d, dh, n)

(५) ओष्ठ्य —प्, फ्, ब्, भ्, म् (p, ph, b, bh, m)

(२) कम्पित—र् (r)

(३) पार्श्विक—ल् (l)

(४) ऊष्म—

(१) पुरःकण्ठ्य, पश्चात्कण्ठ्य (कण्ठ्य), कण्ठोष्ठ्य—क़् (ख़्), ग़् (घ़्) (x, γ)

(२) दन्त्य तथा दन्तमूलीय—स्, ज़्, त़्, (थ़्), द़् (ध़्) (s, z, ϑ, ð)

पहले भाषा-विज्ञानियों का यह मत था कि भारोपीय के स्वर आर्य (भारत-ईरानी) वर्ग में पूर्णरूप से सुरक्षित हैं; किन्तु बाद में तुलनात्मक अध्ययन के परिणाम-स्वरूप यह सिद्ध हुआ कि संस्कृत की अपेक्षा ये ग्रीक तथा लैटिन में अधिक सुरक्षित हैं। इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति यह है कि भारोपीय की 'अ', ह्रस्व 'ए' तथा 'ओ' ध्वनियाँ भारत-ईरानी-वर्ग में "अ" तथा इनकी दीर्घ ध्वनियाँ "आ" में परिणत हो जाती हैं। ग्रीक, तथा लैटिन में भारोपीय की मूल स्वर-ध्वनियाँ उसीरूप में सुरक्षित हैं। इसके उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। मूलभाषा के शब्द काल्पनिक हैं, अतएव इन्हें पुष्पाङ्कित कर दिया गया है —

*ago > सं० अजामि, अवे० अजामि, ग्री० अगो, लै० अगो।

*ésti > सं० अस्ति, ग्री० एस्ति, लै० एस्त्, गॉ० इस्त्, अं० इज़।

*domo-s, *domu-s > सं० दमः, ग्री० डोमोस, लै० डोमुस।

*bhrāter > सं० भ्राता, ग्री० फ्रातेर, लै० फ्रातेर्, प्राचीन-आयरिश ब्राथिर, अँ० ब्रॉदर्।

---

३. ये libialized velar अथवा uvular (कण्ठोष्ठ्य) ध्वनियाँ हैं।

*dhe—>सं० दधामि, ग्री० टिथेमि।

*d'ōno-m > सं० दानम्, लै० डोनुम्।

भारोपीय की 'इ', 'ई' तथा 'उ', 'ऊ' ध्वनियाँ, प्रायः उसकी सभी शाखाओं में इसीरूप में वर्तमान हैं। यथा —

*i-d > सं० इदम्, लै० इद्, गॉ० इट्, अं० इट्।

*gwīwos > सं० जीवस्, लै० वीवुस।

*dhugəte (r)>सं० दुहित (र), ग्री० थुगातेर्, अं० डॉटर्, लिथु० डुक्टे।

*dhūmó-s > सं० धूमः, ग्री० थूमॉस्, लै० फूमस्।

अति ह्रस्व अ (ə) किसी भाषा में सुरक्षित नहीं है। कतिपय भाषाओं में यह "इ" तथा अन्य में यह "अ" में परिणत हो जाता है। यथा—

pəter > सं० पिता, ग्री० पतेर्, लै० पतेर्, गॉ० फदर्, अं० फॉदर्।

दीर्घ 'ॠ' तथा 'ॡ' किसी भी भाषा में सुरक्षित नहीं हैं। ह्रस्व 'ऋ' केवल आर्यशाखा में सुरक्षित है एवं ह्रस्व 'ऌ' आर्यशाखा में 'ऋ' में परिणत हो जाता है। यथा —

*kṛd > सं० * ऋद्, ग्री० कर्दिअ, लै० कोर्दिस्।

*wḷqos > सं० वृकः, ग्री० लुकास्, प्राचीनस्लाव व्लुकु, अं० वुल्फ।

अर्ध-व्यञ्जन एवं अर्ध-स्वर

अर्द्धव्यञ्जन (ह्रस्व तथा दीर्घ) 'न', 'म्', किसी भी शाखा में सुरक्षित नहीं हैं। आर्य तथा ग्रीक में ये ह्रस्व तथा दीर्घ-व्यञ्जन क्रमशः "अ" तथा "आ" में परिणत हो जाते हैं। यथा—

*kṃtóm > सं० शतम्, ग्री० हेकटोन, लै० केण्टम्।

*ṇ-mṛtos > सं० अमृत, ग्री० अम्ब्रोतस्।

*egwṃt > सं० अगात्, ग्री० एबा (एबे)।

अर्द्धस्वर 'य्' तथा 'व' अधिकांश भाषाओं में वर्तमान हैं। ग्रीक में वस्तुतः 'व्' का लोप हो गया है। यथा—

*yugom > सं० युगम्, ग्री० जुगॉन, लै० जुगम्, गॉ० जुक्, अं० योक्।

*woikos >सं० वेशस्, ग्री० उइकॉस, लै० वीकुस्।

व्यञ्जन

भारोपीय की पुरःकण्ठ्य-स्पर्शव्यञ्जन-ध्वनियों (क् इत्यादि) का ग्रीक, लैटिन, केल्तिक, हत्ती तथा तुखारीय-शाखाओं में पश्चात्-कण्ठ्य (क् आदि) ध्वनियों के साथ एकाकार हो गया, किन्तु आर्य (संस्कृत), बाल्तोस्लाविक, आल्बनीय, एवं आर्मेनीयशाखाओं में मूलभाषा (भारोपीय) की क-ध्वनि 'स' अथवा 'श' में परिणत हो गई। मूलभाषा के इसी ध्वनि-परिवर्तन ने भारोपीय-परिवार की भाषाओं को दो समूहों—कतम् अथवा केण्टुम एवं सतेम् अथवा शतम् वर्गों में विभक्त कर दिया। भारोपीय के शत-वाचक शब्द का लैटिन एवं अवेस्तीय (अवेस्ता की भाषा का) प्रतिरूप ग्रहण करके ही इन दोनों समूहों अथवा वर्गों का नामकरण किया गया। भारोपीयभाषा के *k̑m̥tóm, "शत" शब्द ने दोनों वर्गों में इसप्रकार रूप धारण किया—

[कतम् अथवा केण्टुम वर्ग] ग्री० 'हेकटोन्', लै० 'केण्टुम्', गॉ० 'खुन्द', अं० 'हण्ड', एवं 'हंड्रेड', वेल्श० 'कन्त', आयरिश 'केद्', तुखारीय 'कत' ।

[सतेम् अथवा शतम् वर्ग] सं० 'शतम्', अवेस्तीय 'सतेम्', प्राचीन फा० 'सत', लिथुयानीय 'शिम्तास्', स्लाविक, सुतो आदि।

अब भारोपीय की अन्य पुरःकण्ठ्य-ध्वनियों पर यहाँ विचार किया जाता है। भारोपीय का पुरःकण्ठ्य 'ग' आर्य-भाषा (भारत-ईरानी) में सघोष-तालव्य-ऊष्म 'ज़' में परिणत हो गया और आगे चलकर यही संस्कृत में "ज" हो गया। यथा—

*genos > सं० जनस्, अवेस्तीय ज़नो, प्राचीन फा० दन, ग्री० गेनोस्, लै० गेनुस्, वेल्श गेनि, गॉ० कुनि, अं० किन्।

भारोपीय-पुरःकण्ठ्य 'घ' आर्य-भाषा (भारत-ईरानी) में 'झ' में परिणत हो गया और यही आगे चलकर संस्कृत में "ह" बन गया। यथा—

* egho (m) > सं० अहम्, अवेस्तीय अज़ेम, प्राचीन फा० अदम्, ग्री० एगो, लै० एगो, गॉ० इक्, अं० आइ।

पश्चात्-कण्ठ्य-ध्वनि (क् आदि) भारोपीय की सभी भाषाओं में वर्तमान हैं। कण्ठोष्ठ्य (क् आदि) ध्वनियों की ग्रीक, लैटिन, जर्मेनिक शाखाओं में अपनी-अपनी विशेषताएँ सुरक्षित हैं, किन्तु अन्यत्र पश्चात्-कण्ठ्यध्वनि के साथ इनका एकाकार हो गया है और 'इ' 'ई' तथा 'ए' प्रभृति तालव्य-ध्वनियों के

अव्यवहित अनुगमन से ये [भारोपीय की कण्ठ्य एवं कण्ठोष्ठ्य-ध्वनियाँ] तालव्य (च-वर्ग) में परिणत हो जाती हैं। यथा —

* qotero-s > सं० कतरः, ग्री० पोतेरॉस्, गॉथिक ह्वाथर।
* penqti-s > सं० पंक्तिः, ग्री० पेम्पॉस्।
* qwarqw- > सं० कर्कः, कर्कटः, ग्री० कर्किनॉस्, लै० कैन्सर्।
* qwe > सं० च, अवेस्तीय च, प्राचीन फा० च, ग्री० ते, लै० के।
* gwous > सं० गौः, ग्री० बोउस्, लै० बोस्, अं० काउ।
* gwhormos * gwhermos > सं० घर्मः, अवे० गर्मो, ग्री० थेर्मोस्, लै० फोर्मुस्, अं० वार्म।

भारोपीय की दन्त्य तथा ओष्ठ्य-ध्वनियाँ, प्रायः अन्य शाखाओं में भी सुरक्षित हैं। इनके उदाहरण ऊपर के उदाहरणों में वर्तमान हैं। इसीप्रकार भारोपीय के अनुनासिक व्यञ्जन 'ङ्', 'न्' तथा 'म्' भी अन्य शाखाओं में सुरक्षित हैं। यथा —

* oṅko-s > सं० अङ्कः, लै० उङ्कुस।
* ne'bhos > सं० नभस्, ग्री० नेफोस्, लै० नेबुला।
* mātē (r) > सं० माता, ग्री० मेटेर्, लै० माटेर्।

भारोपीय की सभी शाखाओं में 'र्' तथा 'ल्' वर्तमान थे। आर्य-शाखा (भारत-इरानी) में 'र्' तथा 'ल्' का 'र्' रूप में एकाकार हो गया है। वैदिक-संस्कृत में 'ल्' का प्रयोग अत्यल्प मिलता है, अधिक स्थानों में इसके बदले 'र्' ही प्रयुक्त हुआ है। यही कारण है कि पुराने भाषा-विज्ञानी 'ल्' की अपेक्षा 'र्' को प्राचीन मानते थे, किन्तु आज भाषा-विज्ञानियों का यह स्पष्ट मत है कि भारोपीय में 'र्' तथा 'ल्' दोनों साथ-साथ वर्तमान थे। यथा —

* rudhros > सं० रुधिरस्, ग्री० एरुथ्रोस्, लै० रुबेर्, अं० रेड्।
* leuq- > सं० रोचस्, प्राचीन फा० रउच, ग्री० लेउकॉस्, लै० लुक्स्, अं० लाइट्।

भारोपीय में ऊष्म-ध्वनियों में मुख्य ध्वनि स-कार थी। यह प्रायः सभी शाखाओं में सुरक्षित है, किन्तु स्वरध्वनि के बीच का स-कार, ग्रीक तथा इरानी उपशाखा में ह-कार में परिणत हो जाता है। यथा —

* esti > सं० अस्ति, अवेस्तीय अस्ति, प्राचीन फा० अस्ती, ग्री० एस्ति, लै० एस्त्, गा० इस्त् > अं० इज्।

* septṇ > सं० सप्त, ग्री० हेप्त, लै० सेप्ते्म्, गा० सिबुन्, लिथु० सेप्त्यनि।

* senos > सं० सनस्, ग्री० हेनोस्, लै० सेनेस्, आयरिश सेन्, वेल्श० हेन्।

अपश्रुति

भारोपीय की सभी शाखाओं की प्राचीन-भाषाओं (संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि) के अध्ययन से स्वर-परिवर्तन का एक विशिष्ट रूप दृष्टिगोचर होता है। चूँकि ग्रीक में भारोपीय के अधिकांश स्वर अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित हैं अतएव वहाँ यह विशेषता सर्वाधिक दृष्टिगोचर होती है। वह विशेषता यह है कि भारोपीय के एक ही धातु या शब्द में अथवा एक ही प्रत्यय या विभक्ति के योग से निष्पन्न धातु, शब्द, प्रत्यय या विभक्ति में निर्दिष्ट क्रमानुसार स्वर-ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। इसप्रकार के स्वर-ध्वनि-परिवर्तन को अपश्रुति (ablaut) कहते हैं। अपश्रुति के तीन-क्रम (Grade) हैं। प्रथम-क्रम में धातु अथवा प्रत्यय-विभक्ति की मूल स्वर-ध्वनि अविकृत रहती है; द्वितीय-क्रम में स्वर-ध्वनि दीर्घीभूत हो जाती है तथा तृतीय-क्रम में ह्रस्व स्वर-ध्वनि लुप्त हो जाती है एवँ दीर्घस्वर-ध्वनि अति-ह्रस्व अ-ध्वनि में परिणत हो जाती है। इन तीन-क्रमों के क्रमशः नाम हैं, साधारण (Normal या Strong), दीर्घीभूत (Lengthened) एवं ह्रस्वीभूत (Weak)। संस्कृत-वैयाकरणों ने भी संस्कृत-भाषा में धातु के स्वर में इसीप्रकार के परिवर्तन को लक्ष्य करके इन तीन-क्रमों का 'गुण', 'वृद्धि' एवँ 'सम्प्रसारण' नामकरण किया था। नीचे अपश्रुति का उदाहरण दिया जाता है :—

	प्रथम क्रम	द्वितीय क्रम	तृतीय क्रम
भारोपीय	*ped–*pod–	*pēd–, * pōd–	*pd–*bd–
ग्रीक	पोदोस्		एपिब्दइ
लैटिन	पेदिस	पेस्	
संस्कृत	पदस्	पात्	उपब्द

शब्द एवं धातु-रूप

भारोपीय का व्याकरण अत्यन्त जटिल था। यहाँ शब्द एवं धातुरूपों के अनेक भेद थे। संस्कृत एवँ ग्रीक शब्दों एवँ धातुओं के रूपों से यह स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है। शब्द-रूपों में तीन लिङ्ग, तीन वचन तथा सम्बन्ध एवं

सम्बोधन को लेकर आठ कारक थे। सर्वनाम के रूपों में भी विविधता थी। धातु-रूप में तीन वचन, तीन पुरुष, दो वाच्य (आत्मनेपद तथा परस्मैपद), चार काल (वर्तमान या लट्, असम्पन्न या लङ्, सामान्य या लुङ् एवँ सम्पन्न या लिट्) तथा पाँच भाव (निर्देश, अनुज्ञा, सम्भावक, अभिप्राय एवं निर्बन्ध) थे। प्रत्येक वाच्य एवँ काल के साथ अनेक असमापिका क्रियायें थीं। भारोपीय-क्रिया के काल का, आजकल की भाँति, समय से कोई सम्बन्ध न था। यह वस्तुतः क्रिया की अवस्था का द्योतक था। उदाहरणस्वरूप वर्तमानकाल से तात्पर्य था, क्रिया का 'होना' 'हो चुकना' अथवा 'होते रहना'। असम्पन्नकाल, वर्तमानकाल का ही एक भेद था। इसका यह तात्पर्य था कि क्रिया कुछ समय पूर्व हो चुकी है। सामान्य-काल सद्यःपूर्ण कार्य का द्योतक था (अंग्रेज़ी के 'प्रज़ेण्ट पर्फेक्ट' की भाँति ही यह था)। भारोपीय में सम्पन्न-काल का अर्थ बहुत कुछ वर्तमान की ही भाँति था। इससे यह भाव द्योतित होता था कि अतीतक्रिया के परिणामस्वरूप ही वर्तमान क्रिया चल रही है। उदाहरणस्वरूप, भारोपीय, वोइद् (* woida) > ग्रीक, ओइद (oida), संस्कृत वेद का अर्थ था 'मैं जानता हूँ' अर्थात् पूर्ववर्ती-कार्य के परिणामस्वरूप मुझे वर्तमान का ज्ञान उपलब्ध है। भारोपीय के विश्लिष्टरूप धारण करने के पश्चात् जब विभिन्न भाषाएँ अस्तित्व में आईं तब धीरे-धीरे उनका 'काल' समयगत हो चला। इतने पर भी ग्रीक तथा वैदिक-संस्कृत में सामान्य एवं सम्पन्न के प्राचीन-अर्थ सम्पूर्ण रूप से विलुप्त नहीं हो पाए हैं।

भारोपीय में अतीतकाल के अर्थ को द्योतित करने वाला * 'ए' था। ग्रीक में इसका रूप 'ए' ही रहा; किन्तु संस्कृत एवं प्राचीन-फ़ारसी में यह "अ" हो गया। उदाहरणस्वरूप भारोपीय *√ दृक् 'देखना' को लिया जा सकता है। इसका दीर्घीभूत रूप * दोर्क् (* dórk) तथा द्वित्वरूप दे-दोर्क् (de-dórk) हुआ। इसमें—'अ' तिङ् जोड़कर दे-दोर्क (de-dórk-a) रूप सिद्ध हुआ। मूलरूप में यह वर्तमान का ही रूप था—'मैं देखने की क्रिया को पूर्ण करने के बाद की अवस्था में हूँ।' इसीसे विभिन्न भाषाओं में पूर्णभूत तथा अतीत-काल विकसित हुए। संस्कृत में यही ददर्श तथा ग्रीक दे-दोर्क (de-dórk-a) रूप में लिट् का बोधक हुआ।

अतीतकाल सम्पन्न करने के लिए * 'ए' अव्यय अथवा उपसर्ग का प्रयोग, भारोपीय-प्रसूत सभी भाषाओं में हुआ है, ऐसी बात नहीं है। केल्तिक, लैटिन तथा जर्मेनिक भाषाओं में इसका सर्वथा अभाव है, पाणिनीय-संस्कृत तथा

प्राचीनफ़ारसी में इसका सदैव प्रयोग होता है, किन्तु वैदिक-संस्कृत तथा अवेस्ता में इसका कभी-कभी प्रयोग होता है।

दो-शब्दों को मिलाकर समास करना, भारोपीय की विशेषताओं में से है। बाद में, अनेक शब्दों को मिलाकर संस्कृत में समास की सृष्टि होने लगी। भारोपीय की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता उसकी स्वर-प्रक्रिया (Accent-system) भी है। अनेक स्थलों में, ग्रीक तथा वैदिक-संस्कृत में, भारोपीय के स्वर (Accent) ठीक रूप में मिलते हैं। भारोपीय से पृथक होकर जब इस वर्ग की अन्य भाषाएँ अस्तित्व में आने लगीं तब स्वर के साथ-साथ स्वराघात का प्राबल्य आरम्भ हो गया। भारोपीय के * एस् धातु के वर्तमानकाल के प्रथम पुरुष के बहुवचन के रूप में आदि स्वर 'ए' का लोप इसका अच्छा उदाहरण है। यथा—*एसोन्ति, *एसेन्ति>*सेन्ति, * सोन्ति>सं० सन्ति, ग्री० एन्ति, लै० सुन्त्, इत्यादि।

भारोपीय-वर्ग की भाषाओं का संक्षिप्त परिचय

केल्तिक—यह भाषा एक समय में समग्र पश्चिमी तथा मध्य-यूरप में प्रचलित थी, किन्तु परवर्तीयुग में इतालिक तथा जर्मेनिक भाषाओं के प्रसार से धीरे-धीरे इसका लोप हो गया। इस वर्ग की भाषाओं में आयरिश मुख्य है। इसके प्राचीनतम नमूने ईसा की पाँचवीं शती से उपलब्ध हैं। आधुनिक आयरिश का आरम्भ १७वीं शताब्दि से होता है। राष्ट्रीय-जागरण तथा स्वतंत्रता के साथ-साथ आयरिश लोग अपनी भाषा की ओर विशेषरूप से आकृष्ट हो रहे हैं।

केल्तिक-वर्ग की दूसरी उल्लेखनीय भाषा किम्रिक अथवा वेल्श है। यह सजीव तथा सशक्त भाषा है। आज भी इसके बोलनेवालों की संख्या दस लाख के लगभग है। इसमें ८०० ई० तक के पुराने कागद-पत्र मिलते हैं। १००० ई० से १३०० के बीच में इसमें सर्वोत्कृष्ट साहित्य-रचना हुई थी।

इतालिक—इतालिक का केल्तिक के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रारम्भ मे ये दोनों भाषाएँ एक ही थीं किन्तु बाद में इनका स्वतंत्ररूप में विकास हुआ। यही कारण है कि अनेक भाषाविद् इन दोनों को स्वतंत्र भाषाएँ न मानकर इन्हें केल्तिक-इतालिक रूप में एक साथ ही लेते हैं।

इस शाखा की दो प्राचीन भाषाएँ ओस्कन (Oscan) तथा अम्ब्रियन (Umbrian) अब विलुप्त हो चुकी हैं। इनमें ओस्कन तो दक्षिणी इताली में, प्रथम शताब्दि ईस्वी तक, बोली जाती थी। इन दोनों भाषाओं के सम्बन्ध की सामग्री अब केवल पुरालेखों में सुरक्षित है।

इतालिक-शाखा की सब से प्रधान एवं उल्लेखनीय भाषा है, लैटिन। आरम्भ में यह लैटियम (Latium) प्रदेश की भाषा थी किन्तु रोम की प्रभुत्व-वृद्धि के साथ-साथ यह रोमसाम्राज्य की भाषा बन गई। इसके प्राचीनलेख ३०० ई० पूर्व के उपलब्ध हैं। संस्कृत के समान ही उन्नीसवीं शताब्दि के मध्य भाग तक, लैटिन, यूरप के पण्डितों तथा धर्म की भाषा थी। रोमसाम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ यह यूरप के समग्र दक्षिणी-भाग में फैल गई तथा वहाँ की बोलचाल की भाषाओं को दबाकर इसने अपना एकच्छत्र-प्रभुत्व स्थापित कर लिया। लैटिन के इसी बोलचाल के रूप से आधुनिक इतालिक अथवा रोमान्स भाषाओं की उत्पत्ति हुई। इसके अन्तर्गत इताली की इतालीय (इतालिक), फ्रांस की फ्रेंच, पोर्तगाल की पोर्तुगीज, स्पेन की स्पेनीय तथा रोमानी आदि भाषाएँ आती हैं।

जर्मनिक अथवा ट्यूटनिक—भारोपीयपरिवार की भाषाओं में जर्मनिक अथवा ट्यूटनिक शाखा की भाषाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अंग्रेजी जो वर्तमानकाल में विश्वभाषा के रूप में प्रतिष्ठित है, इसी शाखा के अन्तर्गत आती है। सम्भवतः जर्मन शब्द का प्रयोग ईस्वी पूर्व की पहली शताब्दि में केल्तिक लोगों ने "पड़ोसी" के अर्थ में किया था। इस शाखा को भौगोलिक दृष्टि से तीन उपशाखाओं में विभक्त किया जा सकता है। ये हैं (१) पूर्व-जर्मनिक (२) उत्तर-जर्मनिक तथा (३) पश्चिम-जर्मनिक।

पूर्व-जर्मनिक-उपशाखा आज लुप्त हो चुकी है। इसकी प्राचीन-भाषा गॉथिक में, बाइबिल के कुछ अनूदित अंश मिलते हैं। ईसा की चौथी शताब्दि में पादरी उल्फिला (Wulfila) ने यह अनुवाद किया था। गॉथिक में अनूदित इस बाइबिल में ही जर्मनिक-शाखा के प्राचीनतम नमूने आज उपलब्ध हैं।

उत्तर-जर्मनिक भाषाएँ डेनमार्क, नार्वे तथा स्वेडन तक फैली हुई हैं। इनके अन्तर्गत नार्वेजियन (नार्वे की भाषा), स्वीडिश (स्वेडन की भाषा), डैनिश (डेनमार्क की भाषा) तथा आइसलैण्डिक (आइसलैण्ड) की भाषाएँ आती हैं। उन्नीसवीं शताब्दि के प्रारम्भ से इन भाषाओं में एक महान साहित्यिक-आन्दोलन चल पड़ा है और इसके कई लेखक तो विश्व के महान साहित्यकारों में स्थान पा चुके हैं। आइसलैण्ड की भाषा (प्राचीन नॉर्स) में लिखित एड्डा [Edda] साहित्य के रूप में इसके प्राचीन नमूने उपलब्ध हैं। इसकी रचना ७०० ई० के लगभग हुई थी। यह पद्य तथा गद्य, दोनों में है तथा इसका आधार प्राचीन-पौराणिक-गाथाएँ हैं।

पश्चिमी-जर्मनिक-उपशाखा के दो मुख्य वर्ग हैं—(१) उच्च-जर्मन (२) निम्न-जर्मन। निम्न-जर्मन के अन्तर्गत ही प्राचीन-निम्न-फ्रैंक तथा मध्य-फ्रैंक से होते हुए नेदरलैंड की विभाषाएँ विकसित हुई हैं। इनमें डच तथा फ्लेमिश मुख्य हैं। इनमें सुन्दर साहित्य उपलब्ध है। निम्न-जर्मन के ही एक अन्य वर्ग, आंग्लसैक्सन से अंग्रेजी भाषा विकसित हुई है। ब्रिटेन में पहले केल्तिक शाखा की भाषाएँ प्रचलित थीं, किन्तु ईसा की छठीं शताब्दि में जर्मन जाति की आंग्ल, सैक्सन तथा जुट उपजातियों ने ब्रिटेन को अपना निवास-स्थान बनाया। इन्हीं के द्वारा यहाँ केल्तिक के स्थान पर जर्मनशाखा की भाषा, अंग्रेजी, की प्रतिष्ठापना हुई। अंग्रेजी के प्राचीनतम नमूने ७०० ई० के लगभग के उपलब्ध हैं। साहित्य तथा बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से अंग्रेजी आज विश्व की श्रेष्ठ भाषाओं में से है। उच्च-जर्मन के अन्तर्गत ही आधुनिक-जर्मन भाषा आती है। यह मध्य-जर्मन से होते हुए कालान्तर में विकसित हुई है।

जर्मन-शाखा में मूल भारोपीय स्पर्श-व्यञ्जनों का परिवर्तन हो गया है। इन परिवर्तन सम्बन्धी नियमों को सूत्र रूप में ग्रथित करने का श्रेय प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी जेकबग्रिम (Jacob Grimm) को है। इसीकारण ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी इन नियमों अथवा सूत्रों को ग्रिम-सूत्र अथवा नियम के नाम से अभिहित किया गया है। ये सूत्र इसप्रकार हैं—

भारोपीय के चतुर्थ, तृतीय एवं प्रथम व्यञ्जनवर्ण, जर्मनिक-शाखा में क्रमशः तृतीय, प्रथम एवं द्वितीय में परिणत हो जाते हैं, केवल द्वितीयवर्ण की ध्वनियाँ स्पर्श न रहकर ऊष्म हो जाती हैं। यथा—*पेकु́ > गॉ० फेशु, अं० फी, * द्वो > गॉ० ट्वा, अं० टू ; * भेरो > गॉ० बेर्, अं० बेयर् आदि।

ग्रिम के नियमों द्वारा जर्मनिक-शाखा में भारोपीय के स्पर्श-व्यञ्जन के परिवर्तन की साधारणरूप में व्याख्या मिल जाती है, किन्तु फिर भी इसके अनेक अपवाद रह जाते हैं। इन अपवादों के समाधान का श्रेय बाद के दो भाषाशास्त्रियों ग्रॉसमान (Grassmann) एवं वर्नर (Verner) को है। ग्रॉसमान ने यह स्पष्टरूप से दिखलाया कि सं० बन्ध् = अं० बाइण्ड (bind) में जो ग्रिम-नियम का अपवाद मिलता है, वह वास्तविक अपवाद नहीं है। सच तो यह है कि यहाँ संस्कृत में प्राप्त व्यञ्जन-ध्वनि को भारोपीय की मूल व्यञ्जन-ध्वनि से अभिन्न मान लेने से ही यह अपवाद प्रतीत होता है। वास्तव में संस्कृत 'बन्ध्' का रूप भारोपीय में * भेन्ध् था, * बेन्ध् नहीं। अतएव भारोपीय * भेन्ध् से अंग्रेजी

२

में बाइण्ड (bind) हो जाना ग्रिम-नियम के अनुकूल ही है। ग्रॉसमान द्वारा आविष्कृत इस नियम से तथाकथित अनेक अपवादों का स्वाभाविक रीति से समाधान हो गया। ग्रॉसमान का नियम इसप्रकार है—

भारोपीय के किसी शब्द में जब पास-पास दो चतुर्थ-वर्ण की ध्वनियाँ रहती हैं, तब ग्रीक तथा आर्य शाखाओं में, उनमें से एक तृतीय वर्ण की ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है। यथा—भेन्ध् (धातु) > सं० बन्ध्, ग्री० पेन्थ्; * भेउध् (धातु) > सं० बुध्, ग्री० पेउथ् इत्यादि।

इनके अतिरिक्त जो अपवाद अवशिष्ट रह गए थे उनकी मीमांसा वर्नर द्वारा आविष्कृत नियम द्वारा हुई। यह नियम इसप्रकार है—

अव्यवहितरूप में भारोपीय के यदि पूर्ववर्ती अक्षर पर स्वर (Accent) न हो तो उसकी प्रथम वर्ण-ध्वनि जर्मनिक में द्वितीय (ऊष्म) वर्ण न होकर तृतीय (स्पर्श) वर्ण-ध्वनि में परिणत हो जाती है। यथाः—kluto's (ग्री० क्लुतोस, सं० श्रुतस्) > प्राचीन अं० ह्लुद्, आधुनिक अं० लाउड; kumto'm > गाँ० खुन्द् अं० हुन्द् > हन्ड्रेड् आदि।

ग्रीक—प्राचीनकाल में ग्रीकभाषा, ग्रीस, एशियामाइनर के प्रदेश, साइप्रेस-द्वीप तथा एजियन-उपसागर के द्वीप-समूहों में प्रचलित थी। इसकी अनेक उपभाषाएँ थीं जिनमें ऐटिक (Attic), आयोनिक (Ionic) एवं डोरिक (Doric) प्रधान थीं। होमर-द्वारा-रचित इलियड तथा ओडेसी की भाषा में यद्यपि कई बोलियों का समिश्रण है, किन्तु इनमें आयोनिक की प्रधानता है। होमर ने इन काव्यों की रचना ईसा से ६०० वर्ष पूर्व की थी। होमर के परवर्ती काल के गद्य-ग्रन्थों की भाषा 'ऐटिक' है। डोरिक तथा आयोनिक एवँ ऐटिक में यत्किञ्चित् ध्वनि-सम्बन्धी अन्तर है। डोरिक में भारोपीय का दीर्घ 'आ' सुरक्षित है, किन्तु आयोनिक-ऐटिक में यह दीर्घ 'ए' में परिणत हो जाता है—भारोपीय का 'माटेर' (*māter) डोरिक में माटेर के ही रूप में मिलता है किन्तु आयोनिक-ऐटिक में यह मेटेर (mētér) हो जाता है। ग्रीक में ईसा पूर्व ६०० वर्ष के शिलालेख उपलब्ध हैं। प्राचीन-ग्रीक 'ऐथेनियन' नाम से प्रसिद्ध थे। उस युग में ऐटिक उपशाखा में अनेक प्रसिद्ध नाटकों तथा गद्य-ग्रंथों की रचना हुई थी। यूरप में ग्रीक-साहित्य के समकक्ष प्रौढ़ एवं उच्चसाहित्य कोई दूसरा न था। आधुनिक यूरोपीय-संस्कृति एवं साहित्य को ग्रीक-साहित्य एवं संस्कृति से अत्यधिक प्रेरणा मिली है। इस्वी सन् के पूर्व ही ग्रीक की कई बोलियों के समिश्रण के परिणामस्वरूप एक आदर्श अथवा स्टैण्डर्ड-भाषा की उत्पत्ति हुई थी

जिसका नाम कोइने (Koine) था। यह भाषा ही ग्रीसदेश के जन-साधारण की बोलचाल की भाषा बन गई। इसीसे आधुनिक-ग्रीक की उत्पत्ति हुई है। इतालिक, जर्मनिक, बाल्तो-स्लाविक, एवं भारत-ईरानी-वर्ग की भाषाओं के समक्ष आज ग्रीक का विस्तार बहुत कम है।

बाल्तो-स्लाविक—इस शाखा की भाषाओं के अन्तर्गत दो उपशाखाएँ—(१) बाल्तिक (२) स्लाविक—आती हैं। प्रथम उपशाखा के अन्तर्गत तीन भाषाएँ—(क) प्राचीन-प्रशन (ख) लिथुआनिया की भाषा लिथुआनीय तथा (ग) लाटेविया की भाषा लेटी—आती हैं। इनमें प्राचीन-प्रशन सत्रहवीं शताब्दि में ही लुप्त हो गई। लिथुआनीय-भाषा भारोपीय-भाषाओं में सबसे प्राचीन है। इसमें वैदिक-संस्कृत तथा प्राचीन-ग्रीक की भाँति ही संगीतात्मक-स्वराघात मिलता है। विशेष भौगोलिक-स्थिति के कारण लिथुआनीय में अत्यल्प परिवर्तन हुआ है। इसमें भारोपीय के प्राचीनतम रूप सुरक्षित मिलते हैं और भाषा-विज्ञान के पण्डितों के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लेटी, लिथुआनीय से अधिक परिवर्तित हो चुकी है। रूस में बोल्शेविक-क्रान्ति के परिणामस्वरूप पिछले दो दशकों में यहाँ की भाषाओं में पुनर्जागरण की लहर दौड़ गई है।

स्लाविक समूह की भाषाएँ बाल्तिक की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं बहुमुखी हैं। दक्षिण-स्लाविक के अन्तर्गत सर्वीय एवं बुल्गेरीय, दो भाषाएं, आती हैं। इनमें बाइबिल के अनुवाद तथा नवीं शताब्दि के ईसाई सन्तों की रचनायें मिलती हैं। यह बाल्तो-स्लाविक-शाखा की प्राचीनतम सामग्री है। पश्चिम-स्लाविक के अंतर्गत चेक, स्लावेकीय एवं पोलिश भाषाओं की गणना है। इनमें प्रथम दो तो चेकोस्लोवेकिया की भाषाएँ हैं और तीसरी पोलैण्ड की। रूस एवं वहाँ की उपभाषाएँ पूर्व-स्लाविक के अन्तर्गत आती हैं।

आल्बनीय—एड्रियाटिक सागर के पूर्वीतट पर आल्बनीय भाषा का क्षेत्र है। सत्रहवीं-शताब्दि से पूर्व की आल्बनीय-भाषा का कोई साहित्य नहीं मिलता। भारोपीय-भाषाओं में आल्बनीय सबसे अधिक विकृत है। इसके शब्द भाण्डार में लैटिन, ग्रीक, स्लाविक, इतालीय एवं तुर्की आदि प्राचीन एवं अर्वाचीन-भाषाओं के अनेक शब्द आ मिले हैं।

आर्मेनीय—आर्मेनिया में आर्मेनीय-भाषा ईसा पूर्व सातवीं-आठवीं शताब्दि से प्रचलित है। वर्तमान समय में यह आर्मेनिया के बाहर भी कहीं-कहीं बोली जाती है। पहले विद्वानों की यह धारणा थी कि आर्मेनीय, ईरानी की ही एक भाषा है, किन्तु बाद में इसकी स्वतंत्र-सत्ता सिद्ध हो गई। आर्मेनीय में

इरानी के लगभग दो सहस्र शब्द हैं। ये विविध युगों में ग्रहण किए गए थे। आर्मेनीय वस्तुतः बाल्तोस्लाविक तथा आर्य-भाषाओं के मध्य की एक शृङ्खला है। यह भारोपीय-परिवार के शतम् वर्ग की भाषा है। इस पर काकेशीय तथा सामी भाषाओं का भी पर्याप्त प्रभाव है।

खत्ती अथवा हत्ती—सन् १६०६-७ में ह्यूगोविंकलर (Hugo Winkler) नामक जर्मन विद्वान् ने एशियामाइनर के अन्तर्गत प्राचीन कप्पदोकिया-प्रदेश के बोगाजकुई ग्राम में अनेक पुरालेखों को खोज निकाला। ये लेख मिट्टी की पट्टिकाओं पर कीलाक्षरों (cuneiform) में लिखे हुए हैं। बोगाज़कुई वस्तुतः ईसापूर्व पन्द्रहवीं-शताब्दि से तेरहवीं-शताब्दि तक द्वितीय हत्तीसाम्राज्य की राजधानी थी। लेख हत्तीसाम्राज्य के पुराने रेकर्ड अथवा कागजपत्र हैं। इनमें से कतिपय दो-भाषाओं (हत्ती-आक्कदीय) तथा अन्य तीन भाषाओं (हत्ती-आक्कदीय-सुमेरीय) में लिखित हैं। यद्यपि ये लेख ईसा पूर्व पन्द्रहवीं से तेरहवीं शताब्दि के मध्य में ही लिखे गए थे तथापि इनमें से कई प्रथम हत्ती साम्राज्य (ईसा पूर्व १६ वीं से १७ वीं शताब्दि) के लेखों की प्रतिलिपि हैं। इसप्रकार इनमें ईसा पूर्व १६ वीं से १७ वीं शताब्दि तक की भाषा एवं लिपि के नमूने भी उपलब्ध हैं।

हत्ती पुरालेखों में अश्व-विद्या के सम्बन्ध में एक ग्रंथ मिला है। इसके कतिपय पारिभाषिक-शब्दों में भारतीय-आर्यभाषा के आदिमरूप मिलते हैं। उदाहरणस्वरूप इसमें एक शब्द 'अइक-वर्तन' मिला है। इसका संस्कृतरूप एक-वर्त्तन है। संस्कृत 'एक' शब्द का प्राचीनरूप "अइक" था। यह अन्यत्र नहीं मिलता है। हत्ती में अनेक शब्द मितन्नी-राज-सभा की भाषा से आए हैं। मेसोपोटेमिया के पूर्व में स्थित मितन्नी की राज-सभा की भाषा से भारतीय-आर्यभाषा का घनिष्ठ सम्पर्क था। इस सम्बन्ध में प्रमाण उपलब्ध हैं। एक हत्ती पुरालेख में हत्तीराज सुब्बिलुल्युमस् तथा मितन्नीराज मतिराज की पुत्र-कन्या के विवाह का उल्लेख है। यह एक प्रकार का सन्धि-पत्र है। इसमें अनेक विशिष्ट वैदिक-देवताओं के नामों का उल्लेख मिलता है। इसके उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

शुरियश (Shuriash) = वेदपूर्व, आर्यभाषा सुरियस्, वैदिक सूर्य्यः।

मरुत्तश (Maruttash) = वेदपूर्व मरुतस्, वै० मरुतः।

ईन्दर (Indara) (स्वरभक्ति युक्त रूप) = वै० इन्द्रः।

उरुवन (uruwna)=वै० वरुणः। आदि

कई मितन्नी-नामों में भी भारतीय-आर्य-भाषा की विशेषता परिलक्षित होती है। यथा—

अबिरत्तश (=वै० अभिरथः); अर्त्तमन्यु (=वै० ऋतमन्यः), बिरिदश्व (=वै० बृद्धाश्वः); अइतगाम (=वै० एतगाम); शुबन्दु (=वै० सुबन्धु); शुमित्तरश (=वै० सुमित्रः) आदि।

सुमेरीय तथा आक्कदीय-भाषाओं से अत्यधिक प्रभावित होने पर भी हत्ती का भारोपीय स्वरूप नष्ट न हो सका। यही नहीं, भारोपीय की अनेक विशेषताएँ तो केवल हत्ती में ही सुरक्षित हैं। उदाहरणस्वरूप * एस् धातु के वर्तमान-काल, परस्मैपद, प्रथमपुरुष, के बहुवचन के रूप में, आदिस्वर "ए," केवल हत्ती में ही वर्तमान है। मूलभाषा में रूप था * एसोन्ति। इसके बाद मूलभाषा से एकार का लोप हो गया और तब * सोन्ति अथवा * सेन्ति रूप बना; इससे ही संस्कृत सन्ति, ग्री० एन्ति, लै० सुन्त आदि शब्द सिद्ध हुए। किन्तु हत्ती में असन्ज़ि (asanzi) रूप मिलता है। इसप्रकार हत्ती का रूप मूलभाषा के * एसेन्ति अथवा * एसोन्ति से ही आया है, परवर्ती-रूप * सोन्ति अथवा * सेन्ति से नहीं। हत्ती की प्राचीनता का ही अनुभव करके कतिपय भाषाविज्ञानियों का अनुमान है कि एक ओर जहाँ आदिमभाषा से भारोपीय की उत्पत्ति हुई है वहाँ दूसरी ओर हत्ती की भी। इसका विवरण इसप्रकार है—

तुखारीय—हत्ती की भाँति ही तुखारीय अथवा तोखारीय का आविष्कार भी वर्तमान शताब्दि में ही हुआ है। मध्य-एशिया-स्थित चीनी तुर्किस्तान में अंग्रेज, फ्रेंच, रूसी तथा जर्मन विद्वानों के अन्वेषणों के फलस्वरूप सन् १६०४ ई० में अनेक हस्तलिखित-ग्रंथ तथा कागद-पत्र प्राप्त हुए। इन ग्रन्थों तथा लेखों की लिपि खरोष्ठी तथा ब्राह्मी थी। प्रो० सीग (sieg) ने इन ग्रंथों में प्रयुक्त भाषा का विशेष अध्ययन किया और यह भारोपीयपरिवार के कतम् (केण्टुम) वर्ग की प्रमाणित हुई। चूँकि इस भाषा के बोलनेवाले 'तुखार' अथवा 'तोखार' लोग

थे, अतएव इस भाषा का नामकरण तुखारीय अथवा तोखारीय किया गया। सातवीं शताब्दि के लगभग यह भाषा लुप्त हो गई।

तुखरीय-ग्रंथों में स्पष्टरूप से दो विभाषाएँ प्रयुक्त हुई हैं। इन्हें विद्वानों ने "अ" और "ब" विभाषाएँ कहा है। इनमें प्रथम वास्तव में तुखारों की भाषा है और इसी को तुखारीय कहना उपयुक्त है। द्वितीय कूचा-प्रदेश की भाषा है, अतएव इसे प्राचीन-कूची कहना ठीक होगा। कई बातों में तुखारीय-भाषा केल्तिक तथा इतालीय-भाषाओं से साम्य रखती है।

भारत-इरानी अथवा आर्यवर्ग

भारत-इरानी भाषा-भाषी अपने को आर्य कहकर सम्बोधित करते थे। यही कारण है कि इस वर्ग की भाषा को भारत-इरानी अथवा आर्य नाम से अभिहित किया जाता है। भारोपीयपरिवार की भाषाओं में भारत-इरानी वर्ग में सब से प्राचीन साहित्यिक-सामग्री उपलब्ध है। इसकी दो उपशाखाएँ हैं (१) इरानीय (२) भारतीय। इरानीय के अन्तर्गत भी दो भाषाएँ आती हैं। इनमें एक है **अवेस्ता की भाषा** तथा दूसरी है **प्राचीनफारसी भाषा**।

अवेस्ता की भाषा

ज़र.थुश्त्र (सं० जरठोष्ट्र)के उपासक पारसी लोग अवेस्ता को उसीप्रकार आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखते हैं जिसप्रकार हिन्दू वेद को। इरान के उत्तर एवं उत्तरपूर्व-प्रदेश की बोलचाल की भाषा ही वस्तुतः अवेस्ता की आधारभूता भाषा थी। अवेस्ता के प्राचीनतम अंश उसकी गाथाएँ हैं। गाथाओं की भाषा अन्य अंशों की भाषा से प्राचीन है। ऋग्वेद की भाषा से इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। विद्वानों के अनुसार ऋषि ज़र.थुश्त्र ने इसकी रचना, ईसापूर्व सातवीं-आठवीं शताब्दि में की होगी। अर्वाचीन-अवेस्ता के अन्य अंशों की रचना अनुमानतः ईसापूर्व तृतीय-चतुर्थ शताब्दि में हुई होगी। किन्तु अवेस्ता का संकलन बहुत बाद में हुआ। यह कार्य सासानीय-वंश के राजत्वकाल में, ईस्वी तीसरी-शताब्दि से सातवीं-शताब्दि के बीच, सम्पन्न हुआ था। इसके पूर्व प्राचीन-अवेस्ता-साहित्य का बहुत अंश विनष्ट हो चुका था। आज अवेस्ता के रूप में जो साहित्य उपलब्ध है वह प्राचीन-विराट-साहित्य का अवशेष-मात्र ही है।

ज़र.थुश्त्र के पूर्व के इरानीय-आर्य, भारतीय-आर्यों की भाँति ही यज्ञ-

परायण तथा देवोपासक थे। अवेस्ता में आज भी उस प्राचीन-धर्म के चिह्न उपलब्ध हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ज़र.थुस्त्रीय-धर्मग्रहण करने के पश्चात् भारतीय तथा इरानीय आर्यों में पारस्परिक विद्वेष हो गया। इसके प्रमाण 'देव' तथा 'असुर' शब्द हैं। इरानीय में 'देव' का अर्थ है 'अपदेवता' अथवा राक्षस। इसप्रकार आर्यों के प्राचीन देवता 'नासत्य' एवं 'इन्द्र' आदि इरानियों के लिए अपदेवता बन गए हैं। अवेस्ता में 'देव' शब्द का अर्थ यही है। ठीक इसीप्रकार संस्कृत में 'असुर' शब्द के अर्थ में विपर्यय हो गया है। ऋग्वेद के प्राचीनमंत्रों में असुर शब्द वरुण आदि देवताओं के विशेषण के रूप में व्यवहृत हुआ है। अवेस्ता में भी ईश्वर को 'अहुरमज़्दा' (असुरमेधाः) अथवा 'महद्ज्ञान-स्वरूप' कहा गया है; किन्तु आगे चलकर वैदिक-साहित्य में ही 'असुर' शब्द देव-विरोधी अथवा राक्षस-वाची हो गया है। इसप्रकार इन दो शब्दों में इरानीय तथा भारतीय-आर्यों के धार्मिक-कलह का इतिहास सन्निविष्ट है। यह होते हुए भी कतिपय ऐसे देवता हैं जो इरानीय एवं भारतीय-आर्यों द्वारा समानरूप से पूजित हैं। इनमें 'मित्र' 'अर्यमा' एवं 'सोम' उल्लेखनीय हैं।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि भारतीय-आर्य-भाषा (संस्कृत) तथा इरानीय-आर्य-भाषा (अवेस्ता की भाषा) में अत्यधिक साम्य है। नीचे अवेस्ता से एक पद लेकर उसे संस्कृत में रूपान्तरित किया जाता है। इससे दोनों भाषाओं की समता स्पष्ट हो जायेगी। यह अवेस्ता के यस्न ६ का प्रथम-पद है। इसका छन्द भी प्रायः अनुष्टुप है।

अवेस्ता का पद

हावनीम् आ रतुम् आ
हओमो उपाइत् ज़रथुश्त्रेॅम्,
आत्रेॅम् पइरियओज़्दथेॅन्तेॅम्,
गाथाओॅस्-च स्रावयन्तेम्।
आ-दिम् पेॅरेॅसत् ज़र.थुश्त्रो: "को नरेॅ अही!
यिम् अज़ेम् वीस्पहे अङ्हेउश्
अस्तवतो स्रएश्तेम् दादरेस्" ॥

संस्कृतरूप

सावने आ ऋतौ आ
सोम उपैत् (उपागात्) जरठोष्ट्रम्;

अथरं परि-योस्-दघतम्,
गाथाश्च श्रावयन्तम्।
आ तं (अ) पृच्छत् जरठोष्ट्र:; "को नरो असि ?
यं अहं विश्वस्य असोः (असुमतः)
अस्थन्वतः श्रेष्ठं ददर्श ॥"

अनुवाद

सवनवेला (प्रातःकाल) में होम (सोम) जर थुश्त्र के पास आया जो अग्नि को उज्वल कर रहा था और उसको गाथा सुना रहा था। उससे जरथुश्त्र ने पूछा "आप कौन पुरुष हैं, जिन्हें मैं सभी अस्थिधारियों (जीवधारियों अथवा प्राणियों) में श्रेष्ठ देख रहा हूँ।"

अवेस्ता की भाषा और प्राचीन-भारतीय-आर्यभाषा (संस्कृत) में साधारण-तया स्वर-सादृश्य दिखाई देता है, जैसा निम्न उदाहरणों से स्पष्ट विदित हो जायेगा—

सं० अप, अवे० अप; सं० मातर, अवे० मातर; सं० इहि, अवे० इहि; सं० जीव, अवे० जीव्य; सं० उत, अवे० उत; सं० दूर, अवे० दूर।

परंतु किन्हीं स्थलों में अवेस्ता की भाषा तथा संस्कृत के स्वरों में मात्रा अथवा प्रकार में भेद भी हो गया है। संस्कृत के ह्रस्व-स्वरों के स्थान पर अवेस्ता की भाषा में दीर्घ-स्वर, एवं दीर्घ-स्वरों के स्थान पर ह्रस्व-स्वर दिखाई देते हैं। यह स्वर-भिन्नता किन्हीं नियमों का अनुसरण करती है—

(१) पदान्त 'म्' से पूर्व सं० इ, उ > अवे० ई, ऊ; यथा—सं० पतिम्, अवे० पईतीम्; सं० तायुम्, अवे० तायूम्।

(२) स्वरान्त-एकाक्षर-पद में अवेस्ता की भाषा में सर्वत्र दीर्घ-स्वर आता है; सं० प्र, अवे० प्रा; सं० हि, अवे० जी; सं० नु, अवे० नू।

(३) अर्वाचीन-अवेस्ता की भाषा में अनेकाक्षर-पद के अन्त का स्वर, ह्रस्व हो जाता है; यथा, सं० सेना, अर्वा० अवे० हएन; सं० नारी, अर्वा० अवे० नाईरि; सं० दस्यू, अर्वा० अवे० दह्यु।

(४) गाथिक-अवेस्ता में पदान्त का स्वर दीर्घ हो जाता है; यथा, सं० असुर, गा० अवे० अहुर; सं० असि, गा० अवे० अही।

स्वरों के प्रकार में भेद—

सं० 'अ' = अवे० 'ऍ', कहीं-कहीं पर 'इ' (न, म से पूर्व) तथा 'ओ';

यथा, सं० सन्तम् = अवे० हे॑न्ते॑म्; सं० यम् = अवे० यिम्; सं० वसु = अवे० वोहु।

सं० अ = अवे० 'ए' (इ, ई, ए, ऐ से अनुगमित य से पूर्व); यथा—सं० रोचयति = अवे० रओचयेति।

सं० ऋ = अवे: 'ऍरे॑' अथवा 'अरे॑' तथा सं० इर्, उर् = अवे० 'अर्', 'ऍर्'; यथा, सं० कृणोति = अवे० केरे॑नओइ॑ति; सं० वृत्तम् = अवे० वरे॑शे॑म्; सं० हिरण्यस्य = अवे० ज़रन्येहे; सं० आसुर = अवे० अङ्हुरे।

संस्कृत के संध्यक्षर 'ए', 'ओ' = अवे० क्रमशः 'अए, अथवा ओइ' तथा 'अओ॑ अथवा ऍउ'; यथा—सं० एतत् = अवे० अएतत्; सं० ये = अवे० योइ; सं० ओजस् = अवे० अओजो; सं० क्रतोः = अवे० ख्रते॑उस्।

अवेस्ता की भाषा में सन्धि के नियम साधारणतया संस्कृत के समान हैं। परन्तु अवेस्ता की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता अपिनिहिति (Epenthesis) अग्रागम (Prothesis) तथा स्वर-भक्ति (Anaptyxis) का सन्निवेश है। इ, ई, ए, य, अथवा उ, व से अनुगमित व्यञ्जन से पूर्व अवेस्ता की भाषा में ह्रस्व इ अथवा उ का सन्निवेश हो जाता है; इसको अपिनिहिति (Epenthesis) कहते हैं। यथा, सं० भवति, अवे० बवइ॑ति; सं० तरुणम्, अवे० तउरुने॑म्।

इ, अथवा उकारान्त 'र्' से पूर्व, अवेस्ता की भाषा में स्वरागम होता है, जो अग्रागम (Prothesis) कहलाता है; यथा—सं० रिणक्ति = अवे० इरिनख़्त; सं० रोपयन्ति = अवे० उरुपयेइन्ति।

दो व्यञ्जनों के बीच और विशेषतया जब उनमें से एक 'र' हो, तो अवेस्ता की भाषा में स्वर का सन्निवेश हो जाता है; इसे स्वरभक्ति (anaptyxis) कहते हैं। पदान्त 'र' के पश्चात् तो यह स्वर-भक्ति नियमित रूप से दिखाई देती है। यथा—सं० दद्मसि = अवे०; ददॅमही; सं० घर्मः = अवे० गरॅमो; सं० अन्तर् = अवे०; अन्तरॅ।

अवेस्ता की भाषा में व्यञ्जन-ध्वनियाँ प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा (वैदिक-संस्कृत) के समान पूर्णरूप में सुरक्षित नहीं हैं। इसमें मूर्धन्य-व्यञ्जनों (ट, ठ, ड, ढ) का सर्वथा अभाव है, तालव्य-व्यञ्जन केवल 'च', और 'ज' ही हैं, सोष्म-व्यञ्जन (घ, झ, ध, भ) भी नहीं हैं और नासिक्य-व्यञ्जन संस्कृत से कुछ

ही अंश में समानता रखते हैं। यहाँ पर अवेस्ता की भाषा तथा संस्कृत की व्यञ्जन-ध्वनियों में कतिपय भिन्नताओं का संक्षेप में निर्देश किया जाता है।

(अ) व्यञ्जन से अनुगमित सं० क्, त्, प् = अवे० ख्, थ्, फ्; यथा, सं० क्रतुः = अवे० ख्रतुश्; सं० क्षत्रम् = अवे० ख्शथ्रॅम्; सं० स्वप्नम् = अवे० ह्वफ्नेम्।

परन्तु ऊष्म-व्यञ्जन के अनुगामी 'क्, त्, प्, इस नियम के अपवाद हैं; यथा—अवे० उश्त्रॅम् (सं० उष्ट्रम), अवे० स्तऑरॅम् (सं० स्थूरम), अवे० स्करॅन (सं० स्खलन), अवे० ह्प्त (सं० सप्त)।

(आ) सं० ख्, थ्, फ् = अवे० ख्, थ्, फ्। यथा, सं० सखा = अवे० ह्खा; सं० सप्तम्; अवे० = ह्प्तथॅम्; सं० कफः, = अवे० कफॅम्।

(इ) सं० घ, ध, भ = अवे० ग, द, ब। यथा, सं० दीर्घम् = अवे० दरॅगॅम्; सं० अध = अवे० अदा; सं० भ्राता = अवे० ब्राता।

(ई) संस्कृत के 'ज्' तथा 'ह्' दोनों के स्थान पर अवेस्ता की भाषा में 'ज्' अथवा 'ज़्' का प्रयोग हुआ है। यथा सं० ओजिष्ठः = अवे० अओजिश्तो; सं० द्रुह्म्, अवे० द्रुजॅम्; सं० जात = अवे० ज़ातो; सं० हस्त = अवे० ज़स्त।

(उ) अवेस्ता की भाषा में 'ल्' नहीं है, अतः इसका स्थान 'र्' ने ले लिया है। यथा, सं० श्रीलः = अवे० स्रीरो 'श्री-सम्पन्न'; सं० कल्पते = अवे० ख्रपइती।

(ऊ) सं० श्व = अवे० स्प; सं० अश्व = अवे० अस्प; सं० विश्वम् = अवे० वीस्पॅम्।

(ए) अवेस्ता की भाषा में ऊष्म-व्यञ्जनों की बहुलता है। इसमें चार (स्, श्, श्, ष्) अघोष, तथा दो (ज्, ज़्) सघोष-ऊष्म-व्यञ्जन हैं।

(ऐ) अवेस्ता की भाषा में स्वर-ध्वनि के बीच का स-कार, हकार में परिणत हो जाता है। इस विशेषता का उल्लेख 'भारोपीय-ध्वनियों' के प्रसंग में किया जा चुका है।

अवेस्ता की भाषा में आठ कारक, तीन वचन तथा तीन लिङ्ग हैं। कारकों का प्रयोग भी संस्कृत के समान ही हुआ है। शब्द-रूपों एवं धातु-रूपों में यह भाषा संस्कृत से अत्यधिक समानता रखती है। इसमें विशेषण, संख्यावाचक एवं सर्वनाम शब्दों के रूप भी संस्कृत के समान बनते हैं। तारतम्य प्रकट करने के लिये

विशेषणों के साथ 'तर' (सं० तर), 'तेॅम' (सं० तम) तथा 'यह्' (सं० इयस्), 'इस्त' (सं० इष्ठ) प्रत्यय लगते हैं। यथा,

अमवन्त् 'बलवान' अमवत्तर, अमवत्तेॅम

मज़ (सं० मह); मज़्यस् (सं० महीयस्), मज़िश्त (सं० महिष्ठ)

धातु-रूपों में अवेस्ता की भाषा वैदिक-भाषा से बहुत समानता रखती है। इसके धातु-रूपों में तीन पुरुष, तीन वचन, दो वाच्य, चार काल—वर्तमान या 'लट्', असम्पन्न या 'लङ्', सामान्य या 'लुङ्' एवं सम्पन्न या 'लिट्', तथा चार भाव—निर्देश, अनुज्ञा, सम्भावक एवं निर्बन्ध—हैं। इनके प्रयोग में भी दोनों भाषाओं में समानता है। प्रत्येक वाच्य एवं काल के साथ अनेक असमापिका-क्रियाएँ भी अवेस्ता की भाषा में विद्यमान हैं।

अवेस्ता को जिस समय संकलित एवं लिपिबद्ध किया गया था, उस समय तक इरानी-भाषा में पर्याप्त परिवर्तन एवं रूपान्तर हो गया था। यही कारण है कि इसके शब्द रूपादि में बहुत अन्तर मिलता है। अर्वाचीन-अवेस्ता में स्वरों का बाहुल्य, ह्रस्व-दीर्घ का विपर्यय, व्यञ्जन-वर्णों का ऊष्मीकरण तथा अत्यधिक मात्रा में अपिनिहिति के रूप मिलते हैं। गाथिक (पुरानी अवेस्ता) में उच्चारण एवं व्याकरण-सम्बन्धी इसप्रकार की अव्यवस्था का अभाव है।

प्राचीन-फ़ारसी

प्राचीन-फ़ारसी इरान के दक्षिण-पश्चिम-प्रदेश की भाषा थी। इस प्रदेश का पुराना नाम पारस था। इस प्रदेश, के अधिवासी, हखामनीशीयवंश के अभ्युदय के साथ-साथ, उनकी मातृ-भाषा, प्राचीन-फ़ारसी भी इरान की राज-भाषा हो गई। इस वंश के सम्राट दारयवहुश् (धारयद्वसुः अथवा धारयद्वसुः Dareios, Darius ईसा पूर्व ५२१—४८५) तथा उसके पुत्र ज़रक्षीज़ (क्षयार्ष Xerxes) अत्यधिक प्रतापी हुए। इन दोनों के जो शिलालेख तथा ताम्र-लेख मिले हैं, उन्हीं से प्राचीन-फ़ारसी की सामग्री उपलब्ध हुई है। प्राचीनकाल में मैसोपोटामिया तथा एशियामाइनर में जो कीलाक्षर प्रचलित थे उसी के एक रूप में प्राचीन-फ़ारसी के ये पुरालेख मिले हैं।

नीचे दारयवहुश् के अभिलेख की कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं। अवेस्ता की भाषा के समान ही प्राचीन-फ़ारसी का संस्कृत से कितना अधिक साम्य है, यह इससे स्पष्ट हो जायेगा।

फ़ारसी-अभिलेख की पंक्तियाँ

थातिय् दारयवउश् ख्शायथिय इम त्य मना कृतम् पसाव यथा ख्शायथिय अबवम् । कम्बूजिय नाम कूरउश् पुथ्र अमाखम् तउमाया हउवम् इदा ख्शायथिय आह; अवह्या कम्बूजियह्या ब्राता बर्दिय नाम आह हमाता हमपिता कम्बूजियह्या; पसाव कम्बूजिय अवम् बर्दियम् अवाजन् । यथा कम्बूजिय बर्दियम् अवाजन् कारह्या नइय् अज़्दा अबव त्य बर्दिय अवजत । पसाव कम्बूजिय मुद्रायम् अशियव । यथा कम्बूजिय मुद्रायम् अशियव पसाव कार अरिक अबव; पसाव द्रउग दह्यउवा वसिय् अबव उता पार्सइय् उता मादइय् उता अनियाउवा दह्युशुवा ॥

संस्कृत-रूप—

शास्ति धारयद्वसुः क्षियन् (=क्षत्रियः) इदं त्यत् मया कृतं पश्चात् अवत् (एतत्) यदा क्षियन् (=क्षत्रियः) अभवम् । कम्बुजो नाम कुरोः पुत्र अस्माकं तोकस्य (=कुलस्य) असौ इध (=इह) क्षियन् (=क्षत्रियः) आस; अस्य कम्बुजस्य भ्राता बर्दियो नाम आस समातृकः सपितृकः कम्बुजस्य; पश्चात् अवत् (=एतत्) कम्बुजः तं बर्दियं अवाहन् । यदा कम्बुजो बर्दियं अवाहन्, कारस्य (=लोकस्य) न एतत् अद्धा अभवत् त्यत् (=सः) बर्दिय अवाहन्यत । पश्चात् अवत् (=एतत्) कम्बुजो मिस्र (देशं) अच्यवत् । यदा कम्बुजो मिस्र (देशं) अच्यवत् पश्चात् अवत् (=एतत्) काराः (=लोकाः) अरिका अभवन्; पश्चात् अवत् द्रोहः दस्यौ (=देशे) आ वशी अभवत्, उत पारस (देशे) उत मद (देशे) उत अन्येषु आ दस्युषु (देशेषु) आ ॥

अनुवाद—

राजा दारयवउश (धारयद्वसु) कहता है, जब मैं राजा हुआ, उसके पश्चात् मैंने यह किया । हमारे कुल का कम्बुज नामका कुरु का पुत्र—वह यहाँ शासक था । कम्बुज का बर्दिय नामक समातृक सपितृक भाई था; इसके पश्चात् कम्बुज ने बर्दिय का बध कर दिया । जब कम्बुज ने बर्दिय का बध किया, जनता को यह विदित न हुआ कि बर्दिय मारा गया है । इसके पश्चात् कम्बुज मिस्र चला गया । जब कम्बुज मिस्र चला गया, इसके पश्चात् लोग शत्रु हो गये । इसके पश्चात् समस्त देश में द्रोह फैल गया, फारस में और मद (मीडिया, Media) देश में और अन्य देशों में (द्रोह फैल गया) ॥

संस्कृत से साधारणतया साम्य होने पर भी इरानी-शाखा की इन दोनों

भाषाओं की अपनी कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो इनको संस्कृत से भिन्न करती हैं। अवेस्ता की भाषा के प्रसङ्ग में ऐसी कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया जा चुका है। प्राचीन-फारसी की ध्वनियाँ एवं व्याकरण, अवेस्ता की भाषा से अत्यधिक समानता रखते हैं। परन्तु किन्हीं बातों में प्राचीन-फारसी अवेस्ता की भाषा से भिन्न है। अवेस्ता की भाषा में संस्कृत के 'अ' के स्थान पर 'ऍ' अथवा 'ओ' पाया जाता है, परन्तु प्राचीन-फारसी में यह परिवर्तन नहीं दिखाई देता। संस्कृत के संध्यक्षरों 'ए' तथा 'ओ' के स्थान पर प्राचीन-फारसी में क्रमशः 'अइ' तथा 'अउ'का प्रयोग हुआ है और संस्कृत 'ऋ', अवेस्ता 'ऍरे॒' (अरे॒), प्राचीन-फारसी में '(अ) र्' हो गया है; यथा, सं० पृच्छामि = अवे० पे॒रे॒सामि' = प्रा० फा० अपर्सम्। अवेस्ता की भाषा में पदान्त के दीर्घ-स्वर का ह्रस्वीकरण, गाथिक अवेस्ता में पदान्त के ह्रस्व-स्वर का दीर्घीकरण, अर्वाचीन-अवेस्ता में एकाक्षर-पद के अन्त के ह्रस्व-स्वर का दीर्घीकरण, 'म्' से अनुगमित 'इ' 'उ' का दीर्घ हो जाना तथा अपिनिहिति—ये विशेषतायें अवेस्ता की भाषा को प्राचीन-फारसी से पृथक करती हैं'। इनके अतिरिक्त संस्कृत का 'ज्' अथवा 'ह्' अवेस्ता की भाषा में 'ज्' हो गया है, परन्तु प्राचीन-फारसी में यह बहुधा 'द्' के रूप में परिणत हो गया है। सं० त्रयस = अवे० त्र्यह्, = प्रा० फा० द्रयह् = तथा सं० हस्त = अवे० जस्त = प्रा० फा० दस्त, इसके उदाहरण हैं। संस्कृत का पदान्त का 'अस् (अः)' अवेस्ता में 'ओ' हो जाता है, परन्तु प्राचीन-फारसी में 'अ' रह जाता है। इसीप्रकार संस्कृत का पदान्त का 'आस् (आः)' अवेस्ता में 'आओ॒' के रूप में मिलता है, परन्तु प्राचीन-फारसी में यह 'आ' के रूप में दिखाई देता है; यथा, सं० पुत्रस् (त्रः) = अवे० पु.थ्रो॒ = प्रा० फा० पु.थ्र; सं० सेनायास् (याः) = अवे० हएनयाओ॒ = प्रा० फा० हइनाया। इरानी-शाखा की अन्य विशेषतायें अवेस्ता की भाषा तथा प्राचीन-फारसी में लगभग समानरूप से दिखाई देती हैं।

जिसप्रकार प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा का विवर्तन पाली, प्राकृत तथा आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं के रूप में हुआ, इसीप्रकार प्राचीन-फारसी ने भी मध्य-इरानी (पहलवी) तथा अर्वाचीन-फारसी को जन्म दिया।

मध्य-इरानी-भाषा को 'पह्लवी' (< प्रा० फा० पर्थ्व, सं० पह्लव, फारसी 'पह्लव' = 'योद्धा') के नाम से अभिहित किया जाता है। ईसा की तीसरी से नवीं शताब्दी तक यह भाषा प्रचलित रही। इसमें इरानी-शब्दों के साथ सामी (अरबी) शब्दों का प्रयोग होने लगा और अनेक सामी-शब्द इरानी-प्रत्यय लगाकर ग्रहण किये जाने लगे। इसप्रकार यह भाषा प्राचीन-फारसी की अपेक्षा

अर्वाचीन-फ़ारसी के अधिक निकट पड़ती है। इसमें लिङ्ग-भेद के कारण रूप-भेद समाप्त हो गये और सुप्-विभक्तियों का काम अव्ययों से लिया जाने लगा।

'पहलवी' के अतिरिक्त कुछ अन्य उपभाषायें भी मध्य-इरानी के अंतर्गत थीं। इनमें 'शक' भाषा उल्लेखनीय है। इस भाषा में अनेक बौद्ध-ग्रंथों का अनुवाद हुआ था।

अर्वाचीन-फारसी में अरबीभाषा का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया है कि प्राचीन-फ़ारसी से इसकी समानता अल्पांश में ही दिखाई देती है। प्राचीन-फारसी में प्रधानतया सुप्-विभक्तियों के प्रयोग से शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध प्रकट किया जाता था, परन्तु अर्वाचीन-फारसी में अव्ययों आदि के प्रयोग से तथा वाक्य में शब्दों की स्थिति से यह सम्बन्ध प्रकट किया जाता है। अफ़गान अथवा पश्तो, बलूची तथा कास्पियन सागर के आसपास की कुछ भाषायें भी अर्वाचीन-इरानी के अंतर्गत हैं।

ग्रियर्सन आदि कतिपय भाषा-विज्ञान के पण्डितों ने भारत के उत्तर-पश्चिमी-सीमांत-प्रदेश, पामीर की उपत्यका की भाषाओं तथा काश्मीरी को भारतीय एवं इरानी-आर्य-भाषा के मध्य में स्थान दिया है तथा इन भाषाओं को 'दरदीय' (Dardic) नाम दिया है। इन भाषाओं में इरानी तथा भारतीय दोनों ही भाषाओं की कुछ विशेषताएँ दिखाई देती हैं।

दूसरा अध्याय

प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा

भारत में आर्यों का आगमन किस काल में हुआ, यह अत्यंत विवाद-ग्रस्त प्रश्न है, और यहाँ पर इस विवाद में पड़ना हमें अभीष्ट भी नहीं है। साधारणतया यह माना जाता है कि २०००—१५०० ई० पू० भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमांत-प्रदेश में आर्यों के दल आने लगे थे। यहाँ पहिले से बसी हुई अनार्य जातियों को परास्त कर आर्यों ने सप्त-सिंधु (आधुनिक पंजाब) देश में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। यहाँ से वे धीरे-धीरे पूर्व की ओर बढ़ते गये और मध्य-देश, काशी, कौशल, मगध-विदेह, अङ्ग-बङ्ग तथा कामरूप में स्थानीय अनार्य जातियों को अभिभूत कर उन्होंने अपने राज्य स्थापित कर लिये। इस प्रकार समस्त उत्तरापथ में आर्यों का आधिपत्य स्थापित हो गया। अब आर्य-संस्कृति ने दक्षिणापथ में प्रवेश किया और जब यूनानी राज-दूत मैगस्थनीज़ भारत आया तब तक आर्य-संस्कृति सुदूर दक्षिण में फैल चुकी थी।

आर्यों की विजय राजनीतिक-विजय मात्र न थी। वह अपने साथ सुविकसित भाषा एवं यज्ञ-परायण संस्कृति भी लाये थे। राजनीतिक-विजय के साथ-साथ उनकी भाषा एवं संस्कृति भी भारत में प्रसार पाने लगीं। परन्तु स्थानीय अनार्य जातियों के प्रभाव से वह सर्वथा मुक्त न रह सकीं। हड़प्पा एवं मोहिंजोदड़ो की खुदाइयों से सिंधुघाटी की जो सभ्यता प्रकाश में आई है, उससे स्पष्ट विदित होता है कि यायावर, पशु-पालक आर्यों के आगमन से पूर्व सिंधु-घाटी में सभ्यता का बहुत विकास हो चुका था। अतः यह सर्वथा संभव है कि आर्यों की भाषा, संस्कृति तथा धार्मिक-विचारों पर अनार्य-जातियों के सम्पर्क का पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

भारत में आर्यों का प्रसार सरलतया सम्पन्न न हुआ था। उनको अनेक प्राकृतिक एवं मानुषिक बाधा-विरोधों का सामना करना पड़ा था। अतः प्रसार के इस कार्य में अनेक शताब्दियाँ लग गईं। इस काल-क्रम में भाषा भी स्थिर न रही; उसके रूप में परिवर्तन-विवर्तन होता गया। सौभाग्य से भारतीय-आर्य-भाषा का प्राचीन-काल से लेकर आधुनिक-काल तक का रूप उसके अविश्रृंखलित रूप से उपलब्ध साहित्य में बहुत कुछ सुरक्षित है। अतः इस भाषा के विकास की

प्रत्येक कड़ी को प्रकाश में लाना भाषा-विज्ञान के आचार्यों के लिये सरलतया संभव हो सका है।

विकास-क्रम के विचार से भारतीय-आर्य-भाषा के तीन विभाग किये जाते हैं—(१) प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा (वैदिक-संस्कृत, लौकिक-संस्कृत), (२) मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा (अशोक के अभिलेखों की भाषा, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश) (३) आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषा (हिंदी, बङ्गला, गुजराती, मराठी, पञ्जाबी, सिन्धी आदि)।

प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा—

यह ऊपर कहा जा चुका है कि भारत में आने वाले आर्यों के दल अपने साथ यज्ञ-परायण संस्कृति लाये थे। प्राचीन-इरानी-संस्कृति के अध्ययन से विदित होता है कि भारत में प्रवेश करने से पूर्व ही आर्यों में इन्द्र, मित्र, वरुण आदि देवताओं की उपासना प्रचलित थी। भारत में बस जाने पर यज्ञों के विधि-विधान में विकास होता गया। आर्य-ऋषि देवताओं की प्रशंशा में सूक्तों की रचना करते रहे। यह सूक्त परम्परागतरूप से ऋषि-परिवारों में सुरक्षित रखे जाने लगे। बाद में विभिन्न ऋषि-परिवारों से सूक्तों का संग्रह किया गया। यह संकलन 'ऋग्वेद-संहिता' के रूप में हुआ है। उस अविज्ञात अत्यंत प्राचीन-काल से वेदाध्ययन-परायण मनीषियों ने श्रुति-परम्परा से 'ऋक्संहिता' को अविकलितरूप में सुरक्षित रखकर भारोपीय-परिवार के प्राचीनतम-साहित्य को हम तक पहुँचाया है।

यज्ञों के विकास के साथ-साथ वैदिक-वाङ्मय में विशेष वृद्धि होती गई। वैदिक-साहित्य के अंतर्गत तीन विभाग हैं—(१) संहिता (२) ब्राह्मण एवं (३) उपनिषद्। संहिता-भाग में ऋक्-संहिता के अतिरिक्त 'यजुः-संहिता' 'साम-संहिता' एवं 'अथर्व-संहिता' हैं। 'यजुः-संहिता' में यज्ञों के कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मंत्र संगृहीत हैं। इसके मंत्र यज्ञों में प्रयोग के क्रम से रखे गये हैं और पद्य के साथ-साथ गद्य में भी अनेक मंत्र इसमें उपलब्ध होते हैं। यजुः-संहिता, कृष्ण एवं शुक्ल, इन दो-रूपों में सुरक्षित है। कृष्ण-यजुर्वेद-संहिता में मंत्र-भाग एवं गद्यमय व्याख्यात्मक भाग साथ-साथ संकलित किये गये हैं, परंतु शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता में केवल मंत्र-भाग संगृहीत हैं। 'सामवेद-संहिता' में सोम-यागों में गाये जाने वाले सूक्तों को गेय पदों के रूप में सजाया गया है। इसके अधिकांश सूक्त 'ऋग्वेद-संहिता' से लिये गये हैं। 'अथर्व-वेद-संहिता' में जनसाधारण में प्रचलित मंत्र-तंत्र, टोने टोटकों का संकलन है। इसकी सामग्री 'ऋक्-संहिता' से कम प्राचीन नहीं है,

परंतु चिरकाल तक 'वेद' के रूप में मान्यता प्राप्त न होने के कारण इसकी भाषा का प्राचीनरूप सुरक्षित न रह पाया।

ब्राह्मण-भाग में कर्म-काण्ड की व्याख्या की गई है और इसी प्रसंग में अनेक उपाख्यान दिये गये हैं। प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण-ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों की रचना गद्य में हुई है। ऋग्वेद का प्रधान ब्राह्मण-ग्रंथ 'ऐतरेय-ब्राह्मण' है। ब्राह्मण-ग्रंथों में यह सबसे प्राचीन है और इसका रचनाकाल अनुमानतः २००० ई० पू० है। 'साम-वेद' के ब्राह्मण-ग्रंथों में 'ताण्ड्य अथवा पञ्चविंश ब्राह्मण' विशेष उल्लेखनीय है। 'शतपथ-ब्राह्मण' शुक्ल-यजुर्वेद का ब्राह्मण-भाग है। 'तैत्तिरीय-ब्राह्मण' आदि कृष्ण-यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रंथ हैं। 'अथर्ववेद' को 'वेद' के रूप में स्वीकार कर लेने पर इसके साथ भी ब्राह्मण-ग्रंथ जोड़े गये।

'उपनिषद्' ब्राह्मण-ग्रंथों के परिशिष्ट भाग हैं। इनमें वैदिक मनीषियों के आध्यात्मिक एवं पारमार्थिक चिंतन के दर्शन होते हैं। इनमें आर्यों के ज्ञानकाण्ड का उदय एवं विकास हुआ। इनकी सरल प्रवाहमयी भाषा एवं हृदय-ग्राहिणी शैली अत्यंत प्रभावकारिणी है।

भारत में प्रवेश करने वाले आर्यों के विभिन्न दलों की भाषा में कुछ-कुछ भिन्नता अवश्य थी परंतु उनमें साहित्यिक-भाषा का एक सर्वमान्यरूप विकसित हो गया था। इसी साहित्यिक-भाषा में 'ऋक्संहिता' के सूक्तों की रचना हुई। दीर्घकाल तक ये सूक्त, श्रुति-परम्परा से, ऋषि-परिवारों में सुरक्षित रखे जाते रहे। परंतु जैसे-जैसे बोलचाल की भाषा से सूक्तों की भाषा की भिन्नता बढ़ती गई और वह दुर्बोध होने लगी, वैसे-वैसे इसके प्राचीन-रूप को सुरक्षित रखने के लिये संहिता के प्रत्येक पद को संधि-रहित अवस्था में अलग-अलग कर 'पद-पाठ' बनाया गया तथा 'पद-पाठ' से 'संहिता-पाठ' बनाने के नियम निर्धारित किये गये और प्रत्येक 'वेद' की विभिन्न-शाखाओं के 'प्रातिशाख्यों' की रचना हुई। 'प्रातिशाख्यों' में अपनी-अपनी शाखा के अनुरूप वर्ण-विचार, उच्चारण-विधि, पदपाठ से संहितापाठ बनाने की विधि आदि विषयों पर पूर्णतया विचार किया गया है। 'पदपाठों' एवं 'प्रातिशाख्य-ग्रंथों' से यह असंदिग्धरूप से विदित होता है कि इनकी रचना के समय 'संहिता' का जो रूप था, वही अविकल रूप से आज हमें प्राप्त हुआ है। यहाँ पर वैदिक-भाषा के ध्वनि समूह एवं शब्द तथा धातु-रूपों पर कुछ विस्तार से प्रकाश डाला जाता है।

स्वर-ध्वनियाँ—

भारत में प्रवेश करने से पूर्व ही आर्य-भाषा में मूल भारोपीय-भाषा की

'अ', तथा ह्रस्व 'ए', 'ओ' ध्वनियों के स्थान पर 'अ' का प्रयोग होने लगा था। परंतु यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारोपीय के 'ए' का स्थान ग्रहण करने वाले प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा के 'अ' से पूर्व भारोपीय कंठ्य-ध्वनि तालव्य-ध्वनि के रूप में परिवर्तित हो गई है, जैसे 'अजति' में 'ज्' का पश्चाद्वर्ती 'अ' भारोपीय 'ए' के स्थान में आया है, अतः तलाव्य 'ज्' ने भी भारोपीय कंठ्य 'ग्' का स्थान ले लिया है, क्योंकि इसका ग्रीक रूप 'अगेइ' है। इसीप्रकार भारोपीय-भाषा के दीर्घ अ, ए, ओ का स्थान प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा में 'आ' ने ग्रहण किया। प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा के 'अ' एवं 'आ' बहुधा मूल ह्रस्व एवं दीर्घ अर्ध-व्यञ्जन न् (n̥) म् (m̥) के स्थान में भी प्रयुक्त हुए हैं और अनुदात्त 'अन्' एवं 'अम्' का स्थान ग्रहण करते हैं; यथा 'सन्त्-अम्' और 'सत्-आ', 'अ-गम्-अत्' और 'गत' तथा 'खा-त' (∠ 'खन्' 'खोदना') आदि उदाहरणों से प्रकट होता है।

प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा में तेरह स्वर-ध्वनियाँ अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, रह गईं। इनमें की पहिले की नौ स्वर-ध्वनियों को प्रातिशाख्यों में 'समानाक्षर' तथा बाद की चार स्वर-ध्वनियों को 'संध्यक्षर' संज्ञा दी गई है। संध्यक्षरों में भी ए, ओ 'गुण' तथा 'ऐ' 'औ' वृद्धि-स्वर हैं। 'ए' तथा 'ओ' क्रमशः 'अ+इ' तथा 'अ+उ' की गुण-संधि के, और 'ऐ' तथा 'औ' क्रमशः 'आ+इ' तथा 'आ+उ' की वृद्धि-संधि के परिणाम हैं। परंतु कुछ शब्दों में द, ध अथवा ह का पूर्ववर्ती 'ए' = मूल 'अज्', जैसे 'एधि' (<√'अस्' होना, अवे० (अ) ज़्दि), 'नेदीयः' 'समीप' (अवे० 'नज़्दयो'), 'देहि' अथवा 'धेहि' (अवे० दज़्दि) आदि रूपों से प्रकट होता है। इसीप्रकार सुप्-प्रत्यय के 'भ्' एवं कृत्-प्रत्यय के 'य्, व्' से पूर्ववर्ती 'ओ' = मूल 'अज्'; यथा, 'रक्षोभिः' ('रक्षस्' का तृतीया बहुवचन का रूप) 'दुवोयु' 'दान का इच्छुक' (अन्यरूप 'दुवस्-यु') एवं 'सहो-वन्' 'बलवान्' (अन्यरूप 'सहस्वन्त') से स्पष्ट विदित होता है।

'ऐ' 'औ' के मूलरूप क्रमशः 'आ इ' 'आ उ' हैं। संधि में 'ऐ' 'औ' का क्रमशः 'आय' 'आव्' रूप में परिणत होना यही सिद्ध करता है।

वैदिक-भाषा की एक प्रधान विशेषता है 'स्वर' अथवा स्वराघात (accent)। प्रधान-स्वरयुक्त-स्वरध्वनि की 'उदात्त' (acute), स्वरहीन-अक्षर की 'अनुदात्त' (unaccented), तथा उदात्त-स्वर की अव्यवहित परवर्ती निम्नगामी स्वर-ध्वनि एवं उदात्त में उठकर अनुदात्त स्वर में ढलने वाले अक्षर की 'स्वरित' (cirum-

flex) संज्ञा है। स्वर-परिवर्तन के कारण शब्दों के अर्थ तक में परिवर्तन हो जाता है। आद्युदात्त 'ब्रह्मन्' शब्द नपुंसकलिङ्ग है और इसका अर्थ है 'प्रार्थना', परंतु यही शब्द अन्तोदात्त ('ब्रह्मन्') होने पर पुंल्लिङ्ग हो गया है और तब इसका अर्थ होता है 'स्तोता'। 'ऋक्संहिता' में अनुदात्त-स्वर प्रकट करने के लिये अक्षर के नीचे—रेखा तथा 'स्वरित' के लिये अक्षर के ऊपर रेखा खींची जाती है, यथा जुहोति (इसमें 'जु' अनुदात्त, 'हो' उदात्त एवं 'ति' स्वरित है)।

प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा में स्वर-परिवर्तन के कारण पद की प्रकृति अथवा प्रत्यय या विभक्ति में स्वर-परिवर्तन अभिलक्षित होता है। इसको भाषा-विज्ञान के आचार्यों ने 'अपश्रुति' (Ablaut) संज्ञा दी है। संस्कृत-वैय्याकरण भी इसप्रकार के स्वर-परिवर्तन से परिचित थे और इसके विभिन्न क्रमों को उन्होंने 'गुण' 'वृद्धि' 'एवं सम्प्रसारण' नाम से अभिहित किया था। संस्कृत-वैय्याकरणों ने 'इ, उ, ऋ, लृ' को प्रकृत-स्वर मानकर 'ए, ओ, अर्, अल्' को इनका दीर्घीभूत रूप बतलाया। परंतु वास्तव में 'इ, उ, ऋ, लृ' प्रकृत-स्वर न होकर 'ए ओ, अर्, अल्' के ह्रस्वीभूत रूप हैं। 'पतामि,' 'अपप्तम' एवं 'अपाति', पत् धातु के इन तीन रूपों से यह कथन स्पष्ट हो जायेगा। 'पतामि (ग्री० पेतोमइ) में धातु का अविकृत-रूप, अपप्तम' में ह्रस्वीभूत रूप एवं 'अपाति' में दीर्घीभूत-रूप स्पष्ट है।

प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा में स्वर-परिवर्तन के पांच प्रकार दिखाई देते हैं—(१) स्वर-युक्त प्रकृत-स्वर ए, ओ, अर्, अल् (गुण-स्वर) का स्वर-रहित ह्रस्वीभूत, इ, उ, ऋ, लृ में परिवर्तन तथा इसीप्रकार प्रकृत-वृद्धि-स्वरों (ऐ, औ, आर्, आल्) का ह्रस्वीभूत-स्वरों में परिवर्तन; यथा, 'दिदेश' 'उसने बताया' 'दिष्ट' 'बताया हुआ,' 'आप्नोमि' 'मैं प्राप्त करता हूं',—'आप्नुमः' 'हम प्राप्त करते हैं' वर्धाय' 'वृद्धि के लिये' एवं वृधाय' आदि, (२) स्वर-युक्त (accented) प्रकृत-सम्प्रसारण-स्वरों 'य्, व्, र्, का स्वर-हीन ह्रस्वीभूत स्वरों 'इ, उ, ऋ' में परिवर्तन; यथा, 'इयज' 'मैंने यज्ञ किया', 'इष्ट', 'वष्टि' 'वह इच्छा करता है' 'उश्मसि' 'हम इच्छा करते हैं', 'जग्रह' 'मैंने पकड़ा', 'जगृहुः' 'उन्होंने पकड़ा' आदि; (३) ह्रस्वीभूत-क्रम में 'अ' का लोप; यथा, 'हन्ति' 'मारता है', 'घ्नन्ति' ('घ्न् + अन्ति') 'मारते हैं' आदि। वृद्धि-स्वर 'आ' का ह्रस्वीभूत-क्रम में या तो 'अ' रह जाता है अथवा लोप हो जाता है; यथा, 'पाद्', 'पैर', 'पदा' (तृतीया एक वचन), 'दधाति' 'रखता है', 'दध्मसि' 'हम रखते हैं'। (४) ह्रस्वीभूत-क्रम में 'ऐ' (जो स्वरों के पूर्व 'आय्' एवं व्यञ्जनों के पूर्व 'आ'

हो जाता है) का परिवर्तित रूप 'ई' हो जाता है; यथा, 'गायति' 'गाता है', 'गाथ' 'गान', 'गात' 'गाया हुआ'। इसीप्रकार 'ओ' का ह्रस्वीभूत-क्रम में 'ऊ' हो जाता है; यथा, 'धोतरो' 'कम्पिता', 'धूर्ति' 'कम्पित करने वाला' एवं 'धूम' 'धुआँ'। (५) पदों में स्वर-परिवर्तन होने पर, समास में, द्वित्व (Reduplication) की अवस्था में तथा सम्बोधन में 'ई, ऊ, ईर्, ऊर्' का परिवर्तन 'इ, उ, ऋ' में हो जाता है; यथा, 'हूति' 'पुकार', 'आहुति', 'दीपय' 'जलाओ', 'दीदिवि' 'चमकता हुआ', 'कीर्ति', 'चकृपे', 'देवी' (कर्ता कारक) 'देवि' (सम्बोधन)।

स्वर-ध्वनियों के उच्चारण में वैदिक-काल की कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। 'अ' का उच्चारण प्रातिशाख्यों के समय में अति ह्रस्व संवृतस्वर के रूप में होने लगा था, परंतु मंत्रों के रचना-काल में इसका उच्चारण विवृत (open) रहा होगा, क्योंकि मंत्रों के छन्द को ठीक रखने के लिये 'ऋक्-संहिता' में 'ए' 'ओ' के पश्चात् 'अ' स्वर-ध्वनि का सन्निवेश आवश्यक हो जाता है।

'ऋ' का उच्चारण आजकल 'रि' किया जाता है, परंतु वैदिक-काल में इसका उच्चारण भिन्न था, जो आज लुप्त हो गया है। ऋक्-प्रातिशाख्य में इसको 'र्' युक्त स्वर-ध्वनि बताया गया है। इससे जान पड़ता है कि इसका उच्चारण प्राचीन-इरानी 'एँर' के समान रहा होगा। यही बात 'ऌ' के उच्चारण में भी है।

'ऐ, औ' का उच्चारण आजकल 'अइ, अउ' हो गया है, परंतु संधि में इन संध्यक्षरों के परिवर्तन पर ध्यान देने से विदित होता है कि इनका मूलरूप 'आइ, आउ' है।

'ऋक्संहिता' में छंद की लय को ठीक रखने के लिये 'र्' से संयुक्त व्यञ्जन के बीच अति-ह्रस्व-स्वर-ध्वनि का सन्निवेश आवश्यक हो जाता है। इस स्वर-सन्निवेश को 'स्वरभक्ति' कहते हैं। इस प्रकार 'इन्द्र' का उच्चारण 'इन्द्अर' करना पड़ता है।

व्यंजन-ध्वनियाँ—

प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा में मूल भारोपीय-भाषा की व्यञ्जन-ध्वनियाँ अन्य भाषाओं से अधिक पूर्णरूप में सुरक्षित रहीं। व्यञ्जन-ध्वनियों में मूर्धन्य 'टवर्ग' (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण) का सन्निवेश भारतीय-आर्य-भाषा की अपनी विशेषता है। संभवतः 'टवर्ग' की उत्पत्ति, द्रविड़ प्रभाव के फलस्वरूप हुई। 'ऋक्सं-

हिता' में मूर्धन्य-व्यञ्जन केवल पद के मध्य अथवा अन्त में ही आये हैं। ये मूर्धन्य-व्यञ्जन-ध्वनियाँ, मूर्धन्य 'ष्' (मूल स्, श्, ज्, ह्) अथवा 'र्' से अनुगमित दन्त्य-व्यञ्जनों के परिवर्तन के फल-स्वरूप प्रकट हुई हैं; यथा, 'दुष्टर' 'अजेय' (='दुस्तर'), 'वष्टि' (='वश्-ति') 'इच्छा करता है', 'मृष्ट' (=मृज्-त) 'प्रक्षालित', 'नीड' (='निज़्द'), 'घोसला', 'दूढी' (='दुज्-धी') 'अस्वस्थ', 'दृढ' (=दृह्-त), 'नृणाम्' (=नृ-नाम्) आदि।

'ट्वर्ग' के समावेश से प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा में व्यञ्जन-ध्वनियों के उच्चारण-स्थान के अनुसार पाँच वर्ग हो गये—'कवर्ग' (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) कंठ्य; 'चवर्ग' (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) तालव्य; 'तवर्ग' (त्, थ्, द्, ध्, न्) दन्त्य; 'पवर्ग' (प्, फ्, ब्, भ्, म) ओष्ठ्य; तथा 'टवर्ग' (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) मूर्धन्य। इन पाँच वर्गों के अतिरिक्त इसमें चार अर्ध-स्वर-ध्वनियाँ 'य्, व्, र्, ल्' तीन ऊष्म-ध्वनियाँ श्, ष्, स्, एक महाप्राण ह्, एक अनुनासिक ॰ (m) तथा तीन अघोष ध्वनियां विसर्जनीय—(ḥ), जिह्वामूलीय ᳵ (ẖ) एवं उपध्मानीय (ḫ) विद्यमान हैं। 'ट्वर्ग' के अन्तर्गत वैदिक-भाषा में ळ (ḷ) तथा ळ्ह (ḷh) भी सम्मिलित हैं, जो ऋक्संहिता में 'क्रमशः' स्वरोपहित 'ड्, ढ्' का स्थान ग्रहण करते हैं; यथा, 'ईळे' (वास्तव में 'ईड्य'), 'मीळ्हुषे' (वास्तव में 'मीढ्वान्')।

मूल-भारोपीय-भाषा की व्यञ्जन-ध्वनियों ने आर्य-भाषा में क्या रूप ग्रहण किया, यह अन्यत्र लिखा जा चुका है। यहाँ पर भारतीय-आर्य-भाषा की व्यञ्जन-ध्वनियों की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है। ङ्, ञ्, न्, म, ण, इन पाँच नासिक्य स्पर्श-व्यञ्जन-ध्वनियों में केवल 'न्' एवं 'म्' ही पद में किसी भी स्थान पर स्वतन्त्ररूप से दिखाई देते हैं, शेष तीन नासिक्य, पद के आरम्भ में नहीं आते हैं और 'ञ्' तथा 'ण्' पदान्त में भी स्थान नहीं पाते तथा इन तीनों नासिक्य-ध्वनियों की स्थिति अपने समीपस्थ या परवर्ती व्यञ्जनों पर निर्भर रहती है। कण्ठ्य 'ङ्' पदान्त में केवल उन्हीं पदों में आता है जिनमें पदान्त 'क्' अथवा 'ग्' का लोप हो गया हो, अथवा जिन पदों के अंत में 'दृश्' संयुक्त हो; यथा, 'प्रत्यङ्' ('प्रत्यञ्च्' का कर्ता का एकवचन), 'कीदृङ्' ('कीदृश्' का कर्ता का ए० व०)। पद के मध्य में 'ङ्' केवल कण्ठ्य-व्यञ्जनों के पूर्व ही नियमित-रूप से आता है; यथा, 'अङ्क', 'अङ्ग्धय' 'आलिङ्गन करो', 'अङ्ग', 'जङ्घा' आदि। अन्य व्यञ्जनों से पूर्व यह तभी आता है जब उनसे पूर्व 'क्' अथवा 'ग्' का लोप हो गया हो; यथा, 'युङ्धि' (युङ्ग्धि' के स्थान पर)। तालव्य-स्पर्श-नासिक्य-

व्यञ्जन 'ञ्', केवल 'च्' या 'ज्' के पूर्व अथवा पश्चात् तथा 'छ' के पूर्व ही आता है; यथा, 'पञ्च', 'यज्ञ' (='यज्ञ'), 'वाञ्छन्तु' 'इच्छा करें'। मूर्धन्य 'ण्' केवल मूर्धन्य-स्पर्श-व्यञ्जनों के पूर्व आता है अथवा ऋ, र् या ष् के परवर्ती दन्त्य 'न्' का स्थान ग्रहण करता है; यथा, 'दण्ड' 'नृणाम्' (नृ-नाम्) 'वर्ण' 'उष्ण' आदि। दन्त्य 'न्' भारोपीय 'न्' का सूचक है, परंतु किन्हीं प्रत्ययों से पूर्व यह 'द्' 'त्' अथवा 'म्' का स्थान भी ग्रहण करता है, यथा, 'अन्न' (<√'अद्' खाना), 'विद्युन्मन्त' (<विद्युत्-मन्त्'), 'मृन्-मय' (<मृद्-मय), 'यन्-त्र' (<यम्-त्र)। ओष्ठ्य 'म्' भारोपीय 'न्' ध्वनि के सदृश है; यथा, 'नामन्', लैटिन 'नोमेन'। इनके अतिरिक्त भारतीय-आर्य-भाषा में एक शुद्ध नासिक्य-ध्वनि है, जिसको 'अनुनासिक' तथा 'अनुस्वार' संज्ञा दी गई है। स्वर-ध्वनि से पूर्व यह नासिक्य-ध्वनि 'अनुनासिक' कही जाती है और [ँ] लिखी जाती है तथा व्यञ्जन से पूर्व इसकी 'अनुस्वार' संज्ञा होती है और यह [ं] लिखी जाती है। 'अनुस्वार' पदान्त में साधारणतया 'म्' तथा कभी-कभी 'न्' का स्थान ग्रहण करता है तथा पद के मध्य में सदैव 'श्, ष्, स्, ह्' से पूर्व विद्यमान रहता है; यथा, 'वंश', 'हवींषि', 'मांस', 'सिंह' आदि। साधारणतया 'अनुस्वार' 'स्' के पूर्ववर्ती 'म्' अथवा 'न्' के स्थान में प्रयुक्त होता है; यथा, 'मंसते' (<√मन् 'सोचना'), 'क्रंस्यते' (<√क्रम् 'चलना')।

प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा का अर्धस्वर 'र्' भारोपीय 'र्' तथा बहुधा 'ल्' के स्थान में भी प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन-इरानी में भी भारोपीय 'र्' 'ल्' के स्थान में 'र्' ही आया है; इससे विदित होता है कि आर्य-इरानी-काल में ही 'ल्' के स्थान में 'र्' के प्रयोग की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। भारतीय-आर्य-भाषा में 'र्' तथा 'ल्' ध्वनियों के पारस्परिक सम्बन्ध के विवेचन से भाषा-विज्ञानियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय-आर्य-भाषा का तीन शाखाओं में विकास हुआ होगा: एक शाखा में केवल 'र्' ध्वनि रही होगी, दूसरी शाखा में 'र्' तथा 'ल्' दोनों ध्वनियाँ साथ-साथ रही होंगी तथा तीसरी शाखा में केवल 'ल्' ध्वनि ही शेष रह गई होगी। 'श्रीर', 'श्रील' एवं 'श्लील' एक ही शब्द के इन तीन रूपों से यह कथन स्पष्ट हो जाता है।

शब्द-रूप

प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा में शब्दों के दो विभाग लक्षित होते हैं— 'अजन्त' (स्वरान्त) एवं 'हलन्त' (व्यञ्जनान्त)। 'अजन्त' शब्दों में ह्रस्व तथा

दीर्घ 'अ, इ, उ, ऋ' कारान्त शब्द हैं। 'हलन्त' शब्द अन्तिम प्रकृत अथवा प्रत्ययान्त व्यञ्जन के अनुसार अनेक प्रकार के हैं; यथा, 'च्, क्, त्, थ्, द्, ध्, भ्, स्, श्' में अन्त होने वाले तथा वत्, तात्, इत्, उत्, त्, अन्त्, मन्त्, वन्त्, अन्, मन्, इन्, मिन्, विन्, अर्, तर्' इत्यादि प्रत्ययान्त शब्द। इसमें तीन लिङ्ग, (पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग) तीन वचन, (एक, द्वि तथा बहु वचन) तथा आठ कारक, (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण तथा सम्बोधन) हैं। प्रत्येक शब्द के आठों कारकों, तीनों वचनों तथा लिङ्गों के रूप 'सुप्-प्रत्यय' जोड़ने से निष्पन्न होते हैं। साधारणतया ये प्रत्यय निम्न लिखित हैं—

	एक वचन		द्वि० वचन		बहु वचन	
	पुं० स्त्री०	न०	पुं० स्त्री०	न०	पु० स्त्री०	न०
कर्ता०	स	—	औ	ई	अस्	इ
कर्म०	अम्	—	"	"	"	"
करण०	आ		भ्याम्		भिस्	
सम्प्र०	ए		"		भ्यस्	
अपा०	अस्		"		"	
सम्ब०	"		ओस्		आम्	
अधिक०	इ		"		सु	

सम्बोधन—(सम्बोधन में कर्ता कारक की ही विभक्तियाँ कुछ परिवर्तन के साथ लगती हैं)।

शब्द-रूपों (विशेषतया, व्यञ्जनान्त शब्दों के रूपों) में एक प्रधान विशेषता यह लक्षित होती है कि कर्ताकारक के तथा कर्मकारक के एक वचन तथा द्विवचन एवं कर्ताकारक के बहुवचन के रूपों में 'प्रातिपदिक (base) का साधारणरूप (strong) रहता है, तथा अन्य स्थलों में इसका ह्रस्वीभूत (weak) रूप दिखाई देता है; यथा, 'राजन्' शब्द के कर्ताकारक के तीनों वचनों तथा कर्मकारक के एक तथा द्वि वचन में क्रमशः, 'राजा', 'राजानौ', 'राजानः', 'राजानम्', 'राजानौ' रूप होते हैं, परंतु कर्मकारक बहुवचन में 'राज्ञः', करणकारक एक वचन में राज्ञा रूप बनते हैं। इन पाँच रूपों को संस्कृत-वैयाकरणों ने 'सर्वनाम-स्थान' संज्ञा दी है और आधुनिक भाषा-विज्ञानी इनको 'साधारण-रूप' (strong cases) तथा अन्य रूपों को 'ह्रस्वीभूत-रूप' (weak cases) कहते हैं। कुछ शब्द-समूहों में ह्रस्वीभूत-रूपों (weak

cases) में भी दो भेद हैं, (१) अति-ह्रस्वीभूत (weakest cases), जो उन सुप्-प्रत्ययों से निष्पन्न होते हैं, जिनके आदि में स्वर हैं (करण, सम्प्र०, अपादा०, सम्ब० तथा अधिक० के एक वच०, सम्ब० अधिक० के द्विवच० तथा सम्ब० के बहुवचन में) और (२) सामान्यतः-ह्रस्वीभूत (middle cases), जो आदि में व्यञ्जन वाले सुप्- प्रत्ययों से बनते हैं (करण, सम्प्र०, अपादा० के द्विवच० तथा करण, सम्प्र०, अपादा० एवं अधिक० के बहुवचन में)। 'राजन्' शब्द का 'अति-ह्रस्वीभूतरूप (weakest cases) 'राज्ञ्' हो जाता है; यथा, 'राज्ञा' (राज्ञ्–आ, करण ए० व०), 'राज्ञे' (राज्ञ्-ए, सम्प्र० ए० व०) इत्यादि तथा सामान्यतः-ह्रस्वीभूतरूप (middle cases) में 'राज्' ही रह जाता है: यथा, 'राज-भ्याम्' (करण, सम्प्र० अपादा० द्विवच०), राज्-भिः (करण बहुवच०) इत्यादि।

'प्रातिपदिक' (base stem) में इस भिन्नता का कारण स्वराघात (accent) का स्थान-परिवर्तन है। 'सर्वनाम-स्थान' में स्वराघात (accent) 'प्रातिपदिक' पर पड़ता है, अतः उसका रूप अविकृत रहता है, परन्तु अन्य स्थानों पर वह 'सुप्-प्रत्यय' पर आ जाता है, जिससे 'प्रातिपदिक' का रूप ह्रस्वीभूत हो जाता है। नपुंसकलिङ्ग शब्दों में केवल कर्ता तथा कर्मकारक के बहुवचन की ही 'सर्वनाम-स्थान' संज्ञा होती है, तथा जिन नपुंसकलिङ्ग 'प्रातिपदिकों' में 'अति-ह्रस्वीभूत' (weakest) तथा 'सामान्यतः-ह्रस्वीभूत' (middle) का भेद रहता है, उनमें कर्ता तथा कर्मकारक द्विवचन में 'अति-ह्रस्वीभूत (weakest) तथा कर्ता एवं कर्मकारक एकवचन में 'सामान्यतः-ह्रस्वीभूत (middle) रूप होते हैं। यथा, 'प्रत्यक्' (कर्त्ता, कर्म० एक व०), 'प्रतीची' (द्वि० व०) 'प्रत्याञ्चि' (ब० व०)।

बहुधा प्रातिपदिक तथा 'सुप् प्रत्यय' के मध्य, किसी व्यञ्जन-ध्वनि का आगम होता है। 'अ, इ, उ' कारान्त नपुंसकलिङ्ग प्रातिपदिक के कर्ता एवं कर्म-कारक बहुवचन में, सुप्-प्रत्यय 'इ' से पूर्व, 'न्' का आगम होता है; यथा, 'फलानि' 'आस्यानि' ('आस्य,'मुख), 'वारीणि' ('वारि,' जल), 'मधूनि' ('मधु' शहद)। इसीप्रकार सम्बन्धकारक बहुवचन में भी अजन्त प्रातिपदिक एवं सुप्-प्रत्यय के मध्य 'न्' का आगम होता है; यथा, 'रामाणाम्', 'फलानाम्', 'कन्यानाम्'। पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग 'प्रातिपदिकों' के करणकारक, एक वचन में भी, सुप्-प्रत्यय 'आ' से पूर्व 'न्' का आगम होता है; यथा, 'हरिणा', 'भानुना,' 'वारिणा', 'मधुना';परन्तु में 'स्त्रीलिङ्ग मत्या' ('मति'), 'धेन्वा'

('धेनु' गाय) होता है। वैदिक-भाषा में कहीं-कहीं स्त्रीलिङ्ग शब्दों के भी करणकारक, एकवचन में, सुप्-प्रत्यय से पूर्व, 'न्' का आगम दिखाई देता है; यथा, 'धासिना' (<'धासि') और कहीं-कहीं पुंल्लिङ्ग तथा नपुंसक-लिङ्ग शब्द में भी यह आगम नहीं दिखाई देता; यथा, 'ऊर्मिश्रा' (पुंल्लिङ्ग), 'मध्वा' ('मधु' नपुंसकलिङ्ग)।

शब्द-रूपों की अन्य विभिन्नताओं एवं विशेषताओं पर विस्तारपूर्वक विचार करना यहाँ पर सम्भव नहीं है। केवल 'सुप्-प्रत्ययों' का संक्षेप में दिग्दर्शन-मात्र ही हमारा उद्देश्य सिद्ध करने के लिये पर्याप्त होगा।

कर्ताकारक एकवचन, पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग शब्दों में, 'स्' प्रत्यय लगता है, परन्तु 'आ तथा ई' प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों में तथा हलन्त प्रातिपदिकों में इसका लोप हो जाता है; यथा, **रामस्** (रामः), अग्निः, गतिः, शत्रुः, धेनुः आदि में 'स्' का लोप नहीं हुआ है, परन्तु **'कन्या','देवी' 'वाक्', 'मनस्'** आदि में 'स्' का लोप हुआ है। नपुंसकलिङ्ग शब्दों में, कर्ताकारक में, साधारणतया कोई सुप्-प्रत्यय नहीं लगता, केवल अकारांत नपुंसकलिङ्ग शब्दों के ही कर्ताकारक एकवचन में 'म्' प्रत्यय जुड़ता है; यथा, 'वारि', 'मधु', में 'सुप्' प्रत्यय नहीं लगा है, परन्तु 'फलम्' इत्यादि में 'म्' जुड़ गया है,। सर्वनाम शब्दों के कर्ताकारक एकवचन, पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग में बहुधा 'अम्' तथा नपुंसकलिङ्ग में 'द्' प्रत्यय लगता है—'अहम्', 'त्वम्', 'अयम्', 'इयम्', 'यद्', 'तद्' इत्यादि।

कर्मकारक एकवचन पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग में, हलन्त ऋकारान्त तथा 'ई, ऊ' कारान्त प्रातिपदिकों में, 'अम्' तथा अन्य प्रातिपदिकों में 'म्'–प्रत्यय लगता है। यथा, 'देवम्', 'लताम्', 'हरिम्', 'भानुम्', 'राजानम्', इत्यादि। नपुंसकलिङ्ग शब्दों के कर्मकारक एकवचन का रूप कर्ताकारक एकवचन के समान निष्पन्न होता है।

करणकारक एकवचन में, सभी लिङ्गों के शब्दों में 'आ' प्रत्यय लगता है। वैदिक संस्कृत में कहीं-कहीं इसका प्रातिपदिकान्त इ, उ के साथ पूर्वरूप भी हो गया है। 'अकारान्त' शब्दों में 'आ' प्रत्यय का स्थान 'एन' (वैदिक भाषा में कहीं-कहीं 'एना') ने तथा आकारान्त शब्दों में 'अया ने ले लिया है, परन्तु प्राचीन-वैदिक-भाषा में प्रातिपदिकान्त 'अ, आ' के साथ 'आ' प्रत्यय के संयोग के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। उदाहरण क्रमशः ये हैं—**अग्निना**, **मत्या** (मति+आ), **वारिणा** (वारि-न्-आ), **भानुना** (भानु-न्-आ), **धेन्वा** (धेनु-आ), **अचित्ती** (स्त्रीलिङ्ग) सुवृक्तिः **देवेन, रथ-थेना** (वै०); लतया; यज्ञा (वै०), मनीषा (वै०)।

सम्प्रदानकारक एकवचन का रूप, साधारणतया 'ए' प्रत्यय के योग से बनता है। प्रातिपदिकान्त 'इ, उ' के पश्चात् 'ए' के पूर्वरूप होने के उदाहरण प्राचीन वैदिक-भाषा में मिलते हैं; यथा, 'ऊती' ('ऊति' सहायता)। अकारान्त प्रातिपदिकों के साथ 'ए' का 'आय' हो जाता है; यथा, 'देवाय'; परन्तु सर्वनाम प्रातिपदिकों में 'स्म' के साथ योग होकर इसका रूप 'स्मै' हो जाता है; यथा, 'सर्वस्मै' और पुरुषवाचक सर्वनामों में सम्प्रदानकारक का प्रत्यय 'भ्यम्' (अथवा ह्यम्) रूप ग्रहण करता है; यथा, 'तुभ्यम्' 'मह्यम्'। स्त्रीलिङ्ग प्रातिपदिकों में सम्प्रदानकारक की विभक्ति का रूप 'ऐ' हो जाता है और इससे पूर्व प्रायः 'य्' का आगम होताहै; यथा, 'प्रियायै', 'देव्यै', 'वध्वै'; परन्तु प्राचीन-वैदिक-भाषा में सर्वत्र ऐसा नहीं होता; यथा, 'तुजये', 'मध्वे' आदि।

अपादानकारक एकवचन में, अकारांत प्रातिपदिकों (पुंलिङ्ग तथा नपुंसक) के साथ 'द' (या 'त') प्रत्यय लगता है और इससे पूर्व 'अ' दीर्घ हो जाता है, (परंतु उत्तमपुरुष तथा मध्यमपुरुष सर्वनाम प्रातिपदिकों के साथ यह 'अत्' ही रहता है); यथा, 'रामात् (द्)', 'मत्' ('अस्मद्' का अपादानकारक) 'त्वत्' ('युष्मत्' का)। अन्य प्रातिपादिकों में अपादानकारक एकवचन का रूप सम्बन्ध-कारक जैसा ही रहता है।

सम्बन्धकारक एकवचन में, 'अकारान्त' प्रातिपदिकों में (और 'अमु सर्व-नाम में भी) 'स्य' प्रत्यय लगता है; यथा, 'देवस्य', अन्य प्रातिपदिकों में 'अस्' प्रत्यय जुड़ता है; परन्तु प्रातिपदिकान्त स्वर के साथ इसका योग विभिन्न-रूपों में देखा जाता है; यथा, 'लतायः' 'देव्याः', 'धियः या 'धियाः ('धी' बुद्धि), 'मनसः' (मनस्), 'प्राचः' इत्यादि। प्रातिपदिकान्त 'इ, उ' के साथ या तो यह सीधे सीधे जुड़ जाता है; यथा—'अरिअस् (अः)' (प्रा० वै०), 'मधुअस् (अः)' अथवा इसके पूर्व 'न्' का आगम होता है; यथा, 'चारुणः' (चारु-न्-अस्), मधुनः (मधु-न्-अस्); अथवा 'एस्' या 'ओस्' में परिणत हो जाता है; यथा, 'अग्नेः' 'अदितेः', 'भूरेः', 'मन्योः', 'सिन्धोः', 'मधोः। ऋकारान्त प्रातिपदिक के साथ जुड़ने पर इसका रूप 'उर् (>उस्>उः') हो जाता है; यथा, 'पितुः', 'दातुः', इत्यादि।

स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों में, सम्प्रदानकारक के सुप्प्रत्यय का रूप 'आस्' होता है, तथा इससे पूर्व प्रायः 'य' का आगम होता है; यथा, 'सेनायाः', 'गत्याः' (लेकिन 'गतेः' भी), 'भूमिआः', 'धेन्वाः' ('धेनो' भी), 'देव्याः' 'वध्वा' आदि। परंतु ब्राह्मण-ग्रंथों की भाषा में अपादान तथा सम्बन्धकारक में भी सम्प्र-

दानकारक के समान 'सुप्-प्रत्यय' का रूप 'ऐं' हो गया है; यथा, 'अभिभूत्यै:' 'जगत्यै' ('जगती' छन्द का), 'स्त्रियै' (स्त्री का), 'धेन्वै' (गाय का), 'जीर्णायै', इत्यादि।

हलन्त, ऋकारान्त तथा अकारान्त प्रातिपदिकों के साथ अधिकरणकारक में 'इ' प्रत्यय लगता है; यथा, 'वाचि', ('वाच् वाणी), 'राज्ञि' या 'राजनि', पितरि' ('पितृ' पिता), 'देवे' (देव-इ, गुण से 'ए')। 'इ, उ' कारान्त प्रातिपदिकों के साथ इसका रूप 'औ' हो जाता है; यथा, 'अग्नौ', 'गतौ', 'शत्रौ', 'धेनौ'। वैदिकभाषा में इसका रूप 'आ' अथवा 'ई' भी हुआ है; यथा, 'अग्ना', 'उदिता' 'वेदी', 'अप्रता' इत्यादि। कुछ सर्वनाम प्रातिपदिकों में अधिकरणकारक में 'स्मिन्' प्रत्यय लगता है; यथा 'सर्वास्मिन्', 'कस्मिन' इत्यादि। प्राचीन-वैदिक भाषा में, कतिपय 'अन्' प्रत्ययान्त शब्दों में 'अधिकरणकारक में 'इ' प्रत्यय का लोप होकर केवल प्रातिपदिक रह गया है; यथा, 'मूर्धन्', 'अध्वन्', 'कर्मन्', (परंतु 'मूर्धनि' आदि रूप भी मिलते हैं।)

अधिकरणकारक में 'आम्' प्रत्यय उसीप्रकार तथा उन्हीं स्थितियों में लगता है, जैसा सम्प्रदान में 'ऐ' तथा अपादान-सम्बन्धकारक में 'आस्'; यथा, 'लतायाम्' 'गत्याम्' 'धेन्वाम्', 'देव्याम्', 'वध्वाम्' आदि।

सम्बोधन में कर्ता-कारक के ही सुप्-प्रत्ययों का प्रयोग होता है। केवल एकवचन के रूप में कहीं-कहीं पर कर्ता-कारक से भिन्नता लक्षित होती है। अकारान्त तथा अधिकांश हलन्त शब्दों में, सम्बोधन के एकवचन में, शब्द, प्रातिपदिक रूप में ही रहता है, परंतु 'अन्' तथा 'इन्' प्रत्ययान्त नपुंसक-लिङ्ग शब्दों में 'न्' का लोप भी हो जाता है; यथा, 'नाम' ('नामन्') 'बलि' (बलिन्)। प्राचीन-वैदिक भाषा में कहीं-कहीं 'न्त्' 'न्स्' प्रत्ययान्त शब्दों का सम्बोधन एकवचन 'स्' प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है; यथा, 'भानुमस्; (भानुमन्'), 'चिकित्वस्' ('चिकित्वन्')। ऋकारान्त शब्दों के सम्बोधन में 'ऋ' 'अर्' में परिणत हो जाता है; यथा, 'पितर'। 'इ, उ' कारान्त पुलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग शब्दों में 'इ, उ' क्रमशः 'ए, ओ' में परिणत हो जाते हैं; यथा, 'गते,' 'धेनो,'। नपुंसक-लिङ्ग शब्दों के अन्त का 'इ, उ' विकल्प से 'ए, ओ' में परिणत होता है; यथा, 'वारे तथा वारि' 'मधो तथा मधु'। आकारान्त शब्दों में 'आ', 'ए' में परिणत हो जाता है; यथा, 'लते'; 'ई, ऊ' प्रत्ययान्त शब्दों में अंतिमस्वर ह्रस्व हो जाता है; यथा, 'देवि' 'वधु' आदि।

आठों कारकों के द्विवचन के रूप केवल तीन सुप्-प्रत्ययों से निष्पन्न

होते हैं—(१) कर्ता, कर्म तथा सम्बोधन के 'आ' अथवा 'औ' से; यथा, 'अश्विनौ' या 'अश्विना', 'देवौ' या 'देवा' इत्यादि। आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों में यह 'ए' में परिणत हो जाता है; यथा, 'लते', 'इ, उ' कारान्त शब्दों में पदान्त का स्वर दीर्घ हो जाता है; यथा, 'कवी', 'भानू', । वैदिकभाषा में 'ई' प्रत्ययान्त शब्द का पदान्त दीर्घस्वर अविकृत रहता है; यथा, 'देवी' (उत्तर-कालीन-संस्कृत में 'देव्यौ'); नपुंसकलिङ्ग शब्दों में सर्वत्र 'ई' प्रत्यय लगता है और अकारान्त शब्द के पदान्त 'अ' के साथ मिलकर यह 'ए' हो जाता है; यथा, 'फले' (फल-ई), 'वारिणी' (वारि-न्-ई), 'मधुनी' (मधु-न्-ई) इत्यादि। (२) करण-सम्प्र०-अपादानकारक के द्विवचन में सर्वत्र 'भ्याम्' प्रत्यय लगता है और इसके पूर्व का 'अ' दीर्घ हो जाता है; यथा, 'रामाभ्याम्', 'हरिभ्याम्' 'भानुभ्याम्', 'पितृभ्याम्' 'वाग्भ्याम्' इत्यादि। (३) सम्बन्ध तथा अधिकरण कारक में सर्वत्र 'ओस्' प्रत्यय लगता है, और इससे पूर्व का 'अ' अथवा 'आ' का 'ए' हो जाता है; यथा, 'रामयोः' (राम-ओस्>रामे-ओस्>रामयोः) इत्यादि।

पुंलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग शब्दों का कर्ताकारक बहुवचन का रूप, साधरणतया, 'अस्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है; परन्तु प्राचीन वैदिक-भाषा में अकारान्त शब्दों में इसके अतिरिक्त 'आसस्' प्रत्यय भी लगता है, और इसप्रकार वहाँ 'देव' शब्द के कर्ताकारक बहुवचन में 'देवाः' के साथ-साथ 'देवासः' रूप भी उपलब्ध होता है; कुछ आकारान्त शब्दों में भी यही बात पाई जाती है; यथा, 'वपासः' इत्यादि। वैदिक-भाषा में 'ई' प्रत्ययान्त शब्दों के कर्ताकारक बहुवचन में प्रातिपदिकान्त 'ई' तथा सुप्-प्रत्यय के 'अस्' की संधि 'यस्' के रूप में न होकर 'ईस्' के रूप में होती है; यथा, 'देवीः' (उत्तरकालीन-संस्कृत 'देव्यः')। सर्वनाम-संज्ञक (Pronominal) अकारान्त प्रातिपदिकों के कर्ताकारक बहुवचन में 'ए' प्रत्यय लगता है; यथा, 'सर्वे'।

नपुंसकलिङ्ग शब्दों के कर्ताकारक-बहुवचन (कर्मकारक बहुवचन का भी) रूप 'इ' प्रत्यय लगाने से बनता है तथा इससे पूर्व 'न्' का आगम होता है और प्रातिपदिकान्तस्वर दीर्घ हो जाता है; यथा, 'फलानि' (फल-न्-इ), 'वारीणि', 'मधूनि' इत्यादि। परंतु वैदिक-भाषा में प्रायः इसप्रकार से प्राप्त 'नि' का लोप हो जाता है; यथा, 'युगा' (अन्यत्र 'युगानि'), 'शुची' 'अन्यत्र 'शुचीनि') इत्यादि। कहीं-कहीं इस लोप के साथ-साथ इसके पूर्व का स्वर भी ह्रस्व हो गया है; यथा, 'भूरि' 'भूरीनि' आदि।

कर्मकारक के बहुवचन में हलन्त शब्दों, प्रकृत 'ई, ऊ' कारान्त शब्दों (वैदिक-भाषा में प्रत्ययान्तों में भी) में 'अस्' प्रत्यय लगता है; यथा, 'वाचः' 'अङ्गिरसः', 'रथ्यः' इत्यादि। ह्रस्व 'अजन्त' शब्दों में प्रातिपदिकान्त ह्रस्वस्वर का दीर्घ हो जाता है तथा पुलिङ्ग में 'न्' तथा स्त्रीलिङ्ग में 'स्' प्रत्यय लगता है; यथा, 'रामान्', 'गतीः' इत्यादि। नपुंसकलिङ्ग शब्दों का कर्मकारक का रूप कर्ताकारक के समान होता है।

करणकारक बहुवचन में 'अकारान्त' शब्दों के अतिरिक्त सर्वत्र 'भिस्' प्रत्यय लगता है; 'अकारान्त' शब्दों में 'एभिस्' (वैदिक) अथवा 'ऐस्' प्रत्यय लगता है; यथा, 'देवभिः' या 'देवैः'।

सम्प्रदान तथा अपादान-कारक बहुवचन में 'भ्यस्' प्रत्यय लगता है तथा इससे पूर्व का 'अ' 'ए' हो जाता है; यथा, 'देवेभ्यः' इत्यादि।

विशेषण एवं संख्यावाचक-शब्दों के रूप, संज्ञा शब्दों के समान ही, सुप्-प्रत्ययों के योग से निष्पन्न होते हैं, परन्तु सर्वनाम-शब्दों की रूप-निष्पत्ति में संज्ञा शब्दों से बहुत भिन्नता लक्षित होती है। पुरुषवाचक सर्वनाम-शब्दों 'अस्मत्' 'मैं' तथा 'युष्मत्' 'तुम' में यह भिन्नता विशेषतया उल्लेखनीय है। आठों कारकों में इन शब्दों के रूप क्रमशः इस प्रकार होते हैं—

'अस्मत्'—एक वचन—

अहम्, मा (वै०)-माम, मया, मह्य, (वै०)-मह्यम् ,-मे, मत्, मम-मे, मयि।

द्विवचन—वाम-आवम् (उत्तरकालीन-संस्कृत-'आवाम्) आवाम् , करण-सम्प्र० अपादान आवाभ्याम् (अपादान में 'आवत्' भी), सम्ब० अधिक० आवयोः, कर्म-सम्प्र० सम्ब० में 'नौ' रूप भी।

बहुवचन—वयम् , अस्मान्-नः, अस्माभिः, अस्मभ्य (वै०) अस्मभ्यम्-नः, अस्मत्, अस्माक (वै०)-अस्माकम्-नः, अस्मे (वै०) अस्मासु।

'युष्मत्'—एकवचन—

त्वम्, त्वा (वै०)-त्वाम्, त्वा (वै०)-त्वया,तुभ्यम्-ते, त्वत् , तव-ते, त्वे (वै०)- त्वयि।

द्विवचन—युवम् (वै०)- युवाम् , करण-सम्प्र० अपादान युवभ्यम् (वै०)-युवाभ्याम् (अपादान में वैदिक में 'युवत्' भी), सम्ब०-अधिक० युवोः (वै०)-युवयोः।

बहुवचन—यूयम्, युष्मान्-वः, युष्माभिः, युष्मभ्यम्-वः युष्मत, युष्माकम्-वः, युष्मासु-युष्मे (वै०),

इन रूपों पर विचार करने से पुरुषवाचक सर्वनाम-शब्दों की दो विशेषताएँ स्पष्ट प्रतीत होती हैं। एक तो विभिन्न कारकों तथा वचनों में प्रातिपदिक का रूप ही परिवर्तित हो गया है और दूसरे 'अम्' प्रत्यय का प्रयोग बहुलता से हुआ है। भिन्न-भिन्न वचनों में प्रातिपदिक में परिवर्तन स्वाभाविक ही है, क्योंकि जैसे 'रामौ' (दो राम) = राम + राम, उसीप्रकार 'आवाम्' (हम दो) = अहम् + अहम् नहीं हो सकता; वह या तो अहम् + त्वम् (मैं + तुम) अथवा 'अहम + सः' (मैं + वह) के बराबर ही हो सकता है। भारोपीयभाषाओं के अध्ययन से विदित होता है कि मूल भारोपीय-भाषा में 'तुम' के लिये 'तु' शब्द का व्यवहार होता था। ऋग्वेद में भी मध्यम-पुरुष सर्वनाम के रूप में 'तु' के प्रयोग के उदाहरण मिलते हैं तथा गाथिक अवेस्ता में 'तु' का अर्थ सर्वत्र 'तुम' होता है। इस 'तु' शब्द में सुप्-प्रत्यय 'अम्' का संयोग, आर्य-इरानी-काल में होने लगा था, जैसा अवेस्ता के रूप 'त्वेम' से विदित होता है। इसीप्रकार 'अहम', लै० 'एगोम्' अवे० 'अजेम्' प्रा० फा० 'अदम्'; 'याम्' 'त्वाम्', 'मा', त्वा', लै० 'मे', अवे 'मंम्', प्रा० फा० 'मांम्', ग्री० 'ते', लै० 'ते', अवै० 'थ्वम्'-'थ्वा', प्रा० फा० 'थुवाम्' आदि समान रूपों से इनकी प्राचीनता लक्षित होती है। एक ही कारक एवं वचन में दो-दो रूपों (यथा, अस्मान्-नः युष्मान्-वः इत्यादि) के अस्तित्व का कारण यह प्रतीत होता है कि मूल-भारोपीय-भाषा में पुरुषवाचक सर्वनामों के 'स्वर-युक्त' (Accented) तथा 'स्वर-हीन' (Unaccented) दोनों-प्रकार के रूप विद्यमान थे, जिनमें से कुछ आर्य-भाषाओं ने स्वर-युक्त रूप ग्रहण किये तथा कुछ ने स्वर-हीन। लैटिन ने स्वर-हीन 'नोस्', 'वोस्' रूप अपनाये, परन्तु भारतीय-आर्य-भाषा ने दोनों-प्रकार के रूप ग्रहण किये।

धातु-रूप—

भारोपीय-परिवार की भाषाओं में ग्रीक तथा प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा (वैदिक संस्कृत) ने धातु-रूपों की विविधता को बहुत कुछ सुरक्षित रखा। ग्रीक के समान वैदिकभाषा में भी तीन-वचन, तीन-पुरुष, दो-वाच्य (आत्मनेपद एवं परस्मैपद), चार-काल (वर्तमान या लट्, असम्पन्न या लङ्, सामान्य या लुङ्, एवं सम्पन्न या लिट्) तथा पाँच-भाव (निर्देश, अनुज्ञा, सम्भावक, अभिप्राय एवं निर्बंध) विद्यमान हैं।

धातु-रूपों की तीन विशेषताएँ अनुलक्षणीय हैं—(१) धातु से पूर्व 'अ' उपसर्ग (augment) का प्रयोग, (२) धातु का द्वित्व (reduplication), तथा (३) धातु एवं तिङ्-प्रत्यय के मध्य 'विकरण' का सन्निवेश।

धातु से पूर्व 'अ' उपसर्ग का प्रयोग 'असम्पन्नवर्तमान' (लिङ्, imperfect), 'असम्पन्नभूत्' (pluperfect), 'सामान्य' (लुङ् aorist), तथा 'क्रियातिपत्ति' (लृङ्, conditional) में प्रायः होता है। 'न्, य्, व्, र्' से आरम्भ होने वाली धातुओं के साथ यह उपसर्ग प्रायः दीर्घ हो गया है, जैसा, 'सामान्य' (लुङ्) 'आनत्' (√नम् 'प्राप्त करना'), असम्पन्न वर्त० 'आयुनक्', सामा० 'आयुक्त' 'आयुक्षाताम्' (√युज् 'जोड़ना'), असम्प० वर्त० 'आरिणक्' तथा सामा० 'आरैक्' (√रिच् 'छोड़ना'), सामा० 'आवर्' (√वृ 'ढकना'), इत्यादि रूपों से स्पष्ट है; धातु के आरम्भिक 'इ, उ, ऋ,' के साथ इसकी 'वृद्धि' हो जाती है; यथा, 'ऐच्छत्' (√इष् 'चाहना' का असम्प० वर्त०), 'औनत्' (√उद् 'आर्द्र करना' का असम्प० वर्त०); प्रायः यह उपसर्ग लुप्त भी हो जाता है तथा इसप्रकार से अवशिष्ट धातु-रूप का भाव, निर्देश (indicative) अथवा निर्बन्ध होता है। 'अ' उपसर्गयुक्त धातु-रूप में 'स्वराघात' (accent) भी इस उपसर्ग पर ही रहता है। इन बातों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि धातु-रूप का यह अंश स्वभावज न था, अपितु स्वतंत्र उपसर्ग था।

धातु का द्वित्व 'वर्तमान या लट्' में किन्हीं धातुओं में, 'सम्पन्न या लिट्' में, 'सामान्य या लुङ्' के एक रूप में तथा 'सन्नन्त' (इच्छार्थक, desiderative) एवं 'यङ्न्त' (अतिशयार्थक 'intensive) प्रक्रियाओं में होता है। द्वित्व की सर्वसामान्य विशेषताएँ ये हैं—

(१) धातु के प्रारम्भिक अक्षर का द्वित्व होता है; यथा, बु-बुध् (√बुध् 'समझना'।

(२) सघोष-व्यञ्जनों के लिये द्वित्व में तत्तुल्य अघोष-व्यञ्जनों का प्रयोग होता है; यथा—'बि-भी' (√ भी 'डरना'), 'द-धा' (√धा 'रखना')।

(३) कण्ठ्य-व्यञ्जनों के द्वित्व में तत्तुल्य तालव्य-व्यञ्जनों का प्रयोग होता है; यथा—'ज-गम्' (√गम् 'जाना'), 'च-खन्', 'ज-घन्' आदि।

(४) यदि धातु के प्रारम्भ में दो-व्यञ्जन हों तो प्रथम व्यञ्जन का द्वित्व होता है; यथा, 'च-क्रम्'।

(५) कठोर-व्यञ्जन (hard consonant) से अनुगमित ऊष्मव्यञ्जन

यदि धातु के प्रारम्भ में हो तो कठोर-व्यञ्जन का द्वित्व होता है; यथा, 'त-स्था', 'च-स्कन्द्' ; परन्तु 'स-स्वज्' ।

(६) यदि धातु के प्रथमाक्षर में दीर्घ-स्वर है तो द्वित्व में उसका ह्रस्व-रूप ग्रहण किया जाता है;यथा, 'द-दा', 'र-राध्' ।

'विकरण' की भिन्नता के अनुसार धातुओं का दश 'गणों' में विभाग किया गया है, (१) 'अ'—विकरणवाली (भ्वादि-गण), (२) विकरण-रहित (अदादि-गण), (३) विकरण-रहित धातु के द्वित्ववाली (जुहोत्यादि-गण), (४) 'य' विकरणवाली (दिवादि-गण), (५) 'नु' विकरणवाली (स्वादि-गण), (६) स्वराघातयुक्त 'अ' विकरणवाली (तुदादि-गण) (७) धातु के अंतिम व्यञ्जन पूर्व 'न' या 'न्' के आगमवाली (रुधादि-गण), (८) 'उ' विकरणवाली (तनादि-गण), (९) 'ना' विकरण वाली (क्रयादिगण), (१०) 'अय्' विकरण-वाली (चुरादिगण) ।

इन दश-गणों के भी दो विभाग किये गये हैं—(१) जिनमें 'अङ्ग' (धातु का विकरण-युक्त रूप, जिसमें 'तिङ्' प्रत्यय जोड़े जाते हैं) 'अकारान्त' हो (thematic) तथा, (२) जिनमें 'अङ्ग' 'अकारान्त' न हो (non-thematic)। प्रथम-विभाग (संस्कृत-वैयाकरणों ने इसको 'प्रथमव्यूह' संज्ञा दी है) में प्रथम, चतुर्थ, षष्ट तथा दशमगण की धातुएँ तथा 'द्वितीय-व्यूह' में शेष छै गणों की धातुएँ हैं। विकरण-प्रत्यय केवल वर्तमान तथा इसके भावों में एवं असम्पन्न में प्रयुक्त होते हैं, अन्य-कालों में धातु से सीधे-सीधे तिङ्-प्रत्यय जुड़ जाते हैं।

वैदिक-भाषा में धातुओं के 'असम्पन्न', 'सम्पन्न' एवं 'सामान्य' रूपों में काल-गत भेद नहीं है । इन रूपों में केवल प्रक्रिया-भेद है और ग्रीक-व्याकरण में इन नामों से अभिहित होने के कारण ही इनकी यह संज्ञाएँ की गई हैं। वैदिक-भाषा में किसी धातु-रूप, का असम्पन्न (imperfect) अर्थ नहीं होता और जिन धातु-रूपों को यह संज्ञा दी गई है, वह वास्तव में वर्तमान-काल का अर्थ द्योतित करते हैं और 'सम्पन्न' अर्थ उन धातु-रूपों से व्यक्त होता है, जिनको 'सामान्य' की संज्ञा दी गई है।

वैदिक-भाषा में 'वर्तमान', 'सम्पन्न' तथा 'सामान्य' के 'निर्देश', (indicativ), अभिप्राय (subjunctive), 'सम्भावक' (optative) तथा 'अनुज्ञा' (imperative), एवं निर्बन्ध' (injunctive) भावों (moods) के रूप उपलब्ध होते हैं। इसप्रकार वैदिक-भाषा के धातु रूपों को निम्न-विभागों

में बाँटा जाता है—(१) वर्तमान-विभाग, इसमें 'असम्पन्न' भी सम्मिलित है; (२) सम्पन्न-विभाग, (३) सामान्य-विभाग तथा (४) भविष्यत्-विभाग।

'परस्मैपद' तथा 'आत्मनेपद' के तिङ्-प्रत्यय भिन्न-भिन्न हैं और इनके भी पुनः दो, कुछ-कुछ भिन्न रूप होते हैं—(१) अविकृत (Primary) और (२) विकृत (secondary)। 'सम्पन्न-काल तथा अनुज्ञा' (imperative) भाव के रूप भी भिन्न-भिन्न प्रत्ययों के योग से निष्पन्न होते हैं। सामान्यतः तिङ्-प्रत्यय ये हैं—

[अ] अविकृत-तिङ्-प्रत्यय

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	ए० व०	द्वि० व०	ब० व०	ए० व०	द्वि० व०	ब० व०
उ० पु०	मि	वस्	मस्	ए	वहे	महे
म० पु०	सि	थस्	थ	से	अथे	ध्वे
अ० पु०	ति	तस्	अन्ति, अति	ते	अते	अन्ते, अते

[आ] विकृत-तिङ्-प्रत्यय

उ० पु०	अम्	व	म	इ, अ	वहि	महि
म० पु०	स	तम्	त	थास्	आथाम्	ध्वम्
अ० पु०	त	ताम्	अन्, उस्	त	आताम्,	अन्त, अत, रन्

[इ] 'सम्पन्न'काल के तिङ्-प्रत्यय

उ० पु०	अ	व	म	ए	वहे	महे
म० पु०	थ	अथुस्	अ	से	आथे	ध्वे
अ० पु०	अ	अतुस्	उस्	ए	आते	रे

[ई] 'अनुज्ञा' भाव के तिङ्-प्रत्यय

उ० पु०	आनि	आव	आम	ऐ	आवहै	आमहै
म० पु०	धि, हि	तम्	त	स्व	आथाम्	ध्वम्
अ० पु०	तु	तम्,	अन्तु, अतु	ताम्	आताम्	अन्ताम् अताम्।

किसी धातु के 'अभिप्राय'-भाव के रूप बनाने के लिये धातु के अन्त में 'अ' जोड़ दिया जाता है। इसप्रकार 'अभिप्राय'-भाव में 'दुह्' धातु का रूप 'दोह्', 'युनज्' (√युज् धातु में 'न' का आगम होने पर) 'युनज', 'सुनो', (√सु धातु में 'नु' विकरण जोड़ने पर) का 'सुनव' रूप हो जाते हैं; इसके बाद इनमें तिङ्-प्रत्यय लगते हैं।

'सम्भावक'-भाव के रूप बनाने के लिये 'परस्मैपद' में 'द्वितीयव्यूह'

(जिनका 'अङ्ग' अकारान्त न हो) को धातुओं में 'या' और 'प्रथमव्यूह' (अकारान्त 'अङ्ग') की धातुओं में 'इ' जोड़ दिया जाता है और तब तिङ्-प्रत्यय लगाये जाते हैं।

'अनुज्ञा'-भाव का रूप निष्पन्न करने के लिये तिङ्-प्रत्यय से पूर्व कोई अन्य प्रत्यय नहीं लगता; धातु के मूलरूप में ही 'तिङ्-प्रत्यय' जुड़ जाते हैं। 'अनुज्ञा'-भाव का एक विशेषरूप 'तात्-प्रत्यय' के योग से बनता है; यथा, 'भूतात्', 'हतात्', 'पिपृतात्' इत्यादि। प्रायः ये रूप मध्यम-पुरुष एकवचन का काम देते हैं, परन्तु कभी-कभी ये दूसरे पुरुषों तथा वचनों के रूप के स्थान में भी प्रयुक्त होते हैं। 'तात्'-प्रत्यय से युक्त ये क्रियारूप ब्राह्मण-ग्रंथों में भी बहुलता से पाये जाते हैं।

यहाँ पर धातुओं के विभिन्न भाग-विभागों के 'वर्तमान' के कुछ रूप दिये जाते हैं। इनसे पाठक ऊपर के विवेचन को सरलतया समझ सकते हैं।

वर्तमान-विभाग-'प्रथम-व्यूह'-'भू' ('भव') होना

वर्तमान (present) 'निर्देश' (indicative)

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	ए० व०	द्वि० व०	ब० व०	ए० व०	द्वि० व०	ब० व०
उ० पु०	भवामि	भवावः	भवामसि-भवामः	भवे	भवावहे	भवामहे
म० पु०	भवसि	भवथः	भवथ	भवसे	भवेथे	भवध्वे
अ० पु०	भवति	भवतः	भवन्ति	भवते	भवेते	भवन्ते

'अनुज्ञा' (Imperative).

म० पु०	भव भवतात् }	भवतम्	भवत	भवस्व	भवेथाम्	भवध्वम्
अ० पु०	भवतु	भवताम्	भवन्तु	भवताम्	भवेताम्	भवन्ताम्

'अभिप्राय (Subjunctive)

उ० पु०	भवामि-भवा	भवाव	भवाम	भवै	भवावहै	भवामहै
म० पु०	भवासि-भवास्	भवाथः	भवाथ	{ भवासे भवासै	अ० भवैथे वे०	भवाध्वे
अ० पु०	भवाति-भवात्	भवातः	भवान्	{ भवाते भवातै	भवैते	भवान्ते

'सम्भावक' (Optative).

उ० पु०	भवेयम्	*भवेव	भवेम	भवेय	भवेवहि	भवेमहि
म० पु०	भवेः	*भवेतम्	भवेत	*भवेथाः	*भवेयाथाम्	*भवेध्वम्
अ० पु०	भवेत्	भवेताम्	भवेयुः	भवेत	*भवेयाताम्	भवेरन्

असम्पन्न (Imperfect).

उ० पु०	अभवम्	*अभवाव	अभवाम	अभवे	*अभवावहि	*अभवामहि
म० पु०	अभवः	अभवतम्	अभवत	अभवथाः	अभवेथाम्	*अभवध्वम्
अ० पु०	अभवत्	अभवताम्	अभवन्	अभवत	अभवेताम्	अभवन्त

'द्वितीय-व्यूह'—'भृ' 'बिभर्' ('बिभृ') 'धारण करना'

वर्तमान (Present). 'निर्देश'

उ० पु०	*बिभर्मि	*बिभृवः	बिभृमसि / बिभृमस्	बिभ्रे	बिभृवहे	बिभृमहे
म० पु०	*बिभर्षि	बिभृथः	बिभृथ	बिभृषे	बिभ्राथे	बिभृध्वे
अ० पु०	*बिभर्ति	बिभृतः	बिभ्रति	बिभृते	बिभ्राते	बिभ्रते

'अनुज्ञा' (Imperative)

उ० पु०	×			×		×
म० पु०	बिभृहि / बिभृतात्	बिभृतम्	बिभृत / बिभृतन	बिभृष्व	बिभ्राथाम्	बिभृध्वम्
अ० पु०	*बिभर्तु	बिभृताम्	बिभ्रतु	बिभृताम्	*बिभ्राताम्	बिभ्रताम्

'अभिप्राय' (Subjunctive)

उ० पु०	बिभराणि	*बिभराव	बिभराम	*बिभरै	बिभरावहै	बिभरामहै
म० पु०	बिभरः	बिभरथः	*बिभरथ	बिभरसे	*बिभरैथे	*बिभरध्वे
अ० पु०	बिभरत्	*बिभरतः	बिभरन्	बिभरते	*बिभरैते	बिभरन्त

'सम्भावक' (Optative)

उ० पु०	बिभृयाम्	*बिभृयाव	बिभृयाम	बिभ्रीय	बिभ्रीवहि	बिभ्रीमहि
म० पु०	बिभृयाः	*बिभृयातम्	*बिभृयात	*बिभ्रीथाः	*बिभ्रीयाथाम्	*बिभ्रीध्वम्
अ० पु०	बिभृयात्	बिभृयाताम्	बिभ्रियुः	बिभ्रीत	*बिभ्रीयाताम्	बिभ्रीरन्

असम्पन्न (Imperfect)

उ०पु०	अबिभरम्	*अबिभृव	अबिभृम	*अबिभ्रि	अबिभृवहि	*अबिभृमहि

म० पु०	अबिभः	अबिभृतम्	अबिभृत / अबिभृतन	अबिभृथाः	*अबिभ्राथाम्	अबिभृध्वम्
अ० पु०	अबिभः	अबिभृताम्	अबिभ्रन् / अबिभरुः	अबिभृत	*अबिभ्राताम्	अबिभ्रत

'वर्तमान-काल' की धातु के 'निर्बन्ध' (injunctive) भाव के रूप, असम्पन्न-काल के रूपों में से 'अ' उपसर्ग हटा देने से प्राप्त होते हैं; यथा, भवत्, भवताम्, भवन् इत्यादि।

'सम्पन्न'-विभाग

इसमें 'परस्मैपद' एकवचन में धातुओं का दीर्घीभूत-रूप तथा अन्यत्र ह्रस्वीभूत-रूप (weak) प्रयुक्त होता है और तिङ्-प्रत्ययों का रूप इसप्रकार हो जाता है—

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	ए० व०	द्वि० व०	ब० व	ए० व०	द्वि० व०	ब० व०
उ० पु०	अ	व	म	ए	वहे	महे
म० पु०	थ	अथुः	अ	से	आथे	ध्वे
अ० पु०	अ	अतुः	उः	ए	आते	रे

उदाहरणस्वरूप 'कृ' करना के रूप नीचे दिये जाते हैं—

उ० पु०	*चकर	*चकृव	चकृम	चक्रे	*चकृवहे	चकृमहे
म० पु०	*चकर्थ	चक्राथुः	चक्र	चकृषे	चक्राथे	चकृध्वे
अ० पु०	*चकार	चक्रतुः	चक्रुः	चक्रे	चक्राते	चक्रिरे

'सम्पन्न-काल' के भावों के रूप ऋक्संहिता को छोड़कर अन्य संहिताओं में विरल ही हैं। 'अभिप्राय' (subjunctive) भाव के रूप इसप्रकार हैं—

परस्मैपद—उ० पु० ए० व० 'अनजा' (√'अञ्ज्' रँगना), म० पु० ए० व० 'ततनः' (√तन् 'फैलाना), म० पु० द्वि० व० 'चिकेतथः', अ० पु० ए० व० 'चिकेतत्', इत्यादि।

आत्मनेपद—अ० पु० ए० व० 'ततपते', उ०पु० ब०व० 'अनशामहै'।

'अनुज्ञा' (Imperative) भाव के रूप वैदिक-साहित्य में अल्प ही हैं। उदाहरण ये हैं—

परस्मै० म० पु० ए० व० चिकिद्धि (√चित्), अ० पु० मुमोक्तु

(√मुच), द्वि० व० मुमुक्तम, म० पु० ब० व० 'दिदिष्टन' (√दिश्) इत्यादि।

आत्मने० म० पु० ए० व० ववृत्स्व, व० व० ववृध्वम्।

'सम्भावक' (optative) भाव के रूपों के उदाहरण ये हैं—

परस्मै० उ० पु० ए० व० जगम्याम, ब० व० ववृत्याम, म० पु० ए० व० बभूयाः, द्वि० व० जगम्यातम (√गम्), अ० पु० ए० व० जगम्यात्, ब० व० जगम्युः।

आत्मने० उ० पु० ए० व० ववृतीय, व० व० ववृतीमहि; म० पु० ए० व० ववृधीयाः, अ० पु० ए० व० ववृतीत।

'निर्बन्ध'-भाव के उदाहरण—

म० पु० ए० व० शशास् (√शास् 'आज्ञा देना'), अ० पु० ए० व० दूधोत् (√धू 'कँपाना'); आत्मने० अ० पु० व० व० 'ततनन्त'।

'वर्तमान-काल' में 'असम्पन्न' के समान 'सम्पन्न'-काल में भी 'अ' उपसर्ग-युक्त रूप मिलते हैं; इनको 'असम्पन्न-भूत' (pluperfect) की संज्ञा दी गई है। उदाहरण ये हैं—

परस्मै० उ० पु० ए० व० 'अचचक्षम्' (√चक्ष् 'देखना'); म० पु० ए० व० 'अजगन्', द्वि० व० 'अमुमुक्तम्', व० व० 'अजगन्त'; अ० पु० ए० व० 'अजगन्', द्वि० व० 'अवावशीताम्', व० व० 'अचुच्यवुः'।

आत्मने० उ० पु० ए० व० अशुश्रवि; अ० पु० ए० व० दिदिष्ट, व० व० अचक्रिरन्, इत्यादि।

सामान्य-विभाग

'सामान्य'-काल में धातु के रूप विविध प्रकार से निष्पन्न होते हैं। मोटे तौर पर इसकी दो विधियाँ हैं—(१) धातु तथा तिङ्-प्रत्यय के बीच 'स्' अथवा 'स' का आगम कर (२) धातु के अविकृत अथवा द्वित्वरूप में सीधे-सीधे अथवा 'अ' लगाकर 'तिङ्-प्रत्यय' जोड़कर। प्रथम-विधि के चार तथा द्वितीय-विधि के तीन भेद हैं। इसप्रकार इस काल के रूपों के अनेक प्रकार हैं और बहुत सी धातुओं के रूप एकाधिक विधि से निष्पन्न होते हैं। इन विविध रूपों का 'सामान्य' नामकरण, रूपों में कुछ सादृश्य तथा प्रयोग-सादृश्य के कारण किया गया है। वैदिक-संहिताओं में ये धातु-रूप प्रचुर संख्या में उपलब्ध होते हैं और क्रिया का 'सम्पन्न' अर्थ द्योतित करते हैं। इस काल के भी सभी भावों के रूप उपलब्ध होते हैं। यहाँ पर इसके विविध रूपों के उदाहरण देना संभव नहीं है। केवल कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

१ 'स' आगम-युक्त सामान्य—

'निर्देश' (indicative)

	परस्मैपद-'भृ' धारण करना			आत्मनेपद-'बुध्' जागना		
	ए० व०	द्वि० व०	ब० व०	ए० व०	द्वि० व०	ब० व०
उ० पु०	अभार्षम्	अभार्ष्व	अभार्ष्म	अभुत्सि	अभुत्स्वहि	अभुत्स्महि
म० पु०	अभार्	अभार्ष्टम्	अभार्ष्ट	अबुधाः	अभुत्साताम्	अबुद्ध्वम्
अ० पु०	अभार्	अभार्ष्टाम्	अभार्षुः	अबुद्ध	अभुत्साताम्	अभुत्सत

'स्तु' प्रशंसा करना 'अभिप्राय' (Sulbjnutive)

उ० पु०	स्तोषाणि	स्तोषाम	स्तोषै			
म० पु०	स्तोषसिः स्तोषस्	स्तोषथः	स्तोषथ	स्तोषसे	स्तोषाथे	
अ० पु०	स्तोषति स्तोषत्	स्तोषतः	स्तोषन्	स्तोषते		स्तोषन्ते

'सम्भावक' (optative) के रूप केवल 'आत्मनेपद' में मिलते हैं। उदाहरण ये हैं—

उ० पु० ए० व० 'भक्षीय' (√भज् 'बाँटना), ब० व० भक्षीमहि; म० पु० ए० व० 'मंसीष्ठाः' (√मन् 'सोचना'), द्वि० ब० 'त्रासीथाम्' (√त्रा 'रक्षा करना'); अ० पु० ए० व० 'मंसीष्ट', ब० व० 'मंसीरत'।

'अनुज्ञा' (Imperative) के केवल छै रूप मिलते हैं।

परस्मै० म० पु० ए० व० 'नेष' (√नि 'लेजाना'), 'पर्ष' (√पृ 'पार ले जाना'); आत्मने० म० पु० ए० व० 'साक्ष्व' (√सह्), द्वि० व० 'रासाथाम्' अ० पु० ए० व० 'रासताम्', ब० व० 'रासन्ताम्'।

'निर्बन्ध' (Injunctive) के रूप साधारणतया 'अ'-उपसर्ग-रहित 'निर्देश' के रूपों के समान हैं।

प्राचीन-वैदिक-भाषा में 'भविष्यत्' का अर्थ प्रायः 'अभिप्राय' (Subjunctive) तथा कहीं कहीं 'निर्देश' (indicative) के रूप में प्रकट करते हैं; अतः 'भविष्यत्'-काल के अलग-रूप विरल हैं। 'भविष्यत्' के रूप तिङ्-प्रत्ययों से पूर्व 'स्य' अथवा 'इस्य' लगाकर बनते हैं। आत्मनेपद में केवल एक वचन के ही रूप मिलते हैं।√कृ 'करना' के 'भविष्यत्' के रूप इसप्रकार होंगे—

परस्मै० एक० व०—उ० पु० करिष्यामि, म० पु० करिष्यसि, अ० पु० करिष्यति।

द्वि० व० उ० पु० करिष्यावः म० पु० करिष्यथः अ० पु० करिष्यतः।
ब० व० उ० पु० करिष्यामः म० पु० करिष्यथ अ० पु० करिष्यन्ति।
आत्मने० एक० व० उ० पु० करिष्ये, म० पु० करिष्यसे, अ० पु० करिष्यते।

धातुओं के इन विविध-रूपों के अतिरिक्त वैदिक-भाषा में अनेक प्रकार के क्रियाजात-विशेषण (Participles) तथा 'असमापिका'-पद (infinitives) विद्यमान थे।

ऋग्वेद-संहिता के सभी सूक्तों की रचना एक ही समय में नहीं हुई थी। अतः कालगत-भेद के साथ-साथ उनमें भाषागत भिन्नताएँ भी परिलक्षित होती हैं। दशम-मण्डल की भाषा अन्य मण्डलों की भाषा से कुछ बातों में भिन्न है। यहाँ 'र्' के स्थान पर 'ल्' का प्रयोग अधिक दिखाई देता है; प्राचीन-भाषा के 'म्रुच्' 'रभ्' 'रोमन्' आदि शब्दों का यहाँ 'म्लुच्' 'लभ्' 'लोमन्' रूप हो गया है। प्राचीन-वैदिक-भाषा में 'ग्रभ्' धातु के 'भ्' के स्थान में 'ह्' केवल 'ऋ'कार के पश्चात् ही दिखाई देता है, यथा, 'हस्तगृह्य'; परन्तु दशम-मण्डल में सर्वत्र ही 'ह्' मिलता है, यथा— 'गृहाण' (प्रा० वै०. 'गृभाय'), 'जग्राह' इत्यादि। इसीप्रकार 'अनुज्ञा' (Imperative), मध्यम-पुरुष, एकवचन के तिङ्-प्रत्यय 'धि' के स्थान पर दशम-मण्डल में 'हि' का प्रयोग हुआ है। प्राचीन-वैदिक में √कृ' धातु के रूप 'नु' विकरण के योग से निष्पन्न होते हैं; यथा, 'कृणुमः' परन्तु दशम-मण्डल में इसमें 'उ' विकरण लगाकर 'कुर्मः' आदि रूप बनाये गये हैं। प्राचीन-वैदिक में 'देवाः' (कर्ताकारक बहुवचन) तथा 'देवैः' (करण ब० व०) के अतिरिक्त 'देवासः' तथा 'देवेभिः' रूप भी पर्याप्त रूप में प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु नवीन-वैदिक में 'देवेभिः' 'देवासः' जैसे रूपों का प्रयोग बहुत कम हो गया है। इन भिन्नताओं के अतिरिक्त प्राचीन-वैदिक में बहुलता से प्रयुक्त 'ईम्' 'विचर्षणि', 'वीति' जैसे शब्द नवीन-वैदिक में लुप्त हो गये हैं।

ऋग्वेद-संहिता के सूक्तों की रचना पंजाब-प्रदेश में हुई थी, परन्तु आर्यों के दल निरन्तर पूर्व की ओर बढ़ते जा रहे थे और स्थानीय अनार्य-जातियों को अभिभूत कर उनके बीच अपनी संस्कृति एवं भाषा को प्रतिष्ठित कर रहे थे। 'यजुर्वेद-संहिता' तथा प्राचीन-ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रणयन के समय में मध्य-देश (गंगा-यमुना का अन्तर्वर्तीप्रदेश) आर्य-संस्कृति का केन्द्र बन चुका था। स्थानीय अनार्य-जातियों के सम्पर्कतया स्थान-भेद के कारण भाषा में भी परिवर्तन होते

जा रहे थे। प्राचीन-वैदिक-भाषा तथा दशम-मण्डल आदि की भाषा में जो भिन्नताएँ ऊपर बताई गई हैं, वह निरन्तर बढ़ती हुई दिखाई देती हैं। यजुर्वेद-संहिता के गद्य-भाग तथा प्राचीन-ब्राह्मण-ग्रंथों में 'ल्' का तथा 'मूर्धन्य-व्यंजनों' का प्रयोग बहुत बढ़ गया है; शब्द-रूपों में तथा धातु-रूपों की विविधता बहुत कम हो गई है और अनेक प्राचीनशब्द लुप्त हो गये हैं। वैदिक-साहित्य के अन्तिम-भाग उपनिषदों तथा सूत्रों की भाषा, व्याकरण-रूपों की सरलता के कारण, 'संस्कृत' के बहुत समीप पहुँच गई है।

'प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा का वह रूप जिसका पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में विवेचन किया गया है, 'संस्कृत' कहलाता है। ईसा पूर्व छठीं शताब्दि अथवा इससे कुछ पहिले पाणिनि ने अपने समय की शिष्ट-समाज के व्यवहार की भाषा आदर्श-रूप में ग्रहणकर उसके आधार पर प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' की रचना की। ब्राह्मण-ग्रंथों में अनेक स्थानों पर इस बात का उल्लेख हुआ है कि उस समय 'उदीच्य-भाषा' (पंजाब की भाषा) आदर्श-भाषा मानी जाती थी। इसमें आर्य-भाषा का प्राचीनतमरूप बहुत कुछ सुरक्षित था। मध्य-देश एवं पूर्व-अञ्चल की भाषा में मूल-आर्य-भाषा से भिन्नताएँ बढ़ गई थीं। पाणिनि तक्षशिला के समीप शालातुर के निवासी थे; औदीच्य होने के कारण वह शिष्ट-समाज में, आदर्श-रूप में स्वीकृत, उदीच्य-भाषा से पूर्ण परिचित थे। इन बातों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पाणिनि के 'व्याकरण' की आदर्श-भाषा 'उदीच्य-भाषा' थी। 'अष्टाध्यायी' द्वारा संस्कृत-भाषा का रूप हमेशा के लिये स्थिर हो गया, परन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकलता, जैसा कुछ योरोपीय विद्वानों ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, कि संस्कृत सर्वथा 'कृत्रिम-भाषा' है, और कभी बोल-चाल की भाषा न थी। पाणिनि ने वैदिक-भाषा को 'छन्दस्' नाम दिया है तथा अपने व्याकरण की आदर्शभाषा को लोक-प्रचलित भाषा कहा है। वैदिक तथा लौकिक-संस्कृत की भिन्नताएँ यहाँ पर संक्षेप में प्रदर्शित की जाती हैं।

हम देख चुके हैं कि वैदिक-भाषा में स्वराघात (accent) का बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। इसके परिवर्तन के कारण शब्द-रूपों में परिवर्तन हुआ और शब्दों के अर्थ में भी भेद हो गया। परन्तु संस्कृत में स्वराघात सर्वथा लुप्त हो गया।

शब्द-रूपों में 'देवासः' 'देवेभिः' अश्विना' (कर्ता० द्वि० व०) आदि अतिरिक्त रूप, संस्कृत-भाषा में सुरक्षित न रहे। वैदिक-भाषा में जहाँ शब्दों के एकाधिक रूप मिलते हैं, वहाँ संस्कृत में प्रायः एक ही रूप लिया गया है।

वैदिक तथा संस्कृत में सबसे अधिक भिन्नता धातु-रूपों में दिखाई देती है। संस्कृत में 'अभिप्राय ('लेट्' subjunctive) तथा 'निर्बन्ध' (injunctive) भावों के रूप लुप्त हो गये हैं। 'अभिप्रायः' के उत्तम-पुरुष के रूप संस्कृत में 'अनुज्ञा' (लोट्, imperative) में मिला लिये गये हैं और 'निर्बन्ध'-भाव का प्रयोग केवल निषेधार्थक 'मा' अव्यय के साथ ही रह गया है। संस्कृत में केवल 'वर्तमान'-काल में ही, धातु के विभिन्न-भावों के रूप उपलब्ध होते हैं तथा सामान्य-अतीत (aorist) के 'विधि' ('आशीर्लिङ्') के रूप मिलते हैं। वैदिक भाषा में वर्तमान, सम्पन्न तथा सामान्य एवं भविष्यत् के भी कुछ-कुछ, भावों के रूप होते हैं। संस्कृत में क्रियाजात-विशेषणों तथा असमायिका पदों का उतना प्राचुर्य नहीं है जितना वैदिक भाषा में। संस्कृत में अनेक नवीन धातुओं को भी स्थान मिला है। वैदिक-भाषा में 'प्र', 'परा' इत्यादि उपसर्ग क्रिया से अलग स्वतन्त्ररूप में रह सकते थे, परन्तु संस्कृत में ये क्रिया-पद के साथ सम्बद्ध होकर ही रह सकते हैं; केवल 'आ, प्रति, परि, अनु' आदि कुछ उपसर्ग ही स्वतंत्र सत्ता बनाये रख सके हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 'ऋक्संहिता' की भाषा का रूप निरन्तर सरलतर होता गया और 'संस्कृत' में इसके अनेक शब्द-रूपों तथा धातु-रूपों का लोप हो गया। व्याकरण में इस सरलता का, प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री, 'वाकरनागेल' महोदय ने यह कारण बताया है कि 'संहिता-काल' में बोल-चाल की भाषा 'सूक्तों' की भाषा की अपेक्षा अधिक सरल थी; बाद में बोलचाल की भाषा की साहित्यिक-भाषा पर प्रतिक्रिया हुई और साहित्यिक तथा शिष्ट-समाज की भाषा भी सरल होती गई। परन्तु, यह पर्याप्त कारण नहीं प्रतीत होता, क्योंकि 'ऋक्संहिता' के 'देवासः', 'देवेभिः' इत्यादि रूप संस्कृत में तो लुप्त हो गये, परन्तु प्राकृत में 'देवाओ' 'देवेहिं' के रूप में चले आये और बहुत से रूप जो प्राकृत में नहीं मिलते संस्कृत में विद्यमान हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि व्याकरण की इस सरलता का कारण साहित्यिक-भाषा में शब्द रूपों को नियमबद्ध करने की प्रवृत्ति है, जो सभी जगह दिखाई देती है।

व्याकरण के नियमों में जकड़ जाने पर 'संस्कृत' का विकास रुक गया, परन्तु बोलचाल की भाषा निरन्तर विकसित होती जा रही थी। समस्त उत्तरापथ में आर्यों के प्रसार के साथ-साथ प्राचीन-आर्य-भाषा के रूप में भी परिवर्तन-विवर्तन होता जा रहा था, तथा भाषा में कालगत एवं स्थानगत भिन्नताएँ बढ़ती जा रही थीं और ईसा पूर्व छठीं शताब्दी तक प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा विकास के मध्य-स्तर पर पहुँच गई।

तीसरा अध्याय

मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा

तथागत भगवान बुद्ध के जन्म (५०० ई० पू०) तक भारतीय-आर्य-भाषा विकास के मध्य-काल में प्रवेश कर चुकी थी। ईसा से १०००-६०० वर्ष पूर्व तक का काल उत्तरापथ में आर्यों के प्रसार तथा जनपदों के निर्माण का काल था। इस समय तक उत्तर-पश्चिम में गांधार-प्रदेश से लेकर पूर्व में विदेह (उत्तर-बिहार) एवं मगध (दक्षिण-बिहार) पर्यन्त आर्य-राज्य स्थापित हो चुके थे और स्थानीय अनार्य-जातियों में आर्य-भाषा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। अनार्य-जातियों के मुख में आर्य-भाषा का प्राचीनरूप अविकृत न रह सका। यह स्वाभाविक भी था। आर्य-भाषा उनके लिये नई भाषा थी। अतः इसके ग्रहण करने में उन्हें अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत हुईं। ताण्ड्य-ब्राह्मण में इसका संकेत इन शब्दों में मिलता है—"अदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुः।" (१७,४)—"सरलता से बोले जा सकने वाले वाक्य को वह उच्चारण करने में कठिन बताते हैं।" आर्य-लोग जिस भाषा को सरलतापूर्वक बोलते थे, उसकी कुछ ध्वनियों (ऋकार तथा संध्यक्षर ऐ, औ तथा (संयुक्त-व्यञ्जन) के उच्चारण में उनको (अनार्यों को) कठिनाई होती थी। अतः उनके बीच आर्य-भाषा का रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया। आर्य-भाषा की 'ऋ, लृ' ध्वनियाँ लुप्त हो गईं, ऐ, औ के स्थान में ए, ओ का प्रयोग होने लगा और इसीप्रकार 'अय्', 'अव्' जैसे ध्वनि-समूहों का स्थान ए, ओ ने ग्रहण कर लिया। पदान्त-व्यञ्जनों का लोप हो गया और पदान्त 'म्' ने अनुस्वार का रूप धारण कर लिया। 'श्, ष्, स्' इन तीनों ऊष्म-व्यञ्जनों के स्थान में, उदीच्य-भाषा के अतिरिक्त अन्य जनपदीय-भाषाओं में केवल एक ऊष्म-ध्वनि (मगध की भाषा में तालव्य 'श्' और अन्य बोलियों में दन्त्य 'स्') व्यवहृत हुई। परन्तु आर्य-भाषा की ध्वनियों में सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि संयुक्त-व्यञ्जन-ध्वनियों का समीकरण होने लगा और इसके फलस्वरूप 'क्त्', 'ल्क्', 'प्त्', 'क्र्' इत्यादि संयुक्त-व्यञ्जनों के स्थान में 'त्त्' 'क्क्' 'त्त्' तथा 'क्क्' इत्यादि का प्रयोग होने लगा तथा ऊष्म-ध्वनियों एवं अर्ध-स्वरों में परिवर्तन हो गया; यथा,—स्प्>प्फ्, स्न्>न्न्, त्स्>च्छ्, त्य्>च्च्, क्व्>क्क् इत्यादि।

प्राचीन-आर्य-भाषा के संगीतात्मक-स्वराघात (Pitch accent) का लोप होकर, अधिकांश जनपदीय-भाषाओं में बलात्मक स्वराघात (Stress accent) स्थान पाने लगा। श्वासाघात प्रायः पद के अंतिम भाग के दीर्घ स्वर पर होता था।

ध्वनियों से भी अधिक परिवर्तन शब्द एवं धातु-रूपों में प्रकट हुआ। द्विवचन का सर्वथा लोप हो गया और प्राचीन-आर्य-भाषा के विविध प्रकार के अजन्त एवं हलन्त प्रातिपदिकों के रूप अकारान्त प्रातिपदिकों के समान निष्पन्न होने लगे। पदान्त-व्यञ्जनों के लोप से हलन्त प्रातिपदिक तो समाप्त हो ही चुके थे। प्राचीन-आर्य-भाषा में प्रातिपदिक के अन्तिमस्वर की भिन्नता के कारण-'अश्वस्य' ('अश्व'-अकारान्त), 'मुनेः' ('मुनि' इकारान्त), 'साधोः' ('साधु' उकारान्त) तथा 'पितुः' ('पितृ' ऋकारान्त) सम्बन्धकारक एकवचन के रूपों में भिन्नता है, परन्तु अब इन सब के रूप 'अस्वस्स', 'मुनिस्स', 'साधुस्स' तथा 'पितुस्स', 'अकारान्त' शब्द के समान बनने लगे। सर्वनामों के विशेषप्रकार के रूपों का संज्ञा-शब्दों में विधान होने लगा; यथा, सं० 'तस्मिन् गृहे' का पाली में 'तस्मिन् घरस्मिन्' अथवा 'तम्हि घरम्हि' हो गया।

धातुओं के कालों एवं भावों (Moods) की संख्या में ह्रास हुआ। अभिप्राय (Subjunctive) लुप्त हो गया और सामान्य (Aorist) एवं असम्पन्न के रूप एक 'भूत-काल' में मिला लिये गये तथा सम्पन्न (Perfect) का भी धीरे-धीरे लोप हो गया। धातुओं के 'सन्नन्त' (इच्छार्थक), 'यङ्न्त' (अतिशयार्थक) आदि रूपों का प्रयोग बहुत कम हो गया। प्राचीन-आर्य-भाषा में विकरणों की भिन्नता के अनुसार दश-गणों में विभक्त धातुएँ अब एक ही 'गण' में आ गईं। असमापिका-क्रिया-पदों की संख्या बहुत घट गई।

ऐसे परिवर्तनों से प्राचीन-आर्य-भाषा को नवीन रूप प्राप्त हुआ। यह परिवर्तन समस्त उत्तरापथ में समान-गति से सम्पन्न न हुए। उदीच्य-भाषा (उत्तर-पश्चिम-सीमांत तथा पञ्जाब की भाषा) प्राचीन-आर्य-भाषा के बहुत समीप बनी रही। इसमें परिवर्तन की गति बहुत मंद थी। मध्य-देश की भाषा इन परिवर्तनों से प्रभावित अवश्य हुई, परंतु उच्चारण की शिथिलता उसमें अधिक न आई। प्राच्य-भाषा (वर्तमान अवध, उत्तर-प्रदेश के पूर्वभाग तथा बिहार की भाषा) में परिवर्तन की गति बहुत तीव्र थी। सबसे पहिले यहीं आर्य-भाषा के रूप में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे मध्य-देश तथा उदीच्य की भाषा पर भी

इन परिवर्तनों का प्रभाव परिलक्षित हुआ और सर्वत्र आर्य-भाषा का मध्यकालीन स्वरूप प्रस्फुटित हो गया।

जनपदीय-भाषाओं का स्वरूप निरन्तर परिवर्तित-विवर्तित होता रहा। ६०० ई० पूर्व से १००० ई० तक के १६०० वर्षों तक भारती-आर्य-भाषा विभिन्न 'प्राकृतों' तथा तत्पश्चात् 'अपभ्रंश' के रूप में विकसित होती हुई, आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं की जननी बनी। आर्य-भाषा के मध्य-कालीन-स्वरूप के विकास का ठीक-ठीक विवेचन करने के लिये १६०० वर्षों के इस काल को निम्न पर्वों में बांटा जाता है।

(१) प्रथम-पर्व, जिसमें लगभग २०० ई० पू० तक के प्रारम्भिक-परिवर्तन, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, तथा २०० ई० पू० से २०० ई० तक का विकास अन्तर्भूत है।

(२) २०० ई० से ६०० ई० तक, द्वितीय-पर्व।

(३) ६०० ई० १००० ई० तक, तृतीय-पर्व अथवा अपभ्रंश-काल।

प्रथम-पर्व

प्रथम-पर्व में भाषा के विकास के अध्ययन की सामग्री 'पालि-साहित्य तथा अशोक के अभिलेखों में प्राप्त होती हैं।

पालि में बौद्ध-धर्म के 'थेरवाद' (स्थविरवाद) अथवा 'हीनयान'-सम्प्रदाय का धार्मिक साहित्य ग्रथित है। मगध-सम्राट अशोक के पुत्र राजकुमार 'महिन्द' (महेन्द्र) ने लंका में 'थेरवाद' का प्रचार किया था और लंका-नरेश' 'वट्टगामणि' के संरक्षण में 'थेरवाद' का 'त्रिपिटक' (बुद्ध के उपदेशों का संग्रह) लिपिबद्ध हुआ। तब से लंका में पालि-साहित्य की सुरक्षा एवं अभिवृद्धि हुई। मूल-त्रिपिटक पर 'अट्ठकथा' ('अर्थकथा') लिखी गई और 'विसुद्धि-मग्ग' 'दीपवंस' एवं 'मिलिन्दपञ्हो' जैसे बौद्ध-धर्म सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। लंका से 'थेरवाद' का प्रचार बर्मा, स्याम, हिन्द-चीन, आदि देशों में हुआ और वहाँ भी पालि-ग्रंथों का अध्ययन होने लगा। इन देशों में अपनी-अपनी लिपियों में पालि ग्रंथ लिखे गये।

वास्तव में 'पालि' शब्द किसी भाषा को द्योतित नहीं करता। इसका अर्थ होता है 'मूलपाठ' अथवा 'बुद्धवचन' और 'अट्ठकथा' से मूल-पाठ की भिन्नता प्रकट करने के लिये इस शब्द का व्यवहार होता है, जैसा 'इमानि ताव पालियं, अट्ठकथायंपन' (ये तो पालि' में हैं, परन्तु 'अट्ठकथा' में तो), अथवा 'नेव पालियं न अट्ठकथायं आगतं, (न यह 'पालि' में है न 'अट्ठकथा' में)। 'पालि-भाषा' न

कहकर केवल 'पालि' शब्द से ही 'थेरवाद' के 'धार्मिक-साहित्य' की भाषा को अभिहित करने की प्रथा आधुनिक-काल में चल पड़ी है।

'पालि' के स्वरूप पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि यह भाषा भारत के किस प्रदेश की भाषा रही होगी अथवा भारत के किस प्रदेश की भाषा 'पालि' की आधारभूता थी। इसी प्रसंग में प्रश्न उठता है 'पालि' शब्द की निरुक्ति क्या है ? इन प्रश्नों का भिन्न-भिन्न विद्वानों ने विभिन्न-प्रकार से समाधान किया है।

पं विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'पालि' शब्द का निर्वचन संस्कृत 'पङ्क्ति' शब्द से किया है और इसके ध्वनि-परिवर्तन का क्रम पङ्क्ति>पन्ति>पत्ति>पट्टि>पल्लि>पालि बताया है। इस मत की पुष्टि इस बात से होती है कि स्वयं बौद्ध-साहित्य में 'पालि' का अर्थ 'पङ्क्ति' भी किया गया है। 'अभिधानप्पदीपिका' के 'तन्ति बुद्ध वचनं पन्ति पालि' इस उद्धरण से 'पालि' का 'पंक्ति' अर्थ स्पष्ट हो जाता है। परन्तु ध्वनि-परिवर्तन के विचार से यह मत ठीक नहीं जँचता। ध्वनिपरिवर्तन का यह क्रम भारतीय-आर्य-भाषा के मध्यकालीन विकास को देखते हुए असाधारण ही प्रतीत होता है। यही बात 'पल्लि' (गाँव) से पालि' की व्युत्पत्ति के विषय में भी है। इस मत के स्थापकों का कहना है कि 'पालि' गाँवों की भाषा थी और संस्कृत नगरों की। ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से इस मत में दो त्रुटियाँ हैं। एक तो 'ल्' व्यञ्जन का लोप और उसके पूर्व के स्वर का दीर्घ हो जाना—यह परिवर्तन मध्य-आर्य-भाषा की प्रारम्भिक अवस्था के अनुरूप नहीं है। दूसरे 'पालि' के आविर्भाव-काल में अंतिम स्वर का ह्रस्व होना भी असाधारण बात है। इसके अतिरिक्त 'पालि' केवल गाँवों तक ही सीमित न थी।

मैक्स वालेसर महाशय ने 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति 'पाटलिपुत्र' से मानी है। उनका कहना है कि ग्रीक में 'पाटलिपुत्र' को 'पालिबोथ्र' (palibothra) लिखा गया है। ग्रीक में 'पाटलि' के स्थान पर 'पालि' किसी भारतीय-जनपदीय-भाषा के आधार पर ही लिखा गया होगा। परन्तु यह मत भी इसीलिये असंगत है कि 'पाटलि' शब्द का मध्य-भारतीय-आर्यभाषा के विकास के दूसरे-पर्व में 'पाडलि' रूप हुआ और यह मान लेना युक्तियुक्त नहीं कि इसके प्रारम्भ-काल में ही 'ड' का लोप होकर 'पालि' शब्द चल पड़ा होगा। वास्तव में ग्रीक 'पालिबोथ्र' का आधार उत्तर-पश्चिम-प्रदेश की भाषा में 'पाटलिपुत्र' का प्रचलित रूप रहा होगा, क्योंकि उत्तर-पश्चिम-प्रदेश की भाषा में 'त्र' 'द्र' आदि का समीकरण नहीं हुआ था। वहाँ की भाषा में 'पाटलिपुत्र' का रूप 'पाटलिपुत्र' रहा

होगा और 'ट' का उच्चारण इतना संक्षिप्त रहा होगा कि किसी विदेशी-श्रोता को वह विद्यमान भी न जान पड़ा होगा। इसीप्रकार 'चन्द्रगुप्त' नाम ग्रीक में 'सन्द्रकोत्तस' लिखा गया है, और इसका आधार भी उत्तर-पश्चिम-प्रदेश में 'चन्द्रगुत्त' का प्रचलित रूप ही हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि ग्रीक लेखकों ने भारतीय-नामों को जो रूप दिया उसका आधार उत्तर-पश्चिम-प्रदेश में उन शब्दों का उच्चारण-विशेष था। अतः 'पाटलिपुत्र' से भी 'पालि' की व्युत्पत्ति ठीक नहीं है।

भिक्षु जगदीश काश्यप ने 'पालि महाव्याकरण' में 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति 'परियाय' (सं० 'पर्याय') शब्द से की है। इस मत के अनुसार परियाय > पलियाय > पालियाय और तत्पश्चात् केवल 'पालि' शब्द निष्पन्न हुआ और व्यवहार में आया। इस मत में भी ध्वनि-परिवर्तन की असाधारण स्थिति की कल्पना करनी पड़ती है। 'पालि' शब्द की सीधी सादी व्युत्पत्ति 'पा' धातु में 'णिच्' प्रत्यय 'लि' के योग से सम्पन्न होती है। प्राचीन लेखकों ने भी पालि की व्युत्पत्ति 'अत्थानपाति, रक्खतीति, तस्मात् पालि' ('अर्थों की रक्षा करती है, इसलिए 'पालि') 'पा' धातु से की है। इससे 'पालि'-साहित्य' के संकलन एवं लिपिबद्ध किये जाने के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। अतः यही 'पालि' शब्द की संतोषजनक व्युत्पत्ति है।

'पालि' शब्द से इसका कुछ भी संकेत नहीं मिलता कि यह किस प्रदेश की भाषा थी। लंका के बौद्धों की यह धारणा रही है कि 'पालि' मगध की भाषा थी और बुद्ध-वचन यथातथ्य रूप से इसीमें संकलित हैं। परन्तु 'पालि' और 'मागधी'-भाषा में कुछ ऐसी मौलिक भिन्नताएँ हैं, जिनके कारण 'पालि' को 'मागधी'-भाषा नहीं माना जा सकता। 'प्राकृत-भाषा' के वैयाकरणों ने मागधी-भाषा का जो निरूपण किया है और जो संस्कृत नाटकों में मिलती है वह 'पालि' से बहुत बाद की भाषा है। परन्तु अशोक के सारनाथ, रामपुरवा आदि पूर्वी-अभिलेखों की भाषा तथा मौर्यकाल के प्राचीन-अभिलेखों से जिस मागधी भाषा का पता चलता है, उसमें और पालि में भी वह भिन्नताएँ परिलक्षित होती हैं जो उत्तरकालीन मागधी और पालि में हैं। मागधी में संस्कृत की श्, ष्, स्, यह तीनों ऊष्म-ध्वनियाँ 'श्' में परिणत हो गई हैं, परन्तु पालि में केवल दन्त्य 'स्' ही मिलता है; मागधी में केवल 'ल्' ध्वनि है, लेकिन पालि में 'र्' 'ल्'—दोनों ध्वनियाँ विद्यमान हैं और पुंल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग अकारान्त शब्दों के कर्ताकारक एकवचन में मागधी में 'ए', परन्तु पालि में 'ओ' प्रत्यय लगता है; यथा, मागधी 'धम्मे', पालि 'धम्मो'। अब विद्वानों के सम्मुख यह समस्या

उपस्थित हुई कि यदि मागधी-भाषा पालि की आधारभूता नहीं है, तो यह अन्य किस प्रदेश की भाषा रही होगी ? इस प्रश्न पर विद्वानों के मतों का यहाँ पर दिग्दर्शनमात्र संभव है।

डा० ओल्डनबर्ग ने 'महिन्द' (महेन्द्र) द्वारा सिंहल में धर्म-प्रचार की बात को अनैतिहासिक ठहराया है। उन्होंने यह मत प्रकट किया कि सिंहल में बौद्ध-धर्म का प्रचार भारत एवं सिंहल के अनेक वर्षों के सम्पर्क के फल-स्वरूप हुआ होगा। कलिङ्ग में खारवेल के खण्डगिरि-अभिलेख की भाषा ओल्डनबर्ग महाशय को पालि के बहुत समान प्रतीत हुई और उन्होंने यह मत स्थापित किया कि कलिङ्ग से ही लंका में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ; अतः उनके अनुसार कलिङ्ग की भाषा ही पालि की आधारभूता भाषा है।

खारवेल के अभिलेख की भाषा कलिङ्ग की जन-भाषा थी, इसका कोई प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत अवश्य अनेक प्रमाण हैं। खण्डगिरि के समीप ही धौली में अशोक के अभिलेख की भाषा खारवेल के अभिलेख की भाषा से बहुत भिन्न है। ईसापूर्व की शताब्दियों में कलिङ्ग में आर्य-भाषा का प्रचार नहीं हुआ था। बिहार (अशोक के समय में) तथा मथुरा (ईसा पूर्व, दूसरी शताब्दी) से कलिङ्ग में आने वाले विजेताओं तथा धर्म-प्रचारकों ने अपनी-अपनी बोलियाँ प्रतिष्ठित करदीं। इसप्रकार उत्तरी-कलिङ्ग को ईसा की प्रथम सहस्राब्दि के मध्य-काल के पश्चात् दक्षिण-पश्चिम बंगाल तथा महाकौशल अथवा छत्तीसगढ़ से आर्य-भाषा प्राप्त हुई। खारवेल वस्तुतः द्रविड़-भाषा-भाषी था। उसका नाम ही द्रविड़-भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ 'कृष्ण-ऋष्टि (भाला)' होता है। इन तथ्यों पर विचार करने से ओल्डनबर्ग का मत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

वेस्टरगार्ड तथा ई० कुह्न ने पालि को उज्जैन-प्रदेश की बोली माना है। दो बातों से इस मत की पुष्टि होती है। एक तो अशोक के गिरनार (गुजरात) अभिलेख की भाषा की पालि से बहुत समानता है, दूसरे राजकुमार महिन्द (महेन्द्र) का जन्म उज्जैन में हुआ था और यहीं उसका बाल्यकाल बीता। अतः राजकुमार महेन्द्र की मातृ-भाषा उज्जैन की बोली रही होगी और इसी बोली में उसने लंका में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया होगा तथा इसी बोली में वह वहाँ 'त्रिपिटक' ले गया होगा। यह मत बहुत कुछ युक्तियुक्त प्रतीत होता है, किन्तु इसके लिए पुष्ट प्रमाणों का अभाव है।

आर० ओ० फ्रैंक ने विन्ध्य-प्रदेश की भाषा को पालि का आधार माना। फ्रैंक ने उत्तर-भारत की समस्त जन-भाषाओं के साथ पालि की तुलना कर अपने

इस मत की स्थापना की। स्टेनकोनो ने भी यही मत प्रकट किया। परन्तु वह कुछ भिन्न-प्रकार से इस निष्कर्ष पर पहुँचे। पालि में 'पैशाची' के कुछ लक्षण दिखाई देते हैं जैसे 'ग्, द्' का 'क्, त्, हो जाना और स्टेनकोनो महाशय ने विन्ध्य-प्रदेश को 'पैशाची'-भाषा का स्थान मानकर 'पालि' का आधार विन्ध्य-प्रदेश की बोली को माना। 'पैशाची'-भाषा के स्थान के विषय में ग्रियर्सन महोदय का मत बहुत युक्ति-संगत है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि 'पैशाची' भाषा उत्तर-पश्चिमी-सीमांत प्रदेश की भाषा थी। इससे स्टेनकोनो के मत का कोई आधार नहीं रह जाता।

ग्रियर्सन ने पालि में मागधी एवं पैशाची की कुछ विशेषताएँ देखकर यह निष्कर्ष निकाला कि पालि मूलतः मगध कीभाषा थी। यहाँ से वह तक्षशिला के विद्यापीठ में पहुँची और वहाँ उस पर पैशाची का प्रभाव पड़ा। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने आधुनिक हिंदी का उदाहरण दिया है। हिंदी यद्यपि पछाँह की बोली है, परन्तु उसका विकास बनारस तथा इलाहाबाद में हुआ। अतः वह भोजपुरी एवं अवधी से विशेष प्रभावित हुई है। ग्रियर्सन महोदय का यह मत वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करने में असमर्थ है। तक्षशिला महायान-सम्प्रदाय का केन्द्र था। महायान-सम्प्रदाय का त्रिपिटक संस्कृत में था। पालि में हीनयान-सम्प्रदाय का त्रिपिटक था। अतः तक्षशिला में पालि-त्रिपिटक के अध्ययन की संभावना अधिक नहीं है। हिंदी का उदाहरण भी इस प्रसंग में ठीक नहीं बैठता। हिंदी में भोजपुरी और अवधी के शब्द भले ही आ गये हों, परन्तु उसके व्याकरण पर इन बोलियों की छाप नहीं पड़ी और यदि पालि को मगध की भाषा स्वीकार किया जाय, तो ग्रियर्सन की स्थापना के अनुसार तक्षशिला में पहुँचकर तो उसका स्वरूप ही बदल गया जान पड़ता है।

प्रोफेसर रीज़ डेविड्स ने कोशल की बोली को पालि का आधार माना है। उनका कहना है कि ईसा-पूर्व छठी-सातवीं शताब्दी में कोशल में प्रचलित भाषा ही पालि की जननी है, क्योंकि बुद्ध ने स्वयं अपने लिए 'कोसल-खत्तिय' (कोशल-क्षत्रिय) कहा है और संभवतः कोशल की बोली में ही वह उपदेश करते होंगे। पालि में बुद्ध-वचन मूलरूप में सुरक्षित हैं। अतः पालि कोशल की बोली से ही विकसित हुई है। प्रो० रीज़ डेविड्स ने कोशल की बोली को मगध-साम्राज्य की राष्ट्र-भाषा मान लिया है, परन्तु इसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं दिखाइ देता।

विंडिश और गायगर ने पालि को साहित्यिक-भाषा माना है, जो सब

जनपदों में समझी जाती थी और विभिन्न-जनपदों में स्थानीय-उच्चारण आदि की विशेषताओं को भी ग्रहण करती थी। परन्तु साहित्यिक-भाषा भी किसी जनपद-विशेष की बोली पर आधारित होती है और पालि को मगध की बोली पर आधारित मानना, जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, युक्ति-संगत नहीं है।

वस्तु-स्थिति यह है कि त्रिपिटक का संग्रह पालि के अतिरिक्त, संस्कृत तथा अनेक प्राकृतों में भी हुआ था। आधुनिक-खोजों से यह बात प्रमाणित हो रही है। एक प्रसिद्ध तिब्बती परम्परा के अनुसार 'मूल-सर्वास्तिवाद' के ग्रंथ संस्कृत में, 'महासांघिक' के प्राकृत में, 'महासम्मतिय' के अपभ्रंश में और 'स्थविर' सम्प्रदाय के पैशाची में थे। यह सब बौद्ध-धर्म के विभिन्न-सम्प्रदाय हैं। आधुनिक गवेषणाओं से यह तिब्बती-परम्परा बहुत कुछ सत्य प्रमाणित होती है। अतः जान पड़ता है कि बुद्ध-वचनों का संग्रह विभिन्न-जनपदों की बोलियों में हुआ था। स्वयं बुद्ध भी यह चाहते थे कि लोग अपनी-अपनी भाषा में उनके उपदेशों को ग्रहण करें। इस प्रसंग में 'चुल्ल-वग्ग' में एक कथा है कि एक बार दो भिक्खुओं ने बुद्ध से निवेदन किया कि लोग अपनी-अपनी बोली में उनके वचनों को ग्रहण कर, उनवचनों के मूल-रूप को विकृत कर रहे हैं; अतः उनके उपदेशों को 'छन्दस्' (वैदिक) भाषा में ग्रथित कर दिया जाय, जिससे सर्वत्र वह एक ही रूप में प्रचलित हो। भगवान बुद्ध ने यह प्रस्ताव स्वीकार न किया और आदेश दिया, "अनुजानामि भिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं" 'भिक्षुओ, अपनी-अपनी भाषा में बुद्ध-वचन सीखने की अनुज्ञा देता हूँ'। यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि विभिन्न-सम्प्रदायों के विभिन्न-भाषाओं में ग्रथित-ग्रंथ स्वयं को ही बुद्ध-वचनों का मूल-रूप बताते हैं। ऐसी स्थिति में पालि-त्रिपिटक का ही मूल-त्रिपिटक होना संदिग्ध है। यह संदेह इस बात से और भी पुष्ट हो जाता है कि अशोक ने भाब्रू-अभिलेख में जो बुद्ध-वचन उद्धृत किये हैं, वह पालि में न होकर प्राच्या में हैं। भाब्रू-अभिलेख में यह बचन उद्धृत हुए हैं "उपतिस्पसिने लाघुलोवादे मुसावादं अधिगिच्य विनय समुकसे"। इनका पालि रूप यह होगा, "उपतिस्सपञ्हो राहुलोवादो मुसावादं अधिकिच्च विनय समुकसो।" इससे स्पष्ट है कि अशोक ने 'प्राच्या' में संगृहीत त्रिपिटक से बुद्ध वचनों का ज्ञान प्राप्त किया था।

पालि मूलतः मागधी से भिन्न है, यह पीछे लिखा जा चुका है। परन्तु पालि-त्रिपिटक में मागधी के अनेक रूप विद्यमान हैं; यथा, भिक्खवे, सुवे, पुरिसकारे इत्यादि। इनके अतिरिक्त पैशाची के भी कुछ लक्षण पालि में मिलते हैं,

परन्तु नियमित रूप से नहीं। इनका क्या कारण हो सकता है? गाइगर महोदय ने इनका कारण विभिन्न जन-भाषाओं का पालि पर प्रभाव बताया है। परन्तु संस्कृत-त्रिपिटक में भी कुछ मागधी-रूप मिलते हैं। इनका विवेचन कर सिल्वाँ लेवी तथा लूडर्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पालि एवं संस्कृत-त्रिपिटक मूल मागधी त्रिपिटक के अनुवाद हैं और अनुवादकों की असावधानी अथवा छन्द-निर्वाह के कारण मागधीरूप इनमें रह गये हैं। चीन में ईसा की प्रथम दो शताब्दियों के जो बौद्ध-ग्रंथों के अनुवाद प्राप्त हुए हैं वे पालि अथवा संस्कृत-ग्रन्थों से नहीं मिलते। उनमें स्थानों तथा व्यक्तियों के नामों के जो रूप मिलते हैं, उनका ध्वनि-परिवर्तन के नियमों के अनुसार पालि अथवा संस्कृत से सम्बन्ध न होकर, प्राचीन-मागधी से ही सादृश्य प्रतीत होता है; यथा, 'लो-युन' (चीनी), 'लाघुल' (मागधी) से सादृश्य रखता है, 'राहुल' (पालि) से नहीं। इससे प्रतीत होता है कि चीनी-अनुवाद मागधी से किये गये थे। इसप्रकार यह मानने में कोई बाधा नहीं कि त्रिपिटक का मूल-रूप मागधी में रहा होगा और तब अन्य जनपदों की बोलियों में इसका अनुवाद हुआ। मागधी 'प्राच्या' का ही एक रूप थी। 'श'कार का प्रयोग इसकी अपनी विशेषता थी परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि 'श'कार का प्रयोग साधारण जनता में रहा होगा। राजकीय-भाषा में यह न लिया गया होगा। यह भाषा काशी, कोशल, विदेह और मगध में लोक-व्यवहार की भाषा थी; अतः बुद्ध ने इसी में अपने उपदेश दिये होंगे। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके वचनों के संग्रह के लिये बौद्ध-सभा हुई। इसमें भाग लेने वाले भिक्खुओं में 'महाकस्सप' प्रमुख थे। यह मध्य-देश के निवासी थे। बहुत संभव है इन्होंने मध्य-देश की भाषा (प्राचीन-शौरसेनी, जो मथुरा से उज्जैन तक प्रचलित थी) में भी बुद्ध-वचनों का अनुवाद किया हो। मध्य-देश उस समय ब्राह्मण एवं जैन-धर्मों का केन्द्र था। अतः मध्य-देश की भाषा में त्रिपिटक का होना और भी आवश्यक था। इसी बीच उत्तर-पश्चिम की भाषा में भी बुद्ध-वचनों का अनुवाद हो गया होगा। राजकुमार महेन्द्र ने मध्य-देश की भाषा में अनूदित त्रिपिटक का ही अध्ययन किया होगा, क्योंकि स्वयं उनकी मातृ-भाषा भी यही थी। इसी त्रिपिटक को वह सिंहल ले गये। **अतः मध्यदेश की भाषा ही पालि का आधार है।** मागधी से अनूदित होने के कारण इसमें उसके अनेक रूप रह गये और पैशाची अनुवाद से भी इसने कुछ रूप ग्रहण किये। सिंहल में प्रतिष्ठित हो जाने पर पालि 'साहित्यिक-भाषा' बन गई और इसमें अन्य भाषाओं के रूप भी लिये जाने लगे।

सिंहल के भिक्खुओं का पालि को मागधी-भाषा समझना स्वाभाविक ही था, क्योंकि बुद्ध ने मागधी में उपदेश दिये थे और मगध का ही एक राजपुत्र इसे सिंहल में लाया था। पालि का प्राचीन-शौरसेनी से जितना अधिक सादृश्य है, उतना अन्य किसी बोली से नहीं। मध्य-एशिया में अश्वघोष के नाटकों के जो अंश मिले हैं, उनमें प्रयुक्त प्राचीन-शौरसेनी (मध्य-देश की भाषा) पालि से बहुत अधिक समानता रखती है। ईसा से पूर्व तथा पश्चात् की एक दो शताब्दियों में मथुरा जैन-धर्म का प्रधान केन्द्र था। जैन-आचार्यों के साथ मध्यदेश की भाषा कलिङ्ग में पहुँची और खारवेल ने इसी भाषा में हाथीगुम्फा-अभिलेख लिखवाया। अतः खारवेल के अभिलेख की भाषा पालि से बहुत समानता रखती है। साहित्यिक भाषा बन जाने पर पालि में प्राच्य-भाषा तथा पैशाची (उत्तर-पश्चिम की भाषा) के रूपों को भी स्थान मिलने लगा और संस्कृत शब्दों के तत्सम, अर्ध-तत्सम (जिनमें ध्वनि-परिवर्तन के नियमों के अनुसार व्यञ्जनों का समीकरण न कर, केवल स्वर-सन्निवेश कर दिया गया, यथा, रत्न > रतन) एवं तद्भव रूप प्रयुक्त होने लगे। यही कारण है कि पालि में एक शब्द के दो-दो रूप भी मिलते हैं।

भारतीय-आर्य-भाषा ने जिन परिवर्तनों के द्वारा मध्य-स्तर में प्रवेश किया वे पालि में पूर्णतया परिलक्षित होते हैं। प्राचीन-आर्य-भाषा के सन्ध्यक्षर 'ऐ' 'औ' पालि में लुप्त हो गये और इनका स्थान 'ए' 'ओ' ने ले लिया। पालि में 'ऐरावण' का 'एरावण', 'चैत्यगिरि' का 'चेतियगिरि' 'गौतम' का 'गोतम', 'औषध' का 'ओषध' हो गया। संयुक्त-व्यंजनों से पूर्व ह्रस्व-स्वर का ही पालि में प्रयोग होता था; यथा, मार्ग > मग्ग; कार्य > कय्य; पूर्ण > पुन्न; अतः संयुक्त-व्यञ्जनों से पूर्व 'ए' 'ओ' का ह्रस्व भी उच्चारण हो गया; यथा, मैत्री > मॅत्ती; आम्र > ऑट्ठ। इसप्रकार पालि में 'ए' 'ओ' का ह्रस्व एवं दीर्घ उच्चारण विकसित हुआ। प्राचीन-आर्य-भाषा की 'ऋ', 'ऌ' ध्वनियाँ, पालि में लुप्त हो गईं, विसर्ग का भी लोप हो गया और अनुस्वार, जो प्राचीन-आर्य-भाषा में किसी स्वर का ही परिवर्धित नासिक्य-रूप होता था, पालि में स्वतन्त्र नासिक्य-स्वर बन गया (इसको पालि-वैयाकरणों ने 'निग्गहीत' संज्ञा दी है)। वैदिक-भाषा में दो-स्वरों के मध्य में अवस्थित 'ड्' 'ढ्' क्रमशः 'ळ्' 'ळ्ह्' हो जाते थे; संस्कृत ने इस उच्चारण को ग्रहण न किया परन्तु पालि ने इसको अपनाया।

प्राचीन-आर्य-भाषा में स्वरों की मात्रा का निर्धारण, शब्द की व्युत्पत्ति,

प्रकृति एवं प्रत्यय के अनुरूप होता था, परन्तु मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा में शब्द के प्रकृति-प्रत्यय पर ध्यान न देकर केवल भाषण में सरलता एवं स्वर-साम्य के आधार पर ही स्वरों की मात्रा का निर्धारण होने लगा। ध्वनि-लोप एवं समीकरण इत्यादि के कारण शब्द के परिवर्तित रूप में वास्तविक प्रकृति-प्रत्यय को समझ सकना साधारण बोलनेवाले के लिये कठिन था। अतः बोलने की सुविधा पर ही ध्यान दिया जाने लगा और प्राचीन-आर्य-भाषा में शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार निर्धारित दीर्घ अथवा ह्रस्व स्वरों के स्थान पर ह्रस्व अथवा दीर्घ-स्वर प्रयुक्त होने लगे। इसप्रकार **अनुदक> अनूदक** एवं **पच्चनीका> पच्चनिका** जैसे रूप बनने लगे। यह प्रवृत्ति आर्य-भाषा के अगले विकास क्रमों में बढ़ती गई।

प्राचीन-आर्य-भाषा का स्वराघात (Pitch accent) मध्य-भारतीय-आर्य-भाषाओं में लुप्त हो गया। इसके स्थान पर शब्दों में, किसी विशेष भाग पर, बलाघात (stress accent) का प्रयोग होने लगा। इस बलाघात के कारण भी स्वरों का ह्रस्वीकरण अथवा लोप हुआ है। **अलंकार> लंकार** (पालि), इसीप्रकार का उदाहरण है। 'लं' पर बलाघात होने के कारण 'अ' का इसमें लोप हो गया है।

पालि में 'श्, ष्, स्' इन तीनों ऊष्म-ध्वनियों के स्थान में केवल 'स्' का प्रयोग होने लगा। इसके अतिरिक्त अन्य सब व्यञ्जन-ध्वनियाँ बनी रहीं। परन्तु समीकरण के कारण संयुक्त-व्यञ्जनों की विविधता बहुत कम हो गई। शब्द के प्रारम्भ में केवल असंयुक्त-व्यञ्जन ही आ सकता था। पदान्त व्यञ्जनों (क, ट, त, प, न, र तथा विसर्ग) का लोप हो गया और 'म' सर्वत्र अनुस्वार बन गया।

संस्कृत के साथ पालि की तुलना करने पर विदित होता है कि संस्कृत में बहुत से शब्दों के मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के रूप सुरक्षित हैं और पालि में उन्हीं का कोई प्राचीन रूप बना हुआ है। उदाहरण के लिए, प्राचीन 'शवशान' शब्द का ह्रस्वीकृत रूप 'श्वशान' पालि में 'सुसान' के रूप में आया, परन्तु किसी प्राचीन-बोली में इसका 'श्मशान' रूप हो गया और यही संस्कृत तथा अन्य मध्य-भारतीय-आर्य-भाषाओं ने ग्रहण किया। इससे स्पष्ट विदित हो जाता है कि प्राचीन-काल से ही आर्य-भाषा का विकास विभिन्न-बोलियों में हो रहा था। इनमें से पालि मध्य-देश में विकसित जन-भाषा से उद्भूत हुई और संस्कृत मुख्यतः

उदीच्य-भाषा पर आधारित रही, परन्तु अन्य जनपदों के शिष्ट-प्रयोगों को भी ग्रहण करती रही।

पालि में स्वरों का मात्रा-काल निश्चित नियमों का अनुसरण करता है। दीर्घ-स्वर केवल असंयुक्त-व्यञ्जन के पूर्व ही आ सकता है। अतः प्राचीन-आर्य-भाषा के जिस शब्द में संयुक्त-व्यञ्जन से पूर्व दीर्घ-स्वर था, उसके पालि प्रतिरूप में, दीर्घ-स्वर, ह्रस्व हो गया; यथा—मार्ग > मग्ग; जीर्ण > जिण्ण; चूर्ण > चुण्ण; श्लेष्मन् > सें म्ह इत्यादि। प्राचीन-आर्य-भाषा के कुछ शब्दों के पालि-प्रतिरूपों में संयुक्त-व्यञ्जनों में से पूर्व-व्यञ्जन का लोप कर उससे पूर्व का स्वर दीर्घ हो गया है; यथा—दीर्घ > दीघ; लाक्षा > लाखा; सर्षप > सासप; वल्क > वाक। वास्तव में यह प्रवृत्ति मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के प्रारम्भ-काल के अनुरूप नहीं है; उत्तर-काल एवं आधुनिक-आर्य-भाषाओं के विकास-काल में ही यह प्रवृत्ति प्रकट हुई। पालि के साधारण नियम के अनुसार इन शब्दों का प्रतिरूप क्रमशः दिग्घ, लक्खा, सस्सप, वक्क होना चाहिये। फिर दीघ इत्यादि रूपों के पालि में अस्तित्व का क्या कारण हो सकता है? इसका समाधान लिपि के विकास पर ध्यान देने से मिल जाता है। ब्राह्मी-लिपि के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में संयुक्त-व्यञ्जनों के स्थान पर एक ही व्यञ्जन लिखा जाता था और इसको स्पष्ट करने के लिये उससे पूर्व के स्वर को दीर्घ लिख दिया जाता था। बाद में यह लिखितरूप ही बोलचाल में प्रयुक्त होने लगा और दीघ जैसे शब्द नियमित रूप समझे जाने लगे। पालि के कुछ शब्दों में उपर्युक्त प्रक्रिया का विपर्यय दिखाई देता है, अर्थात् दीर्घ स्वर + असंयुक्त-व्यञ्जन के स्थान पर ह्रस्वस्वर + संयुक्त-व्यञ्जन का प्रयोग; यथा, नीड > निड्ड; उदूखल > उदुक्खल; कूबर > कुब्बर इत्यादि। ऐसे शब्द संस्कृत-शब्दों को जन-भाषा का रूप देने की चेष्टा के परिणाम हैं और इनको 'मिथ्या-प्राकृत-रूप' कहा जाता है।

संस्कृत में संयुक्त-व्यञ्जन से पूर्व ह्रस्व-स्वर के स्थान पर पालि-प्रतिरूप में कहीं-कहीं एक व्यञ्जन का लोप कर उससे पूर्व के ह्रस्व-स्वर के स्थान पर सानुनासिक ह्रस्व-स्वर का प्रयोग किया गया है; यथा, मत्कुण > मंकुण; शर्वरी > संवरी, शुल्क > सुंक। ध्वनि-परिवर्तन के साधारण नियमों के अनुसार इन शब्दों का पालि-प्रतिरूप क्रमशः माकुण अथवा मक्कुण, साबरी अथवा सब्बरी, सूक अथवा सुक्क होना चाहिये था। दीर्घ-स्वर का प्रयोग अथवा व्यञ्जनों का समीकरण न कर सानुनासिक ह्रस्व-स्वर के प्रयोग का कारण यह प्रतीत होता है कि कुछ बोलियों में नासिका-विवर को उन्मुक्त रखकर शब्दोच्चारण की प्रवृत्ति थी,

जिसके कारण स्वर सानुनासिक हो जाता था। इसके विपरीत कुछ अन्य बोलियों में, सभी अवस्थाओं में, नासिका-विवर को बंद रखा जाता था, जिसके फलस्वरूप सानुनासिक-स्वरों में भी अनुनासिक का अभाव हो जाता था। इन दोनों प्रकार की बोलियों के सम्मिश्रण से पालि में जहाँ मंकुण जैसे रूप आये, वहाँ सीह (सं० सिंह), वीसति, बीस (सं० विंशति) जैसे रूप भी प्रवेश कर गये।

पालि में संयुक्त-व्यञ्जन से पूर्व दीर्घ-स्वर नहीं आता, परन्तु संधि में कहीं-कहीं इस नियम के अपवाद भी देखे जाते हैं, यथा—'साज्ज' (सा+अज्ज), 'यथाऽभ्भासयेन' (यथा+अब्भासयेन)। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य शब्दों में भी लिपि-दोष के कारण संयुक्त-व्यञ्जनों से पूर्व दीर्घ-स्वर रह गया है; यथा,दात्र> दात्त (ठीक रूप दत्त), इत्यादि।

पालि में संस्कृत के तद्भव रूपों में साधारणतया संयुक्त-व्यञ्जनों का समीकरण हो जाता है। परन्तु किन्हीं शब्दों में संयुक्त-व्यजनों के मध्य में स्वर-सन्निवेश, जिसको 'स्वर-भक्ति अथवा विप्रकर्ष (Anaptyxis) कहते हैं, भी देखा जाता है। इसप्रकार संस्कृत 'पद्म'>पदुम एवं पोम्म; स्नेह>सिनेह एवं नेह दोनों रूप पालि में चल पड़े। स्वर-भक्ति वाले रूपों को वास्तव में अर्ध-तत्सम रूप समझना चाहिये। कहीं-कहीं इन अर्ध-तत्सम रूपों ने तद्भव रूपों को पालि से निकाल ही दिया है। 'सूर्य' का पालि में केवल 'सुरिय' प्रतिरूप रह गया है। इसका तद्भव रूप 'सुय्य' उत्तर-कालीन प्राकृतों में 'सुज्ज' के रूप में विद्यमान है।

संस्कृत में संयुक्त-व्यञ्जन से पूर्व का 'अ' पालि प्रतिरूप में कहीं-कहीं 'ए' (ह्रस्व) हो गया है; यथा—फल्गु>फेग्गु; शय्या>सेय्या; अत्र>एत्थ; अधस्तात्>हेट्ठा; कुछ शब्दों में इस परिवर्तन का कारण स्पष्ट है; यथा 'शय्या' के प्रतिरूप में स्पष्टतः 'य' के कारण 'अ' का 'ए' हुआ है। इसी—प्रकार 'एत्थ' एवं हेट्ठा भी क्रमशः *'इत्र' एवं * 'अधिस्तात्' के प्रतिरूप जान पड़ते हैं। संस्कृत में *'इत्र' रूप नहीं लिया गया, परन्तु अवेस्ता 'इथ्' से इसके अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। संस्कृत में 'अधि' एवं 'अधस्' दोनों रूप सुरक्षित हैं।

इकारान्त और उकारान्त पालि शब्दों के करण एवं अधिकरण कारक के रूपों में 'इ' 'उ' दीर्घ हो गये हैं; यथा—मुनिभिः>मुनीहि; साधुषु>साधूसु इत्यादि। संस्कृत में संयुक्त-व्यञ्जन से पूर्व के 'इ' 'उ' पालि प्रतिरूप में क्रमशः 'ए' 'ओ' में बदल गये हैं; यथा, विष्णु>वेण्हु; उष्ट्र>ओट्ठ इत्यादि। पालि

में 'इक्ष्वाकु' शब्द का प्रतिरूप 'ओक्काक' है। यह रूप * उक्खाक अथवा 'उक्खाकु' पूर्व-रूप पर आधारित प्रतीत होता है। आधुनिक-आर्य-भाषाओं में संस्कृत 'इक्षु' के 'ईख', 'ऊख', 'आख' प्रतिरूप मिलते हैं जो मध्य-आर्य-भाषाओं के* 'इक्खु', * 'उक्खु', 'अक्खु' रूपों पर आधारित हैं। इससे प्रतीत होता है कि 'इक्ष्वाकु' के साथ-साथ 'उक्ष्वाकु' रूप भी कहीं-कहीं प्रचलित रहा होगा, जिनमें से एक रूप संस्कृत में ले लिया गया और दूसरे का विकसितरूप 'ओक्काक' पालि में आया।

'ऋ' स्वर का विकास 'अर्, इर्, उर्' और कभी-कभी 'एर्' के रूप में हुआ। मध्य-भारतीत-आर्य-भाषाओं में 'र्' का लोप होकर केवल 'अ, इ, उ' अथवा 'ए' रह गये। पालि में भी यह परिवर्तन दिखाई देता है; यथा, ऋक्ष > अच्छ; हृदय > हदय; मृग > मग; ऋण > इण; वृश्चिक > विच्छिक; ऋजु > उजु; पृच्छति > पुच्छति। इन अनेक स्वरों द्वारा ऋ का स्थान ग्रहण किये जाने के कारण संस्कृत के ऋकार-युक्त-शब्द के विविध प्रतिरूप मध्य-आर्य-भाषाओं में बने और अनेक लोक-भाषाओं से प्रभावित होने के कारण पालि में ये विभिन्न-रूप, स्थान पा गये। इसलिये पालि में 'कृत' के 'कत' एवं 'कित'; 'मृग' के 'मग' एवं 'मिग'; 'कृष्ण' के 'कण्ह' एवं 'किण्ह'; और 'पृथिवी' के 'पथवी', 'पठवी', 'पुथवी' 'पुठुवी' जैसे एकाधिक प्रतिरूप उपलब्ध होते हैं। किन्हीं पालि-प्रतिरूपों में 'र्' का लोप नहीं हुआ है; यथा—ऋग्वेद > इरुवेद; वृक्ष > रुक्ख; प्रवृत > परुत इत्यादि। इन प्रतिरूपों को 'अर्ध-तत्सम' रूप समझना चाहिये।

'ऌ'-स्वर प्राचीन-आर्य-भाषा में केवल 'कॢप्' धातु के विविध रूपों में ही मिलता है। पालि में इसके स्थान पर 'उ' स्वर रखा गया है, यथा, क्लृप्त > कुत्त; कॢप्ति > कुत्ति।

पालि में कहीं-कहीं, स्वरों में, समीपवर्ती-स्वरों के प्रभाव के कारण परिवर्तन देखा जाता है। संस्कृत में जहाँ 'इ' के पश्चात् 'उ' स्वर आया है, वहाँ पालि प्रतिरूप में 'इ' के स्थान में भी 'उ' हो गया है; यथा, इषु > उसु; इक्षु > उच्छु; शिशु > सुसु। इसीप्रकार समीपवर्ती 'उ' और 'इ' के कारण 'अ' के स्थान में भी 'उ' और 'इ' हो गया है; यथा, असूया > उसूया; तमिस्रा > तिमिस्सा।

कहीं-कहीं-परवर्ती स्वर पूर्ववर्ती-स्वर के अनुरूप भी हो जाता है। 'उ' के पश्चात् जहाँ संस्कृत में 'अ' है, वहाँ पालि-प्रतिरूप में 'अ' के स्थान में भी

'उ' हो गया है; यथा, कुरङ्ग > कुरुङ्ग; उदंक > उळुंक। इसीप्रकार पूर्ववर्ती 'अ' के कारण परवर्ती 'इ' 'उ' का भी 'अ' तथा पूर्ववर्ती 'इ' के कारण परवर्ती 'अ' का भी 'इ' हो गया है; यथा—अलिजर > अरंजर; पुष्करिणी>पोक्खरणी; आयुष्मन् >आयस्मन्त; शष्कुली>सक्खली; शृङ्गबेर > सिंगिवेर; निषण्ण>निसिन्न।

समीपवर्ती व्यंजन का भी कभी-कभी स्वर पर प्रभाव देखा जाता है। ओष्ठ्य-व्यंजन के समीपवर्ती स्वर का 'उ' तथा तालव्य-व्यंजन के समीपवर्ती स्वर का प्रायः 'इ' हो जाता है; यथा—मति, मत, मतिमान् > मुति, मुत, मुतिमा; निमज्जति > निमुज्जति; मज्जा > मिज्जा; जुगुप्सते > जिगुच्छति।

स्वराघात (accent) के कारण भी पालि में स्वर-परिवर्तन हुआ है। जिन शब्दों के प्रारम्भिक अक्षर (syllable) पर स्वराघात था, उनके द्वितीयाक्षर के 'अ' का 'इ' हो गया; यथा-चन्द्रमस् > चन्दिमा; चरम> चरिम; परम> परिम; मध्यम> मज्झिम; अहंकार> अहिंकार; करिष्यसि> (*करसि,* कस्ससि, काहसि, काहिसि)। इसीप्रकार 'अ' का कहीं-कहीं 'उ' भी हो गया है; यथा,नवति> नवुति; प्रावरण:> पापुरण; किकणस> कुक्कणुस; ब्राह्मण;> ब्रम्हुण; अर्जक> अज्जुक। स्वराघात-रहित (अनुदात्त) स्वरों में प्रायः 'इ' के स्थान में 'उ' तथा इसका विपर्यय देखा जाता है; यथा, गैरिक> गेरुक; मृदुता> मुदिता एवं मुदुता। पालि के विकास से पूर्व स्वराघात-रहित लघु-स्वर लुप्त हो जाता था और इसप्रकार के रूप में स्वर का व्यवधान दूर हो जाने से संयुक्त-व्यञ्जनों का पालि में समीकरण हो गया। संस्कृत 'जागर्ति' का पालि में स्वर-भक्ति के सन्निवेश से 'जागरति' प्रतिरूप बना। परन्तु इसके साथ-साथ 'जग्गति' रूप भी पालि में मिलता है जो 'जाग्रति' ('ग' 'र' के मध्य के 'अ' के लोप से बना) का प्रतिरूप है। इसीप्रकार उदक> * उद्क * उत्क * उक्क * ओक्क रूप ग्रहण करता हुआ पालि में 'ओक' बन गया। उपोसथग्ग' और 'भत्तग्ग' में 'अग्ग भी इसीप्रकार 'आगार' का प्रतिरूप है। स्वराघात-युक्त अक्षर से पूर्व का दीर्घ-स्वर पालि में ह्रस्व हो गया है; यथा, कार्षापण>कहापण। स्वराघात-रहित अन्त्य-अक्षर भी ह्रस्व हो जाता है और इसके फलस्वरूप 'ओ' का 'उ' हो गया है; यथा, उताहो> उदाहु; असौ> * असो, असु। कहीं-कहीं स्वराघात के स्थान-परिवर्तन से दीर्घ-स्वर ह्रस्व हो गये हैं; इसप्रकार दूसरे अक्षर से हटकर स्वराघात

के प्रथमाक्षर पर आजाने से अलीक> अलिक; गृहीत> गहित आदि रूप प्राप्त हुए। कहीं-कहीं स्वराघात आजाने के कारण प्रथमाक्षर दीर्घ हो गया है; यथा, अजिर> आजिर; अलिन्द> आलिन्द; अरोग> आरोग (अरोग भी)।

सम्प्रसारण एवं अक्षर-संकोच

पालि में 'या एवं 'य' के स्थान में 'ई' और 'वा' के स्थान में 'उ' हो गया है। इस परिवर्तन को 'सम्प्रसारण' कहा जाता है; यथा, स्त्यान> थीनः द्वयः, त्रयः> द्वीह; तीह; व्यतिवृत्त> वीतिवत्त; श्वान> सून; स्वस्ति> * सुत्थि, सोत्थि; श्वभ्र> * सुब्भ-सोब्भ इत्यादि। परन्तु कहीं-कहीं सम्प्रसारण नहीं हुआ है; यथा, व्यसन, व्याध, और 'वजति' 'मज्झ इत्यादि शब्दों में 'य' का पूर्व-स्वर के साथ समीकरण हो गया है। संस्कृत 'श्वपाक' के पालि प्रतिरूप 'सोपक' में सम्प्रसारण 'ओ' के रूप में हुआ है।

पालि में 'अय्' का 'ए' तथा 'अव्' का 'ओ' नियमित रूप से हो जाता है। यह परिवर्तन अयि-ऐ, अवु-औ के रूप में विकसित होता हुआ 'ए' 'ओ' की अवस्था में पहुँचा है; यथा, जयति> जेति; अध्ययन> अज्झेन; मोचयति> मोचेति; अवधि> ओधि; लवण> लोण; त्रयोदश> * त्रयदश> तेरस; भवति> भोति; उपवसथ> उपोसथ; यवन> योन।

मौद्गल्यायन>मोग्गलान; कात्यायन>कच्चान; यवागु>यागु स्थविर>थेर; मयूर>मोर इत्यादि प्रतिरूपों में अक्षर-संकोच उस काल में विकसित हुआ प्रतीत होता है, जब अन्तर्वर्ती-व्यञ्जनों का लोप होने लगा था और इसके फल-स्वरूप 'उद्वृत्त' (व्यञ्जन-लोप के कारण अवशिष्ट) स्वर प्रतिवेशी हो गये। इसप्रकार 'कुसीनगर' में 'ग्' का लोप होकर 'कुसीनअर' और और तब 'कुसीनर' रूप बना; 'मौद्गल्यायन' में 'द्ग' के समीकरण तथा 'य' के लोप से 'मोग्गलाअन' और तब 'मोग्गलान' रूप निष्पन्न हुआ।

उत्तरकालीन-प्राकृतों के समान पालि में भी कहीं-कहीं 'उप' एवं 'अप' का 'उव' और 'अव' होकर 'ऊ' तथा 'ओ' हो गया है; यथा—उपहदति> ऊहदति; अपवरक>ओवरक इत्यादि।

स्वरभक्ति अथवा विप्रकर्ष (Anaptyxis)

स्वरभक्ति अथवा विप्रकर्ष द्वारा पालि में अर्ध-तत्सम रूपों की निष्पत्ति का पीछे उल्लेख किया जा चुका है। स्वर-सन्निवेश के इसप्रकार को पालि एवं

प्राकृतों के प्रसंग में 'विप्रकर्ष' तथा वैदिक-भाषा के संबंध में 'स्वरभक्ति' नाम से अभिहित किया जाता है। इस संज्ञा-भेद का कारण यह है कि वैदिक-भाषा में इस-प्रकार सन्निविष्ट-स्वर का मात्रा काल १/२ अथवा १/४ होता है और पालि-प्राकृत में यह इससे दीर्घ होता है। विप्रकर्ष से बने हुए अर्ध-तत्सम रूपों के साथ साथ उन्हीं शब्दों के तद्भव रूप भी पालि में मिलते हैं; यथा—

तीक्ष्ण>तिखिण तथा तिक्ख; तृष्णा>तसिण एवं तण्हा। शब्दों के विभक्त्यन्त-रूपों में भी विप्रकर्ष दिखाई देता है; यथा—राज्ञा>राजिना एवं रञ्ञो (तद्भव); बर्यते>बरियते।

विप्रकर्ष के समान ही एकाधिक व्यञ्जनों से प्रारम्भ होने वाले (और विशेषतया ऊष्म-व्यञ्जनों से प्रारम्भ होने वाले) शब्दों में अग्रागम (Prothesis) होता है; यथा—स्त्री>*इस्त्री—इत्थी; स्मयते>*उस्मयति—उम्हयति।

पालि में कहीं-कहीं छन्द एवं समास के कारण स्वरों के मात्रा-काल में परिवर्तन हो गया है; यथा—'सतिमती' से 'सतीमता'; 'तुरियं' से 'तूरियं', आदि परिवर्तन छन्द की लय को ठीक रखने के लिये किये गये हैं और 'सखिभाव' से 'सखोभाव'; 'अब्भमत्त' से 'अब्भामत्त'; 'दासीगण' से 'दासिगण' इत्यादि परिवर्तन समास के कारण हुए हैं।

स्वर-विपर्यय

पालि में कहीं-कहीं जो स्वर-विपर्यय देखा जाता है, वह कुछ स्थलों पर ध्वनि-परिवर्तन के कारण हुआ है, परन्तु कुछ शब्दों में व्युत्पत्ति अथवा अर्थ की भिन्नता प्रदर्शित करने के लिये भी किया गया है; यथा—'पुनः' का 'पुण' रूप 'दुबारा' और 'पण' रूप 'लेकिन' अर्थ द्योतित करता है। संस्कृत 'गुरु' का प्रतिरूप पालि में 'गरु' है। यहाँ पालि ने संस्कृत की अपेक्षा प्राचीन-रूप को अपनाया है। ग्रीक में 'गरु' (भारी) का समानार्थवाची शब्द 'बरु' (Baru) है। इससे 'गरु' शब्द की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। इसीप्रकार पालि का 'सिम्बलि' शब्द संस्कृत 'शाल्मली' से अधिक प्राचीन-वैदिकरूप 'सिम्बल' पर आधारित है।

कस्य>किस्स; कस्मिन>किस्मिन एवं किम्हि में 'अ' का 'इ' में परिवर्तन नपुंसकलिङ्ग के रूप 'किम्' के कारण हुआ है, और 'किस्स' के सादृश्य पर पालि में 'तिस्स' 'एतिस्स' रूप बन गये। इस प्रसंग में हिंदी के 'किस' 'जिस' 'तिस' रूप अनुलक्षणीय हैं।

व्यञ्जन-परिवर्तन

पहिले लिखा जा चुका है कि पालि में दो स्वर-ध्वनियों के मध्य में अवस्थित 'ड' और 'ढ' क्रमशः 'ळ' एवं 'ळ्ह्' में परिवर्तित हो जाते हैं। इस विषय में पालि, संस्कृत की अपेक्षा वैदिक-भाषा के अधिक समीप है। परन्तु कुछ शब्दों में यह परिवर्तन नहीं हुआ है, यथा, कुडव, सह्रोढ इत्यादि। पालि में संयुक्त-व्यञ्जनों का समीकरण हो गया था, परन्तु स्वरों के बीच में अवस्थित असंयुक्त-व्यञ्जनों में साधारणतया परिवर्तन न होता था। अतः उत्तरकालीन प्राकृतों के समान पालि में 'न' और 'य' का क्रमशः 'ण' और 'ज' में परिवर्तन न हुआ। परन्तु पालि में ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनमें अघोष-व्यञ्जनों के स्थान में सघोष व्यञ्जन हो गये हैं; यथा, शाकल>सागल; माकन्दिक>मागन्दिय; स्रुच्>सुजा; प्रतिकृत्य>पटिकच्च एवं पटिगच्च; उताहो>उदाहो; पृष्ट>पसद; रुत>रुद; प्रव्यथते>पवेधते; कपि>कवि (कपि भी); कपित्थ>कवित्थ एवं कपित्थ (संस्कृत का 'कपित्थ' शब्द मध्य-आर्य-भाषा का रूप है); पूप>*पूव-पूव; स्फटिक>*फडिक-फळिक; लाट>*लाड-लाळ इत्यादि। इसीप्रकार स्वर-मध्यग अल्पप्राण-व्यञ्जनों के लोप तथा स्वरमध्यग महाप्राण व्यञ्जनों में केवल प्राण-ध्वनि 'ह्' के अवशिष्ट रह जाने के उदाहरण भी पालि में मिलते हैं। सघोष महाप्राण-व्यञ्जनों के स्थान पर केवल प्राण-ध्वनि 'ह्' का रह जाना, मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के दूसरे-पर्व की विशेषता है। पालि में बाद, में, उत्तर-काल में विकसित प्राकृत-रूप भी ग्रहण कर लिये गये; इसलिये इसमें लघु>लहु; रुधिर>रुहिर (रुधिर भी); साधु>साहु (साधु भी); भवति>हृति; वैभार>* वेभार>वेहार, जैसे रूप भी उपलब्ध होते हैं। परन्तु कुछ शब्दों में पालि ने प्राचीन 'ध' को सुरक्षित रखा है, यद्यपि संस्कृत में भी उसका 'ह' हो गया था; यथा, वैदिक, इध>संस्कृत 'इह', परन्तु पालि 'इध'। स्वरमध्यग-अल्पप्राण व्यञ्जनों का लोप भी पालि के प्रादुर्भाव के बहुत समय बाद का लक्षण है और पालि में जिन शब्दों में यह परिवर्तन दिखाई देता है, वह पालि के साहित्यिक-भाषा बन जाने पर इसमें ग्रहण किये गये। ऐसे शब्दों में व्यञ्जन का लोप होकर उसके अभाव की पूर्ति के लिये 'य्' अथवा 'व्' का सन्निवेश हो जाता था। इसको 'य-श्रुति' और 'व-श्रुति' कहा जाता है। इस विकास-क्रम को समझने के लिये 'शत' शब्द के परिवर्तित रूप अच्छे उदाहरण हैं। इसका क्रमिक विकास इस प्रकार हुआ, शत>सद ('त्' का 'द्' होकर)>

सय>सअ ('य-श्रुति' का भी अभाव) और हिंदी सौ। पालि के उदाहरण ये हैं—शुक> सुव (सुक भी); खादित> खायित; स्वादते> सायति; कुशीनगर> कुसिनअर (कुसिनार), कौशिक> कोसिय।

पालि की आधारभूता-भाषा के प्रसंग में यह लिखा जा चुका है कि इसमें पैशाची के भी कुछ लक्षण पाये जाते हैं। इनमें से मुख्य हैं, सघोष-स्पर्श-व्यञ्जनों के स्थान में अघोष-स्पर्श-व्यञ्जनों का प्रयोग; यथा—अगुरु>अकलु; परिघ> पलिख; पाजेति>पाचेति; कुसीद>कुसीत; उपधेय>उपथेय्य; साव> छाप एवं प्रलाव>प्रलाप। प्राकृत-वैयाकरणों ने पैशाची की एक शाखा को 'चूलिक' अथवा 'शूलिक' पैशाची कहा है। डाक्टर पी० सी० बागची ने 'शूलिक-पैशाची' को उत्तर-पश्चिम की एक बोली बताया है, जिसमें सोग्दियाना वासियों के सम्पर्क के कारण सघोष-स्पर्श-व्यञ्जनों के स्थान में अघोष-स्पर्श-व्यञ्जन बोले जाने लगे थे, क्योंकि सोग्दियन (Sogdian) लोगों की बोली में सघोष-स्पर्श-व्यञ्जनों का अभाव था। पालि में यह परिवर्तन नियमित रूप से नहीं होता, अपितु कुछ ही शब्दों में दिखाई देता है। अतः स्पष्ट है कि ऐसे शब्द पालि में इस 'शूलिक-पैशाची' से लिये गये हैं।

पालि के कुछ शब्दों में, आदि में अवस्थित, अघोष-अल्पप्राण व्यञ्जनों (क्, त्, प् आदि) के स्थान पर उसी वर्ग के अघोष महाप्राण (ख्, थ्, फ् आदि) हो गये हैं। इस परिवर्तन का कारण जान नहीं पड़ता। उदाहरण ये हैं—कील > खील; कुब्ज> खुज्ज; परशु>फरसु, तुष > थुस इत्यादि। इसके विपरीत थोड़े से शब्दों में अघोष-महाप्राण-व्यञ्जनों के स्थान पर अघोष अल्पप्राण-व्यञ्जन भी हो गये हैं; यथा—झल्लिका > जल्लिका; भगिनी > बहिनी (बहिणी भी); कफोणि> कपोणि, क्षुधा > खुधा।

अन्य बोलियों के प्रभाव के कारण पालि के कुछ शब्दों में व्यञ्जनों के उच्चारण-स्थान में परिवर्तन हो गया है। इसप्रकार कंठ्य-व्यञ्जन के स्थान में तालव्य-व्यञ्जन, तालव्य के स्थान में दन्त्य तथा मूर्धन्य के स्थान में दन्त्य व्यञ्जन हो गए हैं। उदाहरण क्रमशः ये हैं—कुंड > चुंड; जघान > दिघञ्छ, चिकित्सति > तिकिच्छति; जुगुप्सते > दिगुच्छति (जिगुच्छति भी); डिण्डिम > दिंदिम ('देण्डिम' भी)।

प्राच्य-भाषा के सम्पर्क से, पालि में, कुछ शब्दों में, दन्त्य-व्यञ्जनों के स्थान पर, मूर्धन्य-व्यञ्जन मिलते हैं। प्राच्य-भाषा में 'ल्'-ध्वनि के प्रभाव के कारण दन्त्य-व्यञ्जनों के मूर्धन्यीकरण (Cerebralization) की प्रवृत्ति चल पड़ी थी

और बुद्ध-वचन का मूल-रूप प्राच्य-भाषा मागधी में होने के कारण, पालि (जो मध्य-देश की भाषा थी) में भी अनेक ऐसे शब्द आ गये जिनमें दन्त्य-व्यञ्जन का स्थान मूर्धन्य-व्यञ्जन ने ले लिया था; यथा—हृत (प्राच्य भाषा * हृलृत) > हट; व्यापृत (प्रा० भा० * व्याप्लृत) > व्यावट; प्रथम (* प्रा० भा० लथम) > पठम; पृथिवी (प्रा० भा० * सृथिवी) >, पठवी (पथवी भी) इत्यादि। परन्तु किन्हीं शब्दों में 'र्' 'ल्' के प्रभाव के बिना भी पालि में मूर्धन्यी-करण दिखाई देता है; यथा-पतङ्ग > पटङ्ग; अवतंस > वटंस; क्वथित > कठित (प्रा० कढित, हिंदी-कढ़ी, काढ़ा); दशति > डंसति; द्वादश > दुवाडस (प्राच्य-भाषा में) > बारस (दक्षिण-पश्चिम की बोली के प्रभाव से 'द्वा' के स्थान पर 'बा'); द्वैध > द्वेळ्ह; शाकुन > सकुण; ज्ञान > ञाण।

कुछ संख्यावाचक एवं सर्वनाम शब्दों में 'द' के स्थान में 'र' हो गया है। इस परिवर्तन को मूर्धन्यादेश (cerebralisation) ने जन्म दिया। उदाहरण ये हैं—एकादश > एकारस (एकादस भी); द्वादश > बारस; त्रयोदश > तेरस; ईदृश > एरिस (एदिस भी)।

कुछ शब्दों में 'न्' के स्थान पर 'ल्' अथवा 'र्' हो गया है; यथा—एनः > एल; नेरञ्जना > नेरंजरा। इसीप्रकार 'ण्' के स्थान में भी 'ळ' देखा जाता है; यथा–वेणु > वेळु; मृणाल > मुळाल।

मध्य-देश की भाषा होने के कारण पालि में 'र्' एवं 'ल्' दोनों ही ध्वनियाँ विद्यमान थीं। परन्तु प्राच्य-भाषा (जिसमें केवल 'ल्' ध्वनि ही थी) के प्रभाव से इसके कुछ शब्दों में 'र्' के स्थान पर भी 'ल्' हो गया; यथा, एरंड > एलंद; तरुण > तलुण (तरुण भी); परिष्वजते > पलिस्सजति; परिखनति > पलिखनति; दद्दुर > दद्दल। कुछ शब्दों में 'परि' उपसर्ग का 'पलि' हो गया है। इसीप्रकार 'त्रयोदश' के 'तेरस' एवं 'तेलस' दोनों प्रतिरूप, पालि में, मिलते हैं। संस्कृत के समान पालि में भी 'लोहित-रोहित लोम-रोम इत्यादि 'ल्' एवं 'र्' युक्त दोनों ही रूप मिलते हैं। कहीं-कहीं संस्कृत 'ल्' के स्थान पर पालि में, संभवतः उत्तर-पश्चिम की भाषा के प्रभाव से (जिसमें केवल 'र्' ही था) 'र्' हो गया है; यथा-अलिंजर > अरंजर; आलम्बन > आरम्मण; बिडाल > बिडार अथवा बिलार। कुछ स्थलों पर शब्द के आदि के तथा बहुत थोड़े से शब्दों में मध्य के 'ल्' के स्थान पर 'न्' हो गया है; यथा, लांगल > नांगल; लांगूल > नङ्गुल; ललाट > नलाट; देहली > देहनी।

कुछ शब्दों में 'य्' के स्थान पर 'व्' तथा 'व्' के स्थान पर 'य्' मिलता है; यथा, आयुध>आवुध; आयुष्मान्>आवुसो; अवश्याय>उस्साव; त्रयस्त्रिंश>तवतिंस; चत्वर>*चत्यर>चच्चर; दाव>दाय।

शब्द में एक ही व्यञ्जन-ध्वनि के एकाधिक बार आने पर, ध्वनियों में विविधता लाने के विचार से कभी-कभी व्यञ्जन में परिवर्तन कर दिया गया है; यथा—पिपीलिका>किपीलिका; कक्कोल>तक्कोल। 'वर्ण-विपर्यय' के भी पालि में पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं और 'र्' व्यञ्जन के साथ प्रायः अन्य व्यञ्जन का स्थान-परिवर्तन हो गया है; यथा—करेणु>कणेरु; ह्रद>*हरद (विप्रकर्ष से)>रहद; मशक>मकश।

असंयुक्त-व्यञ्जनों के समान संयुक्त-व्यञ्जनों में भी पालि में कहीं-कहीं अन्य जन-भाषाओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'पञ्च' शब्द से बनने वाले रूपों में 'ञ्च्' के स्थान पर 'न्न्' 'ण्ण्' 'ञ्ञ्'—यह विविध परिवर्तन पाये जाते हैं; जैसे 'पन्नरस' ('पञ्चदस' भी), पण्णुवीस ('पञ्ञवीस' भी), 'पञ्ञास' अथवा 'पण्णास' (सं० 'पञ्चाशत्')।

ह्+नासिक्य-व्यञ्जन, 'य्' अथवा 'व्' में 'वर्ण विपर्यय' (Metathesis) हो गया है। अतः 'ह्ण्', 'ह्न्' 'ह्म' 'ह्य' 'ह्व' के स्थान में क्रमशः 'ण्ह' 'न्ह्' 'म्ह्' 'य्ह' 'व्ह' हो जाता है; यथा—पूर्वाह्ण>पुब्बण्ह; अपराह्ण>अपरण्ह; चिह्न>चिन्ह; जिह्म>जिम्ह; वाह्य>वय्हा; सह्य>सय्ह; जिह्वा>जिव्हा।

ऊष्म+नासिक्य व्यञ्जनों में 'वर्ण-विपर्यय' (Metathesis) के साथ-साथ ऊष्म-व्यञ्जन प्राण-ध्वनि 'ह्' में परिवर्तित हो जाता है। इसप्रकार 'श्न्', 'श्म्', 'ष्ण्', 'ष्म्', 'स्न्', 'स्म्' क्रमशः 'न्ह्', 'म्ह्', 'ण्ह्', 'म्ह्', 'न्ह्', 'म्ह्' बन गये हैं। उदाहरण क्रमशः ये हैं—प्रश्न>पञ्ह (अर्धमागधी 'पण्ह'); अश्मना>अम्हना; कृष्ण>कण्ह; ग्रीष्म>गिम्ह; सुस्नात> सुन्हात; विस्मय>विम्हय।

संयुक्त-व्यञ्जनों के समीकरण (Assimilation) की प्रवृत्ति पालि में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गई थी। साधारणतया संयुक्त-व्यञ्जनों के समीकरण की प्रक्रिया में यह क्रम होता है—स्पर्श व्यञ्जन+ऊष्म, नासिक्य अथवा अन्तस्थ व्यञ्जन>स्पर्श+स्पर्श; ऊष्म+नासिक्य अथवा अन्तस्थ>ऊष्म+ऊष्म और नासिक्य-व्यञ्जन+अन्तस्थ-व्यञ्जन>नासिक्य+नासिक्य-व्यञ्जन। पुरोगामी

(Progressive) तथा पश्चगामी (Regressive) समीकरण निम्न स्थितियों में होते हैं—

पुरोगामी-समीकरण (Progressive Assimilation)

(१) स्पर्श+स्पर्श में; यथा—षट्क (छै का समुदाय) >छक्क; मुद्ग>मुग्ग; सप्त>सत्त; शब्द>सद्द; उत्पद्यते>उप्पज्जति।

(२) ऊष्म+स्पर्श में; यथा—आश्चर्य>अच्छेर; निष्क>निक्ख, नेक्ख (प्राण-ध्वनि 'ह्' के आगम से); आस्फोटयति>अप्फोटेति।

(३) अन्तस्थ+स्पर्श, ऊष्म अथवा अनुनासिक व्यञ्जन में; यथा—कर्क>कक्क; किल्बिष>किब्बिस; कर्षक>कस्सक; कल्माष>कम्मास।

(४) नासिक्य+नासिक्य में; यथा—निम्न>निन्न; उन्मूलयति>उम्मूलेति।

(५) र्+ल्, य् अथवा व् में; यथा—दुर्लभ>दुल्लभ; आर्य>अय्य; कुर्वन्ति>कुब्बन्ति; सर्व>सब्ब।

पश्चगामी-समीकरण (Regressive Assimilation)—परवर्ती-व्यञ्जन का पूर्ववर्ती व्यञ्जन का रूप धारण कर लेना—

(१) स्पर्श+अनुनासिक में; यथा—लग्न>लग्ग; उद्विग्न>उब्बिग्ग; स्वप्न>सोप्प।

परंतु 'ज्ञ्' का परिवर्तन पुरोगामी-समीकरण के अनुसार ही हुआ है और इसका स्थान 'ञ्ञ्' ने ग्रहण किया है; यथा, प्रज्ञा<पञ्ञा; राज्ञा>रञ्ञा इत्यादि। शब्द के प्रारम्भ में अवस्थित 'ज्ञ्' का 'ञ्' हो गया है; यथा, ज्ञप्ति>ञत्ति।

(२) स्पर्श+'र' या 'ल्' में; यथा, तक्र > तक्क; शुक्ल > सुक्क; श्वभ्र>सोब्भ। शब्द के प्रारम्भ में अवस्थित होने पर एक व्यञ्जन का लोप हो जाता है; यथा, क्रय-विक्रय>कयविक्कय।

परंतु कहीं-कहीं स्पर्श+र् का समीकरण नहीं हुआ है; यथा, न्यग्रोध>निग्रोध; तत्र>तत्र ('तत्थ' भी); चित्र>चित्र; भद्र>भद्र (भद्द भी)।

(३) स्पर्श+अन्तःस्थ में; यथा, शाक्य > सक्क; उच्यते > वुच्चति; प्रज्वलति>पज्जलति। शब्द के प्रारम्भ में एक स्पर्श-व्यञ्जन लुप्त हो जाता है; यथा, क्वथित>कढित; ध्वनित>धनित। कहीं-कहीं यह समीकरण नहीं हुआ है:—यथा, आरोग्य<आरोग्य; वाक्य<वाक्य; क्वचि<क्वचित्।

(४) ऊष्म+अन्तस्थ में; यथा, मिश्र>मिस्स; अवश्यम्>अवस्सं; अश्व>अस्स; वयस्य>वयस्स। शब्द के प्रारम्भ में केवल एक 'स्' रह जाता है; यथा– सोत<स्रोतस् ; सें म्ह<श्लेष्मन; सेत<श्वेत। परन्तु 'स्वे (सं० श्वः); स्वाक्खात (सं० 'स्वाख्यात'); स्वागत' इत्यादि कुछ शब्दों में 'स्व' बना रह गया है। 'एष्यति' 'एष्यसि' जैसे भविष्यत्-काल के रूपों में पालि में 'ष्य्' के स्थान पर 'ह्' हो गया है, और इनका एहिति, एहिसि (एस्सति, एस्ससि भी) रूप बन गया है।

(५) अनुनासिक+अन्तस्थ में; यथा, किण्व>किण्ण; रम्य>रम्म; कल्य>कल्ल; बिल्व>बिल्ल।

(६) 'व्य्', व्र का परिवर्तित रूप 'व्व्' हो जाता है; यथा, परिव्यय> परिव्वय; तीव्र>तिव्व।

दन्त्य+य् एवं ण्+य् के समीकरण से पूर्व, दन्त्य-व्यञ्जन का तालव्यीकरण (Palatalisation) हो जाता है; यथा, सत्य>सच्च; रथ्या>रच्छा; छिद्यते>छिज्जति; द्वैध (अनिश्चय)>द्वेज्झ; अन्य>अञ्ञ; कर्मण्य> कम्मञ्ञ (कम्मणिय भी)।

प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा की संयुक्त-व्यञ्जन-ध्वनि 'क्ष' भारोपीय 'शष्' (śṣ) एवं 'क्ष्' (kṣ) दोनों के स्थान पर प्रयुक्त होती थी। प्राचीन-इरानी-भाषा में इन भारोपीय-संयुक्त-व्यञ्जन-ध्वनियों का रूपान्तर क्रमशः 'श' (š) एवं 'ख्श' (xš) में हुआ। पालि एवं प्राकृतों में भी 'क्ष' के स्थान पर 'क्ख्' एवं 'च्छ' ये दो रूप मिलते हैं। इससे पिशेल महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला कि पालि-प्राकृत 'क्ख्'<भारो० 'क्ष्' (kṣ)>अवेस्ता 'ख्श्' (xš) और पालि-प्राकृत 'च्छ्<भारो० 'शृष्' (šṣ)>अवे० 'श्' (š)। परन्तु पालि-प्राकृत के उदाहरणों से यह निष्कर्ष प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि पालि-प्राकृत में बहुधा अवेस्ता 'श्' (š) के स्थान पर 'क्ख्' और अवे० 'ख्श्' के स्थान पर 'च्छ्' मिलते हैं; यथा—अवे० दशिन=पालि-प्राकृ० दक्खिण (सं० दक्षिण); अवे० शुद (Susa)=पालि 'खुद'-प्रा० खुहा तथा छुहा (सं० क्षुधा); परन्तु अवे० मख्शि (maxši)=पालि 'मक्खिका' (लेकिन प्रा० मच्छिआ, सं० मक्षिका); अवे० कश (kaša)=पा०, प्रा० कच्छ एवं कक्ख भी (सं० 'कक्ष')। वास्तव में 'क्ष' का मध्य-देश एवं प्राच्य में 'क्ख' तथा उत्तर-पश्चिम में 'च्छ' रूपान्तर हुआ और कालान्तर में बोलियों के पारस्परिक आदान-प्रदान के फल-स्वरूप मध्य-देश एवं प्राच्य में क्ख् के साथ च्छ् तथा उत्तर-पश्चिम में च्छ्

के साथ क्ख् रूप भी ग्रहण किये गये। अतः पालि में एक ही शब्द में क्ष के ये दोनों रूपान्तर भी मिलते हैं; यथा, अक्षि>अक्खि एवं अच्छि; 'ईक्ष> उच्छु; परन्तु इक्ष्वाकु>ओक्काक<*उक्क-*उक्ख ; ऋक्ष>अच्छ एवं इक्क<*इक्ख।

भारोपीय 'ग्ज़्' (gz) > अवे० ग़ज़् (γž) के स्थान पर भी प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा में 'क्ष्' का प्रयोग हुआ था। इस स्थिति में पालि-प्राकृतों में 'क्ष्' का स्थान 'ग्घ्' अथवा 'ज्झ' ने लिया है; यथा—क्षरति (भारो० ग्ज़ेरेति 'gzereti') > पा० (प) ग्घरति—प्रा०—झरइ; क्षाम (प्राचीन-इरानी 'ज़्झाम' 'zžāma') > झाम इत्यादि।

पालि में त्स्, प्स् > च्छ ; यथा कुत्सित> कुच्छित ; अप्सरा> अच्छरा ; मत्स्य > मच्छ ; जुगुप्सा > जिगुच्छा। जहाँ संस्कृत में 'त्स्' अथवा 'त्श्' के स्थान पर 'च्छ' हो गया है, वहाँ पालि में इनके स्थान पर 'स्स्' हुआ है; यथा—उच्छन्न < उत्सन्न > उस्सन्न ; तच्छारूप्य < तत्सारूप्य> तस्सरूप ; उच्छिर्षक < उत्शिर्षक> उस्सिसक।

दो से अधिक व्यञ्जनों का संयोग पालि में सह्य नहीं है। ऐसे स्थानों पर एक व्यञ्जन का लोप कर शेष दो संयुक्त-व्यञ्जनों का समीकरण आदि द्वारा रूपान्तर हो गया है; यथा, मर्त्य >* मत्त्य > मच्च ; तीक्ष्ण > तिक्ख ; वर्त्मन् > वट्ट ; दंष्ट्र > दाठा ; मुक्त्वा > मुत्वा ; श्लक्ष्ण > सण्ह ; पक्ष्म > पम्ह; दृष्ट्वा > दिस्वा। ऐसे स्थलों पर अर्ध-तत्सम रूप भी प्रायः हो गये हैं; यथा—तीक्ष्ण > तिखिण ; कृत्स्न > कसिन ; कृच्छ्र > कसिर इत्यादि।

शब्द-रूप

पालि के शब्द-रूपों में प्रधानतया दो विशेषताएँ लक्षित होती हैं—(१) मिथ्या-सादृश्य के कारण सरलीकरण और (२) वैदिक-भाषा के समान अनेक-रूपता। अन्य प्राकृतों के समान पालि में भी पदान्त-व्यञ्जनों के लोप अथवा उनके साथ 'अ' जोड़ देने से हलन्त (व्यञ्जनान्त) प्रातिपदिक लुप्तप्राय हो गये। इसप्रकार सुमेधस्>सुमेध अथवा सुमेधस; आपद्> आपा अथवा आपद; विद्युत्> विज्जु अथवा विज्जुता; शरत्>सरद; बर्हिष>बरिहिस के रूप में परिवर्तित हो गये, और विभिन्नकारकों एवं वचनों में इनके रूप स्वरान्त-प्रातिपदिकों के समान निष्पन्न हुए। केवल 'वाचा' ('वाच्' का तृ० ए० व०); 'राजानं'

(राजन्' द्वि० ए० व०); तचो ('तच्'<'त्वच्' प्र० ब० व०); प्रमुदि (<प्रमुद्' स० ए० व०) इत्यादि कुछ अवशेष रूप, व्यञ्जनान्त प्रातिपदिकों के पालि में रह गये हैं। मिथ्या-सादृश्य के कारण इकारान्त एवं उकारान्त प्रातिपदिकों के सम्प्रदान-सम्बन्धकारक के रूप अकारान्त प्रातिपदिकों के समान निष्पन्न हुए; यथा, 'अग्गिस्स' (अग्गिनो भी); और अधिकरण-कारक के रूप सर्वनामों के समान बने; यथा—अग्गिस्मिं—अग्गिम्हि। सम्प्रदान-सम्बोधन में 'अग्गिनो' रूप नपुंसक-लिंग प्रातिपदिकों के मिथ्या-सादृश्य के कारण बना। इसीप्रकार नपुंसक-लिंग शब्दों के अनेक रूप पुलिंग के समान बनने लगे; यथा—'यथा मे निरतो मनो" ('निरतो' के स्थान पर 'निरतं' होना चाहिये था) 'तपोसुखो' (सुखं' ठीक रूप होता) इत्यादि। संप्रदान एवं सम्बन्धकारक के रूप एक जैसे हो गये और बहुधा करण एवं अपादानकारक के बहुवचन के रूपों में भी कोई भिन्नता न रही। द्विवचन का मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के प्रारम्भ-काल में लोप हो गया था। बहुवचन ने ही द्विवचन का स्थान ले लिया, पालि में द्विवचन के केवल 'द्वे-दुवे' और 'उभो' रूप बच रहे हैं।

वैदिक-भाषा में, कुछ कारकों एवं वचनों में, शब्दों के एकाधिक रूपों का पीछे उल्लेख हो चुका है। संस्कृत में ऐसे शब्द-रूपों को नियमित कर दिया गया था, परन्तु बोलचाल में यह एकाधिक रूप चलते रहे और पालि में वह सुरक्षित मिलते हैं। वैदिक-भाषा के समान पालि में भी कर्ता-कारक बहुवचन में 'देवा' (वैदिक 'देवा:') के साथ-साथ 'देवासे' (वैदिक 'देवास:') करण-कारक बहुवचन में, 'देवेहि' (वैदिक 'देवेभिः'-सं० 'देवैः') रूप चलते रहे। पालि के 'गोनं' अथवा गुन्नं' ('गो' का सम्बन्ध कारक ब० व०, वैदिक 'गोनाम्'-सं० 'गवाम्') तथा 'पतिना' (करण-कारक एक वचन, वैदिक 'पतिना'-स० 'पत्या') रूप वैदिक-भाषा का स्मरण दिलाते हैं।

वैदिक-भाषा की एक अन्य विशेषता पालि में परिलक्षित होती है। वैदिक-भाषा में लिङ्ग एवं कारकों का व्यत्यय बहुधा हुआ है। पालि में भी इसके उदाहरण पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। लिङ्ग-व्यत्यय के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। 'ब्राह्मणस्स धनं ददाति' ब्राह्मणस्स सिस्सो' जैसे प्रयोगों में चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग स्पष्ट है।

पालि में प्राचीन-आर्य-भाषा के सुप्-प्रत्यय, ध्वनि-परिवर्तन के साथ विद्यमान हैं। अकारान्त 'धम्म' (धर्म) तथा आकारान्त 'कञ्ञा' (कन्या) शब्दों के रूप प्रत्येक कारक में यहाँ दिये जाते हैं।

एक वचन—धम्मो, धम्मं, धम्मेन, धम्मस्स (कुछ स्थानों पर 'धम्माय' भी), धम्मा-धम्मस्मा—धम्मम्हा, धम्मस्स, धम्मे—धम्मस्मिं—धम्मम्हि, (हे) धम्म-मा।

बहु वचन—धम्मा-धम्मासे, धम्मे, धम्मेभि-धम्मेहि, धम्मानं, धम्मेभि-धम्मेहि, धम्मानं, धमेसु, (हे) धम्मा।

एक वचन—कञ्ञा, कञ्ञं, कञ्ञाय, कञ्ञाय, कञ्ञाय, कञ्ञाय, कञ्ञाय-कञ्ञायं, (हे) कञ्ञे।

बहुवचन—कञ्ञा-कञ्ञायो, कञ्ञा-कञ्ञायो, कञ्ञाभि-हि कञ्ञानं, कञ्ञाभि-हि, कञ्ञानं, कञ्ञासु, (हे) कञ्ञा-कञ्ञायो।

अपादान एवं अधिकरण एकवचन के 'धम्मस्मा-धम्मम्हा' तथा धम्मस्मिं-धम्मम्हि' रूप सर्वनाम शब्दों के मिथ्या-सादृश्य के कारण बने हैं। संस्कृत में 'आकारान्त' शब्दों के अपादान तथा सम्बन्ध-कारक एक वचन में, एक ही रूप होते हैं। पालि ने सम्प्रदान तथा अधिकरण में भी वही रूप रहने दिये। कर्मकारक बहुवचन का रूप 'धम्मे' भी सर्वनाम के मिथ्या-सादृश्य के कारण ही बना है।

नपुंसक-लिङ्ग 'रूप' शब्द के कर्ता, कर्म एवं सम्बोधन कारक के रूप निम्नलिखित हैं—

एकवचन—रूपं, रूपं, रूप;

बहुवचन—रूपानि-रूपा, रूपानि-रूपे, रूपानि-रूपा।

कर्ताकारक बहुवचन का रूप 'रूपा' वैदिक 'युगा' ('युग' शब्द) के समान बना है और कर्मकारक बहुवचन का 'रूपे' पुल्लिङ्ग के मिथ्या-सादृश्य का परिणाम है।

व्यञ्जनान्त प्रातिपदिकों के लुप्त हो जाने की बात पीछे लिखी जा चुकी है, परन्तु पालि में कुछ शब्दों के व्यञ्जनान्त एवं स्वरान्त, दोनों प्रकार के, रूप मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'हस्तिन्' शब्द के रूप यहाँ पर दिये जाते हैं—

एकवचन—हत्थी-हत्थि, हत्थिनं-हत्थिं, हत्थिना, हत्थिनो-हत्थिस्स, हत्थिना-हत्थिस्मा-म्हा, हत्थिनो-हत्थिस्स, हत्थिनि-हत्थिस्मि-म्हि, हत्थि।

बहुवचन—हत्थिनो-हत्थी, हत्थिनो-हत्थी, हत्थीहि, हत्थीनं, हत्थीहि, हत्थीनं, हत्थीसु, हत्थिनो-हत्थी।

एक-एक कारक में दो-दो रूप क्रमशः हलन्त 'हस्तिन्' तथा स्वरान्त 'हस्ति' के हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पदान्त व्यंजनों के लोप करने की प्रवृत्ति पालि में ही प्रारम्भ हुई थी, किन्तु सुप्रतिष्ठित नहीं हो सकी थी। इसी-प्रकार का एक उदाहरण 'सखि' शब्द के कर्मकारक एकवचन के रूप 'सखानं सखं' हैं, जिनमें से पहिला अन्नन्त प्रातिपदिक के सादृश्य पर तथा दूसरा व्यंजन-लोपी प्रातिपदिक के सदृश्य पर बना है।

पालि में सर्वनाम-शब्दों के रूप यथोचित ध्वनि-परिवर्तन सहित संस्कृत के समान निष्पन्न हुए हैं। यहाँ 'अस्मत्', युष्मत् एवं तत् शब्दों के पालि रूप दिये जाते हैं।

अस्मत्—एकवचन—अहं, मं-ममं, मया, मम-मय्हं, मया, मम-मय्हं, मयि।

बहु वचन—मयं-अम्हे, अम्हे-अस्मे-अम्हाकं-अस्माकं, अम्हेहि, अम्हाक—अस्माकं-अम्हं, अम्हेहि, अम्हेसु।

युष्मत्—एकवचन—त्वं-तुवं, त-त्वं-तुवं, तया-त्वया, तव-तुम्हं-तवं-तुम्हं, तया-त्वया, तव-तुम्हं तयि-त्वयि, आदि;।

बहुवचन—तुम्हे, तुम्हे-तुम्हाकं, तुम्हेहि, तुम्हाकं-तुम्हं, तुम्हेहि, तुम्हाकं-तुम्हं, तुम्हेसु।

तत्—एकवचन—सो, तं, तेन, तस्स, तम्हा-तस्मा, तस्स, तम्हि-तस्मिं।

बहुवचन—ते, ते, तेहि, तेसं-तेसानं, तेहि, तेसं-तेसानं, तेसु।

कर्ता-कर्म कारक के बहुवचनों के 'अम्हे, तुम्हे' वैदिक 'अस्मे, युष्मे' के प्रतिरूप हैं। 'अम्हेहि, अम्हेसु, तुम्हेहि, तुम्हेसु' में 'तेहि, तेसु' के मिथ्या-सादृश्य के कारण 'आभिः' 'आसु' के स्थान पर 'एहि' 'एसु' प्रत्यय लगे हैं।

पालि में विशेषण एवं संख्यावाचक-शब्दों के रूप संस्कृत के समान ही बनते हैं।

धातु-रूप—

पालि में प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा के धातु-रूपों की विविधता बहुत कुछ सुरक्षित रही। सभी गणों की धातुएँ इसमें विद्यमान हैं, परन्तु अनेक धातुओं के गण में परिवर्तन भी हो गये हैं; यथा—पाहेत्ति (√हि) प्रथम गण के

अनुसार, परन्तु 'पाहिणाति' नवें गण के अनुरूप; 'कसति' (कृषति), साथ ही 'कस्सति' (कर्षति), 'तिट्ठति'—उट्ठाति (उत् + ठा) तथा 'थायामि' इत्यादि रूपों से स्पष्ट हो जायेगा। इसका कारण बहुत कुछ मिथ्या-सादृश्य है, जिससे पालि में धातु-रूपों का वर्गीकरण दुष्कर हो गया है।

पालि में 'आत्मनेपद' ('अत्तनोपद') का प्रायः लोप हो गया है। केवल 'अम्हसे' (√अस) 'अभिकीररे' इत्यादि कुछ ही रूपों में इसके दर्शन होते हैं। संस्कृत में कर्मवाच्य में आत्मनेपद के तिङ् प्रत्ययों का योग होता था, परन्तु पालि में यहाँ भी परस्मैपद (परस्सपद) के तिङ्-प्रत्यय लगाये गये। पालि में चारकाल—वर्तमान (लट्), असम्पन्न-सामान्य (लुङ्), भविष्यत् (लृट्), एवं 'क्रियातिपत्ति' (लृङ्) तथा चार-भाव—निर्देश, (indicative), अनुज्ञा (imperative), सम्भावक (optative), और अभिप्राय (subjunctive) विद्यमान हैं। सम्पन्न-काल (perfect) पालि में नहीं है और द्विवचन का अभाव इसकी विशेषता है।

पालि में, तिङ्-प्रत्यय, प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा के समान हैं। यहाँ कुछ धातु-रूप दिए जाते हैं, जिनसे पालि के धातु-रूपों की विशेषता एवं संस्कृत से अनुरूपता बहुत कुछ स्पष्ट हो जायेगी।

'हू'=सं० 'भू'—परस्सपद (परस्मैपद)

एकवचन—	उ. पु. होमि	म. पु. होसि	अ. पु. होति
बहुवचन—	" होम	" होथ	" होन्ति

'लभ' परस्सपद (प्रथम-गण)—

एक वचन—	उ० पु० लभामि,	म० पु० लभसि,	अ० पु० लभति।
बहु वचन—	" लभाम,	" लभथ,	" लभन्ति।

उत्तम पुरुष एक वचन में कहीं-कहीं 'अं' प्रत्यय भी लगता है; यथा—गच्छं। आत्मनेपद में—उ० पु०, ए० व० 'रमे' (√रम) म० पु० ए० व० 'पुच्छसे' (√पृच्छ), अ० पु० ए० व० लभते (लभ्); उ० पु० बहु वचन के कुछ रूप 'मसे' के योग से बने हैं; यथा—'तप्पामसे', 'अभिनन्दामसे'; अ० पु० ब० व० में 'लम्बन्ते' (√लम्ब), 'हञ्ञन्ते' (√सं० हन्) जैसे रूपों के अतिरिक्त वैदिक 'शेरे' 'ईशिरे' के समान 'जायरे', 'जीयरे', 'सोचरे' इत्यादि रूप भी मिलते हैं।

'होमि' के अतिरिक्त 'भवामि' रूप भी पालि में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत का प्रभाव अनेक स्थलों पर पालि के धातु-रूपों में परिलक्षित होता है।

'अस्' परस्सपद (द्वितीय गण)—वर्तमान-निर्देश—

एकवचन—उ० पु० अस्मि-अम्हि, म० पु० असि, अ० पु० अत्थि
बहु वचन— " अस्मा-अम्हा, " अत्थ " सन्ति

'लभ्'—अनुज्ञा (Imperative)—'परस्सपद'

एक वचन—उ० पु० लभामि, म० पु० लभ-लभाहि, अ० पु० लभतु।

बहुवचन—" लभाम, " लभथ, " लभन्तु

यहाँ उत्तम पुरुष के रूप, 'निर्देश' (indicative) से ले लिये गये हैं। मध्यम-पुरुष में हि-प्रत्यय वैदिक 'धि' का प्रतिरूप है; यथा—'गरहाहि'—'गच्छाहि'। म० पु० 'लभ' के सादृश्य पर 'कर' (वैदिक कर') भी बना है, और 'लभाहि' के सादृश्य पर दीर्घ-स्वरान्त धातुओं के रूप बने; यथा, 'उग्गण्हाहि' (निर्देश—'उग्गण्हाति'—सं०—'उद्गृह्णाति'), 'विसज्जेहि', 'करोहि' इत्यादि; इसीप्रकार अकारान्त धातुओं के रूप भी; यथा, 'सराहि' ('सर' भी), 'जीवाहि', 'पक्कोसि' 'तुस्साहि' इत्यादि। म० पु० ब० व० में 'थ' प्रत्यय 'निर्देश' से ले लिया गया; यह संस्कृत 'त' का प्रतिरूप नहीं है।

अत्तनोपद (आत्मनेपद)—

एकवचन—उ० पु० लभे, म० पु० लभस्सु, अ० पु० लभतं।
बहुवचन— ,, लभामसे ,, लभव्हो, ,, लभन्तं।

उ० पु० ए० व० का रूप 'निर्देश' के सादृश्य पर बना। म० पु० ए० व० का 'स्सु' 'भिक्खसु' (मांगो) में छंद की गति के विचार से सरल कर दिया गया। अत्तनोपद के प्रत्यय उन धातुओं के साथ भी प्रयुक्त हुए हैं, जिनका कभी आत्मनेपद में प्रयोग नहीं हुआ; यथा—'नर्त' का 'नच्च'; इससे विदित होता है कि इन प्रत्ययों का विशिष्टार्थ लुप्त हो गया था। 'अभिप्राय'-भाव के उ० पु० ब० व० में भी 'मसे' प्रत्यय लगता है। जान पड़ता है पालि में अभिप्राय एवं 'अनुज्ञा' का 'मसे' प्रत्यय संस्कृत 'महै' एवं 'महे', दोनों, का प्रतिरूप है। अ० पु० ब० व० में एक रूप 'विसीयरुं' ('वे बिखर जाएँ—सं० √श्या) मिलता है; इसका 'रुं' प्रत्यय वैदिक 'राम्' प्रत्यय का प्रतिरूप है।

सम्भावक (Optative), परस्सपद

एकवचन उ० पु० लभेय्यं लभे-लभेय्यामि, म० पु० लभे-लभेय्य-लभेय्यासि, अ० पु० लभे-लभेय्य-लभेय्याति।

बहुवचन—उ० पु० लभेम-लभेमु-लभेय्याम, म० पु० लभेथ-लभेय्याथ, अ० पु० लभेय्यु लभेय्युं ।

अत्तनोपद

एकवचन—उ० पु० लभेय्यं, म० पु० लभेथो, अ० पु० लभेथ ।

बहुवचन—उ० पु० लभेय्यम्हे-लभेमसे, म० पु० लभेय्यव्हो, लभेरं अ० पु० 'लभेय्यामि-लभेय्यासि-लभेय्याति' ।

अभिप्राय-भाव के रूप पालि में स्वल्प हैं । इसकी प्रक्रिया की विशेषता यह है कि तिङ्-प्रत्यय का पूर्ववर्ती 'अ' दीर्घ हो जाता है; यथा—'दहाति', 'दहासि', 'हनासि', 'कामयासि', इत्यादि ।

पालि के 'सामान्य' (Aorist लुङ्) के रूपों में प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा के 'असम्पन्न' तथा 'सामान्य', दोनों, कालों के रूप एकत्र हो गए हैं । केवल 'स्'-विकरणयुक्त 'सामान्य' के रूप ही अपनी विशिष्टता सुरक्षित रख सके हैं । पालि में 'सामान्य' का चिह्न 'अ' उपसर्ग, कहीं-कहीं लुप्त भी हो गया है ।

'गम्' (अ-विकरण) के 'सामान्य' (Aorist) के रूप—

एकवचन—उ० पु० अगमं, म० पु० अगमा, अ० पु० अगमा ।

बहुवचन— ,, अगमाम, ,, अगमथ, ,, अगमं ।

'कर्' (स-विकरण)—

एकवचन—उ० पु० अकासिं, म० पु० अकासि, अ० पु० अकासि

बहुवचन— ,, अकम्ह, ,, अकत्थ ,, अकासुं-अकंसु

भविष्यत् के रूपों में ध्वनि-परिवर्तन के अतिरिक्त संस्कृत से अन्य कोई भेद नहीं है । उदाहरण ये हैं—

उ० पु० ए० व० वक्खामि (सं० 'वक्ष्यामि'), ब० व० वक्खाम;

म० पु० ,, सक्खसि (सं० 'शक्ष्यसि'),

अ० पु० ,, वक्खति (सं० वक्ष्यति), ब० व० वक्खन्ति ।

परन्तु 'सक्खिस्सामि' (उ० पु० ए०व०), 'सक्खिस्साम' (ब०व०), आदि द्विगुणित-भविष्यत् रूपों से विदित होता है कि 'सक्खामि' आदि रूपों का भविष्यार्थ धुंधला हो गया था ।

'क्रियातिपत्ति' के रूप पालि में संस्कृत के समान बनते रहे । यथा—अभविस्सं (सं० अभविष्यम्), अभविस्स (सं० अभविष्यः), अभविस्स (सं० 'अभविष्यत्') ।

संस्कृत के समान पालि में भी सन्नन्त' (Desiderative) यङन्त

(Intensive), णिजन्त (Causative) तथा नामधातु (Denominative) रूपों का प्रयोग हुआ है। 'जिगुच्छति' (सं० जुगुप्सते), जिगिंसति-जिगीसति (सं० जिगीषते) इत्यादि सन्नन्त के, 'दद्दल्लति' (सं० 'जाज्वल्यते') लालप्पति (सं० 'लालप्यते') इत्यादि यङन्त के, 'सुखायति' (सं० 'सुखायते') 'सदायति' (सं० शब्दायते) इत्यादि नामधातु के उदाहरण हैं। पालि में णिजन्तरूप संस्कृत के समान 'अय' अथवा 'प' विकरण के योग से बनते हैं; यथा—नायेति (√नी), सुणापेति (√श्रु), जिनापेति, (√जि) इत्यादि।

संस्कृत के समान पालि में भी 'कृदन्त' रूप बनते हैं—यथा,—लभन्तो, कुब्बाण, सयमाण, पत, इट्ठ, बन्ध, पिलन्ध, जीन, हीन, जिम्भितब्ब, कतब्ब इत्यादि।

पालि में 'तुम्-तवे-तये एवं तुये' के योग से तुमुन्नन्त (infinitive) रूप बनते हैं; यथा—पहातवे, गणेतुये।

पालि के ध्वनि एवं शब्द तथा धातु-रूपों के इस दिग्दर्शन से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा को जन्म देने वाली प्रवृत्तियाँ सक्रिय हो गई थीं।

अशोक के अभिलेखों की भाषा

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दि के मध्य-भाग में मौर्य-सम्राट अशोक ने अपने विशाल-साम्राज्य के विभिन्न-भागों में धर्म तथा शासन-संबंधी लेख चट्टानों, पत्थर-खण्डों, स्तम्भों, गुफाओं की भित्तियों इत्यादि पर उत्कीर्ण करवाये थे। ये अभिलेख हिमालय से मैसूर तथा बंगाल की खाड़ी से अरब-सागर पर्यन्त विभिन्न स्थानों में पाये गये हैं। ऐतिहासिक-दृष्टि से तो ये महत्त्वपूर्ण हैं ही, भाषा के विकास-क्रम के अध्ययन में भी इनसे कम सहायता नहीं मिलती, क्योंकि इनमें मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा का प्राचीनतम रूप मिलता है। इन अभिलेखों की एक विशेषता यह है कि जनसाधारण के बोध के लिए लिखे जाने के कारण, विभिन्न जनपदों में, इनको स्थानीय-बोलियों में प्रस्तुत किया गया है। अतः इनमें मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा की विभिन्न-शाखाओं के अध्ययन की सामग्री सुरक्षित है।

विषय की दृष्टि से अशोक के प्राप्त-अभिलेखों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है। प्रथम-श्रेणी में ६ शिलालेख आते हैं। इनमें से दो, शिलालेख, उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त में, पेशावरसे ४० मील उत्तर-पूर्व, शाहबाजगढ़ी में, और पंजाब के हज़ारा जिले में, मानसेरा नामक स्थान से, एक मील पश्चिम की ओर

पहाड़ी पर खुदे हैं। ये दोनों शिलालेख खरोष्टी-लिपि में हैं, जो दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी। तीसरा शिलालेख गुजरात में गिरनार (प्राचीन रैवतक) पर्वत के अञ्चल में उत्कीर्ण है; चौथा देहरादून ज़िले में, मसूरी से चकरौता की ओर जाने वाले मार्ग पर, १६ मील की दूरी पर, कालसी नामक स्थान में है; पाँचवाँ और छठाँ शिलालेख कलिङ्ग (आधुनिक उड़ीसा) में, धौली और जौगड नामक स्थानों में हैं। ये चारों शिलालेख ब्राह्मीलिपि में हैं। इन सभी शिलालेखों में अशोक के धर्म एवं शासन-सम्बन्धी-सिद्धान्तों का वर्णन है।

दूसरी श्रेणी में नौ लघु-शिलालेख हैं। इनमें से तीन, मैसूर-राज्य में, सिद्धपुर, जतिंग रामेश्वर और ब्रह्मगिरि में हैं; चौथा शाहाबाद जिले में सहसराम में, पाँचवाँ जबलपुर ज़िले में रूपनाथ में, छठाँ जयपुर राज्य में, वैराट में; सातवाँ भी वैराट में ही था, परन्तु अब कलकत्ता में, रॉयल-एशियाटिक-सोसायटी के भवन में रखा है; और आठवाँ निज़ाम-राज्य के अंतर्गत, मास्की नामक गाँव में है। एक लघु-शिलालेख मद्रास-राज्य में भी मिला है। इन अभिलेखों से अशोक की जीवनी पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

तीसरी श्रेणी में आठ स्तम्भ-लेख, गुहालेख और अन्य लघु-अभिलेख आ जाते हैं। स्तम्भ-लेख अम्बाला, मेरठ, कौशाम्बी, बिहार के चम्पारन ज़िले में लोड़िया ग्राम के समीप दो, तथा रामपुरवा में एक, नेपाल की तराई में, रुम्मिन-देई, तथा निग्लीव ग्राम में, स्थापित किये गये थे। अम्बाला और मेरठ के स्तम्भ आजकल दिल्ली में हैं और कौशाम्बी का स्तम्भ इलाहाबाद के क़िले में है। इनके अतिरिक्त सारनाथ सांची इत्यादि स्थानों में लघु-स्तम्भ लेख प्राप्त हुए हैं। गया के समीप, बराबर की पहाड़ी में, तीन गुहालेख उत्कीर्ण हैं।

अशोक के अभिलेखों में शिलालेख विशेष महत्वपूर्ण हैं। नीचे अशोक के एक अभिलेख के, उत्तर-पश्चिम में शाहबाजगढ़ी, गुजरात में, गिरनार, उत्तर में कालसी तथा पूर्व में जौगड शिलालेखों के पाठ उद्धृत किये जाते हैं—

शाहबाजगढ़ी—

अयं ध्रमदिपि देवन प्रिअस प्रियद्रशिस रञो लिखपितु, हिद नो किचि जिवे आरभित प्रयुहोतवे नो पि च समज कटव, बहुक हि दोषं समजस देवन प्रियो प्रियद्रशि रय द्रखति, अस्ति पि च एकतिए समये स्रेष्टमति देवन प्रिअस प्रिअद्रशिस रञो पुर महनससि देवनं प्रिअस प्रिअद्रशिस रञो अनुदिवसो बहुनि प्रणशतसहस्रनि अरभिसु सुपठये सो इदनि यद अय ध्रमदिपि लिखित तद त्रयो

यो प्रण हञति मजुर दुवि मुगो सोपि मुगो नो ध्रुवं एत पि प्रणत्रयो पछ न अरभिशंति ॥

गिरनार

इयं धंमलिपि देवानं प्रियेन प्रियदसिना राञा लेखापिता, इध न किंचि जीवं आरभित्पा प्रजूहितव्यं न च समाजो कतव्यो, बहुकं हि दोसं समाजम्हि पसति देवानं प्रियो प्रियदसि राजा, अस्ति पि तु एकचा समाजा साधुमता देवानं प्रियदसिनो राञो, पुरा महानसम्हि देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो अनुदिवसं बहूनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु सूपाथाय, से अज यदा अयं धंमलिपी लिखिता ती एव प्राणा आरभरे सूपाथाय, द्वो मोरा एको मगो, सोपि मगो न धुवो, एते पि त्री प्राणा पछा न आरभिसरे ॥

कालसी

इयं धंमलिपि देवानं पियेना पियदसिना लेखिता हिदा ना किछि जिवे आलभितु पजोहितविये नो पि चा समाजे कटविये बहुका हि दोसा समाजसा देवानं पिये पियदसी लाजा दखति अथि-पि-चा एकतिया समाज साधुमता देवानं पियसा पियदसिसा लाजिने पुले महानससि देवानं पियसा पियदसिसा लजिने अनुदिवसं बहुनि पानसहसानि अलभियिसु सुपठाये, से इदानि यदा इयं धंमलिपि लेखिता तदा तिंनि येवा पानानि आलभियंति दुवे मजुला एके मिगे, सेपि च मिगे नो धुवे एतानि पि च तिंनि पानानि नो आलभियिसंति ॥

जौगड

इयं धम्मलिपि खपिंगलसि पवतसि देवानं पियेन लाजिना लिखापिता, हिद नो किछि जीवं आलभितु पजोहितविये, नापि समाज कटविये, बहुकं हि दोसं समाजस दखति देवानं पिये पियदसि लाजा, अथि पि चु एकतिया समाजा साधुमता देवानं पियस पियदसिने लाजिने, पुलुवं महानससि देवानं पियस पियदसिने लाजिने अनुदिवसं बहूनि पानसतसहसानि आलभियंति सुपठाये, से अज अदा इयं धंमलिपी लिखिता तिनि येव पानानि आलभियिसु दुवे मजुला एके मिगे, सेपि चु मिगे नो धुवं, एतानि पि चु तिनि पानानि पछा नो आलभियिसंति ॥

इस अभिलेख का संस्कृत-रूप यह होगा—

इयं धर्मलिपिः देवानां प्रियेण प्रियदर्शिना राज्ञा लेखिता। इह न कश्चित् जीवः आलभ्य प्रहीतव्यः। न अपि च समाजः कर्तव्यः। बहुकान् हि दोषान् समाजस्य देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा पश्यति। सन्ति अपि च एकतये (एके)

समाजाः साधुमताः देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिनः राज्ञः। पुरा महानसे देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिनः राज्ञः अनुदिवस बहूनि प्राणशतसहस्राणि आलभ्यत सूपार्थाय तद् इदानीं यदा इयं धर्मलिपिः लेखिता तदा त्रय एव प्राणा आलभ्यन्ते द्वौ मयूरौ एको मृगः सोऽपि च मृगो न ध्रुवः। एते अपि च त्रयः प्राणाः न आलप्स्यन्ते ॥[1]

इन पाठों में बोलियों की भिन्नता स्पष्टरूप से परिलक्षित होती है। शाहबाज़-गढ़ी के पाठ में केवल 'र्' ध्वनि है, 'श्, ष्, स्' तीनों ऊष्म-व्यञ्जन हैं और 'ण् एवं ञ्' का प्रयोग है; गिरनार-पाठ में भी 'र्' ध्वनि है, 'ण्, ञ्' भी विद्यमान हैं, लेकिन 'श्, ष्' नहीं हैं; कालसी एवं जौगड में 'र्' के स्थान पर सर्वत्र 'ल्' है, ऊष्म-व्यञ्जन केवल 'स्' है और 'ण्' ञ्' नहीं हैं। इसीप्रकार संयुक्त-व्यञ्जनों एवं शब्द-रूपों में भी इन विभिन्न पाठों में भेद है। कालसी-जौगड पाठों में कर्तव्यः > कटविये (स्वर-भक्ति) परन्तु गिरनार में कर्तव्य > कतव्यो प्रतिरूप है। गिरनार-पाठ में र्थ > थ, परन्तु अन्य पाठों में र्थ>ठ हो गया है। कालसी-जौगड में ऋ > इ, गिरनार में ऋ > अ, और शाहबाजगढ़ी में ऋ > रु। शब्द-रूपों में कर्ता-एकवचन का रूप कालसी-जौगड में 'ए'कारान्त, परन्तु गिरनार-शाहबाजगढ़ी में 'ओ'कारान्त, अधिकरण एकवचन के रूप गिरनार में 'म्हि' परन्तु अन्यत्र 'सि' है। इन भिन्नताओं से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये पाठ बोलियों की भिन्नता प्रदर्शित करते हैं।

यद्यपि अशोक के कालसी-मानसेरा आदि उत्तर एवं उत्तर-पश्चिमी अभि-लेखों में तथा पश्चिम के अभिलेखों में भी प्राच्य-भाषा के कुछ लक्षण प्रकट होते हैं, परन्तु उसके विभिन्न-जनपदों में अवस्थित लेखों की भाषा के पर्यालोचन से भारतीय-आर्य-भाषा की तीन बोलियाँ स्पष्टतया लक्षित होती हैं—(१) उत्तर-

---

[1] हिन्दी अनुवाद—"यह धर्मलेख देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने लिखवाया है। यहाँ कोई जीव मारकर होम न किया जाय और न समाज किया जाय, क्योंकि देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत दोष देखता है, तथापि एक प्रकार के समाज हैं, जिनको देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा ठीक समझता है। पहिले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में सूप (शोर्वा) के लिए कई सहस्र जीव मारे जाते थे, परन्तु अब से जब कि यह धर्म-लेख लिखा जा रहा है केवल तीन ही जीव मारे जाते हैं—दो मोर, एक मृग, वह मृग भी नियमित रूप से नहीं। यह तीन प्राणी भी भविष्य में न मारे जायेंगे।

पश्चिमकी बोली, जो शाहबाज़गढी-मानसेरा अभिलेखों में मिलती है, (२) मध्य-देश की भाषा जिसमें गिरनार, कालसी इत्यादि मध्यदेश में स्थित अभिलेख प्रस्तुत किये गये और (३) प्राच्य-भाषा, जो भाब्रू, रामपुरवा, सारनाथ, धौली जौगड इत्यादि पूर्वी-अञ्चल के अभिलेखों में स्पष्ट है। उत्तर-पश्चिम एवं मध्य-देश तथा पश्चिम के अभिलेखों में प्राच्य-भाषा के जो लक्षण दिखाई देते हैं उनका कारण यह है कि अशोक के ये अभिलेख पहले प्राच्यभाषा में ही तैयार किये गये थे।

अशोक के अभिलेखों में तीन भारतीय-आर्य-जन-भाषाओं के रूप सुरक्षित हैं —(१) उत्तर-पश्चिम की जन-भाषा, शाहबाज़गढी और मानसेरा शिलालेखों में, (२) दक्षिण-पश्चिम की जन-भाषा, गिरनार इत्यादि अभिलेखों में और (३) प्राच्य-भाषा, धौली, जौगड, रामपुरवा, सारनाथ भाब्रू इत्यादि अभिलेखों में। कालसी, तोपरा, बैराट इत्यादि मध्यदेश में अवस्थित अभिलेखों में प्राच्य-भाषा ने स्थानीय-जन-भाषा को इतने अधिक अंश में ढक लिया है कि इन अभिलेखों से स्थानीय-जन-भाषा के स्वरूप का स्पष्ट परिचय नहीं मिलता। प्राच्य-भाषा का प्रभाव उत्तर-पश्चिम में मानसेरा-शिलालेख में भी पर्याप्तरूप में अभिलक्षित होता है और दक्षिण-पश्चिम के अभिलेखों की भाषा भी इसके प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं है। प्राच्य भाषा के इस प्रभाव का कारण यह है कि अशोक के ये अभिलेख पहिले प्राच्य-भाषा में प्रस्तुत किये गये थे और तब विभिन्न जनपदों में, स्थानीय-बोलियों में, उनका रूपान्तर किया गया। धौली-जौगड में, प्रधान-अभिलेखों के अतिरिक्त, दो लघु-लेख भी प्राप्त हुए हैं। इनमें उत्तर-पश्चिम की भाषा का प्रभाव दिखाई देता है। डा॰ मधुकर अनन्त मेंहन्दले का कहना है कि इन अभिलेखों का मूल रूप सम्राट् अशोक ने अपनी राजधानी में तैयार नहीं करवाया, अपितु उत्तर-पश्चिम में किसी स्थान में इनको स्थानीय जन-भाषा में लिखवाकर, धौली जौगड़ में भेजा होगा, जहाँ यह स्थानीय भाषा में अनूदित हुए और अनुवादकों की कृपा से इनमें उत्तर-पश्चिम की भाषा के कुछ रूप रह गये।

अशोक के अभिलेखों की भाषा में प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा से जो भिन्नताएँ प्रकट होती हैं, वह प्रधानतया परिवर्तन की प्रवृत्तियों की परिचायक हैं। ये प्रवृत्तियाँ आगे चलकर मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के द्वितीय एवं तृतीय-पर्व में निरपवादरूप से प्रचलित हुई। नीचे अशोक के अभिलेखों में प्राप्त जनपदीय-भाषाओं की मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियों का परिचय, संक्षेप में दिया जाता है।

उत्तर-पश्चिम की भाषा

मानसेरा-शिलालेख की अपेक्षा शाहबाज़गढ़ी-शिलालेख में उत्तर-पश्चिम-अञ्चल की भाषा का रूप अधिक शुद्ध है। शाहबाज़गढ़ी-अभिलेख में भी प्राच्य-भाषा के कुछ रूप अवश्य मिलते हैं, परन्तु वह इतने अधिक नहीं है जितने मानसेरा-शिलालेख में।

प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा के स्वर उत्तर-पश्चिम की भाषा में साधारणतया सुरक्षित हैं। परन्तु किन्हीं स्थितियों में उनमें विकार भी हुए हैं। मुख्यतया निम्नलिखित स्वर-विकृतियाँ दिखाई देती हैं।

(i) ऋ> रु, रि, (अत्यल्प स्थानों पर) र; यथा, मृग>म्रुग-म्रिग; वृद्धि>वध्रि (=व्रधि:); वृद्धेषु>वुध्रेषु (=व्रुधेषु)।

अनेक उदाहरणों में 'र्' ध्वनि का लोप होकर ऋ>इ, (कहीं-कहीं) अ, तथा (तालव्य ध्वनियों के समीपस्थ होने पर) उ हो गया है; यथा—कृत>कित; ईदृश>एदिश; आनृण्य>अनणिय; व्यापृत>वपट-वियपुट; भ्रातृ∠भ्रतु-भत (मानसेरा); पितृ>पितु-पिति; वृत्त<रूछ।

(ii) ऐ>ए, औ>ओ; यथा,—तवै (प्रत्यय)>—तवे; पौत्र>पोत।

(iii)—अय>—ए,—अव>—ओ; यथा—पूजयति>पुजेति; आज्ञापय>अनपय-अनपे; परन्तु—तोदश<*त्रयोदश।

(iv) अ>उ, यथा—मुत<मत; उचावुच<उच्चावच; ओपुढ<औषध।

(v) कुछ शब्दों में प्रारम्भ के 'अ' का लोप हो गया है; यथा—अपि>पि; अध्यक्ष> वियक्ष।

(vi)—अः— >—ओ; यथा—जनः > जनो; प्रियः>प्रियो-पियो।

(vii) इ>ए; यथा—*इत्र >एत्र। प्रारम्भिक 'इ' के लोप का उदाहरण इति>ति में मिलता है।

(viii) उ>अ; यथा—पुनः> पन (पुना भी)

(ix) ए>इ की प्रवृत्ति शाहबाज़गढ़ी अभिलेख में दिखाई देती है; यथा—द्वे<दुवि।

पद के प्रारम्भ तथा मध्य में व्यञ्जन-ध्वनियाँ साधारणतया सुरक्षित हैं। स्वरमध्यग-व्यञ्जनों में अघोष के स्थान पर सघोष व्यञ्जनों का प्रयोग इत्यादि

विकार, अभी प्रारम्भिक अवस्था में हैं और मूर्धन्यादेश की प्रवृत्ति भी आंशिक-रूप में ही दिखाई देती है। निम्न-लिखित व्यञ्जन-विकार लक्षणीय हैं।

(i) ब् – > प्; – यथा—बाढम्>पढं (परन्तु, 'बढतरं') ।

(ii) द्व् > ब्द्, यथा—द्वादश>बदय ।

(iii) पद के प्रारम्भ में 'ऊ' से पूर्व 'व्' का आगम; यथा—ऊढ> वुढ; √उच्>वुच; उक्त>वुत ।

(iv) कुछ शब्दों में प्रारम्भिक 'ह्' का लोप; यथा—हस्तिन्> अस्ति ।

(v) स्वरमध्यग-अघोष-व्यञ्जनों के स्थान पर सघोष-व्यञ्जनों का प्रयोग निम्न-स्थलों में दिखाई देता है।

– च – ज> – ; यथा – अचल>अजल ।

– त – > – द – ;यथा – हित>हिद ('हित' भी); हापयिष्यति> हापेसदि

(vi) सघोष-व्यञ्जनों के स्थान पर अघोष-व्यञ्जन; – ग – >क – , यथा – मग>मक; उपग>उपक ।

(vii) – ज् – > – य् – ;यथा – कम्बोज>कंबोय; राजन्> रय; समाज>समय ।

(viii) सघोष-व्यञ्जनों में स्पर्श-ध्वनि का लोप; – भ – > – ह् – के रूप में मिलता है। करण-कारक बहुवचन की विभक्ति – भिः> – हि इसका उदाहरण है।

(ix) सघोष-व्यञ्जनों में प्राण-ध्वनि का लोप; – ध – > – द् – ; यथा – हिद<*हिध< *इध =(इह) ।

(x) स्वरमध्यग – य – का लोप; यथा—प्रिय>प्रिअ (परन्तु – प्रिय-पिय भी, 'एकतिअ<*एकतिय<*एकत्य ।

(xi) तालव्यीकरण (Palatalisation) निम्न व्यञ्जन-ध्वनियों में दिखाई देता है—

क्ष्>छ, यथा – क्षण>छण; मोक्ष>मोछ ।

त्य्>च्; यथा – आत्ययिक>अचयिक ।

द्य्>ज् ; यथा – अद्य>अज ।

(xii) मूर्धन्यीकरण (cerebralisation)—'र्' अथवा कहीं-कहीं ऊष्म-व्यञ्जन (श्, ष्, स्) से सम्पर्कित दन्त्य-व्यञ्जन के मूर्धन्यादेश के

उदाहरण पर्याप्त मिलते हैं; यथा—कृत>कट; भृत>भट; कर्तव्य>कटव; प्रति>पटि; अर्थ>अठ; स्थितिक>ठितिक; द्वादश>दुवडस (मानसेरा); वृद्ध>वुढ; वर्ध> वढ; औषध>ओषुढ; प्र-आप्–नु>प्रापुण।

मानसेरा शिलालेख में न्य्>ण के उदाहरण मिलते हैं; यथा—अन्य>अण; मन्य>मण।

श्र्>ण्; यथा—आ—√   ज्ञप्>आ-णप।

(xiii) पदान्त-व्यञ्जनों का लोप हो गया है और कहीं-कहीं उनके पूर्ववर्ती ह्रस्व-स्वर को दीर्घ कर दिया गया है। पदान्त—म्, —न् का लोप होकर पूर्ववर्ती-स्वर सानुस्वार हो गया है।

(xiv) संयुक्त-व्यञ्जनों में निम्नलिखित विकार पाए जाते हैं—
'र्' युक्त व्यञ्जन प्रायः सुरक्षित हैं; यथा—वर्ग>वग्र (=वर्ग); स्वर्ग>स्पग्र (=स्पर्ग); गर्भागार>ग्रभगर।

—स्क्— और—स्थ्—>क्— और —थ्—; यथा—स्कंध>कंध; गृहस्थ>ग्रहथ।

—क्य—>—क—; यथा—शक्य>शक; —ख्य्—>ख्—, यथा—मुख्य>मुख; भ्य—>—भ; यथा—इभ्य>इभ (शाहबा०), परन्तु इभ्य (मानसे०); —र्य—>—य्—अथवा स्वरभक्ति का सन्निवेश, यथा—मर्य>मय; माधुर्य>मधुरिय; —ल्य—>—ल्—; यथा—कल्याण>कलाण; —व्य्—>—व्—; यथा—व्यञ्जन>वञ्जन; कर्तव्य>कटव। ऊष्म-व्यञ्जन+—य्—में प्रायः स्वरभक्ति का सन्निवेश किया गया है; यथा—प्रतिवेश्य>पटि-वेशिय।

र्+स्पर्श-व्यञ्जन प्रायः सुरक्षित हैं; यथा—अतिक्रम, अग्र, त्रयो, पुत्र, तत्र, प्रजा, भ्रत (= भ्रातृ), व्रच (<व्रज); आदि।

ऊष्म-व्यञ्जन+र् नियमित रूप से सुरक्षित हैं; यथा—सहस्र, परिस्रव, श्रुण (<श्रृणु)। इसीप्रकार र्+ऊष्म-व्यञ्जन भी सुरक्षित हैं; यथा—द्रशन (<दर्शन), द्रशि (<—दर्शिन्)।

स्पर्श-व्यञ्जन+व् का संयोग पद के प्रारम्भ में स्वर-भक्ति द्वारा समाप्त हो जाता है; यथा—द्वि>दुवि; त्वा>तु। र्+व् अविकृत हैं; यथा पूर्व>प्रुव (=पुर्व); सर्व>सव्र (=सर्व)। स्व्—>स्प्—; यथा—स्वामिक>स्पमिक। 'र्+ह्' के बीच 'अ' का सन्निवेश हो गया है, यथा—गर्हा>गरहे। ज्ञ्>ञ्; यथा—राज्ञा>राञा। ञ्ज्>ञ्; यथा, व्यञ्जन>

चञन। ण्य् तथा न्य्>ञ् ; यथा – अपुण्य>अपुञ; अन्य>अञ; मन्य>मञ। त्म्>त ; यथा – आत्मन>अत। स्म्>स्प् ; यथा – स्मिन् (सप्तमी एकम वचन की विभक्ति)> – स्पि। – म्र् – > – ँब् –, यथा – ताम्र (पर्णी)>तंब –।

शब्द-रूपों में, यहाँ भी, सरलीकरण की वह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, जो हम पीछे पालि के प्रसंग में देख चुके हैं। पदान्त-व्यञ्जनों के लोप हो जाने से केवल अजन्त (स्वरान्त) प्रातिपदिक रह गए हैं, द्विवचन समाप्त हो गया है और मिथ्या सादृश्य के कारण विभिन्न कारक-रूपों में समानता आ गई है।

'अकारान्त पुंल्लिङ्ग प्रातिपदिकों में निम्न सुप्-प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है—एकवचन प्रथमा में 'ओ'; यथा—'जनो'; द्वितीया में 'अं', यथा – ध्रमं; तृतीया में 'एन'; यथा – 'पुत्रेन; चतुर्थी में 'ये', यथा – 'अठाये' (सं० अर्थाय); पञ्चमी में – 'अ', यथा – 'करण'; षष्ठी में – 'स', यथा—'जनस' तथा सप्तमी में – 'ए', – स्पि' (<स्मिन्') अथवा – 'सि', यथा—'ध्रमे', 'ओरोधनस्पि' (<*अवरोध नस्मिन्), 'उढनसि'।

'अकारान्त' नपुंसकलिङ्ग प्रातिपदिकों में प्रथमा – द्वितीया एकवचन में 'अ' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है; यथा – दानं। अन्य रूप पुंल्लिङ्ग के समान हैं।

बहुवचन प्रथमा में प्रातिपदिक-रूप—यथा, पुत्र, द्वितीया में – 'आनि', यथा, *पुत्तानि; तृतीया तथा चतुर्थी में – 'एहि'(वैदिक'एभिः')यथा – 'महमत्रेहि' षष्ठी में – 'नं' अथवा – 'न', यथा – 'प्रणनं', 'श्रमनं', तथा सप्तमी में – 'षु' यथा – 'वषेषु' (<वर्षेषु) का प्रयोग हुआ है।

आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों में; एकवचन तृतीया में—'ये'; यथा, पुजाये, तथा सप्तमी में भी—'ये', यथा—'संतिरणये' मिलते हैं। इकारान्त-स्त्रीलिङ्ग शब्दों में एकवचन द्वितीया में—'इ', यथा—'सम्बोधि; तृतीया में—'या', यथा—भतिया';चतुर्थी में—'या' अथवा—'ये', यथा—वढिया, अनुशस्तिये; पञ्चमी तथा सप्तमी में—'य', यथा—'निवुटिय', अयतिय रूप मिलते हैं।

धातु-रूपों में भी मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के प्रारम्भकाल की सरलीकरण की प्रवृत्ति, उत्तर-पश्चिम-अञ्चल के शिलालेखों की भाषा में परिलक्षित होती है। आत्मनेपद लुप्त हो गया है। धातुओं को—'अ' अथवा—'अय' विकरण वाले गणों में सीमित कर दिया गया है। परन्तु अधिकांशतः धातुओं के प्राचीन-रूप ध्वनि-परिवर्तन के साथ सुरक्षित हैं। नीचे विभिन्न-कालों तथा भावों के प्राप्त-रूप दिए जाते हैं।

वर्तमान-निर्देश-परस्मैपद—एकवचन करोमि (सं० करोमि); इछति (इच्छति); बहुवचन—इछन्ति, वसति (अन्य-पुरुष)।

वर्तमान-अभिप्राय-परस्मैपद—एकवचन-सुखायामि (उ० पु०), बहुवचन दिपयम (मानसेरा)। आत्मनेपद-परक्रमते (अ० पु० ए० व०)।

विधि—परस्मैपद —अचेयं (उ० पु० ए० व०); सिया-सियति (अ० पु० ब० व०), अस्सु (अ० पु० ब० व०); वसेयु।

अनुज्ञा-परस्मैपद—भोतु (अ० पु० ए० व०), युजेन्तु-मन्नतु (अ० पु० ब० व०)।

सामान्य (Aorist)-परस्मैपद—निक्रमि (अ० पु० ए० व०), निक्रमिषु-अभुवसु (अ० पु० ब० व०)। सामान्य-अभिप्राय—मन्निषु-(अ० पु० ब० व०)।

सम्पन्न (Perfect)-परस्मैपद-आहा-अहति-हहति (अ० पु० ए० ब०)।

भविष्यत्-परस्मैपद—लेखापेशामि (उ० पु० ए० ब०), वढिशति (अ० पु० ए० व०); अरापेशन्ति (अ० पु० ब० व०)

कर्मवाच्य-निर्देश—पसवति (अ० पु० ए० व०), आलभियंति (अ० पु० ब० व०)

अनुज्ञा—अनुविधियतु (अ० पु० ए० व०); विधि—इंडयसु (अ० पु० ब० व०); सामान्य—आरभियिसु—आरभिसु (अ० पु० ब० व०); भविष्यत्—सुश्रुषेयु (अ० पु० ब० ब०)।

कृदन्त—वर्तमान-'करत'; भूतकालिक-मत, कट, प्रशान, लध, सुद, भविष्यत्—कटविय, पूजेतविय, विजेतविय, वेदनिय, शाक।

असमापिका-क्रिया-पद—आरभित्पा (<—त्वा), श्रुतु, संखया (√ ख्या-), तिठिति (वैदिक,-त्वि)

दक्षिण-पश्चिम की भाषा

स्वर-परिवर्तन

(i) ऋ > अ; यथा—कत < कृत; मग < मृग; व्यापत < व्यापृत; व्रछ < वृक्ष; वढि < वृद्धि; आननिय < आनृण्य (परन्तु एतारिस < एतादृश)।

(ii) ऐ,-अय- > ए तथा औ,-अव- > ओ, यथा—तवै > - तवे;

पूजयति > पूजेतया (परन्तु 'पूजयति', भी); 'आज्ञपय' > आज्ञापय); पौत्र > पोत्र-पोत इत्यादि।

(iii) अ > उ; यथा—उचावुच < उच्चावच (परन्तु 'उचवच' भी); ओसुढ < औषध; पि < अपि में प्रारम्भ के 'अ' का लोप हो गया है। 'अः' > 'आ' अथवा 'ओ'; यथा—मगः > मगा; यशः > यशो; जनः > जनो; प्रियः > प्रियो-पियो।

(iv) उपसर्ग-प्रत्यय अथवा पदान्त (व्यञ्जन या विसर्ग के लोप के कारण) इ > ई; यथा—प्रतिभाग > पटीभाग; अभिकार > अभीकार; एतस्मिन् > एतम्ही; चिकित्सा > चिकीछ। 'इ' के लोप का उदाहरण इति > ति है। एत < * इत्र में 'इ' का स्थान 'ए' ने ले लिया है।

(v) सुप प्रत्यय से पूर्व उ > ऊ, यथा—बहुभिः > बहूहि।

(vi) आ > अं, यथा, ताम्रपर्णी > तंबपंनी। संयुक्त-व्यञ्जन से पहिले ऊ > उ; यथा—पूर्व > पुर्व-पुव।

व्यञ्जन-परिवर्तन—

(i) द्व् > द्व; यथा—द्वादश > द्वादस। प्रारम्भिक 'उ' से पूर्व 'व्' का आगम, यथा—'वुढ < ऊढ : वुच <√उच्।

(ii) 'श', 'ष' के स्थान पर गिरनार अभिलेख में 'स्' आया है ; यथा, श्रावक > स्रावापक ; शुश्रुषा > सुसुंसा ; दश > दस ; मनुष > मनुस

(iii) घ् – > – ह् ; यथा—लघु>लहु। – भ् – >ह् ; यथा—भिः (तृतीया ब० व० की विभक्ति)>हि। स्वरमध्यग 'द्' के लोप के उदाहरण केवल यहीं मिलते हैं; यथा—यादृश>यारिस; तादृश> तारिस। – त्व – >त्प; यथा—चत्वारः > चत्पारो। 'व्' के लोप का उदाहरण भी यहीं मिलता है; यथा—स्थविर > थइर।

(iv) तालव्यीकरण (palatalisation) गिरनार-शिलालेख की भाषा का एक प्रधान लक्षण है। ख – > – छ; यथा—संख्या> सङ्खाय; क्ष> छ; यथा—क्षुद्र > छुद; क्षण > छण ; त्य्-त्स् > च्-छ् ; यथा—अधिकृत्य > अधिकच्च; चिकित्सा > चिकीछ ; द्य्-ध्य् > ज्-झ्, यथा—अद्य > अज; मध्यम > मझम; अभ्यक्ष > भख।

(v) मूर्धन्यीकरण (cerebralisation) केवल 'थ्' एवं 'न्' में ही

दिखाई देता है। उदाहरण ये हैं—औषध > ओसुढ; दर्शन > दसण; प्र-आप्-नु > प्रापुण।

(vi) संयुक्त-व्यञ्जन—र्+स्पर्श-व्यञ्जन अथवा स्पर्श-व्यञ्जन+र् में 'र्' का स्पर्श-व्यञ्जन में समीकरण हो गया है; यथा—स्वर्ग > स्वग ; गर्भागार > गभागार ; अग्र > अग ; पुत्र > पुत (पुत्र भी) ; तत्र > तत (तत्र भी); ब्राह्मण > बाम्हण। कहीं-कहीं 'र्' सुरक्षित है; यथा—अतिक्रम, प्रजा, प्रसाद, प्राण, भ्रातृर (भ्रातृ) इत्यादि। र्+य्, र्+व् >य्-व्; यथा—मर्य > मय ; व्रज > वच ; प्रव्रजित > पवजित। र्+ऊष्म-व्यञ्जन तथा ऊष्म-व्यञ्जन+र् में र् का समीकरण हो गया है और कहीं-कहीं वह अविकृत भी है; यथा—दर्शन > दसन-द्र्सन ; श्रृणु > सुण; परिश्रव > परिस्रव। र्+ह् के मध्य 'अ' का सन्निवेश हो गया है; यथा—गर्हा > गरह। स्+थ् सुरक्षित है; यथा, गृहस्थ > घरस्त। क्य्, ल्य्, श्य् अथवा ष्य् > क्, ल्, सिय्; यथा—शक्य > सक ; कल्याण > कलाण ; (प्रति) वेश्य > वेसिय। व्य् सुरक्षित है; यथा—व्यंजन > व्यञ्जन। र्व, श्व्, स्व् अथवा ष्व् भी सुरक्षित हैं; यथा—सर्व, पुर्व, स्वामिक, स्वेत (< श्वेत)। ज्ञ् > ञ्, यथा—ज्ञाति > ञाति; राज्ञा > राञा। ण्य्-न्य् > ञ्; यथा—अपुण्य > अपुनिञ; हिरण्य > हिरनिय; अन्य > अञ; मन्य > मञ। त्म् > त्प्; यथा—आत्मन् > आत्पा। स्म् > म्ह; यथा—स्मिन् > म्हि। म्र् > म्ब्, यथा—ताम्रपर्णी > तंबपंनी।

शब्द-रूपों में सरलीकरण की प्रवृति यहाँ भी स्पष्ट है। अकारान्त-पुंल्लिङ्ग शब्दों के एकवचन प्रथमा में 'ओ', यथा—जनो, तृतीया में—'एन', यथा—'जनेन', चतुर्थी में—'य'—यथा—अथाय (एक स्थान पर 'अथा' भी), पञ्चमी में—'आ', यथा—कपा, षष्ठी में—'स' यथा—जनस और सप्तमी में—'म्हि' तथा—'ए', यथा—अथम्हि, कोले, विभक्तियों का प्रयोग हुआ है। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा-द्वितीया एकवचन में—'अं' विभक्ति है। बहुवचन की विभक्तियाँ अन्य जन-भाषाओं के समान हैं, परन्तु द्वितीया में—'ए' का प्रयोग हुआ है, यथा—युते।

आकारान्त स्त्रीलिङ्ग—शब्दों के एकवचन तृतीय में—'या' यथा—'प्रजाया' तथा सप्तमी में—'यं' अथवा—'य', यथा—गणनायं, संतिरणाय विभक्तियाँ मिलती हैं। इकारान्त स्त्रीलिङ्ग-शब्दों में, एकवचन प्रथमा में—'ई',

यथा—लिपी, द्वितीया में—'इ', यथा—संबोधि तथा बहुवचन प्रथमा में—'यो' यथा—'अटवियो' विभक्ति—प्रत्यय लगे हैं। ऋकारान्त शब्दों के एक वचन प्रथमा में—'आ'; यथा—पिता भाता और सप्तमी में 'इ' यथा—पितरि।

सर्वनाम-शब्दों के प्राचीनरूप, स्थानीय-ध्वनि-परिवर्तन के साथ, प्रायः सुरक्षित हैं। इनके निम्न-लिखित रूप मिलते हैं।

प्रथम-पुरुष-ए० व०; प्रथमा, अहं; तृतीया, मआ; षष्ठी, मम।

अन्य-पुरुष—ए० व०; प्रथमा, सो-सा; द्वितीया-सो; तृतीया-तेन;

चतुर्थी—ताय; षष्ठी-तस; सप्तमी-तम्हि।

बहुवचन, प्रथमा-ते; तृतीया-तेहि; षष्ठी-तेसं।

स्त्रीलिङ्ग-अन्य-पुरुष—ए० व०; प्रथमा, सा ;

नपुंसकलिङ्ग-अन्य० पु०—ए० व०; प्रथमा-द्वितीया-त ('सं' भी)

'एतद्' सर्वनाम का प्रातिपदिक-रूप यहाँ 'एत' है। पुंलिङ्ग के रूप ये हैं—ए० व०; प्र० एसा; च० एताय; स० एतम्हि। ब० व०; प्रथमा-एते। स्त्रीलिङ्ग में इसका प्रातिपदिक-रूप 'एसा'—है और प्र० ए० व० का रूप भी 'एसा' है। नपुंसकलिङ्ग में प्रातिपदिक-रूप 'एत' है और कारक-रूप प्र० ए० व० 'एस' (अथवा-एसा) ; द्वितीया-एत हैं। इसीप्रकार अन्य-सर्वनाम-रूपों में भी संस्कृत-रूप पर्याप्त-अंश में सुरक्षित हैं।

गिरनार-शिलालेख की भाषा में धातु-रूपों में सरलीकरण की प्रवृत्ति उतनी अधिक नहीं है जितनी अन्य जन-भाषाओं में। यहाँ आत्मनेपद बहुत कुछ सुरक्षित है और अन्य-कालों तथा भावों के संस्कृत-रूप स्थानीय ध्वनि-परिवर्तन के साथ पर्याप्त-रूप में मिलते हैं।

वर्तमान-निर्देश-परस्मैपद—करोमि (उ० पु० ए० व०), पसति (अ० पु० ए० व०) ; इछति-प्रपुणति (अ० पु० ब० व०)।

आत्मनेपद—करोते (अ० पु० ए० व०); करंते-अनुवतरे (अ० पु० ब० व०)।

वर्तमान-अभिप्राय-परस्मैपद—सुखापयामि (उ० पु० ए० व०) संस्था (वैदिक 'पश्यात्' के समान) अ० पु० ए० व०।

विधि-परस्मैपद—गछेयं (उ० पु० ए० व०), अस (सं० अस्यात् पालि० अस्स)—भवे—तिस्टेय (अ० पु० ए० व०) ; दिपयेम (उ० पु० ब० व०),-असु—(सं० अस्युः, पालि 'अस्सु')—वसेयु—(अ० पु० ब० व०)।

आत्मनेपद—पटिपजेथ (अ० पु० ए० व०); सुसुंसरे (अ० पु० ब० व०)।

अनुज्ञा परस्मैपद—पतिवेदेथ (म० पु० ब० व०), युजंतु-नियातु-स्रुणारु (अ० पु० ब० व०)।

अनुज्ञा-आत्मनेपद—अनुविधियतां (अ० पु० ए० व० कर्म-वा०) सुस्रुसेता (इच्छार्थक-अ० पु० ए० व०); अनुवतरं (अ० पु० ब० व०)।

असम्पन्न-परस्मैपद—अहो (< * अभोत -√भू०)।

सामान्य परस्मैपद—अयासु (< * अयासुः) अहुसु (सं० अभूत) अ० पु० ब० व०।

सम्पन्न-परस्मैपद—आहा (√भु—अ०. पु० ए० व०)।

भविष्यत्-परस्मैपद—लिखापयिसं (उ० पु० ए० व०); आञ्पयिसति (अ० पु० ए० व०), अनुसासिसंति (अ० पु० ब० व०)।

आत्मनेपद—अनुवतिसरे (अ० पु० ब० व०)।

कर्म-वाच्य, निर्देश—आरभरे (अ० पु० ब० व०); अनुज्ञा, अनुविधीयतां (अ० पु० ए० व०)। सामान्य—आरभिसु (अ० पु० ब० व०)। भविष्यत्—आरभिसरे—सुसुंसरे (अ० पु० ब० व०)।

आत्मनेपद—आरभरे-अनुविधियरे (अ० पु० ब० व०)।

वर्तमान-कालिक-कृदन्त, परस्मैपद – संत, करु-करु। आत्मनेपद—भुंजमान।

भूतकालिक—कृदन्त—कर्मवाच्य—मत्त, प्रसंन, लध।

भविष्यत्—कृदन्त—कर्मवाच्य—कतव्य, सक, कच।

असमापिका—क्रिया-पदों में—'तु', तवे' (< - तवै), 'त्वा' एवं—'य' प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है; यथा—आरभंतु, छमितवे; सह्याय (< √'स्हा'—), आलोचेत्पा।

प्राच्य-भाषा—

स्वर-परिवर्तन—

(i) ऋ > अ, इ, उ (ओष्ठ्य-ध्वनियों के सम्पर्क में); यथा—कृत > कट; आनृण्य > आननिय; मृग > मिग; ईदृश > एदिस; वृक्ष > लुख; वृद्धि > बुढि (वढि भी), पितृ-पिति- पितु।

(ii) ऐ – अयि > ए; औ > ओ; यथा,—तवै > —तवे; उज्जयिनी > उजेनि; पौत्र > पोत।

(iii) अ>-इ-ऊ; यथा, मध्यम> मज्झिम; त्वरण> तूलना; त्वरा> तुला; मनुष> मुनिस; उच्चावच> उचावुच। पद के प्रारम्भ में 'अ' का लोप 'पि' (<अपि) में दिखाई देता है। 'हकं' (<अहकम) 'अ' के लोप का अन्य उदाहरण है। पदान्त अ> आ; यथा, समया< सम्यक्; आहा< आह्। अः> ए; यथा, जने< जनः; पिये< प्रियः।

(iv) उपसर्ग अथवा प्रत्यय में प्रायः इ> ई; यथा, अभीकाल< अभिकार; ठितीक< स्थितिक। 'ति' (<इति) में प्रारम्भिक 'इ' का लोप हो गया है। इ> ए; यथा, हेता-एत <*इत्र।

(v) उ> अ, इ तथा (विभक्ति-प्रत्ययों से पूर्व) ऊ; यथा, पुनः> पन; मनुष> मुनिस; बहुभिः> बहूहि; बहुषु> बहूसु। पदान्त विसर्ग के लोप से भी उ> ऊ, यथा, साधू< साधुः, वसेयू <वसेयुः।

(vi) कहीं-कहीं प्रथमा अथवा तृतीया एकवचन के रूप में, तथा पदान्त —'म्' से पूर्व अथवा पदान्त विसर्ग के लोप से आ> अ; यथा, लाज< राजा; भूतानं< भूतानाम्; पुत< पुत्राः। संयुक्त-व्यञ्जन से पूर्व भी आ> अ; यथा, आत्ययिक> अतिययिक; ताम्रपर्णी> तंबपंणी; कीर्ति> किति। ई> ए; यथा, ईदृश> हेदिस। ऊ> उ (संयुक्त-व्यञ्जन से पहिले) यथा, पूर्व> पुलुव।

(vii) भ्> ह्—; यथा, होति (<भवति); होतु (<भवतु)। 'य्'—का लोप; यथा, अत< यत्र; अथा< यथा, आवा-अवं <यावत्; आदिस< यादृश। 'र्' का सभी स्थितियों में 'ल्' हो जाता है; यथा, लाजुक <*रज्जुक; लाजा< राजा; पुलुवं< पूर्वम्; मजुला< मयूराः। 'श्, ष्'> 'स्'; यथा, श्रावक> सावक; शुश्रूषा> सुसूसा;—दृश> दस; मनुष> मनुस। स्वर से प्रारम्भ होने वाले पद से पूर्व 'ह' का योग; यथा, हेदिस <ईदृश; हेता <*इत्र।

—क्—>ग्; यथा—लोक> लोग; अधिकृत्य> अधिगिच्य —ज्—>—च्—; यथा, कम्बोज> कम्बोच; व्रज> वच।—क्—तथा —ग—>—य्—(केवल प्रत्ययों में); यथा अनायुक्तिक>अनावुतिय; अर्धत्रिक>अधातिय। —ध्—>—द्—; यथा, हिद <*हिध <*इध।—य्—>—ज्—, केवल—मजूला <मयूराः में।

तालव्यीकरण—'इ' का समीपवर्ती—त्>च्; यथा, तिष्ठ>चिठ।

—द्—>—ज्—तथा—ध्—>—झ्; यथा, अद्य>अज; मध्यम>मज्झिम। श्>च्, यथा—√शक्>चक।

मूर्धन्यीकरण—त्, थ्, द्, ध्>ट्, ठ्, ड्, ढ्; यथा, कृत>कट; भृत>भट; कर्तव्य>कटव; कीर्ति>किटि; प्रति>पटि; अर्थ>अठ; स्थितिक>ठितीक; वृद्ध>वुढ; वर्ध>वढ।

र्+स्पर्श-व्यञ्जन अथवा स्पर्श-व्यञ्जन+र्>स्पर्श-व्यञ्जन; यथा, वर्ग>वग; स्वर्ग>स्वग; गर्भागार>गभागार; व्रज>वच; अग्र>अग; त्रीणि>तिनि या तिंनि; पुत्र>पुत; तत्र>तत; प्रजा>पजा; प्राण>पान; ब्राह्मण>बाभन; भ्रातृ>भत इत्यादि। ऊष्म-व्यञ्जन+स्पर्श-व्यञ्जन>स्पर्श-व्यञ्जन; यथा, हस्तिन्>हथि; स्कंध>कंध। स्पर्श-व्यञ्जन अथवा र्+य् के बीच में स्वरागम; यथा, शक्य>सकिय; मुख्य>मोखिय; इभ्य>इभिय; माधुर्य>माधुलिय। ल्य्—>—य्; यथा; कल्याण>कयान। —व्य्—>—विय्—; यथा, व्यञ्जन>वियंजन; कर्तव्य>कटविय। —ष्य—>—स्; यथा, ईर्ष्या>इस। ऊष्म-व्यञ्जन+र् अथवा र्+ऊष्म-व्यञ्जन>ऊष्म-व्यञ्जन; यथा, सहस्र>सहस; परिश्रव>पलिसव; दर्शन>दसन। स्पर्श-व्यञ्जन+व्>(पद के प्रारम्भ में) मध्य में स्वरागम, (अन्यत्र) व्; यथा, द्वि>दुवे; सर्व>सव, पूर्व>पुलुव।

ज्ञ्>न्; यथा, ज्ञाति>नाति; राज्ञा>लाजिना। ण्य्-न्य्>न; यथा, हिरण्य>हिलंन; अन्य>अंन; मन्य>मन। त्म्>त्; यथा, आत्मा अत। स्म>स् अथवा स्म्; यथा, स्मिन्>—सि, अकस्मात्>अकस्मा, म्र>म्ब; यथा, ताम्र—>—तंब।

शब्द एवं धातु-रूपों में सरलीकरण की प्रवृत्ति प्राच्यभाषा में भी अन्य जन-भाषाओं के समान दृष्टिगोचर होती है। पुंलिंग अकारान्त शब्दों में एक-वचन प्रथमा-विभक्ति में—'ए' प्रत्यय, यथा, जने, द्वितीया में—'अं', यथा, धंमं (<धर्मम्), तृतीया में—'एन', यथा, खुदकेन, चतुर्थी में—'ये' यथा, अठाये (<अर्थाय), पञ्चमी में—'आ', यथा, 'अनुबधा', षष्ठी में—'स', यथा, जनस, तथा सप्तमी में—'सि', यथा, अठसि, और बहुवचन प्रथमा में—'आ' यथा, 'पुता', द्वितीया में—'आनि' कंधानि, तृतीया तथा चतुर्थी में—'एहि', यथा, 'जातेहि', 'समनेहि' (<श्रमणैः, श्रमणेभ्यः), षष्ठी में—'नं', यथा, पानानं (<प्राणानाम्) तथा सप्तमी में—'सु', यथा, वसेसु (<वर्षेषु) प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है।

नपुंसकलिङ्ग 'अकारान्त' शब्दों में, एकवचन प्रथमा में—'ए'; यथा, दाने और द्वितीया में 'अं'; यथा, मंगलं और बहुवचन प्रथमा-द्वितीया में—'आनि'; यथा, 'वसानि' (सं० वर्षाणि) प्रत्यय मिलते हैं।

स्त्रीलिङ्ग अकारान्त शब्दों में, एकवचन प्रथमा में—'आ', यथा, पजा< प्रजा (कहीं-कहीं 'आ' ह्रस्व हो गया है; यथा, इछ'), तृतीया में —'या'; यथा, इसाया, तथा सप्तमी में—'यं' (कहीं-कहीं 'ये' तथा अनुस्वार-लोप से –'य'); यथा, समापायं (पाजाये, संतिलनाय) प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है। इकारान्त प्रातिपदिकों के एकवचन, चतुर्थी में—'ये', यथा; वढिये, सप्तमी में—'यं' तथा, 'ये'; यथा, पुथवियं, आयतिये और बहुवचन प्रथमा में—'ई'; यथा 'इथी' उल्लेखनीय हैं।

सर्वनाम-शब्दों में, उत्तमपुरुष एकवचन प्रथमा 'हकं' (<*अहकम्), तृतीया 'मह्या—मे—ममाये-ममियाये', पञ्चमी, ममते, षष्ठी, मम ममा और बहुवचन प्रथमा, मये, द्वितीया—अफे-अफेनि, षष्ठी, ने-अफाका, सप्तमी —अफेसू अनुलक्षणीय हैं। 'अफ' प्रातिपदिक अशोक-अभिलेख की भाषा की विशेषता है।

मध्यम पुरुष सर्वनाम का प्रातिपदिक-रूप प्रायः 'तुफ-' है। इसके रूप इसप्रकार हैं—बहुवचन-प्रथमा-'तुफे', द्वितीया-तुफेनि, तृतीया-फेहि, चतुर्थी-वे (<वः), षष्ठी-तुफाक-तुफाकं-तुपक, सप्तमी-तुफेसु।

धातु-रूपों में कहीं कहीं आत्मनेपद का रूप भी मिल जाता है। अन्य प्रवृत्तियाँ काल-सामान्य हैं। काल एवं भावों के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

वर्तमान-निर्देश-परस्मैपद—पलकमामि (उ० पु० ए० व०), इछति (अ० पु० ए० व०), इछन्ति-कलेति (अ० पु० ब० व०)। आत्मनेपद—मंनते (अ० पु० ए० व०)।

वर्तमान-अभिप्राय, परस्मैपद—सुखायामि (उ० पु० ए० व०), निखमावू (अ० पु० ब० व०)।

विधि-परस्मैपद—येहं (उ० पु० ए० व०), दखेया—सिया-उगछ (अ० पु० ए० व०); गछेम (उ० पु० ब० व०), चलेवु (अ० पु० ब० व०)।

अनुज्ञा-परस्मैपद—होतु (अ० पु० ए० व०), देखेथ (म० पु० ब० व०), युजंतु (अ० पु० ब० व०)।

सामान्य-परस्मैपद—निखमि (अ० पु० ए० व०), निखमिसु (अ० पु० ब० व०)। सामान्य अभिप्राय, अलोचयिसु-(अ० पु० ब० व०)।

सम्पन्न-परस्मैपद, आहा (अ० पु० ए० व०)।

भविष्यत्-परस्मैपद-कोसामि (उ० पु० ए० व०), खमिसति-करूति (अ० पु० ए० व०), एसथ-गहथ (म० पु० ब० व०), निखमिसंति-कछंति (अ० पु० ब० व०)

कर्मवाच्य,—निर्देश, आलभियंति (अ० पु० ब० व०) विधि—युजेमु-युजेवु (अ० पु० ब० व०)।

कृदन्त; वर्तमानका०—संत (परस्मैपद), अदमान (आत्मने०)। भूतका० —मत, कट, सुद, उविगिन। भविष्यत् का०—कटविय, संचलितव्य, अस्वासनिय, सकिय।

असमापिका-क्रिया-पद, खमितवे, कतु।

अशोक के प्राच्य-अभिलेखों में ऊष्म-व्यञ्जन 'श्' का प्रयोग नहीं हुआ है। यह हम अन्यत्र लिख चुके हैं कि मगध की बोली में श्, ष्, स्' इन तीनों ऊष्म-व्यञ्जनों के स्थान पर 'श्' व्यञ्जन का प्रयोग होता था, परन्तु यह प्रवृत्ति जन-साधारण तक ही सीमित प्रतीत होती है। पाटलिपुत्र की राजसभा की शिष्ट भाषा ने 'श्' का प्रयोग न अपनाकर 'स्' ही रहने दिया। इसलिए अशोक के प्राच्य-अभिलेखों में 'श्' दिखाई नहीं पड़ता। लेकिन मिर्जापुर जिले के रामगढ़ पर्वत के जोगीमारा गुफा में एक छोटा सा अभिलेख मिला है। इसमें प्राच्य-भाषा की अन्य विशेषताओं के साथ 'श्, ष्, स्' ऊष्म-व्यञ्जनों के स्थान पर 'श्' का प्रयोग हुआ है। इस अभिलेख की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

'शुतनूक नम देवदशिकि। तं कमयिथ वलनशेये देवदिने नम लूपदखे।'

संस्कृत में इसका अनुवाद यह होगा, "सुतनूका नाम देवदासिका तां अकामयिष्ट वाराणसेयः देवदत्तः नाम रूपदक्षः।"*

इस अभिलेख के प्रथम शब्द 'शुतनूका' पर इसका नाम 'सुतनूका' अभिलेख पड़ गया है। 'स्, ष्' के स्थान पर 'श्' (यथा—शुतनूक, दशिकि, वलनशेये) के अतिरिक्त इसमें 'र्' के स्थान पर 'ल्' (यथा—वलनशेये < वाराणसेयः, लूपदखे < रूपदक्षः), तथा पुलिङ्ग कर्ताकारक एकवचन का एकारान्त रूप (वलनशेये; लूपदखे), प्राच्य-भाषा की विशेषताओं को स्पष्ट कर

---

* हिंदी अनुवाद—'सुतनूका नामक देवदासी—वाराणसी के देवदत्त नामक रूपदक्ष (सौंदर्य-पारखी) ने उसकी कामना की।'

देते हैं। इसलिए—इतना लघु होने पर भी इतिहास की दृष्टि से इसका इतना महत्त्व है।

ईसा-पूर्व काल के, दो अन्य प्राकृत अभिलेख, प्रस्तुत प्रसंग में उल्लेखनीय हैं—कलिङ्गराज खारवेल का हाथीगुम्फाअभिलेख और यवन-राजदूत भागवत हिलिओदोरस (Heliodoros) का बेसनगर-अभिलेख। हाथीगुम्फा-अभिलेख के संशोधित पाठ की कुछ पंक्तियां ये हैं—

'नमो अरहन्तानं नमो सव्वसिद्धानं। अइरेन महाराजेन महामेघवाहनेन चेतिराजवंसवद्धनेन प्रसथसुभलक्खणेन चतुरन्तलुठनगुण उपेतेन कलिङ्गाधिपतिना सिरि-खारवेलेन पन्दरस वस्सानि सिरिकळारसरीरवता कीळिता कुमारकीळिका। ततो लेखरूपगणना-ववहारविधि विसारदेन सव्वविज्जावदातेन नव वस्सानि योवरज्जं पसासितं। सम्पुण्णचतुवीसतिवस्सो तदानि वद्धमानसेसयोवनाभिविजयो ततिये कलिङ्गराजवंसे पुरिसयुगे महाराजाभिसेचनं पापुनाति।

संस्कृत-प्रतिरूप—

'नमः अर्हतां, नमः सर्वसिद्धानाम्। ऐलेन महाराजेन महामेघवाहनेन चेदिराजवंशवर्द्धनेन प्रशस्तशुभलक्षणेन चतुरन्तलुण्ठनगुणोपेतेन कलिङ्गाधिपतिना श्रीखारवेलेन पञ्चदश वर्षाणि श्रीकडारशरीरवता क्रीडिताः कुमारक्रीडिकाः। ततः लेखरूपगणना विधिविशारदेन सर्वविद्यावदातेन नववर्षाणि यौवराज्यं प्रशासितम्। सम्पूर्णचतुर्विंशतिवर्षः तदानीं वर्द्धमानशेषयौवनाभिविजयः तृतीये कलिङ्गराजवंशे पुरुषयुगे महाराजाभिषेचनं प्राप्नाति (प्राप्नोति)।'*

पालि के साथ इस अभिलेख की भाषा का साम्य सुस्पष्ट है। इसके

*हिन्दी अनुवाद—अर्हतों को नमस्कार। सभी सिद्धों को नमस्कार। कलिङ्गाधिपति श्री खारवेल वीर महीपति महा मेघवाहन, चेदि राजवंश शिरोमणि ने, जो प्रशंसित और शुभ लक्षणों से युक्त था तथा चारों दिशाओं को लूटपाट करने के गुणों से समलंकृत था, श्री कटार के जैसे शरीर से पन्द्रह वर्ष तक राज क्रीड़ा की। इसके उपरान्त उन लेखरूप (सिक्के?) गणना और व्यवहार विधि में कुशल और सब विद्याओं में पारंगत कुमार ने नौ वर्ष तक युवराज के रूप में शासन किया। तब बढ़ते हुए शैशव के अनन्तर चौबीस वर्ष की यौवनावस्था में कलिङ्ग राजवंश की तीसरी पीढ़ी में महाराज के पद पर अभिषिक्त हुआ।

अतिरिक्त संस्कृत की गम्भीर-शैली का प्रभाव भी अनुलक्षणीय है। वेसनगर-अभिलेख में भी संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है। यवन-राज अन्तिअलिखित (Antialkidas) के राजदूत हिलिओदोरस ने भगवान् वासुदेव के नामपर एक गरुड़ध्वज का वेसनगर में निर्माण कराया था। इस पर ये पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं—

'देवदेवस वासुदेवस गरूड़ध्वजे अयं कारिते इअ हेलिउदोरेण भागवतेन दियस पुत्रेण तखसिलाकेन योनदूतेन आगतेन महाराजस अंतलिकिसन उपन्ता सकासं रञो कासीपुतस भागभद्रस त्रातारस वसेन चतुदसेन राजन वधमानस।'

इसका संस्कृत प्रतिरूप यह होगा—

'देवदेवस्य वासुदेवस्य गरुडध्वजः अयं कारितः इह हेलिउदोरेण भागवतेन दियस्य पुत्रेण तक्षशिलाकेन यवनदूतेन आगतेन महाराजस्य अन्तलिखितस्य उपान्तात् सकाशं राज्ञः काशीपुत्रस्य भागभद्रस्य त्रातारस्य (= त्रातुः) वर्षेण चतुर्दशेन राज्येन वर्धमानस्य।' *

इस अभिलेख की भाषा का पालि से साम्य स्पष्ट है। इन दोनों अभिलेखों से विदित होता है कि धीरे-धीरे संस्कृत का प्रभाव पुनः बढ़ने लगा था। बुद्ध एवं अशोक के प्रयत्नों से लोक-भाषाओं का सार्वजनिक एवं राजकीय कार्यों में व्यवहार बढ़ा था। परन्तु कालक्रम के साथ लोक-भाषाओं में स्थानीय-विशेषताएँ एवं परिवर्तन इतने बढ़ गए थे कि एक जनपद के निवासी के लिए अन्य जनपद की भाषा को समझ सकना सरल न रह गया। अतः शिष्ट-समाज की भाषा संस्कृत ही राजकीय-व्यवहार एवं विभिन्न-जनपदों में पारस्परिक विचार-विनिमय का माध्यम बन गई। यही कारण है कि ईसा की बाद की शताब्दियों के अभिलेख संस्कृत में उपलब्ध होते हैं।

मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के संक्रान्ति-काल (२०० ई० पू० ३०० ई०) में एक नवीन-परिवर्तन ने भाषाओं के स्वरूप में प्रवेश किया। स्वरमध्यग-अघोष-स्पर्श-व्यञ्जनों के स्थान पर सघोष-व्यञ्जनों का व्यवहार होने लगा। इस-

---

*महाराज अन्तिअलिखित के समीप से, चौदह वर्ष के राज्य से वर्धमान, शरणागत पालक, काशीपुत्र राजा भागभद्र के पास आए हुए, दियेक पुत्र तक्षशिला-निवासी, यवनदूत भागवत, हिलिओदोरस ने देवाधिदेव वासुदेव के इस गरुड़ध्वज का यहाँ (वेसनगर) में 'निर्माण' कराया।

प्रकार, क-ख, ट-ठ, त-थ, प-फ क्रमशः ग-घ, -ड-ढ, द-ध, ब-भ हो गये और तब ड-ढ को छोड़ ये अन्य व्यञ्जन, प्राण-ध्वनि-युक्त हो गये; यथा—सरत> सरद>* सर.द; एक>एग>* एग़; शुक> सुक> सुग़>सुअ ।

संक्रान्ति-कालीन-मध्य-आर्य-भाषा के अध्ययन की सामग्री, मध्य-एशिया में, आधुनिक खोजों से प्राप्त हुई है। यहाँ अश्वघोष (१००-२०० ई०) के दो संस्कृत-नाटकों को खण्डित-प्रतियाँ मिली हैं। लूडर्स महोदय ने इनका सम्पादन किया है। इन नाटकों में जिस प्राकृत का प्रयोग किया गया है, उससे इस संक्रान्ति-काल की भाषा का कुछ परिचय मिलता है। इन नाटकों के अतिरिक्त 'धम्मपद' का प्राकृत-संस्करण भी उलब्ध हुआ है। सर आरेलस्टेन महोदय की खोजों के परिणाम-स्वरूप मध्य-एशिया के शान-शान राज्य के राजकीय-पत्र प्राप्त हुए हैं। इनकी भाषा तत्कालीन प्राकृत की एक शाखा है। निय नामक स्थान में इसकी अधिकांश सामग्री प्राप्त होने के कारण इस प्राकृत को 'निय-प्राकृत' के नाम से अभिहित किया गया है।

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

अश्वघोष के नाटकों में तीन प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग हुआ है—(१) दुष्ट की भाषा, (२) गणिका एवं विदूषक की भाषा और (३) गोभम की भाषा। इन विभिन्न प्राकृतों का स्वरूप अशोक के अभिलेखों में प्रयुक्त प्राकृतों जैसा ही है। साहित्यिकरचना होने के कारण इन पर संस्कृत का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। इनमें स्वरमध्यग अघोष-स्पर्श-व्यंजन के स्थान पर सघोष-व्यंजन के प्रयोग का केवल एक उदाहरण 'सुरद' (<सुरत) मिलता है। इन नाटकों का रचना-काल ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी माना जाता है।

'दुष्ट' के मुख में नाटककार ने जो भाषा रखी है, उसमें प्राचीन-मागधी की सभी विशेषताएँ हैं। इसमें 'र्' के स्थान पर 'ल्' का प्रयोग किया गया है, यथा—कालना < कारणात्; 'ष्, स्' के स्थान पर 'श्' का व्यवहार हुआ है; यथा—किश्श <* किष्य (<कस्य); और 'अ' एवं 'ओ' का स्थान 'ए' ने ग्रहण किया है; यथा—वुत्ते < वृत्तः ; कलेमि < करोमि। प्राचीन-मागधी के समान इस प्राकृत में भी 'अहम्' का प्रतिरूप 'अहकं' हो गया है और सम्बन्ध-कारक एकवचन का रूप 'ह्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है; यथा—'मक्कटह्' < मर्कटस्य।

गणिका एवं विदूषक की बोली प्राचीन-शौरसेनी के सदृश है। पालि से

इसकी समानता स्पष्ट है। अतः इसमें हमें मध्य-देश की बोली के मध्य-कालीन स्वरूप के दर्शन होते हैं। 'ऋ' के स्थान पर इसमें 'इ' आया है; यथा—हिदयेन < हृदयेन; पदान्त के 'अः' के स्थान पर 'ओ' का प्रयोग हुआ है; यथा—दुक्करो < दुष्करः; 'न्य्' एवं 'ज्ञ्' का परिवर्तन 'ञ्ञ्' के रूप में हुआ है; यथा—हञ्ञन्तु < हन्यन्तु; अकितञ्ञ < अकृतज्ञ; 'व्य' का 'व्व'; यथा—धारयितव्वो < धारयितव्यो तथा 'क्ष्' का 'क्ख'; यथा—पेक्खामि < प्रेक्षामि; सक्खी < साक्षी, हो गया है। वर्तमान-कालिक-कृदन्त-प्रत्यय 'मान' का प्रयोग हुआ है; यथा—भुञ्जमानो, इत्यादि। इनके अतिरिक्त कुछ विचित्र-रूप भी इस प्राकृत में मिलते हैं; यथा—तुवब < त्वम् (प्राचीन-ईरानी 'तुवम्'); इमस्स <* इमस्य (=अस्य); कहिं< * कधिम्; करोथ (=कुरुथ); भवाम् < भवान्; करिय (=कृत्वा)।

गोभम् द्वारा प्रयुक्त प्राकृत को लूडर्स महोदय ने अर्धमागधी का प्राचीनरूप माना है। इसमें 'र्' के स्थान पर 'ल्' तथा 'अः' के स्थान पर 'ए' आया है, परन्तु 'श्' का प्रयोग नहीं हुआ है। उदाहरण यह है—'भट्टिदालके' < भर्तृदारिके।

निय-प्राकृत

मध्य-एशिया के, प्राचीन शान-शान राज्य में, खरोष्ठी-लिपि में लिखे हुए जो पत्र सर ऑरेल स्टेन की खोजों से प्रकाश में आए हैं, वे ईसा की तीसरी शताब्दी के हैं। इनकी भाषा मूलतः भारत के उत्तर-पश्चिम-अञ्चल की भाषा है (जिसका परिचय अशोक के शाहबाज़गढ़ी एवं मानसेरा अभिलेखों में मिलता है) परन्तु पड़ोसी ईरानी, तुखारी, मंगोल आदि भाषाओं से भी यह प्रभावित हुई है। प्राकृत-धम्मपद की भाषा का भी यही स्वरूप है। परन्तु साहित्यिक-रचना होने के कारण इसमें अधिक प्राचीन-रूप स्थान पा सके हैं। निय-प्राकृत की कुछ मुख्य विशेषताएँ ये हैं। खरोष्ठी-लिपि में लिखे जाने के कारण इसमें दीर्घ-स्वरों के स्थान पर ह्रस्व-स्वर एवं संयुक्त-व्यंजनों में से केवल एक व्यंजन ही लिखा गया है।

(१) तत्सम एवं अर्द्ध-तत्सम शब्दों में 'अय्', 'अव्' अविकृत हैं और उनके स्थान पर 'ए' 'ओ' का प्रयोग नहीं हुआ है; यथा—जयंत, अवश < अवश्यम् इत्यादि।

(२) साधारणतया पदान्त के —य, —या — ये > इ; यथा—मुलि <

मूल्यम; अरोगि<आरोग्यम् ; भमणइ<भावनायाम्; समदि<समादाय; भवइ<भावयेः; एश्वरि<ऐश्वर्य इत्यादि।

(३) 'ऋ' का प्रतिरूप प्रायः 'रि' हो गया है, परन्तु कहीं-कहीं इसके स्थान पर 'अ' 'इ' 'उ' का प्रयोग भी हुआ है; यथा—क्रित – क्रिड<कृत; पहुद<प्राभृत; प्रगटा<प्रकृत।

(४) 'ए' प्रायः 'इ' हो गया है; यथा छित्र<क्षेत्र; तिन<तेन; इमि< इमे; उवितो<उपेतः।

(५) स्वर-मध्यगस्पर्श, ऊष्म एवं संघर्षी-व्यञ्जन बहुधा सघोष हो गए हैं और कहीं कहीं उनका तिरोभाव होकर 'अ' अथवा '–ह्' ने उनका स्थान ले लिया है—यथा – यध<यथा; सदिइ<सन्तिके; त्वय<त्वचा; धम्मिहो<धार्मिकः; रोअनेड < रोगनीड; पढम<प्रथम; अवगज< अवकाश; दभ<दास; गोयरि<गोचरे।

(६) कहीं-कहीं सघोष-व्यञ्जन के स्थान पर अघोष-व्यञ्जन भी मिलता है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि 'शान-शान' की स्थानीय बोली में सघोष-व्यञ्जनन थे। उदाहरण ये हैं—विरकु<विरागः; समकत<समागतः; विकय <विगाह्य; योकक्षेमस<योगक्षेमः; क्लिने<ग्लानः, तण्ट<दण्ड;पोग< भोग; पलिप<बलि इत्यादि।

पड़ोसी अनार्य-बोलियों के प्रभाव के कारण ही कहीं-कहीं अघोष-स्पर्श-व्यञ्जनों के स्थान पर सघोष-व्यञ्जनों का प्रयोग भी हो गया है; यथा देन<तेन; दनु<तनु; और सम्भवतः इसीकारण से कहीं-कहीं प्राण-ध्वनि का लोप भी हो गया है; यथा गस<घास; सद<सध; बूम<भूमि।

(७) 'श्, ष्, स्' ये तीनों ऊष्म-व्यञ्जन यहाँ सुरक्षित रहे, परन्तु दन्त्य 'स्' के प्रयोग की ओर अधिक झुकाव पाया जाता है। सघोष-ऊष्म-ध्वनि 'ज़' भी प्रयुक्त हुई है।

(८) 'व्' कहीं-कहीं 'म' में परिवर्तित हो गया है; यथा, नम <नावम; भमन <भावना; एम <एवम् ; चिमर <चीवर।

(९) पदान्त 'अः' के स्थान में 'ओ' हो गया है और 'ओ' भी प्रायः 'उ' में परिवर्तित हो गया है—यथा, पनितो, पनितु<पण्डितः। कहीं-कहीं 'अः' के स्थान पर 'ए' भी मिलता है; यथा, से<सः, तदे<ततः। परन्तु

अकारान्त-शब्दों के कर्ताकारक एकवचन के रूप में, विसर्ग का लोप हो गया है; यथा, मनुश<मनुष्यः ।

(१०) 'र्' एवं 'ल्' वाले संयुक्त-व्यञ्जन साधारणतया अविकृत रहे; यथा, कर्तवो<कर्तव्यः; व्यग्र<व्याघ्रः; अल्प<अल्प ।

(११) जिन संयुक्त-व्यञ्जनों में दूसरा व्यञ्जन अनुनासिक था, वे भी प्रायः अविकृत रहे; यथा, तृष्णा<तृष्णाः; परन्तु—अपने<आत्मनेः अनति< आज्ञप्ति ।

(१२) जिन संयुक्त-व्यञ्जनों में पहिला व्यञ्जन अनुनासिक तथा दूसरा सघोष-स्पर्श था, उनमें सघोष-स्पर्श व्यञ्जन का अनुनासिक में तिरोभाव हो गया है; यथा, बंननए<बन्धनाय; भन<भंद; खन्न<खन्द ।

(१३) ऊष्म-व्यञ्जन-युक्त संयुक्त-व्यञ्जनों में ये विकार हुए हैं—

'श्'>'ष्'; यथा, षवक<श्रावक; मषु<श्मश्रु ।

श्व>श्प; यथा, अश्प<अश्व (प्रा० इरानी० अश्प);

भिश्खु<भिक्षु के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी 'क्ष' सुरक्षित है ।

ष्ट>ट (अथवा ठ), यथा; जेठ<ज्येष्ठ ।

श्च्, स्त्, स्प् अविकृत रहे; यथा, पश्चा<पश्चात्; कश्चि<कश्चित्; अस्ति<अस्ति, इत्यादि ।

कहीं-कहीं स्म्>स्व्, यथा; स्वति<स्मृति; अस्वि<अस्मिन् ।

(१४) 'क्र्', 'ग्र्', 'त्र्', 'द्र्', 'प्र्', 'ब्र्', 'भ्र्' अविकृत रहे; यथा, क्रोधण; ग्रधति; त्रिहि<त्रिभिः, भद्र<भद्रम्; प्रति, भ्रत इत्यादि । 'त्व्' भी अविकृत है; यथा, ञात्वा<ज्ञात्वा; त्वच<त्वचा; छित्वन<छित्वान

(१५) 'ध्' के स्थान पर कहीं-कहीं 'स्' अथवा 'ज' मिलता है; यथा, मसु<मधु; असिमत्र<अधिमात्र।

(१६) कर्मकारक एकवचन के रूप में '-म्' लुप्त हो गया है। कर्ताकारक एकवचन का रूप भी कर्मकारक के रूप के समान हो गया है; केवल -'तव्य' प्रत्ययान्त एवं कुछ अन्य विशेषणों के कर्ताकारक एकवचन में 'अस्' का 'ओ' हो गया है। कर्ता एवं कर्मकारक बहुवचन का रूप, सर्वनाम-शब्दों के सादृश्य पर -'ए' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। करणकारक एकवचन में 'एन' तथा बहुवचन में 'एहि' (<एभि) प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है। अपादान एकवचन में 'अदे' (<अ+तः) अथवा 'आदे' (<आत्+तः), तथा बहुवचन

में 'एहि' प्रत्यय लगाए गये हैं। सम्बन्ध-कारक एकवचन में 'अस' (<*'अ–सः' अथवा 'अस्य') एवं बहुवचन में 'अन'; अधिकरण एकवचन में प्रायः –'अम्मि', परन्तु कहीं-कहीं 'ए' (<'ए') और बहुवचन में—'एसु' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

द्वि-वचन केवल दो शब्द-रूपों में मिलता है। ये रूप हैं 'पदेभ्यम्' और 'पदेयो' (<पादयोः)। ये रूप प्राचीन-भाषा से लिए हुए जान पड़ते हैं।

(१७) निय-प्राकृत में सर्वनामों के निम्न-रूप उल्लेखनीय हैं—'अहु' (='अहम्'), 'तुओ' (='त्वम्'), 'मय' (करण एवं सम्ब० कारक) 'मम' (कर्ता एवं सम्ब० कारक)' 'महि' (='मह्यम'), 'तहि' (='तुभ्यम्'), 'तुस्य' (='तव'- कर्ताकारक में भी), 'अ(स्)मह्' (='अस्माकम्'), 'तु(स्) मह्' (तुष्माकम्), 'ते' (=तस्मिन्)।

(१८) समापिका (finite) क्रियाओं में सामान्य-वर्तमान एवं भविष्यत्, अनुज्ञा (imperative) वर्तमान एवं भविष्यत् तथा वर्तमान (optative) के के रूप मिलते हैं। उदाहरण ये हैं—

सामान्य-वर्तमान—लिखमि (=लिखामि), होति (=भवति) वहन्ति, श्रुयति (=श्रूयते)।

सामान्य-भविष्यत्—करिष्यमि (करिष्यामि),करिष्यति, करिष्यन्ति।

वर्तमान, अनुज्ञा—होतु (=भवतु), दव्यतु (=दीयताम्,)।

भविष्यत् अनुज्ञा—अगछिशतु (* आगच्छिष्यन्तु), करिष्यतु –।

वर्तमान–करेयसि करेयति (=कुर्यात्)' देयन्ति (=दद्युः)।

कर्मवाच्य कृदन्तीय (Passive Participle) के भूतकालिकरूप नियमित रूप से मिलते हैं। इनमें अन्य पुरुष एक वचन के रूप में कोई प्रत्यय नहीं लगाया गया है, परन्तु बहुवचन के 'अन्ति' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है और दूसरे रूपों में 'अस्' धातु के वर्तमान-काल के समान-पुरुष एवं वचन का रूप जोड़ा गया है। उदाहरण ये हैं—

उत्तम पुरुष ए० व०—अगतेमि (आगतोस्मि), श्रुतेमि (श्रुतोस्मि)। म० पु० ए० व०—'कृतेसि' (=कृतोसि)', दितेसि (=दत्तोसि)। अ० पु० ए० व०—किद (=कृतः); गिद (=गृहीतः)।

उ० पु० ब० व०—क्रिदम (=कृतास्म); श्रुतम (श्रुतस्म)। म० पु० ब० व०—इच्छिदेथ (=इच्छितः+स्थ) अ० पु० ब० व०—कितम्ति, गतम्ति, हुअम्ति।

अशोक के उत्तर-पश्चिम-प्रदेश के अभिलेखों की भाषा के समान निय-प्राकृत में भी 'त्वा' प्रत्यय के स्थान पर 'त्वि' का प्रयोग हुआ है: यथा—श्रुनिति (=श्रुत्वा), अप्रुछिति (अपृष्ट्वा)।

द्वितीय-पर्व—साहित्यिक-प्राकृतें

सामान्य-लक्षण

मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के संक्रान्ति काल में (ई० पू० २०० से २०० ई० तक) हम देख चुके हैं कि स्वरमध्यग-अघोष-स्पर्श-व्यञ्जन, सघोष होने लगे थे। ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में उच्चारण की इस प्रवृत्ति में अभिनव परिवर्तन प्रकट हुए, जिन्होंने मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा का रूप बहुत बदल दिया। स्वरमध्यग-सघोष-स्पर्श-व्यञ्जनों के उच्चारण में शिथिलता आ गई, जिससे वे ऊष्म-ध्वनि के समान बोले जाने लगे। यह स्थिति बहुत काल तक न बनी रही और कुछ समय पश्चात् शिथिलतापूर्वक उच्चरित ये सघोष-व्यञ्जन-ध्वनियाँ लुप्त होने लगीं। इस परिवर्तन से भाषा का स्वरूप इतना परिवर्तित हो गया कि वह पिछले-पर्व की भाषा से भिन्न प्रतीत होने लगी। मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के द्वितीय-पर्व का यह सर्वप्रधान लक्षण है। निम्न उदाहरणों से यह परिवर्तन-क्रम स्पष्ट हो जाएगा।

शुक>सुग>*सुग़>सुअ; सुख>सुघ>*सुघ़>सुह; हित>हिद>*हिद़>हिअ; कथा>कधा>*कध़ा>कहा; अपर>अवर>*अव़र>अअर।

सघोष-स्पर्श-व्यञ्जनों के इस शिथिल ऊष्म-उच्चारण को प्रकट करने के लिए लिपि में किसी नवीन चिह्न का प्रयोग न किया गया। इस प्रकार 'सुग़', 'हिद़' इत्यादि रूप 'सुग' 'हिद' ही लिखे जाते रहे। अतः लिखित-भाषा में यह परिवर्तन प्रकट न हुआ और उत्तर-कालीन-प्राकृत-वैयाकरणों ने समझ लिया कि अघोष-स्पर्श-व्यञ्जनों के घोषवत् उच्चारण तथा सघोष-व्यञ्जनों के लोप की प्रक्रिया समकालीन है। ऊष्मवत्-उच्चारण की स्थिति से परिचित न होने के कारण वह भाषा के क्रमिक-विकास को न समझ सके। यही कारण है कि उन्होंने भाषा के घोषवत्-उच्चारणयुक्तरूप को तथा सघोष-व्यञ्जनों के लोप से परिवर्तित स्वरूप को एक ही कालक्रम में रखकर विभिन्न नामों से अभिहित किया। परिवर्तन की प्रथम स्थिति में वर्तमान-भाषा को उन्होंने 'शौरसेनी' तथा अन्तिम-स्थिति में वर्तमान भाषा को 'महाराष्ट्री' संज्ञा दी। परन्तु वास्तव में शौरसेनी एवं महाराष्ट्री एक ही भाषा के आगे-पीछे के रूप हैं। इसका विवेचन आगे यथा-स्थान किया जायगा।

व्यञ्जन-ध्वनियों में इस क्रान्ति-कारी-परिवर्तन के साथ-साथ शब्द एवं धातु-रूपों के सरलीकरण की प्रक्रिया भी प्रगतिशील रही। शब्द-रूपों की भिन्नताएँ बहुत-कुछ प्रथम-पर्व में ही समाप्त हो चुकी थीं। द्वितीय-पर्व में अवशिष्ट रूप-भेद भी लुप्त हो गए और सभी शब्दों के रूप अकारान्त शब्द के समान निष्पन्न होने लगे। कारकों की संख्या भी कम हो गई। सम्प्रदान एवं सम्बन्ध कारक के रूप समान हो गए। कर्ता एवं कर्म-कारक बहुवचन का काम एक ही रूप से लिया जाने लगा। द्विवचन प्रथम-पर्व में ही समाप्त हो चुका था। धातु-रूपों में आत्मनेपद के इक्के-दुक्के रूप ही बच रहे और वह भी अपने मूल अर्थ को छोड़कर। लङ्, लिट् तथा विविध-प्रकार के लुङ् रूप समाप्त हो गए। कारक एवं क्रिया का सम्बन्ध प्रकट करने के लिए संज्ञा-शब्द के साथ कारकाव्यय एवं कृदन्त-रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति चल पड़ी। इसप्रकार 'रामाय दत्तम्' न कहकर 'रामाय कए (कृते) दत्तम्' अथवा 'रामस्स कए दत्तम्' तथा 'रामस्य गृहम् न कहकर 'रामस्स केरक (कार्यक) घरम्' कहा जाने लगा। यही कारकाव्यय आगे चलकर आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषा में अनुसर्ग या परसर्ग बने। इसप्रकार भारतीय-आर्य-भाषा विश्लेषणात्मक (Analytic) बनने लगी। मध्य-काल के द्वितीय-पर्व तक आते-आते प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा की शब्द एवं धातु-रूपों की विविधता एवं सम्पन्नता समाप्तप्राय हो गई। परन्तु अब भी भाषा का रूप इस सीमा तक नहीं बदला कि जन-सामान्य के लिए संस्कृत सर्वथा दुर्बोध हो जाए। संस्कृत-नाटकों में विविध-प्राकृतों के प्रयोग की प्रथा से प्रतीत होता है कि संस्कृत, जन-सामान्य के लिए अभी भी बहुत-कुछ बोधगम्य थी।

जिसप्रकार प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा को साधारणतया 'संस्कृत' कह दिया जाता है, उसीप्रकार मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के लिए 'प्राकृत' शब्द का व्यवहार किया जाता है। 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रकृति' (जन-साधारण) से है; अतः 'प्राकृत' का अर्थ हुआ जन-साधारण की भाषा। शिष्ट-समाज की भाषा—संस्कृत—से भेद प्रकट करने के लिए जन-सामान्य की भाषा को 'प्राकृत' संज्ञा दी गई। उत्तरकालीन-प्राकृत-वैयाकरण 'पालि' से परिचित न थे और अशोक के अभिलेखों तथा अन्य-अभिलेखों की भाषा भी उनके सामने न थी। अतः उन्होंने इन पर विचार न किया। संस्कृत-नाटकों में प्रयुक्त तथा कुछ काव्य-ग्रन्थों एवं जैनों के धार्मिक-ग्रंथों में व्यवहृत प्राकृत पर ही इन वैयाकरणों ने विचार किया। अतः 'प्राकृत' शब्द जैन-आगमों की 'आर्षी' अथवा 'अर्धमागधी' तथा अन्य-साहित्यिक-रचनाओं की 'मागधी',

'शौरसेनी' 'महाराष्ट्री' तथा 'पैशाची' बोलियों के अर्थ में रूढ़ हो गया। मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के द्वितीय-पर्व के अध्ययन की सामग्री हमें इन्हीं साहित्यिक एवं धार्मिक-ग्रंथों में उपलब्ध होती है।

प्राकृत-वैयाकरणों में सबसे पहिला नाम वररुचि का आता है। वररुचि ने 'प्राकृत' के चार भेद किए—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। जैन-आचार्य हेमचन्द्र (१२ वीं शताब्दी) ने 'आर्ष' (अर्धमागधी) एवं 'चूलिका-पैशाचिक' पर भी विचार किया है। प्राकृत-वैयाकरणों ने जिस भाषा का विवेचन किया है वह लोक-भाषा पर आधारित अवश्य थी, परन्तु संस्कृत के आदर्श पर चलकर कालान्तर में केवल साहित्यिक-रचनाओं की भाषा रह गई थी। इस रूप में, प्राकृतों का प्रयोग संस्कृत नाटककार, तेरहवीं शताब्दि तक करते रहे। इन प्राकृतों की अनेक शाखाएँ रही होंगी, परन्तु उनमें कोई साहित्यिक-रचना न होने के कारण, आज उनका पूरा परिचय नहीं मिलता। केवल यत्र-तत्र बिखरे हुए कुछ विशिष्ट शब्दरूपों से इसका अनुमान-मात्र किया जा सकता है। यहाँ पर हम प्राकृत-वैयाकरणों द्वारा उल्लिखित साहित्यिक-प्राकृतों की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

शौरसेनी

शौरसेनी-प्राकृत मूलतः शूरसेन-प्रदेश (मथुरा) की भाषा थी। संस्कृत-नाटकों में स्त्री-पात्र और विदूषक इसका प्रयोग करते हैं। मध्य-देश की भाषा होने के कारण यह संस्कृत के बहुत समीप रही और इस पर संस्कृत का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहा। शौरसेनी प्राकृत की निजी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) स्वर-मध्यग 'द्, ध्' (मूल तथा 'त्, थ्' के परिवर्तित-रूप-दोनों प्रकार के) सुरक्षित हैं। यथा, आगतः>आवदो; कथयत्>कधेदु; कृत>कद-किद

(२) क्ष>क्ख; यथा—कुक्षि>कुक्खि; इक्षु>इक्खु।

(३) संयुक्त-व्यञ्जनों में से एक का तिरोभाव कर पूर्ववर्ती-स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति शौरसेनी में अधिक नहीं मिलती।

(४) विधि प्रकार (optative) के रूप संस्कृत के समान बनते हैं, महाराष्ट्री एवं अर्ध-मागधी के समान इनमें—'एज्ज' प्रत्यय नहीं लगता। यथा—शौ० वट्टे (महा० एवं अ० मा० वट्टेज्ज)<वर्तेत।

(५) 'य' प्रत्यय का प्रतिरूप शौरसेनी में —'ईअ'—हो जाता है, यथा—पुच्छीअदि<पृच्छ्यति; गमीअदि<गम्यति।

मागधी

मागधी मूलतः मगध की भाषा है। संस्कृत-नाटकों में निम्न-श्रेणी के पात्र मागधी-प्राकृत बोलते हैं। प्राच्य-देश की लोक-भाषा होने के कारण यह वर्ण-विकार इत्यादि में अन्य लोक-भाषाओं से बहुत आगे रही। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) मागधी में 'र्' ध्वनि का सर्वथा अभाव है। 'र्' के स्थान पर सर्वत्र 'ल्' पाया जाता है; यथा राजा>लाजा; पुरुषः>पुलिशे (शौ० पुरिसो), समर>शमल।

(२) 'स्' 'ष्' के स्थान पर 'श्' का प्रयोग मागधी की एक प्रधान विशेषता है; यथा—शुष्क>शुश्क; समर>शमल।

(३) ज्>य् तथा झ्>य्ह; यथा जानाति>याणादि; जनपद>यणवद; जायते>यायदे, झटिति> य्हत्ति।

(४) द्य्, र्ज, र्य्>य्य; यथा—अद्य>अय्य;आर्य>अय्य; अर्जुन>अय्युण; कार्य>कय्य।

(५) ण्य्, न्य्, ज्ञ्, ञ्ज्>ञ्ञ्; यथा—पुण्य>पुञ्ञ; अन्य>अञ्ञ; राज्ञः>लञ्ञो; अञ्जलि> अञ्ञलि।

(६) जिन संयुक्त-व्यञ्जनों में प्रथम-व्यञ्जन ऊष्म होता है, उनमें वर्ण-विकार के अतिरिक्त समीकरण आदि अन्य परिवर्तन नहीं होते; यथा—शुष्क>शुश्क; हस्त> हश्त।

(७) च्छ>श्च; यथा—गच्छ> गश्च; पुच्छ>पुश्च।

(८) क्ष>श्क; यथा—पक्ष>पश्क, प्रेक्षते>प्रेश्कदि।

(९) शौरसेनी के समान मागधी में भी स्वरमध्यग 'द्' सुरक्षित रहा; यथा—भविष्यति>भविश्शदि।

(१०) कर्ताकारक एक वचन का प्रत्यय 'अः'>'ए'; यथा—सः>शे इत्यादि।

प्राकृत-वैयाकरणों ने मागधी की कुछ विकृतियों तथा विभाषाओं का उल्लेख किया है। चाण्डाली, तथा शाबरी मागधी की विकृतियाँ हैं और 'शाकारि' इसकी विभाषा प्रतीत होती है। 'शाकारी'—मागधी की विशेषताएँ ये हैं—

(१) 'च्' के स्थान में 'श्च्', यथा – श्चिष्ठ<*चिष्ठ< तिष्ठ ।

(२) सम्बन्धकारक एकवचन में 'अह' (आह) प्रत्यय; यथा – चालुदत्ताह<चारुदत्तस्य ।

(३) अधिकरण एकवचन में 'आहिं' प्रत्यय; यथा – पवहणाहिं< प्रवहणे ।

अर्ध-मागधी

अर्ध-मागधी काशी-कोशल प्रदेश की भाषा थी। जैन आचार्यों ने इस भाषा में शास्त्रों की रचना की। वह इसको 'आर्षी' कहते थे और आदि-भाषा मानते थे। संस्कृत-नाटकों में भी अर्ध-मागधी का प्रयोग होता था। मध्य-एशिया से प्राप्त अश्वघोष के संस्कृत-नाटक 'शारिपुत्रप्रकरण' में अर्ध-मागधी का व्यवहार हुआ है।

अर्ध-मागधी में, शौरसेनी एवं मागधी, दोनों के, लक्षण मिलते हैं। इसमें 'र्' एवं 'ल्' दोनों ही ध्वनियाँ विद्यमान हैं और प्रथमा एकवचन का रूप एका-रान्त (मागधी के समान) तथा ओकारान्त (शौरसेनी के समान), दोनों प्रकार का, उपलब्ध होता है। 'श्' तथा 'ष्' के स्थान पर इसमें 'स्' हो गया है और 'स्म' का प्रतिरूप 'ँस्' मिलता है; यथा लोकस्मिन्>लोकम्हि>लोयंसि; तस्मिन>तंसि। अर्ध-मागधी की एक प्रमुख विशेषता यह है कि स्वरमध्यग लुप्त स्पर्श-व्यञ्जनों का स्थान 'य्' ध्वनि ले लेती है। इसको 'य – श्रुति' कहते हैं। उदाहरण ये हैं—सागर>सायर; स्थित>ठिय; कृत>कय (हिंदी 'किया')। कहीं-कहीं स्वरमध्यग सघोष-स्पर्श-व्यञ्जन भी सुरक्षित हैं; यथा – लोगंसि<लोकस्मिन्। – 'स्स' – के स्थान पर यहाँ प्रायः ' – स् – ' रह गया है और पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो गया है; यथा—वास<वस्स<वर्ष। अन्य प्राकृतों की अपेक्षा अर्ध-मागधी में दन्त्य-व्यंजनों के मूर्धन्यादेश (Cerebrali-sation) की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। संस्कृत के पूर्वकालिक-क्रिया के प्रत्यय – 'त्वा' एवं – 'त्य' अर्धमागधी में – 'त्ता' एवं – 'चा' के रूप में सुरक्षित रहे। 'तुमुन्नन्त' शब्दों का व्यवहार अर्धमागधी में पूर्व-कालिक-क्रिया के समान किया गया; यथा काउँ<कर्तुम् का प्रयोग 'कृत्वा' के स्थान पर हुआ है।

जैन-आचार्यों ने महाराष्ट्री तथा शौरसेनी में भी शास्त्र-रचना की। परन्तु उनकी भाषा अर्ध-मागधी से बहुत प्रभावित रही। अतः इनको जैन-महा-राष्ट्री एवं जैन-शौरसेनी कहा गया।

महाराष्ट्री

साहित्यिक-प्राकृतों में महाराष्ट्री-प्राकृत सर्वाधिक विकसित है। प्राकृत-वैयाकरणों ने इसको आदर्श प्राकृत माना है और सबसे पहिले उन्होंने इसीका विवेचन किया और तब अन्य-प्राकृतों की विशेषताएँ बताई हैं। संस्कृत-नाटकों में प्राकृत-पद्य-रचना प्रायः महाराष्ट्री में ही हुई है। महाराष्ट्री-प्राकृत में महा-काव्य एवं खण्डकाव्यों की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। 'सेतुबन्ध' (रावणवहो अथवा दशमुह वहो) तथा 'गउडवहो' काव्य महाराष्ट्री में हैं तथा हाल की 'गाथा सत्तसई' की भाषा भी महाराष्ट्री-प्राकृत है।

महाराष्ट्री-प्राकृत की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इसमें स्वरमध्यग-स्पर्श-व्यंजनों का लोप हो गया है। इसप्रकार स्वरमध्यग क्, त्, प्, ग्, द्, ब्, पूर्णतया लुप्त हो गए हैं और ख्, थ्, फ्, घ्, ध्, भ् के स्थान पर केवल प्राण-ध्वनि 'ह्' बच रही है। अतः प्राकृत>पाउअ; प्राभृत>पाहुड; कथयति>कहेइ रूप महाराष्ट्री में मिलते हैं। यह मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के द्वितीय-पर्व के विकास की चरमावस्था है। शौरसेनी एवं महाराष्ट्री प्राकृत में प्रमुख भिन्नता इसी परिवर्तन में है। अन्यथा महाराष्ट्री-प्राकृत शौरसेनी से बहुत अधिक साम्य रखती है। निस्सन्देह महाराष्ट्री-प्राकृत आधुनिक-मराठी का पूर्वरूप है और शौरसेनी से सादृश्य होने के अतिरिक्त इसमें आधुनिक मराठी के शब्द-रूपों के पूर्व-रूप भी विद्यमान हैं। शौरसेनी एवं महाराष्ट्री में स्वरमध्यग व्यंजनों के विषय में इस भिन्नता का कारण यह भी हो सकता है कि किसी प्रदेश की भाषा में अन्य-प्रदेशों की भाषाओं की अपेक्षा परिवर्तन की गति अधिक तीव्र भी होती है। संभव है महाराष्ट्री में शौरसेनी की अपेक्षा परिवर्तन अधिक तीव्र गति से होता रहा हो। परन्तु इन सब समस्याओं का विवेचन कर श्री मनमोहन घोष इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वास्तव में महाराष्ट्री-प्राकृत शौरसेनी का विकसित रूप है। इन दोनों प्राकृतों में पहिले स्थानगत भेद न होकर कालगत भेद था। इसके बाद महाराष्ट्री-प्राकृत दक्षिण में पहुँची और काव्य-भाषा बन गई। वहाँ यह स्थानीय लोक-भाषा से भी प्रभावित हुई, जिसके कारण इसने अनेक मराठी-रूप अपना लिए। दक्षिण से यह भाषा उत्तर-भारत में साहित्यिक-भाषा के रूप में लौटी और इसको अन्य प्राकृतों के बीच आदर का स्थान प्राप्त हुआ। इसप्रकार महाराष्ट्री-प्राकृत शौरसेनी-प्राकृत का ही विक-सित-रूप है और शौरसेनी-प्राकृत एवं शौरसेनी-अपभ्रंश के बीच की स्थिति की परिचायिका है। महाराष्ट्री-प्राकृत की अन्य विशेषताएँ निम्न-लिखित हैं—

(१) इसमें कहीं-कहीं ऊष्म-व्यञ्जन-ध्वनि के स्थान पर 'ह्' हो गया है; यथा, पाषाण>पाहाण; अनुदिवसं>अनुदिअहं (इस उदाहरण में 'द्' का लोप इसलिए नहीं हुआ कि 'अनु' एवं 'दिवसं' अलग-अलग शब्द हैं; अतः 'द्' स्वरमध्यग न समझा गया)।

(२) अपादान एकवचन में ,साधारणतया—'आहि' प्रत्यय लगता है; यथा, दूराहि (=दूरात)।

(३) अधिकरण एकवचन के रूप —'म्मि' अथवा —'ए' के योग से बनते हैं; यथा, लोए अथवा लोअम्मि<लोकस्मिन् ।

(४) 'कृ' धातु के रूप वैदिक-भाषा के समान निष्पन्न होते हैं; यथा, कुणइ<कृणोति (वै०) ।

(५) 'आत्मन्' का प्रतिरूप, महाराष्ट्री-प्राकृत में 'अप्प' हुआ है (शौ०, मा० 'अत्त') ।

(६) क्रिया के कर्मवाच्य का—'य्' प्रत्यय>—'इज्ज'; यथा, पृच्छ्यते >पुच्छिज्जइ; गम्यते>गमिज्जइ ।

(७) पूर्वकालिक-क्रिया का रूप 'ऊण' प्रत्यय के योग से बनता है; यथा, पुच्छिऊण (सं० 'पृष्ट्वा') ।

पैशाची—

पैशाची प्राकृत की कोई साहित्यिक-रचना सुरक्षित नहीं रह सकी है। कहा जाता है कि गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' (वड्डकहा) मूलतः पैशाची में लिखी गई थी, परन्तु 'बृहत्कथा' का पैशाची-पाठ लुप्त हो गया है। प्राकृत-वैयाकरणों ने पैशाची की प्रमुख विशेषताएँ ये बताई हैं—

(१) सघोष-व्यञ्जनों के स्थान पर समान अघोष-व्यञ्जनों का प्रयोग; यथा, नगर>नकर; राजा>राच ।

(२) पैशाची की दूसरी विशेषता यह बताई गई है कि इसमें स्वर-मध्यग-स्पर्श-व्यञ्जनों का लोप नहीं होता ।

चौथा अध्याय

तृतीय-पर्व—अपभ्रंश

मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के विकास के अंतिम सोपान को 'अपभ्रंश' नाम से अभिहित किया जाता है। 'अपभ्रंश' म० भा० आ० भाषा और आधुनिक-आर्य-भाषाओं (हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि) के बीच की कड़ी है। प्रत्येक आ० भा० आर्य-भाषा को 'अपभ्रंश' की स्थिति पार करनी पड़ी है। 'अपभ्रंश' शब्द विभिन्न अर्थों में महाभाष्यकार पतञ्जलि (ईसा पूर्व दूसरी शती) के समय से प्रयुक्त मिलता है। इस शब्द के इतिहास पर संक्षेप में विचार करना यहाँ असंगत न होगा, क्योंकि उससे अपभ्रंश के काल-निर्णय में सहायता मिलेगी।

'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है 'भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बह्वोऽपभ्रंशाः तद् यथा-गौरित्यस्य शब्दस्य 'गावी' 'गोणी' 'गोता' 'गोपोतलिके' त्यादयो बह्वोऽपभ्रंशाः।' ('अपशब्द बहुत हैं', शब्द अल्प हैं। एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश हैं, जैसे 'गो' शब्द के 'गावी' 'गोणी' 'गोता' 'गोपोतलिका' इत्यादि।) 'शब्द' से आचार्य पतञ्जलि का अर्थ 'पाणिनीय' व्याकरण के सिद्ध शब्द से है और 'अपभ्रंश' का प्रयोग उन्होंने 'अपशब्द' के समानार्थक के रूप में किया है। 'गो' शब्द के जो 'अपभ्रंश' रूप आचार्य ने बताए हैं, उनमें से 'गावी' 'गोणी' 'गोता' को यदि 'गो' शब्द के ध्वनि-विकार मान भी लें, तब भी 'गोपोतलिका' को किसीप्रकार 'गो' का ध्वनि-विकार नहीं कहा जा सकता। यह शब्द तत्कालीन विभाषाओं के होने चाहिए। इनमें से कुछ शब्द श्वेताम्बर जैन-ग्रंथों की अर्ध-मागधी में मिल जाते हैं, तथा कुछ को प्राकृत-वैयाकरण चण्ड एवं हेमचन्द्र ने महाराष्ट्री-प्राकृत के शब्द कहा है। इससे स्पष्ट है कि महाभाष्यकार ने 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किसी भाषा विशेष के अर्थ में नहीं किया है, अपितु 'अपाणिनीय' असाधु शब्द के अर्थ में किया है।

ईसा की छटी शताब्दी में प्राकृत-वैयाकरण चण्ड ने अपने ग्रंथ 'प्राकृत-लक्षणम्' (३-३७) में 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में किया है। इसी शती में, बलभी के राजा द्वितीय धरसेन को, एक ताम्रपत्र में 'संस्कृत-प्राकृतापभ्रंश भाषात्रय प्रतिबद्ध-प्रबन्ध-रचना-निपुणान्तःकरणः' कहा गया है। आचार्य भामह ने अपने 'काव्यालंकार' ग्रंथ में संस्कृत एवं प्राकृत के साथ अपभ्रंश को रखा है (संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा' काव्यालं० १-२६) और आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में अपभ्रंश को 'आभीरादिगिरः' (आभीर आदि की भाषा) कहा है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईसा की छठीं शताब्दि तक 'अपभ्रंश' शब्द किसी भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा था और यह भाषा 'आभीर' आदि जातियों में बोली जाती थी।

ईसा की नवीं शताब्दी में आचार्य रुद्रट ने संस्कृत एवं प्राकृत के साथ 'अपभ्रंश' का उल्लेख करते हुए देशभेद से इसके अनेक भेद कहे हैं। इससे अपभ्रंश के विस्तार का पता चलता है। ईसा की ग्यारहवीं शती में प्राकृत-वैयाकरण पुरुषोत्तम ने 'अपभ्रंश' को शिष्ट-वर्ग की भाषा स्वीकार किया और बारहवीं शती में आचार्य हेमचन्द्र ने 'अपभ्रंश' का व्याकरण लिखा। इसप्रकार ईसा पूर्व द्वितीय शती से 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न कालों में 'अपशब्द' 'विभाषा', 'लोकभाषा' 'शिष्ट एवं साहित्यिक-भाषा' के अर्थों में किया गया।

अपभ्रंश-काल

अपभ्रंश के सबसे प्राचीन उदाहरण भरत के नाट्य शास्त्र (२०० ई०) में मिलते हैं। भरत ने 'आभीरोक्ति' का उल्लेख किया है और इसको उकार बहुला बताकर इसके कुछ उदाहरण भी दिये हैं; यथा, 'मोरुल्लउ नच्चन्तउ' इत्यादि। दण्डी के इस कथन से कि काव्य में 'आभीरादि' की भाषा अपभ्रंश कही जाती है, यह अनुमान लग जाता है कि भरत की उकार-बहुला आभीरोक्ति 'अपभ्रंश' रही होगी और भरत ने जो उदाहरण इस उकार बहुला आभीरोक्ति के दिए हैं उनमें मोह, पिअ, जोण्हउँ आदि शब्द हैं भी ठेठ अपभ्रंश के। परन्तु भरत के इन उदाहरणों में प्राकृत-प्रभाव इतना अधिक है कि इनको विशुद्ध-अपभ्रंश के उदाहरण नहीं माना जा सकता। हाँ, अपभ्रंश को जन्म देने वाली प्रवृत्तियों के बीज यहाँ अवश्य देखे जा सकते हैं।

महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चतुर्थ-अंक में अपभ्रंश के कुछ दोहे मिलते हैं। इनकी प्रामाणिकता के विषय में विद्वान् एकमत नहीं

हैं। याकोबी, एस० पी० पण्डित आदि विद्वान् इनको प्रक्षिप्त मानते हैं; परन्तु डा० ए० एन० उपाध्ये एवं डा० ग० वा० तगारे इनको प्रामाणिक मानते हैं। यदि ये पद्य प्रामाणिक मान लिये जाएँ, तो अपभ्रंश का प्रारम्भ-काल ईसा की पाँचवी शती में माना जा सकता है। परन्तु इन विवाद-ग्रस्त पद्यों को लेकर कोई निश्चय करना ठीक न होगा।

ईसा की छठीं शती में बलभी के राजा धरसेन के ताम्र-पत्र के उल्लेख एवं संस्कृत-आलंकारिकों के कथनों से स्पष्ट है कि उस समय तक 'अपभ्रंश' भाषा जन-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी और उसमें साहित्य-रचना की ओर भी विद्वानों की प्रवृत्ति होने लगी थी। इससे अपभ्रंश का प्रारम्भ निश्चय-पूर्वक ६०० ई० कहा जा सकता है। ईसा की छठीं शताब्दी से अपभ्रंश में काव्य-रचनाएँ प्राप्त होने लगीं और पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती तक होती रहीं। परन्तु ईसा की बारहवीं शती के अंत तक अपभ्रंश लोक-भाषा न रहकर साहित्यरूढ़ भाषा बन चुकी थी। आचार्य हेमचन्द्र (१२ वीं शती का उत्तरार्ध) ने अपभ्रंश और ग्राम्य-भाषा में भेद किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके समय में अपभ्रंश बोल-चाल की भाषा न रह गई थी। हेमचन्द्र का अपभ्रंश-व्याकरण लिखना ही यह सिद्ध करता है कि उनके समय तक बोलचाल की भाषा अपभ्रंश को छोड़ आगे बढ़ चली थी। ईसा की तेरहवीं शती से तो आ० भा० आर्य-भाषाओं के प्रारंभिक साहित्यिक ग्रंथ मिलने लगते हैं। इसप्रकार बारहवीं शताब्दी तक ही अपभ्रंश का काल मानना ठीक होगा। अतः अपभ्रंश भाषा म० भा० आ० भाषा का अंतिम चरण है और ६००-१२०० ई० तक यह भाषा लोक-भाषा के पद पर आसीन रही।

अपभ्रंश का विस्तार क्षेत्र

भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में उकारबहुला भाषा का प्रयोग हिमवत्, सिन्धु-सौवीर और इनके आश्रित देशों के लोगों के लिये करने का आदेश दिया है। इससे विदित होता है कि भरत के समय तक भाषा में अपभ्रंश की विशेषताएँ भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में प्रकट हुई थीं। ईसा की दसवीं शताब्दी में राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्य-मीमांसा' में अपभ्रंश का विस्तार-क्षेत्र सकल मरुभूमि, टक्क और भादानक बताया है। मरुभूमि से राजशेखर का तात्पर्य राजस्थान से रहा होगा। टक्क-प्रदेश की स्थिति विद्वानों ने विपाशा और सिन्धु नदी के बीच मानी है। भादानक की स्थिति के विषय में विद्वानों में मतभेद है।

टक्क के साथ इसका उल्लेख होने से विद्वानों ने अनुमान किया है कि यह भी उसके आस पास का ही कोई प्रदेश रहा होगा। एन० एल० दे० महाशय भादानक को भागलपुर से ६ मील दक्षिण में स्थित 'भदरिया' स्थान बताते हैं। परन्तु भादानक की स्थिति पश्चिमोत्तर भारत में ही अधिक संगत जान पड़ती है। इस प्रकार राजशेखर के समय तक अपभ्रंश का विस्तार राजपूताना और पंजाब तक हो चुका था। अपभ्रंश का जो साहित्य आज उपलब्ध है उसका रचना स्थान, राजस्थान, गुजरात, पश्चिमोत्तर-भारत, बुंदेलखंड, बंगाल और दक्षिण में मान्यखेट तक विस्तृत प्रतीत होता है। इससे विदित होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश का प्रसार समस्त उत्तर भारत और दक्षिण तक में हो गया था। अपभ्रंश इस विस्तृत प्रदेश की जनभाषा थी, यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु इन प्रदेशों की भाषाओं पर अपभ्रंश और अपभ्रंश पर इन प्रदेशों की भाषाओं का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा, यह असंदिग्ध है।

अपभ्रंश की विभाषाएँ—

अपभ्रंश का जो साहित्य मिलता है, उसमें भाषागत-भेद बहुत कम हैं। यह समस्त-साहित्य एक ही परिनिष्ठित-भाषा का है। परन्तु वैयाकरणों ने और, विशेषतया, उत्तरकालीन-वैयाकरणों ने अपभ्रंश के देश-भेद से अनेक भेद बताये हैं। ग्यारहवीं शती में नमिसाधु ने अपभ्रंश के तीन भेद गिनाए—उपनागर, आभीर और ग्राम्य। परवर्ती-वैयाकरणों ने इन्हीं तीन भेदों को नागर, उपनागर और ब्राचड संज्ञा दी। सत्रहवीं शती में मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के २७ भेद बताए। वास्तव में एक भाषा की अनेक विभाषाएँ होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। स्थानीय-प्रभाव के कारण भाषा का रूप भिन्न भिन्न स्थानों पर कुछ न कुछ भिन्न होता ही है। अतः अपभ्रंश के भी देशगत अनेक भेद रहे होंगे। परन्तु अपभ्रंश-साहित्य का विकास मालवा-गुजरात-राजस्थान में हुआ। अतः इस प्रदेश की अपभ्रंश तत्कालीन साहित्यिक-भाषा बन गई और बंगाल एवं दक्षिण तक में इस भाषा में साहित्य-रचना हुई। यही कारण है कि अपभ्रंश-साहित्य में एक ही परिनिष्ठित-अपभ्रंश मिलती है। परन्तु उसमें स्थानीय रूपों की कुछ न कुछ झलक तो मिल ही जाती है।

अपभ्रंश और आभीर जाति

अपभ्रंश के साथ आभीर जाति का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। अतः

अपभ्रंश के विकास एवं प्रसार को समझने के लिये इस जाति के इतिहास पर दृष्टिपात करना बहुत सहायक होगा।

आभीर जाति का उल्लेख सबसे पहले महाभारत में मिलता है। महाभारत में एक स्थान पर उनको सिन्धु के पश्चिम में रहनेवाली जाति कहा गया है, दूसरे स्थान में उनको द्रोण के 'सुपर्ण-व्यूह' में योद्धाओं की पंक्ति में रखा गया है, तीसरे स्थल पर उनके द्वारा पंचनद में द्वारका से कृष्ण की विधवाओं को लेकर लौटते हुए अर्जुन पर आक्रमण करते हुए बतलाया गया है और चौथे स्थल पर उनका उल्लेख राजसूय-यज्ञ के प्रसंग में हुआ है: यहाँ वह 'शूद्र' बताये गये हैं। महाभारत के इन उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट है कि आभीर-जाति ईस्वी सन् के आसपास की शती में पश्चिमोत्तर भारत में बस गई थी।

काठियावाड़ में 'गुंद' नामक स्थान में रुद्रदामन का एक अभिलेख मिला है। इसका समय १८१ ई० माना जाता है। इसमें आभीर सेनापति रुद्रभूति के दान का उल्लेख है। एन्थोवेन के नासिक अभिलेख (३०० ई०) में ईश्वरसेन नामक आभीर राजा की ओर संकेत है। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तंभ लेख में (३६० ई०) आभीरों का आधिपत्य गुप्त-साम्राज्य की सीमा पर मालवा, गुजरात, राजस्थान आदि में बताया गया है। इन उल्लेखों से आभीरों के प्रसार एवं अधिकार-विस्तार पर प्रकाश पड़ता है। धीरे-धीरे यह जाति मध्य-भारत एवं पूर्वी-प्रदेशों में भी फैल गई और इसका प्रभुत्व भी बढ़ता गया। इनमें उच्च-वर्ग के लोग क्षत्रिय-वैश्य वर्ग में मिला लिए गए और शेष को शूद्रों में स्थान मिला। अपभ्रंश के साथ गुर्जर-जाति का भी संबंध जोड़ा जाता है। भोज ने गुर्जरों के लिए लिखा है कि वे अपभ्रंश से ही तुष्ट होते हैं। गुर्जरों का संबंध इतिहासवेत्ता आभीर जाति से जोड़ते हैं। संभवतः गुर्जर भी आभीर जाति की कोई शाखा थे।

गुर्जर-आभीर आदि जातियों के संपर्क से भाषा में नवीन परिवर्तन आना स्वाभाविक ही था। इन जातियों के प्रसार के साथ-साथ अपभ्रंश का प्रसार बढ़ने लगा और म० भा० आ० भाषा प्राकृत की स्थिति को छोड़कर 'अपभ्रंश' की ओर बढ़ी।

अपभ्रंश की विशेषताएँ

संक्षेप में अपभ्रंश की निम्न विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं—

ध्वनि-विकारों में—(१) संस्कृत एवं प्राकृत से प्राप्त अन्त्य-स्वरों का ह्रास

(२) उपान्त्य-स्वरों की मात्रा की सुरक्षा (३) आद्य-अक्षर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण द्वारा व्यंजन-द्वित्व के स्थान पर एक व्यंजन का प्रयोग (४) समीपवर्ती-स्वरों का संकोच ।

पद-विधान में—(१) अकारांत पुल्लिङ्ग शब्द-रूपों की प्रधानता (२) लिङ्ग भेद प्रायः समाप्त (३) प्रथमा-द्वितीया-संबोधन में विभक्ति-प्रत्ययों का अप्रयोग (४) सविभक्तिक कारकों के केवल दो समूह—तृतीया-सप्तमी और चतुर्थी-पंचमी-षष्टी तथा इनके रूपों में भी सम्मिश्रण और परसर्गों का प्रयोग (५) पुरुषवाचक सर्वनामों के रूपों में स्वल्पता (६) विशेषण-मूलक सर्वनामों के रूप प्रायः नामों के अनुसार (७) धातुओं के काल-रूपों में विविधता की कमी (८) कृदन्त-रूपों का अधिक प्रयोग ।

अपभ्रंश-काल में भारतीय-आर्य-भाषा संश्लिष्ट रूप त्याग कर विश्लेषात्मक बन गई । आधुनिक-आर्य-भाषाओं में यह प्रवृत्ति पूर्णतया विकसित हुई ।

ध्वनि-विचार—

अपभ्रंश में 'प्राकृत' की सभी ध्वनियाँ विद्यमान रहीं । इसप्रकार अपभ्रंश में निम्नलिखित स्वर एवं व्यञ्जन ध्वनियाँ मिलती हैं—

स्वर-ध्वनियाँ—

ह्रस्व—अ, इ, उ, ऍ ऑ

दीर्घ—आ, ई, ऊ, ए, ओ

और ऋ (सि० है० ८.४.३२६); यथा, तृणु, सकृदु इत्यादि में ।

अपभ्रंश की अनुलेखन-पद्धति (orthography) पूर्णतया प्राकृत एवं संस्कृत की अनुगामिनी रही । ऍ, ऑ (ह्रस्व) जैसी नवीन-ध्वनियों के लिए नवीन-चिह्न नहीं बनाए गए । उत्तर-भारत के लेखक ह्रस्व 'ऍ' 'ऑ' ध्वनियों के लिये 'इ', 'उ' का व्यवहार करते रहे । इसीप्रकार 'अ' के संवृत एवं विवृत भेदों की भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए भी कोई नवीन-चिह्न काम में नहीं लाए गए । विभिन्न आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं (बंगाली, अवधी इत्यादि) में 'अ' के उच्चारण की भिन्नता से अनुमान किया जा सकता है कि अपभ्रंश में भी 'अ' का उच्चारण भिन्न-भिन्न रहा होगा । परन्तु अनुलेखन पद्धति की रूढ़िवादिता के कारण लिखित-साहित्य में इसके कोई प्रमाण नहीं मिलते । इसीप्रकार लुप्त मध्यग-व्यञ्जन के स्थान पर किसी-किसी लेखक ने 'अ' रहने दिया किसी ने 'य—' श्रुति का समावेश किया और किसी ने पूर्व-स्वर अथवा व्यञ्जन

के साथ इसकी संधि कर दी। अनुलेखन-पद्धति की इस प्राचीन परकता के कारण अपभ्रंश की ध्वनियों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर सकना असंभव सा हो गया है।

व्यञ्जन ध्वनियाँ—

'क, ख, ग, घ' (कण्ठ्य), 'च, छ, ज, झ' (तालव्य)' 'ट, ठ, ड, ढ, ण' (मूर्धन्य), 'त, थ, द, ध, न' (दन्त्य), 'प, फ, ब, भ, म' (ओष्ठ्य), 'य, र, ल, व' (अन्तस्थ)' 'श (पूर्वी अप०), स, ह' (ऊष्म)

स्वर-विकार--

प्राकृत-वैय्याकरणों ने अपभ्रंश में स्वर-परिवर्तन को अनियमित बताया है;* परन्तु वास्तव में इस संबंध में अपभ्रंश ने साहित्यिक-प्राकृतों का अनुसरण किया है। यहाँ हम अपभ्रंश के उन मुख्य-मुख्य स्वर-विकारों का उल्लेख करेंगे जो आ० भा० आ० भाषाओं में विकसित हुए।

(१) अन्त्य-स्वरलोप अथवा ह्रस्वीकरण—अन्त्य-स्वर के ह्रस्वीकरण एवं लोप की प्रवृत्ति, मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा में हम पीछे देख चुके हैं। अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति चलती रही और आधुनिक—भा० आ० भाषाओं के विकास में इस प्रवृत्ति ने बहुत भाग लिया। बिहारी, कश्मीरी, सिंधी और कोंकणी के अतिरिक्त अन्य सभी आ० भा० आ० भाषाओं में यह प्रवृत्ति पाई जाती है। क्षेत्रित>खेत्ती, उपाध्याय>उज्झा (हिं० ओझा) में अन्त्य-स्वर का लोप हो गया है। अन्त्य-स्वर के ह्रस्वीकरण के उदाहरण ये हैं—पिअ<प्रिया; संझ<संध्या; अवेज्ज<(पूर्वीअप०) अविद्या। ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति के फलस्वरूप अम्हि<*अस्मे; तुम्हि<*तुष्मे इत्यादि में ए>इ हो गया है। इसीप्रकार परि<परम्; सइँ<स्वयम्; अवसि<अवश्यम् इत्यादि भी इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं।

(२) उपधा-स्वर (Penultimate vowels) की सुरक्षा – अपभ्रंश में उपधा-स्वर को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है; यथा—गोरोअण<गोरोचन; खवणउ< क्षपणकः; अन्धआर<अन्धकार; भुवंगम<भुजंगम; पोक्खर (पूर्वीअप०)<पुष्कर। परन्तु कहीं-कहीं उपधा-

---

*पुरुषोत्तम—१७.१७। हेमचन्द्र, ८.४.३२९। त्रिविक्रम ३.३.१. मार्कण्डेय—१७.१।

स्वर में मात्रा-परिवर्तन हो गया है, यथा—पहण<पाषाण; बम्भचार<ब्रह्म-चर्य; गुहिर<गभीर; सरुव<स्वरूप।

कहीं-कहीं अन्त्याक्षर में व्यञ्जन-ध्वनि के लोप हो जाने पर उपधा और अन्त्य-स्वर का संकोच भी हो गया है। यह प्रवृत्ति विशेषतया पूर्वी-अपभ्रंश में परिलक्षित होती है; यथा—मट्टी<*मट्टिआ<मृत्तिका; इंदि<इन्दिय<इन्द्रिय; पाणी<पानीय। पश्चिमी-अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति के उदाहरण विरल हैं। केवल खेत्ती<खेत्तिआ<क्षेत्रिता (हि॰ खेती); पराई<परकीया; पोट्टलि<पोट्टलिका (हि॰ पोटली); चौरासी<चतुरशीति; पुत्थ एवं पोत्था<पुस्तक (हि॰ पोथी पोथा) इत्यादि कुछ ही उदाहरण मिलते हैं।

स्वराघात के अभाव अथवा समीकरण अथवा विषमीकरण के कारण भी उपधा-स्वर में गुणात्मक परिवर्तन हो गए हैं; यथा—खयर<खदिर; मज्झिव<मध्यम; उत्तिम (पूर्वी अप॰)<उत्तम इत्यादि।

(३) अपभ्रंश में, शब्द के आदि-अक्षर के स्वर को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसका कारण संभवतः यह था कि स्वराघात प्रायः आदि-अक्षर पर पड़ता था। परन्तु स्वराघात-विहीन आदि-अक्षर के स्वरों में मात्रिक परिवर्तन अथवा लोप के उदाहरण भी मिलते हैं। गहिर<गभीर; जहण<जघन; ढक्क<ढक्का; तलाउ<तडाग; बहुत्त<बहुत्व; वयणु<वचनम्; खाय<*खात<खादित; गाम<ग्राम; झाण<ध्यान इत्यादि शब्दों में आदि-स्वर सुरक्षित हैं; परन्तु कासु<कस्सु<कस्य; तासु<तस्य; अप्पाण<आत्मन्; जीह<जिह्वा; तिण्ण<त्रीणि; ऊसव<उत्सव इत्यादि में आदि-स्वर में मात्रिक-परिवर्तन और भितर<भीतर; रण्ण<अरण्य; रहट्ट<अरघट्ट इत्यादि में उसका लोप हो गया है।

आदि-अक्षरगत-स्वर के अतिरिक्त, उपधा से पूर्ववर्ती अन्त्य-स्वर जो 'क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प्' के लुप्त होने के कारण सन्निकट आ गए थे, वे या तो (१) संकुचित होकर एकाकार हो गए; यथा, जेह<जइस<यादृश; सुहेल्ली<सुख-केली; चोत्थी<चतुर्थी; (हि॰ चौथी); चोद्दह<चतुर्दश (हि॰ चौदह); पोम<*पदुम<पद्म; उआर<उपकार; सोण्णार<स्वर्णकार; दूण<द्विगुण; उखल<उदूखल इत्यादि; अथवा (२) उसके स्थान पर 'य' 'व' श्रुति का सन्निवेश हो गया; यथा, सहयार<सहकार।

सानुनासिकता (nasalisation) तथा निरनुनासिकता (Denasalisa-

tion) की प्रवृत्तियाँ प्राकृत-काल से चली आ रही थीं। अपभ्रंश ने भी इनको अपनाया। अकारण अथवा स्वतः (Spontaneous) सानुनासिकता के उदाहरण पंखि<पक्षिन्; बंक<वक्र इत्यादि हैं और हउँ<अहकम्; सइँ<स्वयम् इत्यादि में सानुनासिकता क्षति-पूर्ति के रूप में है। इसीप्रकार सीह्<सिंह; वीस<विंशति इत्यादि निरनुनासिकता के उदाहरण हैं।

अपभ्रंश में पर-स्वर ग्रहण (vowel colourisation) यथा—झुणि<ध्वनि; त्रिउस<त्रिदस्; तिरिच्छ<तिर्यक् इत्यादि; स्वर-भक्ति (Anaptyxis) यथा—मुरुक्ख<मूर्ख; कसण<कृष्ण इत्यादि; अपिनिहित (epenthesis) यथा—केर<कार्य; अच्छेरय<आश्चर्य; पोम<पद्म इत्यादि की प्रवृत्तियाँ भी साधारणतया दिखाई देती हैं।

व्यंजन-विकार —

अपभ्रंश में आदि-व्यञ्जन को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति सामान्यतः परिलक्षित होती है। परन्तु आदि-व्यञ्जन के महाप्राण-करण (aspiration) यथा—खिल्लियइँ<कीलका; √ झलण<ज्वल् (हिंदी 'झलक' झलमल इत्यादि शब्द इसी धातु से संबद्ध हैं) तथा इसके विपरीत अल्पप्राण-करण(de-aspiration) यथा—कुहिय*खुहिय<क्षुभित; एवं मूर्धन्यीकरण, यथा—ठड्ढ<स्तब्ध; बहिणि<भगिनी, के उदाहरण भी मिल जाते हैं। इसीप्रकार आदि य>ज; यथा—याति>जाइ; यमल>जमल।

प्राकृत के समान अपभ्रंश में भी प्रा० भा० आ० भाषा के अन्त्य-व्यञ्जनों का लोप हो गया, यथा—कृत>किय; गज-गत> गय।

मध्यग-व्यञ्जनों का अपभ्रंश में प्रायः लोप हो गया है, और महाप्राण व्यञ्जनों के स्थान पर 'ह' रह गया है; यथा—परकीया>पराइय; योगिन> जोई; गोरोचन>गोरोअण; राजन्>राअ; चतुर्थ<चउत्थ; पाद्> पाअ; पाय>पाअ; सखि>सहि; दीर्घ>दीह; कथा>कहा; अध-स्तात्>अहुट्ठइँ; मुक्ताफल>मुक्ताहल; शोभा> सोह; कहीं-कहीं लुप्त-मध्यग-व्यञ्जन के स्थान पर य-वश्रुति का सन्निवेश भी किया गया है; यथा—स्तोक>थोवा; युगल>जुयल; लोचन>लोयण; गजपुर>गयउर; भूत>भूव; उदधि>उवहि; सपत्न> सयत्त।

यद्यपि अपभ्रंश में मध्यग-व्यञ्जन के लोप करने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है, परन्तु वैकल्पिकरूप से उनको कहीं-कहीं सघोष भी किया गया है

यथा -विक्षोभकर> विच्छोहगरु; विचिकित्सा>विजिगिच्छा; आगतः> आगदो; दीप > दीव; सुखेन>सुघिँ ; शपथ > सवधु (शौ०); सफल> सभल (शौ०); और कहीं-कहीं मध्यग-व्यञ्जन सुरक्षित भी हैं, यथा—एक> एक्कु; सुगज>सुगय; अचेतन> अचेयण; अजित > अजिय; एता-वत्>एत इत्यादि।

स्वरमध्यग –म– अपभ्रंश में प्रायः सुरक्षित है, परन्तु वैकल्पिकरूप से –वँ– में भी बदल गये हैं; यथा—कमल>कवँल एवं कमल इत्यादि।

अपभ्रंश में संयुक्त-व्यञ्जन क्ष > क्ख-ख (पूर्वी० अप०), छ-च्छ (पश्चि० अप०); यथा-पक्षी > पाखी (बंगला), पच्छी-पंछी; त्व >तु (पू० अप०), प (प० अप०); यथा—त्वम् > तुहुँ (पू० अप०), पइँ (प० अप०); द्व > ब; यथा—द्वादश > बारह; द्वे > बे; द्वार > बार। संयुक्त 'र' के लोप की प्रवृत्ति विशेष है, यद्यपि कहीं-कहीं वह सुरक्षित भी है; यथा—चक्रवर्ती > चक्कवै; प्रिय > प्रिय; ध्रुव> ध्रुवु इत्यादि।

ष्ण > न्ह; यथा—कृष्ण > कान्ह; स्म>म्ह; यथा—अस्मै > अम्ह।

अपभ्रंश की एक विशेषता है, व्यञ्जन के साथ 'र्' का आगम; यथा—पश्यति > प्रस्सदि; व्यास > व्रास इत्यादि। यह प्रवृत्ति भाषा में संस्कृत की उदात्तता लाने के प्रयत्न-स्वरूप चल पड़ी होगी।

प्राकृतों के समान अपभ्रंश में भी 'ड, द, न, र' के स्थान पर 'र', यथा—अवरटित > ओरालिय; प्रदीप्त > पलित्त; नवनीत > लोण; दारिद्र्य > दालिद्द तथा 'य-व' के स्थान में 'म', यथा—शबर > समर; यावत् > जाम एवं 'व' के स्थान 'ब', यथा—वचन > बअण के प्रयोग की प्रवृत्ति चलती रही। इसीप्रकार 'व्यञ्जन-विपर्यय'; यथा—वाराणसी > वाणारसी; दीरघ > दीहर; ह्रद > द्रह; 'व्यञ्जन-द्वित्व'; यथा—काच> कच्च; यूथ > जुत्थ, एवं 'क्षतिपूरक-सानुनासिकता'; यथा—वयस्या > वयंसि; वक्र > बंकी के उदाहरण भी अपभ्रंश में मिल जाते हैं।

शब्द-रूप–

अपभ्रंश की निजी विशेषताएँ, शब्द-रूपों में अधिक स्पष्ट होती हैं। ध्वनि-विकार में अपभ्रंश ने प्राकृत की परम्परा को आगे बढ़ाया, परन्तु शब्द-रूपों के निर्माण में म० भा० आ० भाषा की सरलीकरण एवं एकीकरण की

प्रवृत्तियों को विकसित करने के साथ-साथ इसने कुछ अपनी नवीन प्रवृत्तियाँ भी प्रदर्शित कीं जो आ० आ० भाषाओं में पूर्णतया विकसित हुईं।

प्रा० भा० आ० भाषा के व्यञ्जनान्त-प्रातिपदिक 'पालि' के समय से ही लुप्त होने लगे थे। अपभ्रंश ने अंतिम-व्यञ्जन का लोप कर, यथा—आत्मन् > अप्प; जगत् > जग; मनस् > मण; अथवा उसको अकार युक्त कर, यथा—आत्मन् > अप्पण; आयुष् > आउस; युवन् > जुवाण, सभी प्रातिपदिकों को स्वरांत बना लिया। परन्तु अपवाद-स्वरूप कुछ व्यञ्जनान्त-रूप भी अपभ्रंश में मिल जाते हैं; यथा—रायाणो < राजानः, बंभाण < ब्राह्मणः इत्यादि। ऋकारान्त प्रातिपदिकों के 'ऋ' को अपभ्रंश ने 'अर' अथवा 'इ' में परिवर्तित कर दिया; यथा—पितृ > पिअर; भ्रातृ > भायर-भाइ; भर्तृ > भत्तार; मातृ > माइ इत्यादि।

स्वरांत-प्रातिपदिक भी अपभ्रंश में विविधता त्यागकर एकरूपता की ओर अग्रसर हुए। अंतिम-दीर्घ-स्वर को ह्रस्व करने की अपभ्रंश की प्रवृत्ति ने इस कार्य में बहुत हाथ बँटाया। इससे दीर्घ-स्वरांत-प्रातिपदिक अपभ्रंश में समाप्त-प्राय हो गए; यथा—पूजा > पुज्ज; क्रीडा >कील; सिकता> सियय; मालती>मालइ; किंकरी > किंकरि; निशा > निशि; कथा > कहि। इसप्रकार अपभ्रंश में केवल 'अ-इ-उ' कारान्त प्रातिपदिक ही रह गए, और प्रातिपदिकों के विविध-भेदों से मुक्त होकर आर्य-भाषा की बहुत कुछ जटिलता दूर हो गई।

'अ-इ-उ' कारान्त प्रातिपदिकों में भी अकारान्त-प्रातिपदिकों की ही प्रधानता रही और 'इ-उ'कारान्त प्रातिपदिकों के कारक-रूप बनाने के लिए, इनके साथ 'अकारांत'-प्रातिपदिकों के विभक्ति-प्रत्ययों का व्यवहार किया जाने लगा; यथा—तृतीया-एक०व० में देवें<देवेन; गिरिएं > गिरिणा, महुएँ< मधुना।

प्रातिपदिकों एवं शब्द-रूपों के एकीकरण का प्रभाव अपभ्रंश के लिङ्ग-विधान पर भी पड़ा। 'अ-इ-उ' कारांत प्रातिपदिकों के रूपों में बहुत-कुछ समानता होने के कारण और सभी लिङ्गों में एक प्रकार के ही विभक्ति-प्रत्यय जुड़ने के कारण इन प्रातिपदिकों के शब्द-रूपों से लिङ्गभेद का ज्ञान नहीं हो पाता; यथा—कुम्भइँ < कुम्भान् (पुं०), रहइँ < रेखा (स्त्री०) एवं अम्हइँ < अस्मे (उभयलिं०)। 'आ-ई-ऊ' कारान्त सभी प्रातिपदिक अपभ्रंश में स्त्रीलिङ्ग हैं। परन्तु 'आ-ई-ऊ' कारान्त प्रातिपदिक अपभ्रंश में अत्यल्प-

संख्या में हैं और 'इ-उ' कारान्त प्रातिपदिकों में 'अकारान्त' प्रातिपदिकों के विभक्तिक-प्रत्ययों का ही प्रयोग करने से 'लिङ्ग-विधान' के क्षेत्र में अपभ्रंश में 'पुल्लिङ्ग' की प्रधानता स्थापित हो गई।

नपुंसक-लिङ्ग अपभ्रंश में लुप्त हो गया, स्त्रीलिङ्ग के रूप भी बहुत कम रह गए और लिङ्ग-विपर्यय के कारण 'अ-इ-उ' कारांत प्रातिपदिकों में पुल्लिङ्ग-रूपों का प्राधान्य हो गया।

द्विवचन का लोप पाली और प्राकृत में ही हो चुका था; अतः अपभ्रंश में भी द्विवचन लुप्त रहा और इसको प्रकट करने के लिए 'द्वि' शब्द की सहायता ली गई; यथा—'धेनु दुइ' (दो गाएं), 'मह्लु कन्तहो बे दोसडा' (मेरे प्रिय के दो दोष हैं) इत्यादि।

म० भा० आ० भाषा में कारक-विभक्तियों के ह्रास की जो प्रवृत्ति पाली से प्रारम्भ हुई थी, वह अपभ्रंश में उत्तरोत्तर बढ़ती गई। अपभ्रंश में केवल तीन कारक-समूह हैं—(१) कर्त्ता-कर्म-संबोधन, (२) करण-अधिकरण और (३) सम्प्रदान-संबन्ध और अपादान।

कर्त्ता-कर्म-संबोधन समूह के एकवचन में प्रायः शब्द का प्रातिपदिक-रूप मिलता है; यथा—पुत्त, देव, अथवा उकारान्त, एकारान्त, ओकारान्त; यथा—पुत्तु, पुत्तो, सुन्नए, या 'उ' अथवा 'उं' के योग से निष्पन्न; यथा—पुत्तउ, पुत्तउं, मिलता है। 'उ' कारान्त रूप अपभ्रंश की प्रधान विशेषता है। ध्वनि-सम्बन्धी दुर्बलता के कारण प्राकृत का 'ओकारान्त' रूप 'अपभ्रंश' में 'उ' कारान्त हो गया। 'ए' कारान्त रूप पूर्वी-अपभ्रंश में मिलते हैं; इनको मागधी-प्राकृत का प्रभाव समझना चाहिए। प्रथमा-एकवचन में आकारान्त रूप भी कहीं-कहीं मिल जाते हैं; यथा ढोल्ला।

इस समूह के बहुवचन में प्रायः एकवचन के 'अ-आ' कारान्त रूप मिलते हैं। 'अ-इ-उ' कारांत नपुंसक-लिंग-प्रातिपदिकों के साथ—अंतिम-स्वर को दीर्घ कर अथवा बिना ऐसा किए ही—'इं' के संयोग से भी बहुवचन का रूप बनाया गया है; यथा—कमलइं-कमलाइं, वारिइं-वारीइं, महुइं-महूइं। कहीं-कहीं पुल्लिङ्ग 'अकारान्त' शब्द के बहुवचन में भी इस नपुंसकलिंग-रूप का प्रयोग हुआ है; यथा—चोरइं < चौराः, हारइं < हाराः।

करण-अधिकरण-समूह के एकवचन में, अपभ्रंश ने इँ, इ, ए, एँ, अहि, एँहि, एहिँ, इण, एण' विभक्तियों का प्रयोग किया है; यथा—पुत्तिँ-

पुत्ति, देवे-देवें, गिरिं-गिरिएं, मुद्धए-मुद्धइ, पुत्ते हि हिँ, पुत्तिए-पुत्तेण।
-'इए' और -'एए' विभक्ति-प्रत्यय प्राकृत से अपभ्रंश में चले आए। सम्पूर्ण अपभ्रंश-साहित्य में-इँ और-एँ रूपों का बाहुल्य है; ये अपभ्रंश के अपने रूप हैं। इस समूह के बहुवचन के रूप 'हि' अथवा 'हिँ' के योग से बनाए गए हैं; यथा, देवहिं, गिरिहिं, मुद्धिहिं-मुद्धहिं इत्यादि। संस्कृत के तृतीया बहुवचन की विभक्ति एभिः तथा सप्तमी-बहुवचन की विभक्ति 'अस्मिन' के विकृतरूप एहिं और अहिं के सम्मिश्रण एवं विनिमय से अपभ्रंश के इन विभक्ति-प्रत्ययों का प्रादुर्भाव जान पड़ता है।

सम्प्रदान-सम्बन्ध-कारक के रूपों में एकरूपता अपभ्रंश से पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी। अपभ्रंश-काल में अपादान-कारक के लिए भी इसी रूप का प्रयोग होने लगा। इस समूह के एकवचन के रूप प्रधानतया—'ह-हे-हु-हो' के योग से निष्पन्न हैं; यथा—देवहे-देवहु (पंच०) देवहो-देवह, गिरिहे, मुद्धहे और बहुवचन में 'हु हुं हं' का प्रयोग हुआ है; यथा—देवहु (पंच०)-देवहं (च० ष०), गिरिहुं (च०, पंच०, ष०)—गिरिहं (च०, ष०), मुद्धहु (च०, पंच०, ष०) इत्यादि।

अपभ्रंश में एक विशेष प्रवृत्ति यह पाई जाती है कि कहीं-कहीं कर्त्ता-कर्म और सम्बन्ध-कारक के एकवचन-बहुवचन की विभक्ति का लोप कर दिया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी विभक्ति-लोप की इस प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिया है (सि० हे० ८।४।३४४-४५)। उन्होंने लुप्त-विभक्तिक पदों के ये उदाहरण दिए हैं—

जिवँ जिवँ वंकिम लोअणह णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय सर खर पत्थरि तिक्खेइ॥

यहाँ 'वंकिम' (< वक्रिमाणं) में द्वितीया-विभक्ति, 'सामलि' (< श्यामला) में प्रथमा तथा 'सर' (< शरं) में द्वितीया-विभक्ति लुप्त हैं, तथा 'अइमत्तहं चत्तङ्कुसहं गय कुम्भइं दारन्तु' में 'गय' (< गजानां) में षष्ठी-विभक्ति का लोप किया गया है। इसीप्रकार सप्तमी-विभक्ति के लोप के उदाहरण भी मिल जाते हैं; यथा—'महुजि घर सिद्धात्था वन्देइ' में 'घर' के स्थान पर घरे < गृहे होना चाहिए था।

लुप्त-विभक्तिक-पदों के कारण वाक्य-विन्यास में अस्पष्टता आना स्वाभाविक था और विभक्ति-प्रत्ययों के घिसते रहने एवं अत्यल्प संख्या में अवशिष्ट रह जाने से अर्थ-बोध में कठिनाई पड़ने लगी। इन बाधाओं को 'अपभ्रंश' में अनुसर्गों या

परसर्गों के प्रयोग द्वारा दूर किया गया। 'परसर्ग' रूप की दृष्टि से स्वतन्त्र शब्द थे, और किसी पद के साथ कारक-सम्बन्ध प्रकट करने के लिए इनका प्रयोग किया गया। परन्तु विभक्ति-प्रत्यय से परसर्ग भिन्न हैं, क्योंकि शब्द-रूप में परिवर्तन होने परभी इनमें परिवर्तन नहीं होता। अपभ्रंश में निम्न परसर्गों का प्रयोग मिलता है।

करण-कारक में 'सहुँ' एवं 'तण' परसर्गों का व्यवहार किया गया है। 'सहुँ' का संबंध संस्कृत 'सह' अथवा 'सम' से जोड़ा जाता है; यथा, 'जउ पवसन्ते सहुँ न गयऊ' (यदि प्रवसते हुए (प्रिय) के साथ न गई' हेम० ४.४१६)।

सम्प्रदान में 'रेसि' तथा 'केहि' परसर्ग मिलते हैं; यथा, 'तउ केहि अन्नहि रेसि' (हेम० ८.४.४२५)। अपादान में 'होन्तउ' और 'होन्त' परसर्ग आए हैं; यथा, 'तहां होन्तउ आगदो' (हेम० ८.४.३५५) 'अह होन्तु (कि) न सब्बविउ' (सनत्कुमार-चरिउ) सम्बन्ध-कारक में 'केरअ, केर एवं केरा', तथा अधिकरण में 'थिउ, मज्झि तथा मज्झे' का प्रयोग हुआ है। 'केरअ-केर-केरा<संस्कृत कृ से संबंधित हैं। 'थिउ'<स्थित, यथा; 'हिअअ-थिउ जइ नीसरइ, जाणउ मुंज सरोसु' (हेम० ८.४.४३९) और मज्झि-मज्झे<मध्य; यथा, 'चम्पय कुसुमहो मज्झि (हेम० ८.४.४४४), 'जीवहिं मज्झे एइ' (हेम० ८.४.४०६)।

षष्टी एवं सप्तमी के परसर्गों का अपभ्रंश में प्रचुर प्रयोग हुआ; चतुर्थी-परसर्ग का प्रयोग भी कुछ कम नहीं मिलता, परन्तु तृतीया एवं पञ्चमी के परसर्ग अभी तक इतने अधिक प्रयोग में नहीं आए। संज्ञा-शब्दों की अपेक्षा सर्वनाम-शब्दों के साथ परसर्गों का व्यवहार अधिक हुआ है। सर्वनाम-शब्द संज्ञा-शब्दों की अपेक्षा अधिक व्यवहार में आते हैं; अतः उनके अर्थ अपेक्षाकृत शीघ्रता से घिसकर क्षीण हो गए हैं और तब उनके साथ परसर्गों का प्रयोग आवश्यक हो गया।

सर्वनाम

अपभ्रंश में पुरुष-वाचक सर्वनामों के निम्न रूप मिलते हैं—उत्तम-पुरुष-एक व० प्र० हउं, द्वि० तृ० मइं, पंच०, ष०, च० महु-मज्झु, स० मइं-महु-मज्झु।

बहुवचन—प्र० द्वि०-अम्हे-अम्हइं, तृ० अम्हेहिं, च०, पंच०, ष० अम्हहं, स० अम्हासु।

मध्यम-पुरुष—एकवचन—प्र० तुहुँ, द्वि०, तृ०, स० पइं-तइं, च०, ष०, पंच० तउ-तुज्झ-तुध्र,

बहुवचन—प्र० द्वि० तुम्हे-तुम्हाइं, तृ० तुम्हेहिं, च०, पंच०, ष० तुम्हहं, स० तुम्हासु।

अन्य-पुरुष—(पुं० नपुं०)— एकवचन-प्र० सो-सु, द्वि० तं, तृ० तेण-ते, च०, ष० तसु-तासु-तस्सु-तहो, पंच० ता-तो-तहाँ, स० तहिं-तत्र्र।

बहुवचन—प्र० ते-ति, द्वि० ताइं-तें, तृ० तेहिं, च०, ष० तहँ-ताहँ-ताण, स० तहिं।

स्त्रीलिङ्ग-एकवचन-प्र० सा, द्वि० तं, तृ० ताए, च०,ष० तहे-तासु।

इन रूपों से स्पष्ट है कि उत्तमपुरुष एकवचन की प्रकृति 'अहं'— और 'म'— एवं बहुवचन की 'अम्ह—' है। मध्यम-पुरुष के रूपों में प्रथमा का 'तुहुँ' अथवा 'तुहु' अपभ्रंश का अपना रूप है। जान पड़ता है अस्म>अह् के सादृश्य पर तुष्म>तुह् रूप अपभ्रंश ने अपनाया। 'पइं' एवं 'तुध्र' भी अपभ्रंश के अपने विशेष रूप हैं।

दूरवर्ती निश्चय-वाचक-सर्वनाम संस्कृत 'अदस' अपभ्रंश में 'ओइ' (हिं० वह) के रूप में आया।

निकटवर्ती निश्चयवाचक-सर्वनाम संस्कृत 'एतद्' एवं 'इदम्' में से एतद्>एह् के रूप अपभ्रंश में अधिक प्रयुक्त हुआ। इसके निम्न रूप मिलते हैं—

पुल्लिङ्ग—ए० व० एहो (हिं० यह), ब० व० एइ (हिं० ये)।

स्त्रीलिङ्ग—ए० व० एह, ब० व० एईउ-एहाउ; नपुं०लिङ्ग-ए० व० एहु ब० व० एइइं-एईइं-एहाइं।

सम्बन्ध-वाचक सर्वनाम संस्कृत 'यद्' ने अपभ्रंश में 'जे-जो' रूप ग्रहण किए। प्रश्नवाचक एवं अनिश्चय-वाचक संस्कृत 'किम्' की अपभ्रंश में तीन प्रकृतियाँ मिलती हैं—क, कि, कवण। इनमें 'कवण' अधिक प्रचलित है। इनमें वि अथवा पि<अपि जोड़कर अनिश्चयवाचक-रूप बनाए गए; यथा—केवि, कुवि, किंपि, केणवि इत्यादि।

निजवाचक संस्कृत 'आत्मन्' अपभ्रंश में 'अत्त' एवं अप्प—इन, दो, रूपों में प्रयुक्त हुआ।

परिमाण-वाचक-सर्वनाम —'वड्ड—,—त्तुल, —त्तिय,—त्तिउ' प्रत्ययों के योग से बने; यथा—जेवड्ड-जेत्तुल-जेत्तिय-जित्तिउ (हिं० जितना) इत्यादि; गुणवाचक सर्वनाम 'इसो-एहु' के योग से; यथा—जइसो-जेहु

(हिं० जैसा) तथा सम्बन्ध-वाचक 'रिस' प्रत्यय जोड़कर; यथा—तुम्हारिस (हिं० तुम्हारा), हम्हारिस (हिं० हमारा) बनाए गए।

धातु-रूप

अपभ्रंश में धातु-रूपों के सरलीकरण एवं एकीकरण की प्रवृत्ति बहुत आगे बढ़ गई। आत्मनेपद-परस्मैपद का भेद म० भा० आ० भाषा के प्रारम्भ-काल से ही समाप्त होने लगा था और अपभ्रंश तक आते-आते वह लुप्त हो गया। गण-भेदों की जटिलता भी अपभ्रंश-काल तक समाप्त हो गई। धातुओं के रूप प्रायः भ्वादिगण का अनुसरण करने लगे। प्रा० भा० आ० भाषा की व्यञ्जनान्त-धातुएँ अपभ्रंश में स्वरांत हो गईं, क्योंकि अपभ्रंश ने उनका विकरणयुक्त-रूप अपनाया; यथा—सं० √चल्>अप० चल ('अ' विकरण जोड़कर)। अपभ्रंश में प्रा० भा० आ० भाषा की अनेक धातुएँ उपसर्ग-प्रत्यय सहित गृहीत हुईं; यथा—बइसइ-विट्ठइ<उपविष्ट। अनेक अनुकरणात्मक धातुओं का अपभ्रंश में प्रयोग होने लगा; यथा—खुसखुसइ, घुडघुडइ, खुडक्कइ, घुडक्कइ आदि। प्राकृत-काल से ही अनेक देसी-धातुओं का प्रयोग होने लगा था। अपभ्रंश में देशी-धातुओं की संख्या बढ़ती गई।

अपभ्रंश में काल-रचना के सम्बन्ध में तिङन्त-रूपों के स्थान पर कृदन्त-रूपों का व्यवहार बहुत बढ़ गया। तिङन्त-रूप केवल वर्तमान एवं भविष्यत् में चलते रहे। अन्य-कालों में कृदन्त-रूपों के साथ अहइ-अच्छ जैसी सहायक-क्रियाओं का प्रयोग किया गया। इससे प्रा० भा० आ० भाषा की धातु-रूप संबंधी जटिलता समाप्त हो गई और आ० आ० भाषाओं का मार्ग प्रशस्त हो गया।

अपभ्रंश में निम्नलिखित तिङन्त-रूप मिलते हैं—

सामान्य-वर्तमान-काल

एक० व० अन्य पु० करइ-करेइ, म० पु० करहि-करसि, उ० पु० करउँ करिमि।

ब० व० अन्य पु० करहिं-करंति, म० पु० करहु-करह, उ० पु० करहुँ-करिमु।

वर्तमान-आज्ञार्थ—करि-करु-करे।

विध्यर्थ—

एक व० अन्य पु० करिज्जउ, म० पु० करिज्जहि-इ, उ० पु० करिज्जउँ।
ब० व० अन्य पु० करिज्जंतु-ज्जहुँ म० पु० करिज्जहु, उ० पु० किज्जउँ।

सामान्य-भविष्यत्-काल—

एक व० अन्य पु० करेसइ-करेहइ, म० पु० करेसहि-करेससि-करीहिसि, उ० पु० करेसमि-करीहिमि-करिसु।

ब० व० अन्य पु० करेसहिं-करेहिंति, म० पु० करेसहु-करेसहो, उ० पु० करेसहुँ।

कृदन्त-रूप मूलतः विशेषण होते हैं; अतः उनमें लिङ्ग-वचन का भेद होता है। अपभ्रंश में कृदन्त-रूप निम्नलिखित हैं—

वर्तमान-कृदन्त—'अंत'-'माण',-'अंती' (स्त्री०) के योग से; यथा, पवसंत, जोअंत-जोअंती (स्त्री०), वट्टमाण आदि।

भूत-कृदन्त—'इअ'-'इउ',-'इय',-'इयो',-'इअअ',-'इओ' के योग से; यथा, किअ, भणिय, हुअ, गय, इत्यादि।

भविष्य और विधि-कृदन्त— 'इएव्वउं'-'एव्वउं', 'एवा'-'एव्व' जोड़कर; यथा, करिएव्वउं, मरेव्वउं, सोएवा, देक्खेव्व।

पूर्वकालिक-क्रिया—'इ'-'इउ'-'इवि',-'अवि',-'एपि'-'एप्पिणु',-'एवि',-'एविणु' के योग से; यथा, करि, करिउ, करिवि, करवि, करेप्पि, करेप्पिणु, करेवि, करेविणु।

अपभ्रंश में धातु का प्रेरणार्थक-रूप -'अव' विकरण के योग से; यथा, दावइ (√दा 'देना'), चिन्तवइ (√चिन्त-), ठावइ (√स्था-'रखना'), अथवा-'आव' विकरण द्वारा, यथा, णच्चावइ (√नत् > √णच्); बोल्लावइ (√बोल्ल 'बोलना') या मूल-धातु के स्वर में वृद्धि कर; यथा, मारइ (√मर < √मृ); णासइ (√णस < √नश्) बनाया गया।

अपभ्रंश-काल तक आते-आते भारतीय-आर्य-भाषा व्यवहिति-अवस्था की ओर बहुत बढ़ चुकी थी। अपभ्रंश में भाषा की इस प्रवृत्ति के कारण संयुक्त-क्रियाएं विकसित हुईं; यथा, 'जइ भग्गा घर एन्तु' (यदि घर भागा आता) इत्यादि।

अपभ्रंश और प्राकृत—

अपभ्रंश के व्याकरणिक गठन के इस संक्षिप्त-परिचय से स्पष्ट विदित हो जाता है कि अपभ्रंश ने प्राकृत की प्रवृत्तियों को विकसित करने के साथ-साथ कुछ नई प्रवृत्तियों का भी विकास किया। म० भा० आर्य-भाषा की विश्लेषात्मक-प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश में पूर्णतया विकसित हुईं। ध्वनि-विकारों में अपभ्रंश अपनी

पूर्ववर्ती प्राकृत-भाषा से अधिक दूर नहीं गई है, और यह कह सकना कठिन है कि अपभ्रंश ने कौन सी नई ध्वनि-विकार की प्रवृत्तियों को जन्म दिया। परन्तु सुबन्त एवं तिङन्त-रूपों में तथा कारक-संबंध प्रकट करने एवं क्रिया-पदों के निर्माण में अपभ्रंश प्राकृत का पल्ला छोड़कर स्वतन्त्र मार्ग पर चल पड़ी। अपभ्रंश की प्राकृत से भिन्न अपनी विशेषताएँ ये बताई जा सकती हैं—

१ *शब्द-रूपों में अत्यधिक सरलता*—लिङ्ग-भेद मिटाकर अपभ्रंश ने शब्द-रूपों को बहुत सरल कर दिया। नपुंसकलिङ्ग के अलग शब्द-रूप अपभ्रंश में नहीं हैं और स्त्रीलिङ्ग के भी बहुत कम। अतः पुल्लिङ्ग-रूपों का प्राधान्य स्थापित हो गया। शब्द-रूप की दृष्टि से अपभ्रंश में केवल तीन कारक-समूह रह गए—कर्ता-कर्म-संबोधन-समूह, करण-अधिकरण-समूह तथा सम्प्रदान-अपादान-संबंध-समूह और इनमें भी द्वितीय-तृतीय समूह के रूपों में सम्मिश्रण होने लगा। इन परिवर्तनों के कारण शब्द-रूप बहुत सरल एवं अल्प हो गए।

२. *धातु-रूपों में सरलता*—अपभ्रंश ने तिङन्त-रूपों का प्रयोग सीमित कर, कृदन्तज-रूपों का व्यवहार बढ़ाया। इससे काल-रचना की जटिलता एवं दुरूहता समाप्त हो गई।

३. *परसर्गों का प्रयोग*—विभक्तियों के घिस जाने तथा लुप्त-विभक्तिक-पदों के कारण वाक्य में अस्पष्टता आने लगी। इसको दूर करने के लिए अपभ्रंश ने परसर्गों का प्रयोग किया।

४. *शब्द-कोष का विस्तार*—अपभ्रंश ने देशज शब्दों एवं धातुओं को खूब अपनाया तथा तद्भव-शब्दों के भी प्रचलित-रूपों का प्रयोग किया। इससे अपभ्रंश, प्राकृत आदि से बहुत भिन्न जान पड़ने लगी।

अपभ्रंश और देशी—

'अपभ्रंश' के संबंध में 'देशी' शब्द की बहुधा चर्चा की जाती है। वास्तव में 'देशी' से 'देशी-शब्द' एवं 'देशी-भाषा' दोनों का बोध होता है। अपभ्रंश में देशी-शब्दों के बहुल-प्रयोग का पीछे उल्लेख किया जा चुका है। ये 'देशी-शब्द' थे किस भाषा के? आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में उन शब्दों को 'देशी' कहा है जो संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव रूपों से भिन्न हों। रुद्रट (९०० ई०) ने भी अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में उन शब्दों को 'देशी' कहा है, जिनकी प्रकृति-प्रत्यय-मूला-व्युत्पत्ति संभव न हो। यही अभिप्राय प्राकृत-वैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र ने भी व्यक्त किया है। 'देशी नाम-माला' में आचार्य

हेमचन्द्र ने ऐसे शब्दों का संग्रह किया है, जिनकी व्युत्पत्ति किसी संस्कृत धातु अथवा शब्द से, व्याकरण के नियमों के अनुसार नहीं होती। परन्तु पिशेल, डा० पी० एल० वैद्य आदि भाषाविज्ञानियों ने आचार्य हेमचन्द्र के अनेक देशी-शब्दों को संस्कृत से व्युत्पन्न दिखाया है। वास्तव में ये 'देशी-शब्द' जन-भाषा के प्रचलित शब्द थे, जो स्वभावतया 'अपभ्रंश' में भी चले आए थे। जन-भाषा व्याकरण के नियमों का अनुसरण नहीं करती, परन्तु व्याकरण को जन-भाषा की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना पड़ता है। प्राकृत-वैयाकरणों ने संस्कृत के ढाँचे पर व्याकरण लिखे और संस्कृत को ही प्राकृत आदि की प्रकृति माना। अतः जो शब्द उनके नियमों की पकड़ में न आ सके उनको 'देशी' संज्ञा दी गई। पिशेल ने भी यही मत प्रकट किया है कि 'देशी' शब्द देशीय-तत्वों (Heterogeneous elements) के सूचक हैं।

प्राचीन-काल से ही बोलचाल की भाषा को 'देशी-भाषा' अथवा 'भाषा' कहा जाता रहा है। पाणिनि के समय में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी, अतः पाणिनि ने इसको 'भाषा' कहा है। पतञ्जलि के समय तक संस्कृत केवल शिष्ट-समाज के व्यवहार की भाषा रह गई थी और प्राकृत बोलचाल की भाषा बनी। तब प्राकृत के लिए 'भाषा' शब्द प्रयुक्त हुआ। प्राकृत के पश्चात जब अपभ्रंश लोक-भाषा बनी, तब यही 'देशी-भाषा' कही जाने लगी। महाकवि बाण ने अपने मित्र-वर्ग में प्राकृत-कवि 'वायु विकार' के साथ-साथ 'भाषा-कवि' ईशान का उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि बाण के समय में बोलचाल की भाषा प्राकृत से भिन्न रही होगी। अपभ्रंश-कवियों ने अपनी भाषा को 'देशी' कहा है। 'पउम चरिउ' में स्वयंभू कवि ने अपनी कथा की भाषा को 'देशी' बताया। कवि पुष्पदंत (९६५ ई०) ने अपने 'महापुराण' की भाषा के लिए 'ण वियाणमि देसी' कहा और पद्मदेव (१००० ई०) ने अपने 'पासणाह चरिउ' को 'देसी सद्दत्थ गाढ़' कहा। इससे स्पष्ट है कि जब तक अपभ्रंश लोक-भाषा रही, इसको 'देशी-भाषा' कहा जाता रहा। आ० आ० भा० के कवियों ने भी अपनी भाषा के लिए 'देशी' अथवा 'भाखा' शब्द का व्यवहार किया। गो० तुलसीदास ने 'मानस' की भाषा को अवधी न कहकर भाखा, कहा है। प्रसिद्ध मराठी संत ज्ञानेश्वर ने भी गीता की अपनी मराठी टीका 'ज्ञानेश्वरी' की भाषा के लिए 'अम्हाँ प्राकृता देशी कारें बन्धे गीता' लिखा है।

अतः 'देशी-भाषा' जन-भाषा का ही नाम है और जिस काल एवं स्थान में जो भाषा इस पद पर आसीन रही, वह इस नाम से अभिहित हुई। ६००-

१२०० ई० तक अपभ्रंश 'देशी-भाषा' के पद पर आरूढ़ रही और यद्यपि उसके बाद भी ईसा की तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दि तक उसमें साहित्य-रचना होती रही, परन्तु तब यह केवल साहित्य-रूढ़ भाषा-मात्र रह गई थी। उस समय आधुनिक-आर्य- भाषाएँ बोलचाल की भाषाएँ बनकर 'देशी' नाम की अधिकारिणी बन गई थीं।

अपभ्रंश में हमें उन प्रवृत्तियों का प्रारम्भ मिल जाता है, जो आगे चलकर हिन्दी में विकसित हुईं। शब्द-एवं धातु रूपों में नये-नये प्रयोग कर अपभ्रंश ने हिंदी तथा अन्य आधुनिक-आर्य-भाषाओं के विकास की आधार-भूमि उपस्थित कर दी। अपभ्रंश का साहित्यिक-क्षेत्र भी प्रधानतया वही मध्यदेश है जो हिंदी का जन्म-स्थान है। अतः कुछ विद्वानों ने अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' कहना चाहा है। हिंदी के विकास की पीठिका होने के कारण अपभ्रंश के लिए 'पुरानी हिंदी' शब्द का प्रयोग अनुचित भी क्या है ?

पाँचवाँ अध्याय

संक्रान्ति-काल तथा आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं का उदय

अपभ्रंश-काल की समाप्ति और आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं के स्वरूप-ग्रहण के बीच का काल भारतीय-आर्य-भाषा के विकास-क्रम में बहुत अस्पष्ट-काल है। निश्चित्-रूप से यह निर्धारण कर सकने का अभी तक कोई असंदिग्ध-साधन उपलब्ध नहीं है कि कथ्य-भाषा के रूप में अपभ्रंश कब तक बनी रही और कब आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाएँ अपनी अलग-अलग विशेषताओं से पूर्ण होकर अस्तित्व में आईं। साहित्य की भाषा का प्राचीनता-प्रेम प्रसिद्ध है। कथ्य-भाषाओं को बहुत बाद में साहित्यिक-भाषा के रूप में व्यवहृत होने का सौभाग्य प्राप्त होता है और ऐसा हो जाने पर भी भाषा के प्राचीन-रूपों का सर्वथा परिहार उसमें नहीं होता। समस्त भारतीय-वाङ्मय इस बात का प्रमाण है। अतः कथ्य-भाषा के रूप में अपभ्रंश की स्थिति न होने पर भी बहुत समय तक अपभ्रंश में साहित्य-रचना होती रही और आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं की प्राचीन-रचनाओं में भी अपभ्रंश रूपों का व्यवहार होता रहा। परन्तु आचार्य हेमचन्द्र (बारहवीं शती) का अपभ्रंश-व्याकरण लिखना यह सिद्ध कर देता है कि उनके समय तक अपभ्रंश साहित्य-रूढ़ भाषा हो चुकी थी और कथ्य-भाषा का स्वरूप इससे विकास की अगली सीढ़ी की ओर अग्रसर हो चुका था। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रंथ 'काव्यानुशासन' में 'ग्राम्यापभ्रंश' का उल्लेख किया है। संभवतः इससे आचार्य का अर्थ तत्कालीन कथ्य-भाषा से रहा हो। आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में ईसा की सोलहवीं-शती से साहित्यिक-रचनाएँ मिलने लगती हैं। भाषा का जो स्वरूप इन प्रारम्भिक-रचनाओं में मिलता है वह अपभ्रंश की विशेषताओं से मुक्त एवं आ० भा० आ० भा० की विशेषताओं से युक्त है। परन्तु भाषा के इस स्वरूप का साहित्य-रचना के लिए स्वीकृत होना प्रकट करता है कि भाषा का यह स्वरूप इन साहित्यिक-रचनाओं के समय से पर्याप्त समय पहिले अस्तित्व प्राप्त कर चुका था और लोक में प्रतिष्ठित हो चुका था, नहीं तो, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, साहित्य में इसको स्थान न मिला

होता। इस दृष्टि से विचार करने पर आ० भा० आ० भाषाओं की स्वरूप-प्राप्ति का समय इन रचनाओं से एक शती पूर्व अनुमानित किया जा सकता है। इस प्रकार पन्द्रहवीं शती तक भारतीय-आर्य-भाषा आधुनिक-काल में पदार्पण कर चुकी थी और आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् तेरहवीं शती के प्रारम्भ से आ० भा० आ० भाषाओं के अभ्युदय के समय पंद्रहवीं शती के पूर्व तक का काल संक्रान्ति-काल था, जिसमें भारतीय-आर्य-भाषा धीरे-धीरे अपभ्रंश की स्थिति को छोड़ कर आधुनिक-काल की विशेषताओं से युक्त होती जा रही थी।

संक्राति-कालीन-भाषा के अध्ययन के लिए अभी तक बहुत कम सामग्री उपलब्ध हो सकी है और जिन थोड़ी सी कृतियों में इस काल की कथ्य-भाषा के अध्ययन की सामग्री मिलती भी है, उन पर भी साहित्यिक-अपभ्रंश (शौरसेनी-अपभ्रंश) का प्रभाव पर्याप्त-मात्रा में अभिलक्षित होता है, जिससे उनको तत्कालीन अमिश्रित-कथ्य-भाषा की रचनाएँ नहीं कहा जा सकता। तब भी इन ग्रन्थों में संक्रान्ति-काल की अस्थिरता के, प्राचीनता के साथ नवीनता की ओर उन्मुख होने के लक्षणों के दर्शन हो ही जाते हैं। भारतीय-इतिहास के इस काल में भी मध्य-देश के राज-वंशों का प्रभुत्व समस्त उत्तरापथ में बना हुआ था। अतः उनकी राजसभाओं में आदृत मध्यदेशीय-अपभ्रंश, शौरसेनी, अन्य प्रान्तों में भी संस्कृत-वर्ग की भाषा के रूप में आदर पाती थी और प्राच्य-प्रदेशों एवं दक्षिण में, महाराष्ट्र की ओर भी, इस काल में, देशी भाषा में रचित साहित्य पर इस भाषा की पर्याप्त छाप पड़ती रही। इसलिए इन रचनाओं में भाषा के प्रान्तीय-स्वरूप का पूरा निखार नहीं मिलता, केवल विशेष प्रवृत्तियों के ही दर्शन होते हैं।

निम्न-लिखित कृतियों में संक्रान्ति-कालीन-भाषा मिलती है—'संनेहय, रासय' (संदेशक-रासक), 'प्राकृत-पैङ्गलम्', 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह', 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणम्', 'वर्ण-रत्नाकर', 'कीर्तिलता', 'चर्यापद', तथा 'ज्ञानेश्वरी'। इनमें से संनेहयरासय तथा प्राकृत-पैङ्गलम् एवं-पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह के कुछ पद्यों में उत्तर-पश्चिम की, उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणम् में कोसल-प्रदेश (आधुनिक अवधी-क्षेत्र) की तथा प्राकृत-पैङ्गलम् के कुछ पद्यों, वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता तथा चर्यापदों में प्राच्य-प्रदेश की और ज्ञानेश्वरी में महाराष्ट्र-प्रदेश की संक्रान्ति-कालीन-भाषा की प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। नीचे इस सामग्री का परिचय दिया जाता है।

संनेहय-रासय[१] (संदेश-रासक) कवि अद्दहमाण (अब्दुल रहमान)

१. 'संदेश-रासक'—'सिंघी जैन ग्रंथमाला-ग्रंथाङ्क २२—सम्पादक मुनि जिन विजय, प्रकाशक—भारतीय-विद्या-भवन, बम्बई।

की काव्य-कृति है। इसमें एक विरहिणी-नायिका किसी पथिक द्वारा अपने पति को संदेश भेज रही है और इसी प्रसङ्ग में विभिन्न-ऋतुओं में अपनी विरहावस्था का वर्णन करती है। कवि अद्दहमाण के निवास-स्थान इत्यादि के विषय में कोई निश्चित सूचना इस रचना में या अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। अपने विषय में कवि ने लिखा है—

"पच्चाएसि पहूओ पुव्व पसिद्धो य मिच्छदेसोत्थि।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥ ३ ॥
तह तणओ कुलकमलो पाइय-कव्वेसु गीयविसयेसु।
अद्दहमाण पसिद्धो संनेहय-रासयं रइयं ॥" ४ ॥

"पश्चिम देश में पूर्व-काल से बहुत प्रसिद्ध जो म्लेच्छ देश है, वहाँ जुलाहा मीरसेन उत्पन्न हुआ। उसके प्राकृत-काव्यों एवं गीतविषयों में प्रसिद्ध उसके पुत्र अद्दहमाण ने संनेहय-रासय (संदेशक-रासक) की रचना की।" इससे केवल इतना विदित होता है कि अद्दहमाण मुसलमान जुलाहा था और पश्चिम-प्रदेश-निवासी था।

अपने काव्य के विषय में अद्दहमाण का निवेदन है कि "जो न मूर्ख हो और न पण्डित, (अपितु जो) बिचली श्रेणी का हो, उसके ही सामने (यह काव्य) सदैव पढ़ा जाना चाहिए।"[1] इससे स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य सर्व-साधारण के लिए काव्य-रचना करने का था। उच्च-वर्ग में तब भी संस्कृत अथवा प्राकृत-काव्यों का आदर था और साहित्यिक-अपभ्रंश में रचित काव्य भी पढ़े-लिखे लोगों के सम्मान की वस्तु थे। अतः लोक-प्रचलित-भाषा में रचना करने वाले कवि का यह आग्रह ठीक ही था। संनेहय-रासय की रचना चूँकि जन-साधारण के लिए हुई, अतः इसकी भाषा भी तत्कालीन लोक-भाषा है, इसमें संदेह नहीं। इस काव्य के रचना-काल के विषय में श्री मुनि जिन विजय का मत है कि इसकी रचना विक्रम-संवत् ११७५—१२२५ के बीच के समय में हो गई होगी। नीचे संक्षेप में इसकी भाषा की प्रमुख विशेषताओं पर विचार किया जाता है।[2]

ध्वनि-विकास एवं शब्द-रूपों की दृष्टि से 'संदेश-रासक' की भाषा, आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विचारित 'साहित्यिक-अपभ्रंश' से बहुत आगे नहीं बढ़ी है। द्वित्व-व्यञ्जनों को सुरक्षित रखना, प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा के स्वरमध्यग 'मृ'

---

१. 'संदेश-रासक'-पद्य २१। २. 'संदेश-रासक'—भूमिका-पृ० १३।

का 'व्' (वँ) में परिवर्तन (यथा, डवण<दमन; रवणिज्ज<रमणीय इत्यादि), 'अनुज्ञा-प्रकार' में 'इ' 'हि', 'उ' तथा 'अ' प्रत्ययों का प्रयोग, 'इवि', 'अवि', 'एवि', 'एविणु', 'इ', 'अप्पि' प्रत्ययान्त 'क्रियापदों' (absolutives) का व्यवहार और स् एवं ह-भविष्यत् का उपयोग इत्यादि बातें देखकर इसकी भाषा को 'अपभ्रंश' कहना ही उचित जान पड़ता है। परन्तु अपभ्रंश की इन विशेषताओं को सुरक्षित रखते हुए भी इसकी भाषा में वह प्रवृत्तियाँ विकसित होती हुई दिखाई देती हैं जिन्होंने आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं को जन्म दिया। नीचे इन प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराया जाता है।

'संदेश-रासक' की भाषा में पदान्त-अनुनासिक के लोप की प्रवृत्ति बढ़ती हुई दिखाई देती है। कारक-विभक्तियों के अननुनासिक-रूपों का सानुनासिक-रूपों की अपेक्षा यहाँ अधिक प्रयोग हुआ है। इसप्रकार करण एवं अधिकरण-कारक में हिं की अपेक्षा-हि विभक्ति-युक्त रूप अधिक मिलते हैं। यही बात सम्बन्ध-कारक में भी दिखाई देती है। यहाँ भी इ-कारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के बहुवचन को छोड़कर अन्य सभी-स्थानों पर अननुनासिक—हि को ही अधिकतर अपनाया गया है। नपुंसक-लिङ्ग-शब्दों के कर्ता-कर्म कारक में—अइँ की अपेक्षा—अइ विभक्ति-प्रत्यय का ही अधिक प्रयोग मिलता है। इसीप्रकार हउँ, तुहुँ, मइँ, किंवि काँइ की अपेक्षा हउ, तुहु, मइ, किवि, काइ रूपों का ही अधिक व्यवहार किया गया है।*

अनेक शब्दों में इ>य; यथा, कयवरिहिं (=कइ– =कवि–), विउयह (विउय– =विउइ=वियोगी); कयवर (कय=कइ=कवि), केयय (=केवइ=केतकी)। 'दोहा-कोष' (परिचय आगे दिया जायेगा) की भाषा में भी ये परिवर्तन अभिलक्षित होते हैं।

संवृत-अक्षरों (closed Syllables) में बहुधा –अ–>–इ–, यथा, ससिहर<ससहर<शशधर; गग्गिर<गग्गर<गद्गद; उक्किक्ख<उक्कंख<उत्कांक्षा। कुछ शब्दों में –अ–>–उ–, यथा; अंजुलि<अञ्जलि; पउहर<पदधरा; पउदंडउ>पददण्डकः।

निम्न उदाहरणों में –इ–<–अ–, विरहणि<विरहिणी;

---

* विशेष-विवरण के लिए देखिए—'संदेश-रासक' मुनि जिन-विजय द्वारा सम्पा० के 'प्रास्तर' भाग में पृ० २-८।

धरत्ति<धरित्री (हिं० धरती); णिबड<निबिड (हिं० निपट); घरणिय <गृहिणी (हिं० घरनी); नद्दणी>नदिनी, विवह<विविध ।

–उ–>अ; यथा, उत्तंग<उत्तुङ्ग; चउग्गणी<चतुर्गुणिता, पलट्टिहि (पलुट्टिहि, हिं० पलटना); कुसम<कुसुम ।

–उ–>–व्–; यथा, णेवर<नूपुर; पावस (<पाउस<प्रावृष); गोवर<गोउर<गोपुर ।

संवृताक्षरों (closed syllables) में ए>इ और ओ>उ; यथा, सिज्ज<सेज्जा<शय्या, मुत्तिय<मोत्तिअ<मौक्तिक ।

आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में पूर्ण-विकास पाने वाली स्वर-संकोच की प्रवृत्ति भी यहाँ परिलक्षित होती है ।—अआ—>आ, यथा, सुन्नार (हिं० सुनार्)<*सुन्नआर<स्वर्णकार; अंधार (वंग० आंधार्) < अंधआर<अंधकार ।–अय अथवा–अअ>–आ; यथा, तंडुला<तंडुलय <तंडुलकं ।–इय अथवा इअ>ई; यथा, मंजरी<अप० मंजरि (पदान्त दीर्घ स्वर को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप; 'क-स्वार्थे' प्रत्यय से बढ़ाकर इसका रूप मंजरिअ हुआ)<मञ्जरी । 'क' प्रत्यय द्वारा पदान्त-ह्रस्व-स्वरों को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति अपभ्रंश-काल में चल पड़ी थी । आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में इस 'क'>अ ने पदान्त-स्वर को दीर्घ बनाने में सहायता की है । इय>ई के सादृश्य पर चडी (हिं० चढ़ी)<चडिय, तुट्टी (हिं० टूटी) <तुट्टिय जैसे वर्तमान-कालिक-कृदन्त रूप 'संदेश-रासक' में मिलते हैं ।

'अ आ' एवं 'आ अ' के बीच य्-श्रुति का सन्निवेश अनिवार्य-रूप से मिलता है; यथा—कयवर<कअवर<कविवर । इसीप्रकार व्-श्रुति के भी कुछ उदाहरण यहाँ मिल जाते हैं; यथा—रुवइ<रुअइ<रुदति; उवर <उदर ।

हम पीछे देख चुके हैं कि अपभ्रंश में –म्–>–वँ– । 'संदेश-रासक' में –वँ– में अनुनासिक-ध्वनि का लोप हो गया है; यथा—डवण< *डवँण<दमन; रवणिज्ज<रमणीय । कहीं-कहीं –व्– का लोप भी हो गया है; यथा—सउ<सवुँ<समम्; पंचउ<पंचवुँ<पञ्चमम् । म्–>व से प्राप्त –व्– के अतिरिक्त, शब्द में मूलतः अवस्थित –व्– भी अनेक शब्दों में लुप्त मिलता है; यथा—मंनाएवि <मंनावेवि (<मंनाव–), भाइयइ(– हिं० भाये) < भावियइ < भाव्यते; रुआवि √रुविवि (√रुव –); चडाइयइ< चडावियइ (√चडाव–), पाइय>पाविय

(√पाव – <प्र – √आप्)। स्वरमध्यग 'व्' के लोप की प्रवृत्ति खड़ीबोली, ब्रज आदि में मिलती है।

स्>ह्; यथा—संनेहय-रासक (–संदेस–<संदेश–); दह<दस<दश–; दियह<दिवस। तुअ<तुह; तूँ<तुहुँ इत्यादि में स्वरमध्यग –ह्– का लोप हो गया है।

'संदेस-रासक' में संयुक्त-व्यञ्जनों के निम्नलिखित परिवर्तन अनुलक्षणीय हैं—

सं० ज्व्>झ् या ब्; यथा, झाल < ज्वाला (मिलाइये, गढ़वाली 'झल्') बलइ> ज्वलति (मिलाइये – हिं० √बल्ना)

ल्ल>ल्ह् –; यथा √मिल्ह् – <√मेँल्ल इत्यादि। 'ल्ह्' तथा इसी के सदृश न्ह्, म्ह् इत्यादि महाप्राण-ध्वनियाँ सभी आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में उपलब्ध होती हैं। इनका प्रारम्भ संक्रान्ति-काल में हो गया था, इसके प्रमाण 'संदेस-रासक' इत्यादि तत्कालीन ग्रन्थों की भाषा में मिल जाते हैं।

'शिन्-ध्वनि+ स्पर्श-व्यञ्जन' में यहाँ स्पर्श-व्यंजन का द्वित्व मिलता है; यथा—अच्चरिय (मिलाओ हिं० अचरज) <आश्चर्य; चउक्कय (मिलाओ, हिं० चौक)<चतुष्क–।

कुछ शब्दों में नासिक्य-व्यञ्जन+निरनुनासिक-व्यञ्जन में नासिक्य-व्यंजन का द्वित्व हो गया है; यथा—साम्मोर<*सम्मउर<*सम्ब-उर<शाम्बपुर; संनेहय<संदेसक<संदेशक। यह प्रवृत्ति वर्णरत्नाकर की भाषा में भी मिलती है और गुजराती इत्यादि आ० भा० आ० भाषाओं में पर्याप्तरूप से महत्वपूर्ण है।

द्वित्व या संयुक्त-व्यंजनों में से केवल एक-व्यंजन को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति, जो आ० भा० आ० भाषाओं में पूर्णतया विकसित हुई है, 'संदेस-रासक' की भाषा में भी प्रारम्भ हो गई प्रतीत होती है। द्वित्व-व्यंजन में से एक को रखकर पूर्ववर्ती-स्वर को दीर्घ करने के कुछ उदाहरण ये हैं—ऊसास<उस्सास<उच्छ्वास; नीसास<निस्सास<निःश्वास; दीसइ<दिस्सइ<दृश्यते; जागन्तिय<जग्ग–<जाग्र– । पूर्व-स्वर को दीर्घ किए बिना ही द्वित्व-व्यंजन के सरलीकरण के उदाहरण भी यहाँ उपलब्ध होते हैं; यथा—इकत्ति<इक्कत्ति > एकत्र; इकट्ट < इक्कट्ठ < एकस्थ; आलसु < आलस्स <आलस्य।

छन्दानुरोध से व्यंजनों को द्वित्व करने की प्रवृत्ति जो आगे डिंगल

कविता में विकसित हुई, 'संदेश-रासक' में भी कुछ शब्दों में दिखाई देती है; यथा—सब्भय<सभय; परव्वस<परवस<परवश; चिरग्गय<चिरगय <चिरगत इत्यादि।

पदान्त-दीर्घ-स्वर को ह्रस्व करने की अपभ्रंश की प्रवृत्ति 'संदेश-रासक' की भाषा में भी पूर्णयता सक्रिय है, परन्तु यहाँ पदान्त-स्वरों के संकोच के परिणाम-स्वरूप पदान्त में दीर्घ-स्वर भी मिलने लगते हैं; यथा–दोहा < दोहअ < दोधक; गाहा < गाहअ ('क स्वार्थे' के योग से) < गाथा; थड्ढा< थड्ढअ < स्तब्ध; पवसिया < पवसिय (अ) < प्रवसिता; दिंती< दिंति (अ)<ददती; चउग्गुणी < चउग्गुणिअ < चतुर्गुणिता; आरू (हिं० आड़) < आरुय; तूँ (हिं० तू) < * तुवँ < त्वम्।

शब्द-रूपों में सरलीकरण की प्रवृत्ति 'संदेश-रासक' की भाषा में पूर्णतया विकसित हुई मिलती है। पदान्त में इ,-उ,-इन् वाले प्रातिपदिकों को यहाँ–य प्रत्यय (< क स्वार्थे) जोड़कर या सीधे-सीधे ही अकारान्त-प्रातिपदिकों की श्रेणी में रख लिया गया है, यथा–रिसिय < ऋषि (+क); अंसुय < अश्रु (–क), अणुराइय < अनुरागिन् (+क), कामिय < कामिन् (+क); अस < असु; संनिह < संनिधि; अथवा अकारान्त-प्रातिपदिकों में लगने वाले विभक्ति-प्रत्ययों को इ, उ कारान्त प्रातिपदिकों में भी प्रयुक्त कर यह भेद मिटाया गया है; यथा–राहि ('राहु' शब्द का तृतीया एकवचन का रूप =सं० राहुणा); तुंबरि ('तुंबरु' का तृ० ए० व० का रूप) इत्यादि। इसप्रकार प्रातिपदिकों का केवल एक भेद 'अकारांत' ही अवशिष्ट रह गया है।

स्त्रीलिङ्ग के रूप बनाने के लिए 'संदेश-रासक' की भाषा में या तो (१) – इय प्रत्यय लगाया गया है; यथा–करंतिय (पुं० लि० करंत या करंतउ) या (२) इ (< सं० – ई) ही रखा गया है; यथा, करंति, अथवा (३) इय के संकोच के परिणाम-स्वरूप ई प्रत्यय का व्यवहार हुआ है; यथा– करंती (< करंतिय)। अनेक स्थानों पर अकारांत-पुल्लिङ्ग-रूप ही स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग किए गए हैं; यथा– करंत (पुं० लि० एवं स्त्री० लिं०)।

'संदेश-रासक' में नपुंसक-लिङ्ग एवं पुंलिङ्ग-रूपों में कोई भेद नहीं रह गया है। नपुंसक-लिङ्ग-शब्दों में पुंलिङ्ग-विभक्ति-प्रत्ययों का व्यवहार कर नपुंसक-लिङ्ग व्यावहारिक-रूप में यहाँ समाप्त हो गया है। आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में से केवल गुजराती, मराठी एवं कोंकणी में ही नपुंसक-लिङ्ग सुरक्षित है; अन्यत्र इसका लोप हो गया है।

लिङ्ग-व्यत्यय के कुछ उदाहरण भी 'संदेश-रासक' में मिल जाते हैं; यथा, झुणि (स्त्रीलिङ्ग) <ध्वनिः (पुं० लि०); देह (स्त्री-लिङ्ग) <सं० देह- (पुं० लि०) इत्यादि। आ० भा० आ० भा० में लिङ्ग-व्यत्यय के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

'संदेश-रासक' की भाषा, आ० भा० आ० भाषाओं के कितने समीप पहुँच गई है, इसका अनुमान इस बात से लग जाता है कि इसमें प्रायः सभी कारकों एवं वचनों में केवल प्रातिपदिक-रूप का व्यवहार पर्याप्त-मात्रा में हुआ है। कुछ उदाहरण ये हैं—'विरह सवसेय कय' (=विरहेण शवशेषाः कृताः 'विरह से शव-मात्र शेष किये गये'), विरहग्गि धूम लोयण सवणु (=विरहाग्नि धूमेन लोचनस्रवणम् 'विरहाग्नि के धुएँ से आखों का बहना'), णेवर चरण विलग्गिवि (नूपुरः चरणे विलग्य), पिम्म विओय विसंठलयं हियंं (=प्रियवियोगे विसंस्थूलं हृदयम्'), जसु पवसंत (=पवसंहत<प्रवसतः) ण पवसिया, इत्यादि।

धातु-रूपों में भी सरलीकरण पूर्णरूपेण कार्यान्वित हुआ है। यहाँ सभी धातुएँ रूप-विचार से प्रथम-गणीय हैं; करेइ, सिंचेइ जैसे रूप छन्दानुरोध से यत्र-तत्र रख दिये गए हैं। समापिका-क्रिया-पदों (Finite verbs) के सामान्य-वर्तमान (Present Indicative) में, आज्ञा-प्रकार (Imperative) मध्यम तथा अन्य पुरुष में, विधिप्रकार (Optative) उत्तम एवं मध्यम-पुरुष एक वचन में तथा भविष्यत् (Future) काल के और असमापिका क्रिया-पदों (Infinite verbs) के वर्तमान-कालिक-कृदन्त (Present Participle), अतीत-कालिक-कृदन्त (Preterite Participle), क्रियामूलक-विशेष्य (Gerund), पूर्वकालिक-क्रियापद (Absolutive) तथा क्रियाबोधक संज्ञा (Infinitive) के रूप मिलते हैं।

अतीतकालिक-कृदन्त (Preterite Participle)—इय (या–इयउ) प्रत्यय के योग से बनाए गए हैं: यथा, हुइय (हिं० हुई) और स्वर-संकोच द्वारा –इय<–ई के भी उदाहरण यहाँ मिल जाते हैं: यथा, तुट्टी (हिं० टूटी); चढी (हिं० चढ़ी) इत्यादि।

पूर्वकालिक-क्रियापद (Absolutive) का उदाहरण 'संदेस-रासक' में इसप्रकार मिलता है—'विरह-हुयासि दहेवि करि' (=विरहहुताशे दग्ध्वा 'विरह हुताश में दह (जला) कर')। इस प्रयोग से 'संदेश-रासक' की भाषा ने

हिन्दी के 'कह कर', 'खा कर' 'हँस कर' इत्यादि प्रयोगों को प्राचीनता पर प्रकाश डाल दिया है।

विभिन्न कारकों में प्रातिपदिक-मात्र के प्रयोग तथा विभक्ति-प्रत्ययों के बहुत घिस जाने के फलस्वरूप कारक-संबंध प्रकट करने के लिये परसर्गों का प्रचुर प्रयोग, 'संदेश-रासक' की भाषा में किया गया है। करण-कारक में 'सत्थिहि' (सत्थ<सार्थ का अधिकरण कारक ए० व० का रूप, मिलाओ हिं० साथ), सम, सउ (मिलाओ हिं० सों से), 'सरिसु सरिसउ' (<सदृश); अपादान में 'हुंतउ, (<हू--<भू--का रूप); यथा, तिहं हुंतउ ('वहाँ से'), 'ठ्ठियउ' (<स्थित); यथा, 'कवालु.. वामकर ठ्ठियउ' ('बायें हाथ पर टिका माथा'), 'रेसि' ('कारण' के अर्थ में'); यथा, कुकवित्तरेसि (= 'कुकवित्त के कारण'), तथा 'लग्गि'; यथा, 'कइय लग्गि' (कब से); सम्बन्ध-कारक में 'तरिण'; यथा, मइ तरिण (मेरा); तथा अधिकरण में 'महि' (हिं० 'में'); यथा, मरण महि (मन में) परसर्गों का प्रयोग मिलता है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि 'संदेश-रासक' की भाषा अपभ्रंश और आ० भा० आ० भाषाओं के बीच में स्थित है। नवीन प्रवृत्तियाँ यहाँ विकास पाने लगी हैं। इसकी भाषा में पश्चिमी-हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि के बीज देखे जा सकते हैं।

प्राकृत-पैङ्गलम्—

यह छन्दः शास्त्र का ग्रन्थ है। छन्दों के उदाहरण-स्वरूप इसमें जो पद्य संकलित किए गए हैं, वे एक काल के नहीं हैं। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का विचार है कि ये पद्य ९००-१४०० ई० तक की रचनाएँ हैं। इसमें दो छन्द 'कर्पूर-मंजरी' (प्राकृत) के भी हैं। अधिकांश-पद्यों में साहित्यिक-अपभ्रंश ही मिलती है, परन्तु कुछ में संक्रान्ति-कालीन-भाषा के भी यत्किंचित् दर्शन हो जाते हैं और आ० भा० आ० भाषाओं के पूर्वरूप मिल जाते हैं। उदाहरण-स्वरूप यहाँ ऐसे कुछ पद्य उद्धृत किए जाते हैं।

ढोल्ला मारिअ ढिल्लि महं मुच्छिअ मेच्छ सरीर।
पुर जज्जल्ला मंतिवर चलिअ बीर हम्मीर॥
चलिअ बीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ
दिग मग णह अंधार धूलि सूरह रह झंपइ।

दिग मग णह अंधार आणु खुरसाणक ओल्ला
दरमरि दमसि विपक्ख मारअ दिल्लि मह ढोल्ला ॥

(प्रा० पैं० पृ० २४६ छन्द १४७)।

हिन्दी से इसकी समानता निम्नलिखित शब्दानुवाद से स्पष्ट हो जायेगी।

ढोल मारा (बजाया) दिल्ली में, (तो) मूर्छित-हुआ म्लेच्छ सरीर।
पुर (आगे कर) जज्जल मंत्रिवर (को) चला वीर हमीर ॥
चला वीर हमीर पाँवों (के) भार (से) मेदिनी काँपे
दिग (दिशाओं) मग (मार्ग) नभ (में) अंधेरा (छा गया) धूल (से)
सूरज-रथ झांपे (झंप गया)।
दिग-मग-नभ (में) अंधेरा, आने (ले आया, जीत लिए)
खुरासान के ओल (सरदार)
दलमल-कर (दलितकर), दमन कर विपक्ष (को), मारा
(बजाया) दिल्ली में ढोल ॥

इसी प्रकार निम्नलिखित-पद्य की रेखांकित-पंक्तियाँ अवधी का स्पष्टरूप प्रकट करती हैं—

पंडव बंसहि जम्म धरीजे
सम्पअ अजिअ धम्मक दिज्जे।
सोउ जुहुट्ठिर संकट पाबा
देवक लिक्खिअ केण मेटावा ॥

इसके अतिरिक्त निम्न-लिखित उद्धरणों में भोजपुरी-मैथिली और बंगला का प्राचीनरूप देखा जा सकता है—

उच्चउ छाअण विमल घरा तरुणी घरणी विणअपरा।
वित्तक पूरल मुद्दहरा बरिसा समआ सुक्खकरा ॥

(पृ० २८३, छं० १७४)

[ऊँचा छाजन, विमल घर, तरुणी घरनी (नारी) विनयपरा, वित्त-पूरित मुद्रागृह (कोष) हो तो, बरसा का समय सुखकर (होता है)।]

तरुण तरणि तवइ धरणि, पवण वह खरा,
लग णहि जल बड़ मरुथल जण जिअण हरा।
दिसइ चलइ हिअअ डुलइ हम इकलि बहू
घर णहि पिअ सुणहि पहिअ मण इछइ कहू ॥

[तरुण-तरणि (प्रचंड सूर्य) धरती को तपा रहा है, तीखी हवा चल

रही है, जल समीप (लग) नहीं है, जन-जीवन हरने वाला बड़ा मरुस्थल है; दिशाएँ चलायमान हैं, हृदय डोल रहा है, हम अकेली बहू हैं, प्रिय घर नहीं हैं; सुनते हो पथिक ! मन चाही कहो ॥]

णव मंजरि लिज्जिअ चूअह गाछे
परिफुल्लिअ केसु णआ वण आछे।

(पृ० ४६५, छं० १४४)

[आम्र वृक्ष पर नवीन मंजरियाँ लगी हैं। किंशुक प्रफुल्लित हो गए हैं, वन में नूतन शोभा है।]

'कंत ण थक्कइ पासे' (पृ० ५६३, छं० २०३)।

[प्रियतम पास नहीं है]

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि 'प्राकृत-पैङ्गलम्' के समय तक साहित्यिक-अपभ्रंश के बीच-बीच में तत्कालीन लोक-भाषाओं के रूप भी यत्र-तत्र स्थान पाने लगे थे और आ० भा० आ० भाषाएँ, यद्यपि प्रांतीय-रूप में विकसित न हो पाई थीं, परन्तु उनकी विशेषताएँ प्रकट होने लगी थीं।

पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह—

यह ग्रंथ प्राचीन-अनुश्रुतियों का संग्रह है। इसमें यत्र-तत्र संक्रान्ति-कालीन-लोक-भाषा के पद्य भी आ गए हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद्य देखा जा सकता है—

चारि पाय बिचि दुडुगुसु दुडुगुसु
जाइ जाइ पुणए रुडुघुसु रुडुघुसु।
आगलि पाछलि पूँछे हलावइ
अँधारउँ किरि मूला चावइ ॥

(पृ० १०, प० ८)

इसमें भाषा का आधुनिक रूप स्पष्ट है।

इस सामग्री पर विचार करने से ज्ञात होता है कि यद्यपि भाषा के व्रज, राजस्थानी, खड़ीबोली आदि विभेद अभी स्फुट नहीं हो पाए थे, परन्तु इनके बीज अंकुरित अवश्य होने लगे थे। भाषा अपभ्रंश की स्थिति को छोड़ती हुई आगे बढ़ती आ रही थी। दौर्भाग्यवश अभी तक खड़ीबोली-प्रदेश की कोई संक्रान्ति-कालीन-रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। उपलब्ध-सामग्री के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि इस समय की भाषा गुजराती, राजस्थानी,

ब्रज, खड़ी बोली, अवधी, इन सभी की सामान्य-विशेषताओं से युक्त थी। साहित्यिक-अपभ्रंश का भाषा पर पर्याप्त-प्रभाव था, परन्तु लोक-भाषाएँ भी जन्म लेने लगी थीं।

'अवधी' का संक्रान्ति-कालीन-स्वरूप समझने के लिए आज हमें एक प्रामाणिक-कृति उपलब्ध है। यह है 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणम्'। इस ग्रंथ के प्रकाश में आने से अवधी का प्राचीन स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो गया है। नीचे इस ग्रंथ का परिचय दिया जाता है।

उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणम्*

यह ग्रन्थ काशी-कन्नौज के गहड़वार नरेश, गोविन्द चन्द्र (१११४-११५५ ई०) के आश्रित पण्डित दामोदर की रचना है। राजकुमारों को स्थानीय-लोक-भाषा सिखाने के लिए पण्डित दामोदर ने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया था। 'उक्ति' शब्द से लोक-भाषा अथवा लोक-व्यवहार में प्रयुक्त भाषा-पद्धति अभिप्रेत है और 'व्यक्ति' का अर्थ है, विवेचन। अतः ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है कि लेखक ने इसमें तत्कालीन लोक-भाषा का परिचय दिया है। संस्कृत के माध्यम से इस ग्रंथ में लोक-प्रचलित वाग्व्यवहार की शिक्षा दी गई है। अतः संक्रान्ति-काल में काशी-कोशल प्रदेश की काव्य-भाषा के स्वरूप का प्रामाणिक परिचय इस ग्रन्थ में मिलता है। पण्डित दामोदर ने काव्य-भाषा को 'अपभ्रंश' या 'अपभ्रष्ट' नाम से अभिहित किया है। इससे विदित होता है कि बारहवीं शती तक लोक-भाषा के ब्रज, राजस्थानी, अवधी आदि भेद, सुप्रतिष्ठित न हुए थे, अपितु समस्त उत्तर-भारत की भाषा 'अपभ्रंश' या 'अपभ्रष्ट' कही जाती थी।

'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणम्' की अपभ्रंश में कोसली (पूर्वी-हिन्दी) का संक्रान्ति-कालीन-रूप तो सुरक्षित है ही, परन्तु सामान्यतः मध्यदेश एवं प्राच्य-प्रदेश की आर्य-भाषा की संक्रान्ति-कालीन-अवस्था के अध्ययन के लिये भी यह अत्यन्त महत्वपूर्ण-कृति है। इस महत्वपूर्ण-कृति को प्रकाश में लाने का श्रेय आचार्य मुनि जिन विजय को है। प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने इसकी भाषा का विस्तृत विवेचन किया है।

---

*'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणम्'—सिंघी-जैन-ग्रन्थ-माला, ग्रन्थांक ३९, प्रकाशक—सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय-विद्या-भवन, बम्बई।

इसकी भाषा की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है।

पदान्त-दीर्घ-स्वरों को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति यहाँ पूर्णतया प्रतिष्ठित है; यथा—आकांख<आकांक्षा ; वाग<वल्गा, लाज<लज्जा ; पाणि<पानीय ; गोरु<गोरूप इत्यादि।

परन्तु—इअ तथा उअ के संकोच से —ई, —ऊ भी कुछ शब्दों में में मिलते हैं; यथा—भंडारी<भंडारिअ<भंडाआरिअ<भाण्डागारिक ; गोरू<गोरुअ<गोरूप इत्यादि।

'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणम्' की अपभ्रंश में 'अनुस्वार'-ध्वनि-लुप्त हो गई प्रतीत होती है और जान पड़ता है कि आधुनिक-'कोसली' के समान उसका उच्चारण 'न्' हो गया था। स्वर-मध्यग अनुस्वार या तो सम्पर्कित-स्वर की सानुनासिकता का परिचायक था या —वँ— या —यँ— की उपस्थिति का द्योतक था; यथा—गाउं-गाउं = गाउं या गावुँ (<ग्राम—)।

नासिक्य-व्यञ्जन अथवा सानुनासिक-स्वर का सम्पर्कित स्वर भी सानुनासिक हो गया जान पड़ता है; यथा—विहांणहि (=विहाणहि<विभान-); कांहें (=काहें मिलाओ, हि॰ काहे; मांझ (=मांझ)।

विभक्ति-प्रत्ययों में सानुनासिक-रूपों के साथ निरनुनासिक-रूप भी मिलते हैं; यथा—तेइं-तेइ, सबहिं-सबहि।

नासिक्य-व्यञ्जनों के ह्रस्वोच्चरित-रूप के व्यवहार की प्रवृत्ति यहाँ भी मिलती है; यथा—नांद (=नान्द) ; सेंक (=सेम्क) इत्यादि।

न्ह्, ल्ह्, म्ह् के रूप में तीन नई महाप्राण-ध्वनियाँ भी यहाँ मिलती हैं; यथा—ऊन्ह<उष्ण; ल्हुसिआरु (= सं॰ लुण्टाकः); बाम्हण<ब्राह्मण।

श्, ष्>स् ; यथा—सांकर<शर्करा ; विस<विष।

द्वित्व-व्यञ्जनों को सरल कर पूर्व-स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति यहाँ परिलक्षित होती है; यथा—भात<भत्त<भक्त; पाक<पक्क<पक्व ; कूकुरू <कुक्कुरो<कुर्कुरः ; मीत<मित्त<मित्र; जाड़<जड्ड<जाड्य इत्यादि।

'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणम्' की 'कोसली' में क्रिया के सामान्य वर्तमान (अन्य पु॰, ए॰ व॰) के प्रत्यय—अइ, —एइ का अ में परिवर्तन हुआ है; यथा—पढ़<पढ़इ<पठति ; सोह<सोहइ<शोभते— इत्यादि। आ॰ भा॰ आ॰ भाषाओं में या तो —अइ रूप सुरक्षित है या इसका परिवर्तन —ऐ, —अए, —ए अथवा —एइ में हो गया है। मलिक मुहम्मद जायसी एवं तुलसीदास की अवधी में इस —अ परिवर्तन के उदाहरण मिल जाते हैं।

यहाँ सभी प्रातिपदिक स्वरांत हैं और रूप-निष्पत्ति में 'अकारान्त' प्रातिपदिक का अनुसरण करते हैं। इन रूपों में सरलता है। नपुंसक-लिङ्ग, पुंलिङ्ग में विलीन हो गया है। अधिक–प्रयुक्त स्त्रीप्रत्यय–इ या–ई है, यथा—नागि (हिं० नंगी), 'अंधारीं राति' ('अंधेरी रात में')। अप्राणिवाचक-शब्दों के स्त्रीलिङ्ग-रूप उस वस्तु का लघुत्व अथवा सौंदर्य व्यक्त करते हैं; यथा—पोटलि (हिं० पोट्ली); जेवडि 'रस्सी'; पोथी (पुं० लि० पाथा)।

'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणम्' की 'कोसली' विश्लेषणात्मक-अवस्था की ओर पर्याप्तरूप से अग्रसर है। इसमें परसर्गों के प्रयोग को खूब अपनाया गया है। सम्प्रदान–कारक में किह्, केहं, किंह् या किहं तथा कर, केर, अपादान में, तौ, पास और हुंत या हुंती, करण-कारक में 'पास तथा सउँ या सेउँ', अधिकरण में 'करि, माझ या मांझ' और सम्बन्ध-कारक में –'कर', 'केर' परसर्गों का अत्यधिक प्रयोग हुआ है।

धातु-रूपों में भी सरलीकरण की प्रक्रिया, अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई है। सभी धातुएं प्रथम-गणीय हैं। एक विशेषता यह है कि अनेक संज्ञा एवं विशेषण-पदों से क्रियापद बना लिए गए हैं। अनेक संस्कृत-धातुओं को तत्सम अथवा अर्ध-तत्सम्-रूप में अपनाया गया है और अनेक संस्कृत-शब्दों से भी नए-नए धातु-पद बनाए गए हैं; यथा,√जाम (<सं० जन्म),√घिण–(<सं०घृणा) इत्यादि। इनके अतिरिक्त अनेक देशी-धातुएँ भी यहाँ मिलती हैं; यथा, √कूद–√घूम–' √हिंडोल–, √रिङ्ग–, √झड–इत्यादि। √आछ्–√रह्–, √हो–सहायक क्रियाओं का काल-निर्माण में व्यवहार किया गया है।

√'कर' के संयोग से निष्पन्न संयुक्त-क्रियापद भी यहाँ मिल जाते हैं और 'लै पला' (हिं० 'ले भागना') में√ले—के साथ संयुक्त-क्रियापद का एक उदाहरण मिलता है।

'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणम्, में संस्कृत के तत्सम या अर्ध-तत्सम-शब्दों को ख़ूब अपनाया गया है। इसमें फारसी-अरबी के दो चार ही शब्द मिलते हैं।

इसप्रकार 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणम्' की लोक-भाषा, में आधुनिक-भारतीय आर्य-भाषाओं को जन्म देने वाली सामान्य-प्रवृत्तियाँ सक्रिय दिखाई देती हैं

वर्ण-रत्नाकर*—

इस ग्रंथ में 'कवि-समया' का संग्रह किया गया है। इसके प्रणेता हैं कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर और इसके सम्पादकों के मतानुसार इसका रचना-काल चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण का पूर्वार्ध है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर मिथिला के कर्णाट-वंशीय-शासक हरसिंह देव के आश्रित थे। हरसिंह देव का शासन-काल चौदहवीं शताब्दी के प्रथम-चरण का पूर्वार्ध माना जाता है। अतः यही इस ग्रन्थ का भी रचना-काल है।

'वर्ण-रत्नाकर' मैथिली का प्राचीनतम उपलब्ध-ग्रन्थ है। इसकी भाषा में मैथिली का प्राचीनरूप तो सुरक्षित है ही, बंगला आदि पूर्वी-भाषाओं के प्राचीन-रूप भी इसमें दिखाई देते हैं। वास्तव में इस समय तक बँगला, मैथिली, भोजपुरी, मगही आदि के स्पष्ट-भेद नहीं बन पाए थे। अतः मैथिली के इतिहास के लिए तो इस ग्रन्थ की उपादेयता निस्संदेह है, साथ ही बँगला, मगही, भोज-पुरी आदि के विकास के इतिहास पर भी यह ग्रंथ प्रकाश डालता है। इसकी भाषा एक ओर प्राचीन-बंगला से समानता रखती है तो दूसरी ओर अवधी से भी बहुत मिलती है। अतः समान्यतः आ० भा० आ० भाषाओं के उदय पर यह ग्रन्थ अच्छा प्रकाश डालता है। इसकी भाषा की प्रमुख विशेषताओं का यहाँ पर उल्लेख कर देना आवश्यक है।

'वर्णरत्नाकर' में पदान्त 'अ' का लघु उच्चारण जान पड़ता है और इसकी प्राप्त-पाण्डुलिपि के लेखन-काल (१५०७ ई०) में यह लुप्त होने लगा था, जैसा कि निम्न उदाहरणों से स्पष्ट है—'पाताल अइसन दुःप्रवेश; स्त्री क चरित्र अइसन्दुर्लक्ष, कइसन आह् के साथ-साथ कइसनाह् भी।

समस्त-पदों में स्वराघात न रहने के कारण 'आ', ह्रस्व 'अ' में परिणत हो गया है; यथा, कनकटा (कान-कटा), राजा – रजाएस (<राजादेश)।

ए, ओ के ह्रस्व एवं दीर्घ, दोनों, उच्चारण यहाँ मिलते हैं। संयुक्त-स्वर में, अंत में होने पर, इनका उच्चारण ह्रस्व होता था; यथा, कएलें, आठओ ('आठहु' भी) इत्यादि। शब्दों के अभ्यन्तर में ए, ओ, य, व के स्थान में भी आए हैं; यथा, कएल ('कयल' भी) आओर ('आवर' भी)।

---

* वर्ण रत्नाकर—डॉ० सुनीति कुमार चैटर्जी एवं पं० बबुआ मिश्र द्वारा सम्पा०, बिब्लि० इण्डि० सं० २६२।

शब्द में अनुनासिक-ध्वनि से सम्पर्कित-स्वर के सानुनासिक होने के उदाहरण भी यहाँ मिलते हैं। यथा, काँन (=कान<कर्ण), बाँन्धल (=बान्धल) इत्यादि। मगही, भोजपुरी तथा बंगला में यह प्रवृत्ति खूब प्रचलित है।

अनुनासिक-ध्वनि का लोप भी कहीं-कहीं मिल जाता है। तृतीया-विभक्ति-एँ (< एन), का अननुनासिक रूप-ए भी प्रयुक्त हुआ है।

नासिक्य-ध्वनि का अनुस्वार में पूर्णतया परिवर्तन नहीं हुआ है, अपितु 'लघु-नासिक्य-ध्वनि' के रूप में वह उच्चरित होती है। दान्त ('दाँत' भी), चान्द ('चाँद' भी), खोम्पा (मिलाओ, बं० खोंपा) इत्यादि उदाहरणों से यह स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है।

'क्ष' का उच्चारण आधुनिक बंगला एवं उड़िया के समान यहाँ 'क्ख' या 'क्ख्य' मिलता है; यथा, अङ्ग-रक्खक (=रक्षक), ख्यार (=क्षार)-प्रदीप इत्यादि। क्ष>ख या छ; यथा, खीर (<क्षीर); दाख<द्राक्षा; दन्त-छा< दंत-क्षत।

स्वरमध्यग व् कहीं-कहीं नासिक्य-ध्वनि में परिवर्तित हो गया है और-म्-से प्रकट किया गया है; यथा रेमन्त=रेवन्त; यमनिका = जवँनिका = यवनिका। इसके विपरीत-म्->-वँ-या-व-के उदाहरण भी मिलते हैं; यथा, दालिव = दालिवँ = दाडिम; कादव = कादवँ = कर्दम, 'कीचड़'।

पदादि में व् का उच्चारण ब् हो गया है; यथा, एवम्बिध = एवन्-विध, किम्बा = किंवा।

ड, ड़ के स्थान में ल का उच्चारण जान पड़ता है; यथा, ब्यालि (=ब्याडि); पलिहार (=पडिहार<प्रतीहार) इत्यादि।

श्, स्, का प्रायः विनिमय हुआ है, परन्तु दन्त्य स् का प्रयोग अधिक किया गया है; यथा, रजाएस = राजादेश, शचिव = सचिव इत्यादि।

न्ह्, ल्ह्, म्ह, र्ह् के रूप में नई महाप्राण-ध्वनियाँ विकसित हुई हैं; यथा, कान्हू (=कृष्ण); कोल्ह् (=कोल्ल=कोल); उन्हसइतें (= उल्हसइतें =उल्लस-)।

शब्द एवं धातु-रूपों में यहाँ अपभ्रंश से भी अधिक सरलता दिखाई देती है। सभी शब्दों के रूप समान हो गए हैं। विभक्ति-प्रत्यय घिसकर बहुत निर्बल हो गए हैं। अतः कारक-संबंध प्रकट करने के लिए परसर्गों का अधिक प्रयोग यहाँ मिलता है। करण-कारक में 'संग, सञो, सँ', सम्प्रदान में 'करण,

लागि', अपादान में 'सञो, सँ, तह्' तथा सम्बन्ध में 'क' परसर्गों का खूब उपयोग किया गया है।

क्रिया-रूपों में भूतकाल में—अल-प्रत्यय पूर्वीपन प्रकट करता है; यथा, 'भमर पुष्पोछेशे चलल', 'कुल-स्त्री सलज्ज भेलि', 'राज-धर्म चलल', 'नायके पएर पखालल', 'कदली विपरीत गति कइलि' इत्यादि।

संयुक्त-क्रियापदों का 'वर्णरत्नाकर' में खूब प्रयोग मिलता है; यथा, होइते अछ, चरइतें अछ, भेल अछ, भेलछथी, बइसल छथी, चलल अछथी इत्यादि।

'वर्ण-रत्नाकर' की भाषा में आधुनिक मैथिली जैसी व्याकरणिक जटिलता नहीं आ पाई है। इसके क्रियापद आधुनिक मैथिली की अपेक्षा बहुत सरल हैं।

इस ग्रन्थ में संस्कृत-तत्सम शब्दों का बाहुल्य है और फारसी, अरबी के शब्दों को भी अपनाया गया है। इसप्रकार 'वर्णरत्नाकर' की भाषा में संक्रान्ति-काल की विशेषताएँ प्रस्फुटित हुई हैं।

कीर्तिलता—

इसके रचयिता प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति हैं। इनका समय चौदहवीं शताब्दी का अंत एवं पंद्रहवीं शती का प्रारम्भ है। 'कीर्तिलता' की भाषा को इन्होंने 'अवहट्ठ' नाम दिया है। यह ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित है। पद्यों में 'साहित्यिक-अपभ्रंश' एवं प्राकृत के पुराने रूप गद्य-भाग की अपेक्षा अधिक हैं। साधारणतया इसकी भाषा 'साहित्यिक-अपभ्रंश मिश्रित लोक-भाषा है। अतः इसमें तत्कालीन पूर्वी का थोड़ा-बहुत परिचय मिल जाता है।

चर्यापद

बंगला के प्राचीन-रूप का कुछ परिचय हमें 'चर्यापदों' में मिलता है। ये कुल मिलाकर ४७ पद हैं और सहजिया-सम्प्रदाय के सिद्धों की रचनाएँ हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को ये पद नेपाल में प्राप्त हुए थे। शास्त्री जी के अनुसार इनकी पाण्डुलिपि बारहवीं शती की है, परन्तु राखाल दास बैनर्जी ने इसकी इतनी प्राचीनता में संदेह प्रकट करते हुए इसको चौदहवीं शती के अंतिम भाग में रखा है।

चर्यापदों की भाषा की कुछ विशेषताएँ बंगला के विकास पर प्रकाश डालती हैं। संक्षेप में विशेषताएँ इसप्रकार हैं—सम्प्रदान कारक में —'रे' सम्बन्ध में —'एर,–अर', तथा अधिकरण में —'त' विभक्ति का प्रयोग; मांझ, अन्तर

सांग परसर्गों का व्यवहार; 'आछ' 'थाक' क्रियापदों का प्रयोग; भूतकाल में -इल,-इब प्रत्यय, वर्तमान-कृदन्त में—अन्त प्रत्यय तथा कर्मवाच्य में-इअ प्रत्यय का व्यवहार।

ज्ञानेश्वरी—

यह 'श्रीमद्-भगवद्गीता' पर संत-ज्ञानेश्वर की लोक-भाषा में की गई टीका का नाम है। इसका रचना-काल तेरहवीं शती बताया जाता है। परन्तु इसकी प्रामाणिक-पाण्डुलिपि अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। इसका जो रूप आज मिलता है, वह संत ज्ञानेश्वर के तीन सौ वर्ष पश्चात्, संत एकनाथ द्वारा संशोधित है। अतः इसके आधार पर 'ज्ञानेश्वरी' की मूल-भाषा का पता नहीं लगता। श्री हरिनारायण आप्टे जैसे विद्वान ने इसकी प्राचीनता पर संदेह किया है।* इसलिए इसके विषय में अधिक कह सकना संभव नहीं है। इसकी भाषा में मराठी का आधुनिक रूप बहुत साफ दिखाई देता है। 'ज्ञानेश्वरी' की मूल प्रति प्राप्त होने पर मराठी के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा।

संक्रान्ति-काल की इस उपलब्ध समाग्री के पर्यालोचन से स्पष्टतया विदित हो जाता है कि लोक-भाषा अपभ्रंश की स्थिति को छोड़कर आगे बढ़ रही थी। परन्तु अभी तक स्थानीय-भेद इतने स्पष्ट नहीं हो पाए थे कि इनके आधार पर भाषा विभिन्न नामों से सम्बोधित की जा सके। 'संदेस-रासक' के रचयिता ने 'अवहट्टय-सक्कय-पाइयम्मि-पेसाइयंमि भासाए' रचना करने वाले कवियों को नमस्कार किया है। संभवतः 'अवहट्टय' से उसका तात्पर्य तत्कालीन मध्यदेशीय लोक-भाषा से था। 'कीर्तिलता' की भाषा को विद्यापति ने 'अवहट्ट' कहा है और 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणम्' में दामोदर पंडित ने 'कोसल' की जन-भाषा को 'अप-भ्रष्ट' कहा है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उस समय लोक-भाषा 'अवहट्ट' नाम से पुकारी जाती थी, चाहे वह मध्यदेश की हो, या कोसल की या मिथिला की।

आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषा; सामान्य-प्रवृत्तियाँ

ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी तक भारतीय-आर्य-भाषा आधुनिक-काल में पदार्पण कर चुकी थी। पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री एवं मागधी अपभ्रंश

---

* हरिनारायण आप्टे विल्सन फिलॉलोजिकल लेक्चर्स आन मराठी पृ० ७३-७४।

भाषाओं ने क्रमशः आधुनिक-सिन्धी, पंजाबी; हिन्दी (ब्रजभाषा, खड़ीबोली इत्यादि), राजस्थानी, गुजराती; मराठी, पूर्वी-हिन्दी (अवधी इत्यादि), बिहारी-बँगला-उड़िया भाषाओं को जन्म दिया। प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा में परिवर्तन एवं ह्रास की जो क्रिया मध्यकाल के प्रारम्भ (लगभग ६०० ई० पू०) में चल पड़ी थी, वह आधुनिक-भाषाओं के रूप में पूरी हुई। प्रारम्भ से ही हम देखते आये हैं कि परिवर्तन की गति आर्यावर्त के पूर्वी-भाग में सबसे तीव्र रही है; इसके विपरीत उत्तर-पश्चिम-प्रदेश में परिवर्त्तन की गति बहुत शिथिल रही है और वहाँ भाषा का स्वरूप बहुत धीरे-धीरे बदला है। मध्यदेश में जहाँ नवीन परिवर्तनों को प्रश्रय मिला, वहाँ प्राचीन-रूप भी भाषा में सुरक्षित रहे। यही बात आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में भी परिलक्षित होती है। सिंधी-पंजाबी में आर्य-भाषा का मध्यकालीन-स्वरूप बहुत कुछ सुरक्षित है; परन्तु प्राच्य-भाषा, बिहारी-बँगला में मध्यकालीन-आर्य-भाषा का स्वरूप बहुत बदल गया है, गुजराती, प्राचीन-व्याकरण को बहुत अपनाए हुए है और हिन्दी भी वर्णों के उच्चारण आदि में संस्कृत से अधिक दूर नहीं है।

मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के प्रारम्भ-काल से ही प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान धुँधला होने लगा था, जिससे स्वरों के मात्रा-काल में अनेक परिवर्त्तन हुए। नवीन-आर्य-भाषा की प्राचीन-आर्य-भाषा से तुलना करने पर स्पष्ट विदित होता है कि व्युत्पत्ति-ज्ञान के लोप हो जाने से नवीन-आर्य-भाषा में स्वरों के मात्राकाल में बहुत परित्त्र्न हो गया है। बलात्मक-स्वराघात के परिणामस्वरूप प्रायः नवीन-भारतीय-आर्य-भाषाओं में स्वरों का लोप देखा जाता है। शब्द की उपधा में बलात्मक-स्वराघात होने पर अन्तिम दीर्घ-स्वर, ह्रस्व हो जाता है; यथा— **कीरत्<कीर्त्ति; रास्<राशि;** शब्द के आदि स्वर का लोप भी बलात्मक-स्वराघात का परिणाम है; यथा, **अभ्यन्तर>हिं० भीतर;** मराठी, **भीतरी; अरघट्ट>हिं० रहट** (प्रा० अरहट्ट)।

स्वरों तथा व्यञ्जनों के उच्चारण में भी किन्हीं आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में नवीनता लक्षित होती है। बँगला में 'अ' लुंठित निम्न-मध्य-पश्च-स्वर है। मराठी में च्, ज् का उच्चारण 'त्स्' 'द्ज्' हो गया है। पश्चिमी-हिन्दी एवं राजस्थानी में 'ऐ' 'औ' अग्र एवं पश्च-निम्न-मध्य-ध्वनियाँ हैं। आधुनिक आर्य-भाषाओं में परिवर्तन की गति निम्नलिखितरूप में रही है—

(१) प्राकृत के समीकृत-संयुक्त-व्यञ्जनों 'क्क्, क्ख्, ग्ग्, ग्घ् इत्यादि' में से केवल एक व्यञ्जन-ध्वनि लेकर पूर्ववर्ती ह्रस्व-स्वर को दीर्घ करना, पञ्जाबी-

सिन्धी के अतिरिक्त सभी नवीन-भारतीय-आर्य-भाषाओं में दिखाई देता है; यथा, कर्म>प्रा० कम्म>हिं० काम (पं० कम्म); अद्य>प्रा० अज्ज>हिं० आज (पं० अज्ज); अष्ट>प्रा० अट्ठ>हिं० आठ (पं० अट्ठ)।

(२) नासिक्य-व्यञ्जन+व्यञ्जन में नासिक्य-व्यञ्जन-ध्वनि क्षीण होते-होते लुप्त हो गयी और पूर्ववर्ती-स्वर सानुनासिक हो गया। सिन्धी-पञ्जाबी इस परिवर्तन से भी प्रायः मुक्त हैं; यथा, दन्त>हि० दाँत (पं० दन्द); कण्टक>प्रा० कण्टअ>हि० काँटा (सिन्धी, कंडो, पंजाबी कंडा); कम्प->हि० काँप (सिन्धी पं० कम्ब)।

(३) अग्रपश्चात् स्वर-ध्वनि-युक्त 'ड, ढ्' अधिकांश नवीन-भारतीय-आर्य-भाषाओं में ताड़ित 'ड़, ढ़्' अथवा कम्पित 'र्—रह्' में परिणत हो गये हैं, यथा—दण्ड>प्रा० दण्ड>दाँड़, डाँड़ आदि।

(४) पदान्त अथवा पदमध्यवर्ती इ (ई)+अ एवं उ (ऊ)+अ क्रमशः ई तथा उ (ऊ) में परिणत हो गये हैं; यथा, घृत>प्रा० घिअ>आ० भा० घी; मृत्तिका>प्रा० मट्टिआ>आ० भा० माटी (हिं० मिट्टी); वत्सरूप>प्रा० बच्छरुअ>भो० पु० बछरु, बं० बाछुर, हि० बछड़ा।

(५) ध्वनि-परिवर्तन के साथ-साथ आधुनिक-आर्य-भाषाओं में लिङ्ग-विपर्यय भी द्रष्टव्य है। संस्कृत, पालि, तथा प्राकृत में तीन लिङ्ग—पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग थे; किन्तु आधुनिक-भाषाओं में पदान्त स्वरध्वनि में विकार उत्पन्न हो जाने अथवा उनका लोप हो जाने के कारण केवल दो लिङ्ग—पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग रह गये। आधुनिक-भाषाओं में गुजराती तथा मराठी में आज भी नपुंसक-लिङ्ग का कुछ-कुछ अस्तित्व वर्तमान है। सिंहली में प्राणि तथा अप्राणि-वाची शब्दों को लेकर प्राणवान तथा प्राणहीन, दो ही लिङ्ग हैं। अन्य आर्य-भाषाओं में जहाँ दो ही लिङ्ग—पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग मिलते हैं, वहाँ भी संस्कृत के पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग का अनुगमन नहीं किया गया है। ध्वनि-विपर्यय अथवा अज्ञान के फलस्वरूप संस्कृत के अनेक पुल्लिङ्ग तथा नपुंसक-लिङ्ग शब्द आधुनिक-भाषाओं में स्त्रीलिङ्ग में परिणत हो गये हैं। यथा—

	संस्कृत	आधुनिक भाषा
पुं०	अग्नि	स्त्री०*अग्निका स्त्री० आग (हिं०) आगि (प्राचीन-बंगला तथा भोजपुरी) अग्ग (पंजाबी)।
पुं०	इक्षु*उक्षु	स्त्री० ईख, ऊख (हिं०) ऊस (गुजराती) / पु० ऊस (मराठी), इक्ख (पंजाबी)।

पु० देह { स्त्री० देह (हिन्दी, पंजाबी, गुजराती)
पुं० देह (मराठी)।

नपु० दधि { स्त्री० दही (बिहारी), डही (सिन्धी),
पु० दही (हिन्दी), दहीं (पंजाबी),
नपु० दहीं (मराठी, गुजराती)।

(६) पदान्त में ध्वनि-परिवर्त्तन के परिणामस्वरूप शब्द-रूप के कतिपय चिह्न जो अपभ्रंश में बचे थे, उनका भी आधुनिक-भाषाओं में लोप हो गया। दो एक को छोड़कर संस्कृत की विभक्तियाँ भी लुप्त हो गईं। इसीप्रकार कई कारकों का भी लोप हो गया और उनके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए अनुसर्गों अथवा परसर्गों (Post positions) का प्रयोग होने लगा। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो आधुनिक भाषाओं में केवल दो ही कारक रह गये हैं—(१) कर्त्ता अथवा (Direct) कारक, (२) तिर्यक अथवा (Oblique) कारक। इनमें संस्कृत के प्रथमा एवं तृतीया-विभक्ति-युक्त-पद प्रधान-कारक (Direct) तथा षष्ठी एवं सप्तमी-विभक्ति-युक्त-पद अप्रधान-कारक (Oblique) के अन्तर्गत आयेंगे। आधुनिक-आर्य-भाषाओं में वस्तुतः अप्रधान कारक (Oblique) में ही अनुसर्ग अथवा परसर्ग (Post positions) का प्रयोग होता है।

सिन्धी, मराठी तथा पश्चिमी-हिन्दी को छोड़कर अन्य आधुनिक-भाषाओं में कर्त्ताकारक के एक वचन तथा बहुवचन के रूप एक हो गये हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि इन भाषाओं में बहुवचन-वाचक शब्द अथवा षष्ठी विभक्ति से प्रसूत अनुसर्ग अथवा परसर्ग के योग से बहुवचन के रूप बनाये जाते हैं। यथा—बङ्गला, लोकेरा < लोक-कार्य; उड़िया, पुरुष-माने < पुरुष-मानवक—असमिया,—बोर < – बहुल, – हँत<सन्त; मैथिली, लोकनि, भोजपुरी, लोगनि < लोकानाम; घोड़वन < घोटकानाम् इत्यादि।

सिन्धी, मराठी तथा पश्चिमी-हिन्दी में कर्त्ता कारक बहुवचन के कई रूप आज भी उपलब्ध हैं। यथा—

	एक वचन	बहुवचन
सिन्धी	पिउ (< पिता)	पिउर (< पितरः)
	डेह् (< देशः)	डेह (<देशाः)
मराठी	माल् (< माला)	माला (< मालाः)
	रात् (< रात्रिः)	राती (<रात्रयः)
	सूत (< सूत्रम्)	सूतें (< सूत्राणि)

पश्चिमी-हिन्दी बात् (< वार्त्ता) बातइँ < बातें (< ॐ वार्त्तानि)

पश्चिमी-हिन्दी में अकारान्त संज्ञा के चार ऐसे रूप उपलब्ध हैं जिनका प्राचीन-कारक-रूपों से सम्बन्ध है। ये हैं—प्रथमा एक वचन, तृतीया बहुवचन, सप्तमी एक वचन तथा षष्ठी बहुवचन के रूप। इनमें तृतीया बहुवचन का रूप तो कर्त्ता बहुवचन में प्रयुक्त होता है। नीचे हिन्दी की अन्य बोलियों के रूपों से तुलना करते हुए इस पर विचार किया जाता है।

आधुनिक हिन्दी-तत्सम् तथा तद्भव संज्ञा-पदों से संस्कृत की प्रथमा विभक्ति लुप्त हो गई है; किन्तु पुरानी हिन्दी, नेपाली तथा हिमालय की पर्वतीय बोलियों में 'उ' विभक्ति के रूप में यह वर्तमान है। यह 'उ' वस्तुतः प्राकृत तथा संस्कृत की प्रथमा एक वचन विभक्ति ओ एवं – अस् (स्) का प्रतिरूप है। उदाहरणस्वरूप सं० देशः > प्रा० देस- > ऊपर की बोलियों में देसु। इसी-प्रकार सं० लाभः > प्रा० लाहो > (रामचरित मानस की अवधी लाहु), आधुनिक-हिन्दी लाभ। किन्तु आधुनिक-हिन्दी के तद्भव, आकारान्त, प्रथमा एक वचन के रूप, संस्कृत अकारान्त में, स्वार्थे – क प्रत्यय जोड़ने के बाद प्रसूत हुए हैं; यथा – हिं० घोड़ा < सं० घोट-कः (ब्रज – घोड़ौ, मारवाड़ी – घोड़ो)।

आधुनिक-हिन्दी के कर्त्ता बहुवचन का रूप घोड़े वस्तुतः संस्कृत के तृतीया बहुवचन के रूप से निष्पन्न हुआ है। यथा – वै० सं० घोटकेभिः = हिं कर्ता; बहुवचन घोडहि > घोड़े।

घोड़े शब्द तिर्यक अथवा अप्रधान (Oblique) कारकों के एक वचन में भी प्रयुक्त होता है। इसकी उत्पत्ति संस्कृत के अधिकरण, एकवचन के रूप से हुई है यथा – घोटकधि = घोड़अहि > घोड़े।

इसीप्रकार आधुनिक-हिन्दी के तिर्यक्, बहुवचन के रूप घोड़ों की उत्पत्ति, संस्कृत के षष्ठी के बहुवचन के रूप घोटकानाम् से हुई है। हिन्दी की ग्रामीण-बोलियों में घोड़न तथा घोड़ाँ रूप भी मिलते हैं।

व्यञ्जनान्त-शब्दों के रूप तो हिन्दी में और भी सरल तथा कम हो गये हैं; यथा – सं० प्रथमा ए० व० पुत्रः > हिन्दी, पूत; प्रथमा ब० व० पुत्राः > हिन्दी पूत; सप्तमी ए० व० पुत्र > पूत; षष्ठी ब० व० पुत्राणाम् > हिन्दी, पूतों।

आधुनिक-आर्यभाषाओं तथा बोलियों का वर्गीकरण
भीतरी तथा बाहरी उपशाखा

सन् १८८० में, आधुनिक-भारतीय-आर्यभाषाओं के अध्ययन के आधार पर डा० ए० एफ० आर० हार्नले ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि भारत में आर्यों के कम से कम दो आक्रमण हुए। पूर्वागत आक्रमणकारी-आर्य, पंजाब में बस गये थे। इसके बाद आर्यों का दूसरा आक्रमण हुआ। मध्यएशिया से चलकर आर्यों के इस दूसरे समूह ने काबुल नदी के मार्ग से गिलगित एवं चित्राल होते हुए मध्यदेश में प्रवेश किया। मध्यदेश की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्य पर्वत, पश्चिम में सरहिन्द तथा पूरब में गंगा-यमुना के संगम तक थी। इस दूसरे आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि पूर्वागत-आर्यों को तीन दिशाओं—पूरब, दक्षिण तथा पश्चिम में फैलने के लिये बाध्य होना पड़ा। इन नवागत-आर्यों ने ही वस्तुतः सरस्वती, यमुना तथा गंगा के तट पर यज्ञपरायण-संस्कृति को पल्लवित किया। उन्हें मध्यदेश अथवा केन्द्र में होने के कारण केन्द्रीय या भीतरी आर्य के नाम से अभिहित किया गया और चारों ओर फैले हुए पूर्वागत आर्य बाहरी आर्य कहलाये।

डा० हार्नले के ऊपर के सिद्धान्त का डा० ग्रियर्सन ने अपने भाषा-सम्बन्धी-अन्वेषणों के आधार पर पहले लिंग्विस्टिक-सर्वे भाग १ खण्ड १ पृ० ११६ में तथा बाद में 'बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरियंटल स्टडीज़, लण्डन इंस्टिट्यूशन' भाग १, खण्ड ३, १६३० पृ० ३२ में समर्थन किया है। डा० ग्रियर्सन का दूसरा निबन्ध पहले की अपेक्षा विस्तृत और बड़ा है। इसमें आपने विविध आधुनिक-भाषाओं से उदाहरण देकर अपने सिद्धान्त का समर्थन किया है। यद्यपि आर्यों के आक्रमण आदि के सम्बन्ध में ग्रियर्सन का हार्नले से मौलिक मतभेद है तथापि जहाँ तक भीतरी तथा बाहरी भाषाओं से सम्बन्ध है, दोनों विद्वानों का मत एक है। डा० ग्रियर्सन ने लिंग्विस्टिक-सर्वे भाग १ खण्ड १ पृ० १२० में आधुनिक-आर्यभाषाओं का निम्नलिखित वर्गीकरण दिया है—

[क] बाहरी-उपशाखा

प्रथम—उत्तरी-पश्चिमी-समुदाय

१. लहंदा अथवा पश्चिमी-पंजाबी

२. सिन्धी

द्वितीय—दक्षिणी-समुदाय

३. मराठी

तृतीय—पूर्वी-समुदाय
४. उड़िया
५. बिहारी
६ बँगला
७. असमिया
[ख] मध्य उपशाखा
चतुर्थ—बीच का समुदाय
८. पूर्वी-हिन्दी
[ग] भीतरी-उपशाखा
पञ्चम—केन्द्रीय अथवा भीतरी-समुदाय
९. पश्चिमी-हिन्दी
१०. पंजाबी
११. गुजराती
१२. भील्ली
१३. खानदेशी
१४. राजस्थानी
षष्ठ—पहाड़ी-समुदाय
१५. पूर्वी-पहाड़ी अथवा नेपाली
१६. मध्य या केन्द्रीय-पहाड़ी
१७. पश्चिमी-पहाड़ी

यह कहा जा चुका है कि नवागत-आर्यों ने मध्यदेश को ही अपना निवास-स्थान बनाया था और यहीं पर यज्ञपरायण वैदिक-संस्कृति की नींव पड़ी थी। वास्तव में इस मध्यदेश को ही दृष्टि में रखकर ग्रियर्सन ने आधुनिकआर्य-भाषाओं तथा बोलियों का विभाजन दो मुख्य उपशाखाओं में किया है। इनमें से एक उपशाखा की भाषा उस वृत्त के तीन चौथाई भाग में प्रचलित है जो पाकिस्तान-स्थित हज़ारा ज़िले से प्रारम्भ होकर पश्चिमी-पंजाब, सिन्ध, महाराष्ट्र, मध्यभारत, उड़ीसा, बिहार, बंगाल तथा असम-प्रदेश को स्पर्श करता है। गुजरात की भाषा को ग्रियर्सन ने केन्द्रीय अथवा भीतरी-उपशाखा के अन्तर्गत ही रक्खा है; क्योंकि वस्तुतः मध्यदेश-स्थित मथुरा वालों ने इस प्रदेश पर आधिपत्य किया था। इसप्रकार भौगोलिक-दृष्टि से बाहर स्थित होते हुए भी गुजरात, भाषा की दृष्टि से, केन्द्रीय अथवा भीतरी-समूह के अन्तर्गत है।

बाहरी तथा केन्द्रीय या भीतरी-उपशाखा सम्बन्धी ऊपरी वर्गीकरण का आधार, डा० ग्रियर्सन के अनुसार, वस्तुतः इन दोनों उपशाखाओं में प्रचलित भाषाओं के व्याकरण की भिन्नता है। इस सम्बन्ध में नीचे विचार किया जाता है।

ध्वनि-तत्त्व—ध्वनि-तत्व की दृष्टि से दोनों उपशाखाओं में पर्याप्त अन्तर है। सबसे पहले ऊष्म वर्णों (श, ष, स) को लिया जाता है। केन्द्रीय अथवा भीतरी-उपशाखा में ये दन्त्य स के रूप में उच्चरित होते हैं। प्राचीन-प्राकृत-वैयाकरणों के अनुसार प्राच्य (मागधी) में यह 'स' 'श' में परिणत हो गया है। बंगाल तथा महाराष्ट्र के कुछ भाग में 'स' आज भी 'श' रूप में ही उच्चरित होता है, किन्तु पूर्वी-बंगाल तथा असम (आसाम) प्रदेश में यह 'ख़' हो जाता है। इसके विपरीत उत्तरी-पश्चिमी-सीमान्त-प्रदेश तथा काश्मीर में यह 'ह' हो गया है।

शब्द-रूप—संज्ञा के शब्द-रूपों में भी इन दोनों उपशाखाओं में स्पष्ट अन्तर है। केन्द्रीय (भीतरी) उपशाखा की भाषाएँ तथा बोलियाँ वस्तुतः विश्लेषणात्मक-अवस्था में हैं। इनमें प्राचीन-कारकों के रूप, विलुप्त हो चुके हैं और संज्ञापदों के रूप का, की, से, आदि परसर्गों (Postpositions) की सहायता से सम्पन्न होते हैं। बाहरी-उपशाखा की भाषाएँ विकास की परम्परा में एक क़दम आगे बढ़ गई हैं। पहले संस्कृत की भाँति ही ये संश्लिष्टावस्था में थीं, इसके बाद ये विश्लेषावस्था से संश्लिष्टावस्था की ओर उन्मुख हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण बँगला की—एर विभक्ति है जो संज्ञा से संश्लिष्ट हो जाती है—यथा, हिन्दी—**राम की पुस्तक** ; किन्तु बँगला—**रामेर** बोई।

क्रिया-रूप—इन दोनों शाखाओं के क्रिया-रूपों में भी भिन्नता है। इस सम्बन्ध में विशेषरूप से विचार करने की आवश्यकता है। मोटेतौर पर आधुनिक-आर्य-भाषाओं तथा बोलियों में संस्कृत के दोनों कालों (Tenses) तथा तीन कृदन्तों (Participles) के रूप मिलते हैं। ये हैं, वर्तमान (लट्), भविष्यत् (लृट्) तथा वर्तमान-कर्तृवाच्य एवं अतीत और भविष्यत् के कर्मवाच्य के कृदन्तीय-रूप। संस्कृत के अतीतकाल के रूप, आधुनिक-आर्य-भाषाओं से विलुप्त हो गये। प्राचीन-वर्तमान अथवा लट् के रूप प्रायः सभी भाषाओं में वर्तमान हैं। हाँ, यह अवश्य है कि इनमें ध्वन्यात्मक तथा अर्थगत परिवर्त्तन हुए हैं। उदाहरणस्वरूप कश्मीरी में ये भविष्यत्-निर्देशक (Future Indicative) हो गये हैं तथा हिन्दी में इनका प्रयोग सम्भाव्य-वर्तमान (Pre-

sent Snbjunctive) के रूप में होता है। भविष्यत् (लृट्) के रूप, इ—भविष्यत् के रूप में, केवल पश्चिमी-भारत की भाषाओं तथा बोलियों में वर्तमान हैं। अन्य आधुनिक-आर्य-भाषाएँ ब—भविष्यत् के रूप में संस्कृत के भविष्यत् काल के कर्मवाच्य के कृदन्तीय रूप का प्रयोग करती हैं। इसप्रकार जब इनके बोलने वाले यह कहना चाहते हैं—मैं पीटूँगा तो वास्तव में वे कहते हैं—यह मेरे द्वारा पीटा जाने वाला है। संस्कृत के अतीतकाल के रूप आधुनिक-आर्य-भाषाओं में लुप्त हो गये हैं और उनके स्थान पर अतीत-कर्मवाच्य के कृदन्तीय-रूप व्यवहृत होते हैं। इसप्रकार मैंने उसे पीटा के स्थान पर आधुनिक भाषाओं में वह मेरे द्वारा पीटा गया प्रयुक्त होता है। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय अथवा भीतरी-उपशाखा तथा बाहरी-उपशाखा की भाषाओं एवं बोलियों में उल्लेखनीय अन्तर है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कर्मवाच्य-कृदन्तीय-रूपों के साथ कर्त्ता 'मैं' वस्तुतः 'मेरे द्वारा' में परिणत हो जाता है। संस्कृत में मेरे द्वारा के 'मया' तथा लघु रूप में 'मे', दो रूप मिलते हैं। इनमें मया को तो स्वतन्त्रसत्ता थी, किन्तु मे अपने पूर्व शब्द के साथ जुट जाता था। इसीप्रकार मध्यम-पुरुष-सर्वनाम के 'त्वया' 'ते' रूप मिलते हैं। लैटिन तथा इतालीय भाषाओं में भी यही प्रक्रिया चलती है। आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट विदित होता है कि बाहरी-उपशाखा की भाषाओं का सम्बन्ध प्राचीन-संस्कृत की उस बोलचाल की भाषा से है जो कर्मवाच्य के कृदन्तीय-रूपों के साथ सर्वनाम के लघुरूपों को व्यवहृत करती थी, किन्तु केन्द्रीय अथवा भीतरी-उपशाखा की भाषाओं की उत्पत्ति उस बोलचाल की प्राचीन,संस्कृत से हुई है जो सर्वनाम के इन लघुरूपों का व्यवहार नहीं करती थी। इसका परिणाम यह हुआ है कि केन्द्रीय अथवा भीतरी-उपशाखा की भाषाओं में प्रत्येक पुरुष तथा वचन में क्रिया के एक ही रूप का व्यवहार होता है। उदाहरणस्वरूप मैंने मारा, हमने मारा, तूने मारा, तुमने मारा, उसने मारा, उन्होंने मारा, आदि में 'मारा' रूप अपरिवर्तित रहता है; किन्तु बाहरी-उपशाखा में सर्वनाम के लघु-रूप, कृदन्तीय-रूपों में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं और इसके फलस्वरूप विभिन्न-पुरुषों के क्रियापदों के रूप भी परिवर्तित हो जाते हैं। क्रिया के इन दोनों प्रकार के रूपों ने भीतरी तथा बाहरी-उपशाखा की भाषाओं को दो विभिन्न-दिशाओं की ओर उन्मुख किया है। भीतरी-उपशाखा की भाषाओं तथा बोलियों का व्याकरण बाहरी-उपशाखा की भाषाओं तथा बोलियों के व्याकरण से अपेक्षाकृत संक्षिप्त तथा सरल है।

अपने दूसरे निबन्ध में ग्रियर्सन ने भीतरी तथा बाहरी-उपशाखा के सम्बन्ध में और भी गहराई के साथ विचार किया है जिसके अनुसार आधुनिक-आर्य-भाषाएँ तथा बोलियाँ, दो भागों में, विभक्त हो जाती हैं। अपने इस लेख में ग्रियर्सन ने भीतरी-उपशाखा के अन्तर्गत केवल पश्चिमी-हिन्दी को स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त भारत की आधुनिक अन्य आर्य-भाषाएँ बाहरी अथवा अवैदिक अथवा असंस्कृत अथवा हार्नले की तथाकथित मागधी के अन्तर्गत आती हैं। सिंहल की सिंहली भाषा तथा भारत के बाहर की जिप्सी-भाषा भी इस बाहरी-उपशाखा के अन्तर्गत ही आती हैं।

प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने ग्रियर्सन के इस वर्गीकरण की आलोचना अपनी पुस्तक 'ऑरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑव बैंगॉली लैंग्वेज' के परिशिष्ट 'ए' के पृष्ठ १५० से १५६ में दी है। नीचे दोनों विद्वानों के विचार दिये जाते हैं।

ध्वनितत्त्व

(डा० ग्रियर्सन)

(१) बाहरी-उपशाखा की उत्तरी-पश्चिमी तथा पूरब की बोलियों में अन्तिम स्वर—इ,—ए, (तथा—उ) वर्तमान हैं; किन्तु भीतरी-उपशाखा की पश्चिमी-हिन्दी में, ये स्वर लुप्त हो गये हैं ; यथा—कश्मीरी, अछि, सिंधी अखि, बिहारी (मैथिली-भोजपुरी) आँखि, किन्तु हिन्दी, आँख।

(डा० चटर्जी)

प्रायः सभी भारतीय-आर्य-भाषाओं में किसी-न-किसी समय अन्तिम-स्वर वर्तमान थे। उड़िया तथा पूर्वी-हिन्दी एवं पश्चिमी-हिन्दी की कई उपभाषाओं में अन्तिम-स्वर आज भी विद्यमान हैं। मैथिली, भोजपुरी तथा सिन्धी इसी अवस्था में हैं, यद्यपि मैथिली तथा भोजपुरी की कई बोलियों से अन्तिम स्वर लुप्त होने के मार्ग में हैं। (बनारस की पश्चिमी-भोजपुरी में आँखि > आँख्)। हिन्दी, मराठी तथा गुजराती से भी अन्तिम-स्वर लुप्त हो चुके हैं; यथा—बँगला, आँख्। इसीप्रकार हिन्दी, सुमिरन्, सन्ताप्, दाग्, उचित्, सुख्, दुख्, तथा पुत्र्, कलत्र्, आदि से अन्तिम स्वर का लोप हो गया है। १७वीं शताब्दी के मध्य तक हिन्दी (ब्रजभाषा) में भी अन्तिम-स्वर वर्तमान थे। यह बात उस युग के ब्रजभाषा के ग्रन्थों के देखने से स्पष्ट हो जाती है। आज भी मध्य-देश की प्रतिनिधि-बोलियों—ब्रजभाषा तथा कन्नौजी—में, अन्तिम-स्वर—इ,—उ वर्तमान हैं; यथा, बाँटु (हिस्सा, अलीगढ़ की ब्रजभाषा); मालु (हिन्दी, माल्=धन);

सबु (=हिन्दी, सब्); अकालु (=हिन्दी, अकाल्); कँकालु (=हि०, कंगाल्); फिरि (=हि०, फिर्) रामचरितमानस की कोसली (अवधी) में भी अन्तिम –इ, –उ के अनेक उदाहरण मिलते हैं। आधुनिक कोसली में भी ये स्वर वर्तमान हैं; यथा, साँचु, झुठु, हाथु, दिनु, अगहनु, आदि।

ऊपर के अपवादों के रहते हुए, अन्तिम स्वर –इ तथा –उ की उपस्थिति के आधार पर आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं का भीतरी तथा बाहरी उपशाखाओं में विभक्त करना युक्ति-युक्त न होगा।

(२) (डा० ग्रियर्सन)

बाहरी-उपशाखा की भाषाओं—विशेषतया पूर्वी-मागधी (बँगला, उड़िया तथा असमिया)—में अपिनिहिति (Epenthesis) वर्तमान है। इसीप्रकार उत्तर तथा पश्चिम की कतिपय भाषाओं में भी अपिनिहिति वर्तमान है। अपिनिहित वास्तव में बाहरी उपशाखा की विशेषता है।

(डा० चटर्जी)

इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वी-मागधी-भाषाओं में अपिनिहिति (Epenthesis) वर्तमान है; किन्तु दूसरी ओर बाहरी-उपशाखा की मराठी तथा सिन्धी में इसका अभाव है। उधर गुजराती, लहँदी, तथा कश्मीरी में अपिनिहिति मिलती है। इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी स्मरण रखने की आवश्यकता है कि प्राचीन बँगला में अपिनिहिति का अभाव है और इसका आरम्भ मध्ययुग की बँगला से होता है। मैथिली, पश्चिमी-पंजाबी तथा कश्मीरी में भी अपिनिहिति का विकास बहुत बाद में हुआ। इसप्रकार अपिनिहिति के आधार पर भीतरी तथा बाहरी-उपशाखा में आधुनिक-आर्य-भाषाओं को विभाजित करना उचित न होगा।

(३) (ग्रियर्सन)

बाहरी-उपशाखा की भाषाओं—विशेषकर बँगला—में इ>ए तथा उ>ओ।

(चटर्जी)

पूरब की भाषाओं, विशेषतया, बँगला में, 'इ' तथा 'उ' शिथिल-स्वर हैं। अतएव इनके उच्चारण में जब जिह्वा बहुत ऊपर नहीं उठती तो स्वाभाविक-रूप में 'ए' तथा 'ओ' का उच्चारण होने लगता है। प्राकृत-काल में भी दो व्यंजनों के बीच का इ>ए तथा उ>ओ; यथा, सं० बिल्व>प्रा० बेल्ल तथा सं० पुष्कर>प्रा० पोक्खर। पश्चिमी-हिन्दी में इ→ए, उ→ओ में परिवर्तन नहीं है, ऐसी बात नहीं है—यथा, ब्रजभाषा—मोहि–मुहि, तोहि–, तुहि।

इसीप्रकार पश्चिमी-हिन्दी के णिजन्त तथा अन्य क्रियारूपों में भी इसप्रकार के परिवर्त्तन का अभाव नहीं है। यथा, बोलना-बुलाना; देखना-दिखाना; एक-इकट्ठा आदि। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि बाहरी-उपशाखा की बँगला आदि की भाँति ही भीतरी-उपशाखा की पश्चिमी-हिन्दी में भी इ, उ का उच्चारण शिथिल था।

(४) (ग्रियर्सन)

बाहरी-उपशाखा—विशेषकर पूर्वी भाषाओं—में उ>इ।

(चटर्जी)

उ का इ में परिवर्तन वस्तुतः बाहरी-उपशाखा की पूर्वी-भाषाओं की ही विशेषता नहीं है, अपितु अन्य आधुनिक-भाषाओं में भी यह विशेषता पाई जाती है। पश्चिमी-हिन्दी में भी यह वर्तमान है; यथा, खिलना, खुलना; छिगुँली, छुँगुली, <क्षुद्र-अङ्गुलिका; फिसलाना, फुसलाना। इसके विपरीत पश्चिमी-हिन्दी बालू <सं० बालुका = बँगला बालि, देखो, पश्चिमी हिं० गिनना = बँगला गुनना (यहाँ संस्कृत 'अ' पश्चिमी हिन्दी में 'इ' तथा बँगला में 'उ' हो गया;

(५) (ग्रियर्सन)

'ऐ' <अइ तथा औ<अउ बाहरी-उपशाखा की पूरबी-भाषाओं में विवृत 'ए' तथा 'ओ' में परिणत हो गये हैं।

(चटर्जी)

ऐ तथा औ का 'ए' तथा 'ओ' में विवृत-उच्चारण, केवल पूरबी-भाषाओं की ही विशेषता नहीं है, अपितु यह राजस्थानी-गुजराती सिन्धी, लहँदी तथा अन्य पश्चिमी-भाषाओं में भी इसीरूप में वर्तमान है। पश्चिमी-हिन्दी में भी यह हैट, मैनेजर, हैरिसन, डौटर (डॉटर) आदि में उसीरूप में मिलता है।

(६) (ग्रियर्सन)

संस्कृत के 'च्' तथा 'ज्' बाहरी-उपशाखा की पूरबी-भाषाओं में त्स् (स्) तथा द्ज् (ज़्) में परिवर्तित हो गये हैं।

(चटर्जी)

'च्' तथा 'ज्' का त्स् (स्) तथा द्ज् (ज़्) में परिवर्त्तन, केवल पूर्वी-बँगला तथा असमिया में ही मिलता है। पश्चिमी-बँगला तथा बिहारी तक में इसका अभाव है। पूर्वी-बँगला तथा असमिया में संघर्षी तालव्य', 'च्'ज' का

दन्त्य-उच्चारण सम्भवतः तिब्बती-बर्मी तथा पर्वतिया-भाषाओं के प्रभाव के कारण है। इसीप्रकार दक्षिणी-उड़िया के दन्त्य-उच्चारण पर तेलुगु का प्रभाव है। किन्तु असमिया तथा पूर्वी-बँगला में 'च्' तथा 'ज्' का सर्वथा अभाव नहीं है। इस सम्बन्ध में एक और बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है। वस्तुतः आधुनिक-भाषाओं में संघर्षी-दन्त्य की उपस्थिति से इन भाषाओं तथा बोलियों की पारस्परिक एकता नहीं सिद्ध होती। ग्रियर्सन ने स्वयं प्राकृत-वैयाकरणों के तालव्य-उच्चारण के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए यह स्पष्ट किया है कि शौरसेनी तथा महाराष्ट्री में, संस्कृत के 'च्', 'ज्' के उच्चारण 'त्स्', 'द्ज्' हो गये हैं। उत्तरी-शौरसेनी में तो 'त्स्', 'द्ज्' एक बार पुनः 'च्', 'ज्' में परिणत हो गये हैं। यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि शौरसेनी-भीतरी-उपशाखा तथा पश्चिमी-हिन्दी की मातृस्थानीया-भाषा है। एक ओर 'च्', 'ज्' के दन्त्य-करण में जहाँ बाहरी-उपशाखा की मागधी-भाषा, भीतरी-उपशाखा की शौरसेनी की विरोधी है, वहाँ दूसरी ओर शौरसेनी उसी बात में बाहरी उपशाखा की महाराष्ट्री के समान है।

(७) (ग्रियर्सन)

'र्' 'ल्' तथा 'ड' 'ड़' के उच्चारण की भिन्नता भीतरी तथा बाहरी-उपशाखा की भाषाओं को विभाजित करती है।

(चटर्जी)

'ल्' के स्थान हर 'र्' तथा 'ड्' के स्थान पर 'ड़' पश्चिमी-हिन्दी में उसीरूप में मिलता है जिसरूप में सिन्धी तथा बिहारी में। सूरदास, बिहारी-लाल तथा ब्रजभाषा के अन्य कवियों की कृतियों में इसप्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। नीचे ये दिये जाते हैं—

बर (बल), गर (गल), जरैं (जलैं, जले), पकरैं (पकड़ें), लरिहौं (=लड़ूँगा), बिगरै (=बिगड़े), बीरा (बीड़ा), किवार (किवाड़), बिजुरी (बिजली), सार (श्याल), स्यार (=शृगाल) आदि।

(८) (ग्रियर्सन)

पूरब तथा पश्चिम की भाषाओं में द् तथा ड् परस्पर परिवर्तित हुए हैं, किन्तु मध्यदेश की भाषा में इस प्रक्रिया का अभाव है।

(चटर्जी)

ब्रजभाषा में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे ग्रियर्सन के ऊपर के मत का खंडन हो जाता है। यथा; डीठि (=दृष्टि), ड्योढ़ी (देहली), आदि।

आधुनिक-हिन्दी के डाढ़ी (दंष्ट्रिका), डँसना (=√दंश्), डेढ़ = बँगला, देड़ आदि शब्द ग्रियर्सन के सिद्धान्त को अन्यथा सिद्ध करते हैं।

(९) (ग्रियर्सन)

बाहरी-उपशाखा की भाषाओं में—म्ब्>म् तथा भीतरी-उपशाखा म्ब्> ब् में परिवर्तित हो गये हैं।

(चटर्जी)

पश्चिमी-हिन्दी तथा बँगला में जो उदाहरण मिलते हैं उनसे ऊपर के सिद्धान्त का खंडन हो जाता है। यथा, पश्चिमी-हिन्दी जामन<जम्बु; नीम< निम्ब; किन्तु बोलचाल की बँगला में **आम** तथा **तामा** के अतिरिक्त **आँब** (आम्र), तथा **ताँबा** (ताम्र), आदि रूप भी मिलते हैं।

(१०) (ग्रियर्सन)

दो स्वरों के बीच के 'र्' का बाहरी-उपशाखा की भाषाओं में लोप हो गया है, किन्तु भीतरी-उपशाखा में यह वर्तमान है।

(चटर्जी)

इस सम्बन्ध में पश्चिमी-हिन्दी में जो उदाहरण मिलते हैं उनसे ऊपर के मत का खंडन हो जाता है। यथा, **अपर>अवरु>और; अरु>और, औ।** इसीप्रकार **परि>पर, पै,** आदि। बाहरी-उपशाखा की बँगला में तो ऊपर के 'र' का कभी लोप नहीं होता।

(११) (ग्रियर्सन)

बाहरी-उपशाखा में स्वरमध्यग स्>ह्।

(चटर्जी)

स्वरमध्यग 'स्' का 'ह्' में परिवर्तित होना, केवल, बाहरी-उपशाखा की भाषाओं की ही विशेषता नहीं है, अपितु इसके उदाहरण पश्चिमी-हिन्दी में भी मिलते हैं। यथा, तस्य>तस्स>तास>ताह्>ता (ता-को, ता-हि, आदि में); करिष्यति>करिस्सदि>करिसइ>करिहइ। इसके अतिरिक्त बाहरी-उपशाखा की पश्चिमी-भाषाओं तथा बोलियों में तो 'स' वर्तमान है; यथा, गुजराती: करशे; राजस्थानी (जयपुरी) करसी; लहँदी, करेसी। अंक-वाची, शब्दों में तो प्रायः स्>ह्; यथा, इगारह या ग्यारह, बारह, चौहत्तर आदि। व्रजभाषा में भी केहरि<केसरिन् मिलता है।

बोलचाल की बँगला में शब्द के आदि का 'स्' (=श), 'ह्' तथा असमिया में 'ख्' में परिणत हो जाता है। सिंहली तथा कश्मीरी में भी यह

इसीरूप में परिवर्तित होता है; किन्तु इसप्रकार का परिवर्तन तो इरानीय, ग्रीक तथा केल्टिक (वेल्श) में भी मिलता है, अतएव केवल इस परिवर्तन के आधार पर बोलचाल की बँगला तथा कश्मीरी में, बाहरी-उपभाषा के रूप में, सम्बन्ध स्थापित करना उचित न होगा।

(१२) श्, ष, स् का 'श्' में परिवर्तन, मागधी की अपनी विशेषता है। यह परिवर्तन किसी स्वर पर आश्रित नहीं है; किन्तु मराठी तथा गुजराती में यह परिवर्तन इ, ई, ए अथवा य् के प्रभाव से होता है। वस्तुतः इन स्वरों के पूर्व का 'स्', 'श्' में परिणत हो जाता है। यथा, मराठी द्-जोशी (=सं० ज्योतिषिन्), शिकणें (=शिक्षणं); किन्तु सकणें (= >√शक्), सण (=शण); गुजराती कर्शे (=करिष्यति), किन्तु साद् (=शब्द)। प्राकृत-वैयाकरणों के अनुसार बाहरी-उपशाखा की महाराष्ट्री प्राकृत में 'स्' का ही प्रयोग होता था, 'श्' का नहीं। ठीक यही स्थिति भीतरी-शाखा की मध्यदेशीय-प्राकृत शौरसेनी में भी थी, अतएव 'स्' के 'श्' परिवर्तन के आधार पर बाहरी तथा भीतरी-उपशाखा का वर्गीकरण युक्तिसंगत न होगा।

(१३) (ग्रियर्सन)

महाप्राण-वर्णों के अल्पप्राण में परिवर्तन होने के आधार पर भी भीतरी तथा बाहरी-उपशाखा का वर्गीकरण किया जा सकता है। बाहरी-उपशाखा में तो यह क्रिया मिलती है; किन्तु भीतरी-उपशाखा की पश्चिमी-हिन्दी में इसका अभाव है।

(चटर्जी)

ख्, घ्, छ्, झ्, ठ्, ढ्, थ्, ध, फ्, भ्, एवं ढ़्, न्ह्, म्ह्, ल्ह् आदि महाप्राण-वर्ण, बँगला में अल्पप्राण में परिवर्तित हो जाते हैं; किन्तु यह परिवर्तन बाद की चीज़ है। महाप्राण का अल्पप्राण तथा अल्पप्राण का महाप्राण में परिवर्तन, अन्य भाषाओं तथा बोलियों में भी हुआ है। भीतरी-उपशाखा की पश्चिमी-हिन्दी भी इसका अपवाद नहीं है; यथा, बहिन<*भइनी<भगिनी, मिलाओ, उड़िया, भैणी तथा पंजाबी भैण; चाटना<*चाठना<*चट्ठनअ <चट्ट-; ईंट या ईंटा<*ईंठा<इष्टक; किन्तु मध्य-देश की भाषाओं तथा बोलियों में इसके अल्प उदाहरण ही उपलब्ध हैं। हाँ, इसके विपरीत अल्पप्राण से महाप्राण की प्रवृत्ति मध्यदेश की भाषाओं में अधिक है। यथा, भेस<वेश< वेश; भभूत<विभूति<विभूति आदि। इसप्रकार प्राण का आधार लेकर भीतरी तथा बाहरी-उपशाखा का वर्गीकरण नहीं हो सकता।

(१४) (ग्रियर्सन)

द्वित्व-व्यञ्जनवर्ण के सरलीकरण तथा पूर्वस्वर के दीर्घीकरण के आधार पर भी भीतरी एवं बाहरी-उपशाखा का वर्गीकरण किया जा सकता है।

(चटर्जी)

इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति को भलीभाँति जान लेना परमावश्यक है। प्राच्य-भाषा (बँगला, असमिया, उड़िया, मैथिली, भोजपुरी तथा पूर्वी-हिन्दी) एवं गुजराती-राजस्थानी तथा मराठी, द्वित्व-व्यञ्जन-वर्ण के सरलीकरण तथा पूर्व स्वर के दीर्घीकरण में मध्यदेश की भाषाओं तथा बोलियों से समानता रखती हैं; केवल पूर्वीमगधी में 'इ' तथा 'उ' का दीर्घीकरण नहीं होता, उसमें भीख के स्थान पर भिख तथा पूत के स्थान पर पुत मिलता है। वास्तव में ह्रस्व इ, उ पर संस्कृत के भिक्षा तथा पुत्र की वर्तनी का प्रभाव है। इसप्रकार द्वित्व व्यञ्जनवर्ण के सरलीकरण तथा पूर्व-स्वर के दीर्घीकरण में, मध्यदेश तथा प्राच्य-भाषाओं में पारस्परिक एकता है; किन्तु पश्चिम की सिन्धी पंजाबी तथा लहंदी भाषाएँ इस सम्बन्ध में इनके विपरीत हैं तथा वे कश्मीरी-भाषाओं से समानता रखती हैं। इससे पश्चिमी आधुनिक-आर्यभाषाओं तथा दर्द या पिशाच भाषाओं में जहाँ एक ओर समानता सिद्ध होती है वहाँ दूसरी ओर दक्षिणी, पश्चिमी तथा पूरब की आधुनिक-आर्य-भाषाओं से उनकी असमानता प्रकट होती है।

मध्यदेश की भाषाओं में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ पर द्वित्व-व्यञ्जन-वर्ण का सरलीकरण तो हुआ है किन्तु पूर्व-स्वर दीर्घ न होकर ह्रस्व ही रह गया है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि उत्तर-पश्चिम-प्रदेश की भाषाओं ने मध्यदेश की भाषाओं को प्रभावित किया होगा और तत्पश्चात् वहाँ से ये शब्द पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम-प्रदेश की भाषाओं की बोलियों में प्रविष्ट हुए होंगे। यथा, पश्चिमी-हिन्दी में साच या सांच के स्थान पर सच्च अथवा सच् बंगला का सांच्चा पश्चिम से उधार लिया हुआ प्रतीत होता है, यहाँ का मूल शब्द सांचा है। इसीप्रकार काल के स्थान पर कल तथा बढ़े, लख, भला, सब, आदि शब्दों में भी पूर्वस्वर ह्रस्वरूप में ही मिलते हैं।

[ख] रूपतत्व

(१) (ग्रियर्सन) स्त्री-प्रत्यय के रूप में-ई वस्तुतः बाहरी-उपशाखा की पश्चिमी एवं पूर्वी, दोनों, भाषाओं में मिलती है।

(चटर्जी) इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति यह है कि आधुनिक सभी आर्य-भाषाओं में स्त्री-प्रत्यय के रूप में यह-ई वर्तमान है। संस्कृत का —आ अपभ्रंश

में –ॲ हो गया और आधुनिक-आर्य-भाषाओं में इसने–ई का रूप धारण कर लिया। पश्चिमी-हिन्दी में भी यह स्त्री-प्रत्यय के रूप में वर्तमान है। अतएव इसके आधार पर आधुनिक-आर्य-भाषाओं का भीतरी तथा बाहरी उपशाखा में वर्गीकरण नहीं किया जा सकता।

(२) (ग्रियर्सन) बाहरी-उपशाखा की भाषाएँ पुनः संश्लेषावस्था में प्रविष्ट कर रही हैं; किन्तु भीतरी-उपशाखा की भाषाएँ विश्लेषावस्था में हैं।

(चटर्जी) वास्तविक बात यह है कि प्राचीन-कारकरूपों के कतिपय अवशिष्ट रूप, प्रायः सभी आधुनिक-आर्य-भाषाओं में मिलते हैं। यह बात दूसरी है कि सभी में एक ही रूप नहीं मिलते। मध्यदेश की आधुनिक-आर्य-भाषाओं में तिर्यक् (Oblique) के रूपों में करण अथवा सम्बन्ध-कारक के रूप में विशेषतः द्रष्टव्य हैं।

यथा, पश्चिमी-हिन्दी घोड़े-का>घोड़हिकअ = घोटस्य+कृत ? अथवा घोटक+तृतीया के बहुवचन प्रत्यय-हि< –भिः+कृतः ? यहाँ घोड़े के रूप में प्राचीन-संश्लिष्ट-कारक का रूप वर्तमान है; किन्तु बँगला के घोड़ार = घोटक+कर तथा बिहारी, घोराक = घोटक+कृत ? या घोटक+क; क्क ? में वस्तुतः पुराने संश्लिष्टरूप का अवशिष्ट नहीं वर्तमान है अपितु ये सामासिक रूप हैं। पश्चिमी-हिन्दी, बँगला, मराठी तथा गुजराती के शब्द-रूपों पर गहराई के साथ विचार करके डा० चटर्जी इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इनके आधार पर बाहरी एवं भीतरी उपशाखा का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता।

(३) जैसा कि पहले दिया जा चुका है, ग्रियर्सन ने आधुनिक क्रिया-रूपों एवं प्रयोगों का आधार लेकर भी आधुनिक आर्य-भाषाओं का बाहरी एवं भीतरी-उपशाखा में वर्गीकरण किया है। इस सम्बन्ध में डा० चटर्जी के निम्नलिखित विचार हैं—

प्राचीन-संस्कृत के रूपों की समाप्ति के बाद, प्राकृत-युग में, क्रिया के कृदन्तीय-रूपों का प्रयोग होने लगा। इनमें सकर्मक-क्रियाओं में क्रिया के कृदन्तीय-रूप विशेषण के रूप में कर्म से सम्बन्ध स्थापित करते हैं तथा इनमें कर्त्ता-तृतीया के रूप में अथवा करण के रूप में प्रयुक्त होता है। प्रायः सभी आधुनिक-आर्य-भाषाओं की सकर्मक-क्रियाओं में, कर्मवाच्य के रूप में, इसप्रकार के कृदन्तीय-रूपों की पद्धति चल पड़ी है, किन्तु एक ओर जहाँ बाहरी-उपशाखा की पश्चिमी एवं दक्षिणी आधुनिक-आर्य-भाषाओं—लहंदी, सिन्धी, गुजराती, राजस्थानी, मराठी में कर्मवाच्य के रूप सुरक्षित हैं, वहाँ मागधी-प्रसूत प्राच्य-

भाषाओं तथा बोलियों में ये कर्मवाच्य से कर्तृवाच्य के रूप में उन्मुख हो गये हैं। इन भाषाओं में वस्तुतः कर्मवाच्य-कृदन्तीय-रूप अपने में अन्यपुरुष के सर्वनामीय-प्रत्ययों के रूपों को अन्तर्भुक्त करके क्रिया-पद का रूप धारण कर चुके हैं।

पश्चिम की लहंदी तथा सिन्धी के कर्मवाच्य के रूपों में भी सर्वनामी-रूप जोड़े गये हैं; किन्तु फिर भी इनमें प्राचीन-कर्मवाच्य के रूप इस अर्थ में वर्तमान हैं कि उनमें लिङ्ग तथा वचन का अन्वय कर्म के साथ होता है। इस आधार पर आधुनिक आर्य-भाषाओं को प्राच्य अथवा कर्त्तरि एवं पश्चिमी अथवा कर्मणि भागों में विभक्त किया जा सकता है। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

पश्चिमी-भाषा-समूह

[कर्मणि प्रयोग]

पश्चिमी हिन्दी : मैंने पोथी पढ़ी।
गुजराती : में पोथी बाँची।
मराठी : मीं पोथी वाचिली।
मेरे द्वारा पुस्तक पढ़ी गई (स्त्रीलिंग)
सिन्धी : (मूँ) पोथी पढ़ी-में।
लहँदी : (मैं) पोथी पढ़ी-म।
(मेरे द्वारा) पोथी पढ़ी गई (स्त्रीलिंग)+मेरे द्वारा

उत्तर की पहाड़ी—खसकुरा, गढ़वाली, कुमायूँनी तथा पश्चिमीपहाड़ी--भाषाओं का ऊपर की भाषाओं के साथ घनिष्ठ-सम्पर्क है। अतएव उनके क्रिया-पद भी ऊपर को भाषाओं के समान ही हैं।

प्राच्य-अथवा पूर्वी-भाषा-समूह

[कर्त्तरि प्रयोग]

पूर्वी-हिन्दी : मैं पोथी पढ़ेउँ।
भोजपुरी : हम पोथी पढ़लीं।
मैथिली : हम पोथी पढ़लहुँ।
बँगला : आमि पुथि पड़िलाम।
(मुइ पुथि पड़िलि-लुम)
उड़िया : आम्भे पोथि पढ़लुँ।
(मु पोथि पढ़िलि)

मैंने पुस्तक पढ़ी (यहाँ क्रिया का सम्बन्ध कर्ता, मैं से है, कर्म पोथी से नहीं)।

ऊपर के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पश्चिमी-भाषा समूह में क्रिया का भावे-प्रयोग वर्तमान है, किन्तु पूर्वी-भाषाओं में उसका लोप हो गया है।

(४) (ग्रियर्सन) बाहरी-उपशाखा की कई भाषाओं में भारोपीय से आगत विशेषणीय-प्रत्यय—ल वर्तमान है; किन्तु मध्यदेश की भाषाओं तथा बोलियों में इसका अभाव है।

(चटर्जी) भारोपीय—ल-प्रत्यय मध्यदेश की भाषाओं में भी वर्तमान है। हाँ, इतना अवश्य है कि पूर्वी-भाषाओं तथा मराठी में इसके द्वारा अतीत-काल सम्पन्न होता है तथा गुजराती एवं सिन्धी में इसकी सहायता से कर्मवाच्य के कृदन्तीय रूप सिद्ध होते हैं। पञ्जाबी तथा लहंदी में तो इस प्रत्यय का अभाव है। इसप्रकार बाहरी-उपशाखा की भाषाओं में भी इस सम्बन्ध में समानता अथवा एकरूपता नहीं है। पश्चिमी-हिन्दी में ल-प्रत्यय के अनेक रूप मिलते हैं। यथा, लजीला, रङ्गीला, कटीला, छैला आदि। पूर्वी-हिन्दी में भी इसके उदाहरण मिलते हैं।

ऊपर की आलोचना के साथ-साथ डा० चटर्जी ने भाषाओं की विकास-परम्परा को ध्यान में रखते हुए आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है—

[क] उदीच्य (उत्तरी)
 १. सिन्धी
 २. लहंदी
 ३. पूर्वी-पञ्जाबी

[ख] प्रतीच्य (पश्चिमी)
 ४. गुजराती
 ५. राजस्थानी

[ग] मध्य देशीय
 ६. पश्चिमी हिन्दी

[घ] प्राच्य (पूर्वी)
 (i) ७. कोशली या पूर्वी-हिन्दी
 (ii) मागधी प्रसूत
  ८. बिहारी
  ९. उड़िया

१०. बङ्गला
११. असमिया
[ङ] दाक्षिणात्य (दक्षिणी)
१२. मराठी

कश्मीर को कश्मीरी-भाषा की उत्पत्ति डा० चटर्जी दरदीय-भाषा से मानते हैं। इसीप्रकार पहाड़ी भाषाओं—पूर्वी-पहाड़ी (खसकुरा अथवा नेपाली) मध्य-पहाड़ी (गढ़वाली तथा कुमायूँनी) तथा पश्चिमी-पहाड़ी (चमेआली, मण्डेआली, कुल्लुई, किउँठाली, सिरमौरी आदि)—की उत्पत्ति डा० चटर्जी खस अथवा दरदीय-भाषा से मानते हैं। प्राकृत-युग में राजस्थानी से ये पहाड़ी भाषाएँ अत्यधिक प्रभावित हुई हैं।

नीचे आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं का संक्षिप्त-परिचय दिया जायेगा।

कश्मीरी—की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऊपर इंगित किया जा चुका है। अत्यन्त प्राचीन-काल से ही कश्मीर-निवासी सारस्वत-ब्राह्मणों ने संस्कृत को अध्ययन-अध्यापन का विषय बनाया था। इसका परिणाम यह हुआ कि कश्मीरी पर संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव है। गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' की रचना सम्भवतः प्राचीन-कश्मीरी में ही की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि १००० ई० के पहले से ही कश्मीरी में साहित्य-रचना होने लगी थी; किन्तु प्राचीन-कश्मीरी-साहित्य का बहुत अंश विलुप्त हो गया। कश्मीरी का प्रसिद्ध कवि लल्ला है। इसका समय १४वीं शताब्दी है। ग्रियर्सन ने 'लल्लावाक्यानि' के नाम से इसकी रचना का प्रकाशन लण्डन से किया था। पहले कश्मीर में ब्राह्मी से प्रसूत शारदा-लिपि प्रचलित थी, किन्तु आज वहाँ फारसी-लिपि का ही प्रचार है। भारतीय-संविधान के अनुसार जो चौदह भाषाएँ स्वीकृत हैं, उनमें एक कश्मीरी भी है, किन्तु आज कश्मीरी में इसके पठन-पाठन का प्रबन्ध नहीं है। आज से कई वर्ष पूर्व कश्मीर-निवासियों ने अपनी मातृभाषा को जाग्रत करने की चेष्टा की थी और इसमें पाठ्य-पुस्तकें भी तैय्यार की गई थीं; परन्तु राजनीतिक-कारणों से आज यह आन्दोलन शिथिल है। कश्मीर में प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम आज उर्दू है।

१. सिन्धी—सिन्ध-देश में सिन्धु नदी के दोनों किनारों पर सिन्धी भाषा बोली जाती है। आज यह पाकिस्तान राज्य में है तथा उसकी राजधानी भी है। इसकी उत्पत्ति व्राचड़-अपभ्रंश से हुई है। प्राचीन-काल में सिन्ध के अन्त-

र्गत व्राचड-प्रदेश प्रसिद्ध था और इसी के नाम पर यहाँ की प्राकृत तथा अप-भ्रंश का नाम पड़ा। सिन्धी की पाँच मुख्य बोलियाँ हैं जिनमें मध्य-भाग की विचोली साहित्यिक-भाषा का स्थान लिये हुए है। सिन्धी की अपनी लिपि 'लंडा' है; किन्तु यह गुरुमुखी तथा फारसी-लिपि में भी लिखी जाती है। इसमें 'ग्', 'ज्', 'ड्' तथा 'ब्' का उच्चारण एक विचित्र-ढंग से कंठ-पिटक को बन्द करके सम्पन्न होता है।

सिन्धी में कई हिन्दू तथा मुसलमान कवियों ने सुन्दर काव्य-रचना की है। पहले कच्छी समेत इसके बोलनेवालों की संख्या ४० लाख के लगभग थी; किन्तु पाकिस्तान के निर्माण के बाद अधिकांश हिन्दू अपनी जन्मभूमि छोड़कर भारत के विभिन्न-स्थानों में बस गये हैं। सिन्धी-भाषा-भाषियों का एक बड़ा समूह तो अजमेर के पास बस गया है। इनमें द्रुतगति से हिन्दी-भाषा तथा नागरी-लिपि का प्रचार हो रहा है। सिन्धी-भाषा के संरक्षण के लिये यह आवश्यक है कि उसमें उपलब्ध-साहित्य को नागरी-अक्षरों में मुद्रित किया जाये।

२. लहँदी—के पश्चिमी-पंजाबी, हिन्दकी, जटकी, मुल्तानी, चिभाली, पोठवारी आदि कई अन्य नाम भी हैं। इसी प्रदेश के अन्तर्गत प्राचीन कैकय-देश था जिसके नाम पर यहाँ की प्राकृत का नाम भी पड़ा। लहँदी का सम्बन्ध वस्तुतः इसी प्राकृत-अपभ्रंश से है। आज यह भूभाग पाकिस्तान के अन्तर्गत है। इसमें सिक्ख-धर्म से सम्बन्धित 'जनमसाखी' आदि कतिपय गद्य-कथाओं के अतिरिक्त साहित्य का अभाव है। पहले साहित्य-रचना के लिये, इस प्रदेश में, उर्दू, हिन्दी तथा पूर्वी-पंजाबी का व्यवहार होता था तथा इसकी जन-संख्या ८५ लाख के लगभग थी; किन्तु इधर पाकिस्तान के निर्माण तथा हिंदुओं के छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण अब उर्दू का ही बोलबाला है। लहँदी की भी सिन्धी की भाँति अपनी लिपि 'लंडा' है, जो काश्मीर में प्रचलित शारदा-लिपि की ही उपशाखा है।

३. पूर्वी-पंजाबी—हिन्दी के पश्चिमोत्तर में बोली जाती है। पहले लहँदी से इसकी सीमा इसप्रकार मिली हुई थी कि उससे इसका पृथक् करना कठिन था, किन्तु अब पाकिस्तान की राजनीतिक-सीमा के कारण यह सर्वथा पृथक् हो गई है। पंजाबी का शुद्ध रूप अमृतसर के निकट बोला जाता है। इसकी उत्पत्ति 'टक्क' अपभ्रंश से हुई है किन्तु इस पर शौरसेनी का पर्याप्त प्रभाव है। पूर्वी-पंजाबी की कई उपभाषाएँ हैं जिनमें डोगरी प्रसिद्ध है। यह जम्मू तथा काँगड़ा में बोली जाती है।

पूर्वी-पंजाबी में, १६वीं शताब्दी में रचित सिक्ख-गुरुओं के पद मिलते हैं। इधर पंजाब की सरकार ने गुरुमुखी-पंजाबी तथा नागरी-हिन्दी, दोनों को, प्रदेश की भाषा स्वीकार कर लिया है। वस्तुतः लंडा-लिपि में सुधार कर के ही गुरुमुखी-लिपि का निर्माण किया गया है। यह कार्य गुरु अंगद (१५३८-५२) ने सम्पन्न किया था। सिक्खों में प्रायः गुरुमुखी-पंजाबी ही प्रचलित है, क्योंकि उनका धर्मग्रन्थ श्री गुरुग्रन्थसाहब इसी में है। पहले यहाँ साहित्य-रचना में उर्दू तथा फारसी-लिपि का ही अधिक प्रचार था; किन्तु इधर नागरी-हिन्दी द्रुतगति से बढ़ रही है। पूर्वी-पंजाबी बोलनेवालों की संख्या १ करोड़ ५५ लाख है।

४. गुजराती—गुजराती और राजस्थानी में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि भाषा-शास्त्री उसे एक ही मानते हैं। गुजराती पर गूजर-जाति की भाषा का अत्यधिक प्रभाव है। किसी समय ये लोग पश्चिमोत्तर-प्रान्त में रहते थे; किन्तु बाद में इन्होंने राजस्थान तथा गुजरात को अपना निवास-स्थान बनाया। गुजराती तथा राजस्थानी दोनों पर मध्यदेश की शौरसेनी का अत्यधिक प्रभाव है। श्री एल० पी० टेसीटरी के अनुसार इनकी उत्पत्ति प्राचीन-पश्चिमी-राजस्थानी से हुई है जिसके नमूने १२वीं १३वीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक के जैन लेखकों की कृतियों में मिलते हैं। भाषा के पंडितों का मत है कि गुजराती, प्राचीन पश्चिमी-राजस्थानी से सोलहवीं शताब्दी में पृथक् हुई होगी। गुजराती के प्रसिद्ध कवि नरसी मेहता हैं। इनका काल १५वीं शताब्दी है। १२वीं शताब्दी के प्रसिद्ध प्राकृत-वैयाकरण हेमचन्द्र भी गुजराती ही थे। आजकल गुजराती कैथी से मिलती-जुलती लिपि में लिखी जाती है। यह देव-नागरी के अत्यधिक समीप है। इसमें शिरोरेखा नहीं लगती।

गुजराती में मीरा तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की कृतियाँ उपलब्ध हैं। आधुनिक-गुजराती में राष्ट्रपिता गांधी जी ने अपनी आत्मकथा लिखी है। उनके निजी सहायक श्री महादेव भाई देसाई ने गान्धी जी के जीवन के संबंध में संस्मरण-ग्रन्थ लिखे हैं जो अनेक भागों में पुस्तकाकार प्रकाशित हो रहे हैं। आधुनिक गुजराती-साहित्य में श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी तथा उनकी पत्नी श्रीमती लीलावती मुंशी का भी ऊँचा स्थान है। गुजराती बोलने वालों की संख्या १ करोड़ १० लाख है।

५. राजस्थानी—पंजाबी के ठीक दक्षिण में राजस्थानी-भाषा का क्षेत्र है। प्राचीनकाल से ही मध्यदेश से अति निकट का सम्बन्ध होने के कारण, राजस्थानी भाषा पर मध्यदेश की शौरसेनी की पूरी छाप है। उपभाषाओं-सहित

राजस्थानी एक करोड़ ४० लाख लोगों की भाषा है। राजस्थानी की निम्नलिखित उपभाषाएँ हैं—

(क) पश्चिमी-राजस्थानी या मारवाड़ी—मेवाड़ी तथा शेखावटी भी इसी के अन्तर्गत हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या ६० लाख है। यह जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर तथा उदयपुर में बोली जाती है।

(ख) पूर्वीमध्य-राजस्थानी—जयपुरी तथा उसकी विभिन्न-शैलियाँ, यथा, अजमेरी और हाड़ौती इसी के अन्तर्गत हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या ३० लाख के लगभग है। यह जयपुर, कोटा तथा बूँदी में बोली जाती है।

(ग) उत्तरी-पूर्वी-राजस्थानी—इसके अन्तर्गत मेवाड़ी तथा अहीर-वाटी बोलियाँ आती हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग १५ लाख है।

(घ) मालवी—इसका केन्द्र मालवा-प्रदेश का वर्तमान इन्दौर-राज्य है। इसके बोलने वालों की संख्या ४३ लाख है।

इनके अतिरिक्त राजस्थान की कतिपय और भाषाएँ हैं, जैसे भीली उप-भाषा समूह, जिसके बोलने वालों की संख्या २० लाख के लगभग है। इसीप्रकार दक्षिण-भारत के तमिळ-देश में प्रचलित सौराष्ट्री तथा पंजाब एवं कश्मीर की गूजरी भी राजस्थानी के अन्तर्गत ही आती हैं।

६. पश्चिमी-हिन्दी—यह मध्यदेश की भाषा है। आजकल मेरठ तथा बिजनौर के निकट बोली जाने वाली पश्चिमी-हिन्दी की खड़ीबोली के रूप से ही वर्तमान साहित्यिक-हिन्दी तथा उर्दू की उत्पत्ति हुई है। पश्चिमी-हिन्दी की भाषाओं तथा बोलियों के सम्बन्ध में आगे विचार किया जावेगा। इसका उपयुक्त नाम नागरी हिन्दी है। भारत के संविधान में इसी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन किया गया है। प्राचीन-युग में मध्यदेश की भाषा संस्कृत, पालि, शौर-सेनी-अपभ्रंश का जो स्थान था, आज हिन्दी ने भी राष्ट्रभाषा के रूप में वही स्थान ग्रहण किया है।

७. कोसली या पूर्वी-हिन्दी—पूर्वी-हिन्दी के पश्चिम में पश्चिमी-हिन्दी तथा पूरब में बिहारी का क्षेत्र है। प्राचीन-युग में, इस भूभाग में, अर्द्ध-मागधी-प्राकृत तथा अर्द्धमागधी-अपभ्रंश प्रचलित थे। अर्द्धमागधी पर अधिक प्रभाव मागधी का ही है, तभी प्राकृत-वैयाकरणों ने इसे अर्द्ध-शौरसेनी न कहकर इस नाम से अभिहित किया है। अर्द्धमागधी-प्राकृत तथा अपभ्रंश को जैन-प्राकृत तथा अपभ्रंश के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि जैन-साहित्य का अधिकांश भाग इसी में है।

पूर्वी-हिन्दी की तीन मुख्य बोलियाँ—कोसली (अवधी) बघेली तथा छत्तीसगढ़ी हैं। इनमें कोसली साहित्य-सम्पन्न भाषा है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ, रामचरित-मानस की रचना, इसी में की है। अवध के मुसलमान सूफी कवियों—कुतुबन, मंभन, जायसी आदि—ने कोसली को ही साहित्य-रचना का माध्यम बनाया था। बिहार के मुसलमान, जोलहाबोली के रूप में, आज भी कोसली का ही प्रयोग करते हैं।

मध्ययुग में व्रजभाषा तथा आधुनिक-युग में खड़ीबोली के प्रचार एवं प्रसार के कारण कोसली में साहित्य-रचना का कार्य बन्द हो गया था; किन्तु इधर नवजागरण के साथ-साथ कोसली में साहित्य-रचना की नवीन स्फूर्ति आ रही है। पूर्वी-हिन्दी की उपभाषाओं के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायेगा।

८. बिहारी—बिहारी का क्षेत्र पूर्वी-हिन्दी तथा बँगला के बीच में है। बिहार के बाहर उत्तर-प्रदेश के पूर्वी ज़िले—बनारस, मिर्ज़ापुर, गाज़ीपुर, बलिया, जौनपुर (केवल किरात तहसील) एवं गोरखपुर, देवरिया, आज़मगढ़ तथा बस्ती (हरैया तहसील छोड़कर)—भाषा की दृष्टि से बिहारी के ही अन्तर्गत हैं। बिहारी की उपभाषाओं में मैथिली, मगही तथा भोजपुर की गणना है। इन तीनों की एक रूप में कल्पना ही वस्तुतः बिहारी नामकरण का कारण है। यह नामकरण भी ग्रियर्सन के द्वारा सम्पन्न हुआ है।

उत्पत्ति की दृष्टि से बिहारी का सम्बन्ध मागधी-अपभ्रंश से है। इस सम्बन्ध-सूत्र से जहाँ मैथिली, मगही एवं भोजपुरी सगी बहनें हैं वहाँ बँगला, उड़िया तथा असमिया इनकी चचेरी बहनें हैं। मैथिली की अपनी अलग लिपि है, जो बँगला से बहुत मिलती-जुलती है। भोजपुरी और मगही कैथी लिपि में लिखी जाती हैं। बिहारी में कचहरी की लिपि भी वस्तुतः कैथी ही है; किन्तु पुस्तकों के प्रकाशन तथा स्कूलों एवं कालेजों में देवनागरी का ही प्रयोग होता है।

बिहारी की तीनों भाषाएँ, मैथिली, मगही तथा भोजपुरी, यद्यपि आज पृथक् हैं, तथापि एक भाषा के बोलनेवाले दूसरे को सरलतया समझ लेते हैं। इनमें मैथिली में तो प्राचीन-साहित्य भी है। भोजपुरी में कबीर के कतिपय पुराने पद मिलते हैं, किन्तु मगही में साहित्य का सर्वथा अभाव है। यद्यपि शिक्षा की दृष्टि से बिहार हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्र है, किन्तु घरों में तथा पारस्परिक बात-चीत में यहाँ विभिन्न-बोलियों का ही व्यवहार होता है। इधर नवजागरण के साथ-साथ इनमें साहित्य-रचना की प्रवृत्ति भी चल पड़ी है।

९. उड़िया—यह प्राचीन उत्कल अथवा वर्तमान उड़ीसा की भाषा है। बँगला से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवीं-आठवीं शताब्दी में उड़िया, बँगला से पृथक् हुई थी। इसको पृथक् करने वाले वस्तुतः ओड्र अथवा उड्र लोग थे जो दक्षिणी-पश्चिमी-बंगाल में सुह्म तथा कलिङ्ग के बीच रहते थे। उड़िया का प्राचीनतम-प्रस्तरलेख १३९५ ई० में लिखित एक ताम्रपत्र है। इसके बाद के भी कई लेख मिले हैं। इन लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय तक उड़िया-भाषा बहुत कुछ विकसित हो चुकी थी। उड़िया-लिपि बँगला की अपेक्षा बहुत कठिन है; किन्तु इसका व्याकरण बँगला से बहुत मिलता-जुलता है। कई शताब्दियों तक उड़ीसा, तेलुगु-भाषा-भाषियों एवं मरहठों के अधीन रहा, अतएव इसमें तेलुगु तथा मराठी के भी अनेक शब्द मिलते हैं। साहित्य-क्षेत्र में उड़िया बँगला से बहुत पीछे है। इसमें कृष्ण-सम्बन्धी साहित्य उपलब्ध है। आधुनिक उड़िया में द्रुतगति से साहित्य-रचना हो रही है।

१०. बँगला—बँगला भाषा गंगा के मुहाने और उसके उत्तर-पश्चिम के मैदानों में बोली जाती है। इसकी कई उपशाखाएँ हैं, जिनमें से पश्चमी तथा पूर्वी मुख्य हैं। पश्चमी-बँगला का केन्द्र कलकत्ता है। यहाँ के भद्र तथा अभिजातवर्ग की भाषा वस्तुतः आदर्श बँगला है। पूर्वी-बँगला का केन्द्र ढाका है। आजकल पूर्वी-बंगाल, पाकिस्तान राज्य का एक भाग हो गया है।

नवीन यूरोपीय विचार-धारा का सर्वप्रथम प्रभाव बँगला भाषा तथा साहित्य पर ही पड़ा। कलकत्ता विश्वविद्यालय भारत के प्राचीनतम विश्वविद्यालयों में से एक है। किसी समय उत्तरी-भारत और बाद में बिहार-बँगाल में ज्ञान-विज्ञान-प्रचार एवं प्रसार का बहुत कुछ श्रेय इसी विश्वविद्यालय को था। यूरोपीय, विशेषकर अंग्रेजी-साहित्य ने बँगला की उन्नति में बहुत योगदान दिया है। आधुनिक बँगला-साहित्य नव्य-आर्य-भाषाओं में सर्वोत्कृष्ट है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय जैसे उत्कृष्ट लेखकों को उत्पन्न करने का श्रेय भी बँगला-साहित्य को ही है। बँगला-भाषा-भाषियों को अपनी मातृ-भाषा के प्रति अत्यधिक अनुराग है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जहाँ अन्य प्रान्तों में उच्चशिक्षा प्राप्त व्यक्तियों ने अंग्रेज़ी के माध्यम से अपने विचार प्रकट किये हैं वहाँ पर बँगला-भाषा-भाषियों ने अपनी मातृभाषा का ही व्यवहार किया है। बँगला की अपनी लिपि है; इसमें संस्कृत के लगभग ४४ प्रतिशत शब्द, तत्समरूप में व्यवहृत होते हैं।

११. असमिया—असमिया असम (आसाम) प्रदेश की भाषा है। उड़िया की भाँति बँगला से इसका भी घनिष्ठ सम्बन्ध है; किन्तु साहित्यिक-क्षेत्र में बँगला की तरह यह साहित्य-समृद्ध भाषा नहीं है। प्राचीन-असमिया में शंकरदेव के पद मिलते हैं। ये कृष्ण-सम्बन्धी हैं। असमिया की लिपि बंगला ही है केवल दो-तीन अक्षर दूसरे हैं। प्रायः प्रत्येक शिक्षित असमिया स्वाभाविक ढंग से शुद्ध बंगला बोल लेता है। इसीप्रकार बँगलासाहित्य के रसास्वादन में भी उसे कोई कठिनाई नहीं होती। इसका स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि असमिया-साहित्य को जिस रूप में विकसित होना चाहिए था, उस रूप में वह विकसित न हो सका। अभी कुछ वर्ष पूर्व तक इस प्रदेश का सम्बन्ध कलकत्ता-विश्वविद्यालय से था; इधर हाल में ही गौहाटी में नवीन विश्वविद्यालय की स्थापना हुई है। आशा है निकट भविष्य में ही असमिया भी उच्च-साहित्य से सम्पन्न हो जायेगी।

१२. मराठी—दक्षिण में, महाराष्ट्री-अपभ्रंश से प्रसूत मराठी-भाषा का क्षेत्र है। भारत के पश्चिमी-किनारे के दमण गाँव से दक्षिण की ओर गोमंतक तथा उत्तर में नागपुर का प्रदेश महाराष्ट्र कहलाता है। इसके अन्तर्गत कोंकण की भाषा कोंकणी तथा बस्तर की भाषा हलबी है। कई आधुनिक-भाषाविज्ञानी कोंकणी को मराठी से स्वतन्त्र भाषा मानते हैं। इसीप्रकार बस्तर की हलबी भाषा पर मागधी का पर्याप्त प्रभाव है और यद्यपि उसके परसर्ग मराठी के हैं तथापि उसे मराठी की उपशाखा मानना उचित नहीं है।

गत सात सौ वर्षों से मराठी-साहित्य का केन्द्र स्थान बदलता रहा है। तेरहवीं शताब्दी में यह नागपुर के आसपास था; किन्तु सोलहवीं शताब्दी में, एकनाथ के काल में, यह पैठण की ओर चला गया। सन्त तुकाराम तथा रामदास के समय में तो मराठी-साहित्य का केन्द्र स्थान बम्बई राज्य के मध्य में आ पहुँचा। आज भी साहित्यिक-मराठी का आदर्श पुणे के आस-पास की भाषा है। मराठी की अपनी लिपि देवनागरी ही है; किन्तु नित्य के व्यवहार में मोड़ी लिपि का प्रचलन है। मराठी-साहित्य विशाल तथा प्राचीन है।

छठाँ अध्याय

हिन्दी और हिन्दी की बोलियाँ

हिन्दी शब्द की निरुक्ति

हिन्दी शब्द किस प्रकार भाषावाची बन गया, इसका लम्बा इतिहास है। प्राचीन-काल में उत्तरी-भारत को "भारत-खण्ड" तथा "जम्बू-द्वीप" के नाम से अभिहित किया जाता था। बौद्धधर्म के पालि-ग्रंथों में भी उत्तरी-भारत को जम्बूद्वीप ही कहा गया है। हमारे देश का "हिन्द" नाम वस्तुतः 'सिन्धु' का प्रतिरूप है। इरान अथवा फारस के निवासी सिन्धु-नदी के तट के प्रदेश को 'हिन्द' तथा वहाँ के रहनेवालों को हिन्दू कहते थे। [फारसी में 'स' 'ह' में परिवर्तित हो जाता है]। ग्रीक-लोगों ने सिन्धु-नदी को 'इन्दोस', यहाँ के निवासियों को 'इन्दोई' तथा प्रदेश को 'इन्दिके' अथवा 'इन्दिका' नाम से सम्बोधित किया। यही आगे चलकर लैटिन रूप में 'इण्डिया' बना। आरम्भ में 'इन्दिका' अथवा 'इण्डिया' शब्द पश्चिमोत्तर-प्रदेश का ही वाचक था; किन्तु धीरे-धीरे इसके अर्थ का विस्तार हुआ और वह समग्र-देश के लिए प्रयुक्त होने लगा।

उधर देश के अर्थ में हिन्द शब्द फारस से अरब पहुँचा। जब अरब के निवासियों ने "सिन्ध" को जीता तो 'हिन्द' न कहकर 'सिन्द' ही कहा। इसका कारण यह था कि 'सिन्द' प्रदेश वस्तुतः हिन्द प्रदेश का एक भाग था। इस 'हिन्द' से ही 'हिन्दी' शब्द बना। 'हिन्दी' का एक अर्थ है 'हिन्दुस्तान का निवासी' [देखो, इकबाल का तराना—'हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोसताँ हमारा], किन्तु अमीर खुसरो के समय में इससे 'भारतीय-मुसलमानों' से तात्पर्य था। खुसरो ने 'हिन्दू' तथा 'हिन्दी' में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'बादशाह ने हिन्दुओं को तो हाथी से कुचलवा डाला; किन्तु मुसलमान, जो हिन्दी थे, सुरक्षित रहे।'*

---

*1200 "Whatever live Hindu fell into the King's hands was pounded into bits under the feet of elephants. The Musalmans who were Hindis (country born) had their lives spared"—Amir Khosru, in Elliot, III, 539. Hobson-jobson page 315.

इसप्रकार विदेशी-मुसलमानों ने भारतीय-मुसलमानों को 'हिन्दी' कहा और आगे चलकर उनकी भाषा का नाम भी हिन्दी ही पड़ा। यह वही भाषा थी, जिसका हिन्दू तथा भारतीय मुसलमान समान रूप से व्यवहार करते थे। संक्षेप में भाषा के अर्थ में 'हिन्दी' शब्द मुसलमानों की ही देन है और यह है भी बहुत प्राचीन।

हिन्दी के अन्य नाम

भाषा के अर्थ में हिन्दी के अतिरिक्त 'हिन्दुई' हिन्दवी, हिन्दूवी, दक्खिनी, दखनी या दकनी, हिन्दुस्थानी, हिन्दोस्तानी या हिन्दुस्तानी, खड़ीबोली, रेखता, रेख्ती, उर्दू आदि का भी प्रयोग होता है। भाषा के अध्ययन करने वालों को इन्हें स्पष्टरूप से समझ लेना चाहिए।

हिन्दी—प्राचीनता की दृष्टि से हमारी भाषा का यह नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके नामकरण के सम्बन्ध में अन्यत्र कहा जा चुका है। विकास की दृष्टि से इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी संक्षेप में जान लेना आवश्यक है। भारत के इतिहास में गंगा-यमुना के बीच की भूमि अत्यधिक पवित्र मानी गयी है। अत्यन्त-प्राचीन-काल से ही हिमालय तथा विन्ध्यपर्वत के बीच की भूमि आर्यावर्त्त के नाम से प्रख्यात है। इसी के बीच में मध्यदेश है, जो भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का केन्द्र-बिन्दु है। संस्कृत, पालि तथा शौरसेनी प्राकृत, इस मध्यदेश के विभिन्न-युगों की भाषा थी। कालक्रम से इस प्रदेश में शौरसेनी-अपभ्रंश का प्रचार हुआ। यह कथ्य (बोलचाल) शौरसेनी अपभ्रंश ही कालान्तर में हिन्दी के रूप में परिणत हुआ। इस पर पंजाबी का भी पर्याप्त प्रभाव है। हिन्दू एवं मुसलमानों का यह समान रूप से रिक्थ है। चूँकि हिन्दी का केन्द्र आर्यवर्त है, इसलिए आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसे 'आर्य-भाषा' भी कहा है।

हिन्दुई, हिन्दवी अथवा हिन्दूवी—कुछ लोगों के अनुसार हिन्दुई, हिन्दवी अथवा हिन्दूवी, दिल्ली के आस-पास की वह बोली अथवा भाषा थी, जो हिन्दुओं द्वारा व्यवहृत होती थी तथा जिसमें फ़ारसी-अरबी शब्दों का अभाव था; किन्तु इधर पं० चन्द्रबली पाँडे ने स्पष्टरूप से सिद्ध कर दिया है* कि यह

---

* पं० चंद्रबली पाँडे—'उर्दू का रहस्य' पृ० ४०-४८ में "सैयद इंशा के हिंदवी छुट" देखिए।

भी हिन्दी की भाँति ही शिक्षित-हिन्दू-मुसलमानों की भाषा थी। सैयद इंशा द्वारा लिखित 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा 'हिन्दवी छुट है और इसमें किसी बोली की पुट नहीं' है। इसकी भाषा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

(१) इसमें हिंदवीपन की कड़ी पाबन्दी की गई है।

(२) इसमें 'भाखापन' का बहिष्कार किया गया है।

(३) इसकी भाषा ऐसी है, जिसमें भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते-चालते हैं।

(४) इसमें किसी भी अन्य भाषा की छाँह नहीं है।

अन्य भाषा से इंशा का तात्पर्य 'बाहर की बोली' है, जिसका अर्थ है, हिंदी के बाहर की बोली अर्थात् अरबी, फारसी, तुर्की आदि। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अपनी इस प्रतिज्ञा में इंशा पूरे सफल हुए हैं और आप ने अन्य भाषा के शब्दों का पूर्णरूप से बहिष्कार किया है। इसीप्रकार भाखापन से इंशा का तात्पर्य उन गँवारू-बोलियों से है जो उस समय सीमित-क्षेत्र में प्रचलित थीं।

अब केवल एक ही बात पर विचार करना है कि वे 'भले-लोग' कौन थे, जो इस भाषा का व्यवहार करते थे तथा जिनकी भाषा प्रामाणिक थी। श्री पांडे जी ने 'दरियाए लताफत' से उद्धरण देकर यह सिद्ध किया है कि इंशा के अनुसार दिल्ली के चुने हुए आदमियों की भाषा ही प्रामाणिक है और ये चुने हुए व्यक्ति भी प्रायः मुसलमान ही हैं। इसप्रकार सैयद इंशा जिस 'हिन्दवी छुट' में कहानी लिखने का संकल्प करते हैं उसके बोलनेवाले वस्तुतः वे शिष्ट-मुसलमान हैं जिन्हें इंशा भाषा के क्षेत्र में प्रमाण मानते हैं। इस मीमांसा, के पश्चात् हिन्दुई, हिन्दवी अथवा हिन्दूवी को केवल हिन्दुओं की भाषा मानना तर्क-संगत नहीं प्रतीत होता।

दक्खिनी, दखनी या दकनी—का प्रयोग हिन्दी की भाँति ही दो अर्थों में होता है। इसका एक अर्थ है दक्षिण-निवासी मुसलमान तथा दूसरा अर्थ है, दक्खिनी या दकनी ज़बान (भाषा)। सन् १८८६ में प्रकाशित हाब्सन-जाब्सन कोष के अनुसार 'देकनी' हिन्दुस्तान की एक विचित्र बोली है जिसे

दक्षिण के मुसलमान बोलते हैं।[१] आगे चलकर इसी कोष में सन् १५१६ ई० का एक उद्धरण है जिसके अनुसार दक्खिनी देश की स्वाभाविक भाषा है।[२] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उस समय देश की स्वाभाविक-भाषा कौन थी? इसका स्पष्ट उत्तर है हिन्दी अथवा हिन्द्वी। इसप्रकार दक्खिनी, हिन्दी की ही एक शैली है। इसका यह नाम देशपरक है और इसमें अपेक्षाकृत विदेशी [अरबी-फ़ारसी] शब्दों की मात्रा भी अल्प है।

हिन्दुस्थानी—बंगाल, विशेषतया कलकत्ते के बंगाली, उत्तर-भारत के निवासियों को 'पश्चिमा' अथवा हिन्दुस्थानी और उनकी भाषा को हिन्दुस्थानी कहते हैं। कलकत्ते के बालीगंज के पार्क का नाम 'हिन्दुस्थान-पार्क' है, हिन्दुस्तान पार्क नहीं। इसप्रकार भाषा के अर्थ में 'हिन्दुस्थानी' से, कलकत्ते में, हिन्दी से ही तात्पर्य है।

हिन्दोस्तानी या हिन्दुस्तानी—हिन्दुस्तानी की निरुक्ति हिन्दी से अधिक जटिल है क्योंकि समय तथा व्यक्तियों के अनुसार इसकी परिभाषा परिवर्तित होती रही है। इसके कारण भ्रम भी पर्याप्त हुआ है, इसलिए तनिक विस्तार के साथ इसकी मीमांसा आवश्यक है।

प्रायः यह बात प्रसिद्ध है कि हमारी भाषा के लिए यह नाम यूरप के लोगों की देन है, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी, हिन्दुई, हिन्दवी अथवा हिंदी की भाँति इस नाम के सूत्रपात करने वाले भी तुर्क विजेता ही थे। हाँ, यह बात दूसरी है कि इस नाम को सर्वाधिक प्रचलित करने में यूरप के लोगों का विशेष हाथ है। पं० ललिता प्रसाद सुकुल ने अपने "यह बदनाम हिन्दुस्तानी" शीर्षक लेख में स्पष्ट किया है कि जब बाबर ने दौलत खाँ लोदी पर विजय प्राप्त की और जब वह उसके सामने लाया गया तो एक दुभाषिए के द्वारा बाबर ने उसे हिन्दुस्तानी में समझाया। बाबर के आत्म-चरित से नीचे उद्धरण दिया जाता है—

---

१ Deccany, adj also, used as subst. Properly Dakhni coming from the Deccan. A (Mahommedan) inhabitant of the Deccan, Also the very peculiar dialect of Hindustani spoken by such people.

२. 1516 "The Decani language, which is the natural language of the country".—Barbosa, 77, Hobson-Jobson pp. 233—34.

"मैंने उसे अपने सामने बिठाया और उसे विश्वास दिलाने के लिए, एक व्यक्ति के द्वारा जो हिन्दुस्तानी भाषा जानता था, एक-एक वाक्य का भाव स्पष्ट कराया।"[१]

श्री सुकुल जी का अनुमान है कि भाषा के अर्थ में हिन्दुस्तानी नाम ईरानियों और तुर्कों के साथ १५वीं १६वीं शताब्दि में ही यहाँ आ चुका था। इसकी पुष्टि हाब्सन-जाब्सन के सन् १६१६ ई० के उद्धरण से भी हो जाती है जो इसप्रकार है—

१६१६—'इसके पश्चात् उन्होंने [श्री टॉम कोरियट ने] 'इन्दोस्तान अथवा गवारी-भाषा में पूर्णदक्षता प्राप्त कर ली। श्री राजदूत महोदय [श्री कोरियट] के निवास-गृह में एक ऐसी स्वतंत्रभाषिणी महिला थी, जो सूर्योदय से सूर्यास्त तक डाँट-डपट और हौहल्ला किया करती थी। एक दिन उन्होंने [श्री राजदूत महोदय ने] उसे उसी की भाषा में डाँटा और आठ बजते-बजते उसकी ऐसी गत बना दी कि वह [महिला] एक शब्द भी न बोल सकी।'[२]

ऊपर के दोनों उद्धरणों में हिन्दुस्तानी से स्पष्ट तात्पर्य है हिन्दी। बाबर के युग में तो उर्दू नाम की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी। सन् १६१६ ई० के उद्धरण में तो हिन्दुस्तानी को स्पष्टरूप से गँवारी-भाषा कहा गया है। अतएव यहाँ हिन्दुस्तानी से, किसी प्रकार, उर्दू का तात्पर्य नहीं हो सकता।

हिन्दुस्तानी की निरुक्ति में हाब्सन-जाब्सन [१८८६] ने निम्नलिखित विवरण दिया है—

---

१. I have made him sit down before me and desired a man who understood the *Hindustani Language* to explain to him what I said sentence by sentence inorder to reassure him. [Memoirs of Babar, Lucas, King edition Vol. II p.p. 170]—कमला देवी गर्ग—हिन्दी ही क्यों? पृ० २१०

२. 1616 ' After this he [Tom Coryate] got a great mastery in the *Indostan* or more vulgar language; there was a woman, a landress, belonging to my Lord Embassador's house, who had such a freedom and liberty of speech, that she would sometimes scould, brawl, and rail from the sunrising to the sun set; one day he undertook her in her own language. And by eight of the clock he so silenced her that she had not one word more to speak—Terry, Extracts relating to T. C. [Hobson—Jobson. p.p. 317].

'हिन्दुस्तानी-शब्द वास्तव में विशेषण है, किन्तु संज्ञा के रूप में इसके दो अर्थ होते हैं [क] हिन्दुस्तान का निवासी [ख] हिन्दुस्तानी-ज़बान अथवा हिन्दुस्तान की भाषा; किन्तु वास्तव में उत्तरी-भारत के मुसलमानों की भाषा। यही दक्षिण के मुसलमानों की भी भाषा है। आगरा तथा दिल्ली के आस-पास की हिन्दी, फ़ारसी तथा अन्य विदेशी-शब्दों के सम्मिश्रण से यह विकसित हुई है। इसका दूसरा नाम उर्दू भी है। मुसलमानी-राज्य में यह अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषा थी। देश के अधिकांश-भाग में और कतिपय-श्रेणी के लोगों में यह इसीरूप में व्यहृत होती है। मद्रास में, यद्यपि, यह बहुत कम प्रचलित है, तथापि वहाँ भी देशी-सिपाही अपने अफ़सरों से इसी में बातचीत करते हैं। पुराने 'एंग्लो-इण्डियन' इसे मूर [Moors] कहा करते थे।[१]

ऊपर के उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि १९ वीं शताब्दी में 'हिन्दुस्तानी' शब्द उर्दू का वाचक बन गया था। इसी को पुराने 'एंग्लो-इण्डियन' मूर भी कहते थे। अब यहाँ विचारणीय यह है कि 'मूर' कौन थे और उनकी भाषा का क्या स्वरूप था? स्पेन तथा पुर्तगाल वालों के अनुसार 'मूर' मुसलमान थे।[२] सन् १५६९ के एक उद्धरण में 'मूर' से मुसलमानों का ही

---

१ Hindustani properly an adojective, but used substantively in two senses, viz (a) a native of Hindustan, and (b) (Hindustani Zaban)), the language of that country,' but infact the language of the Mahommedans of upper India, and eventually of the Mahommedans of the Deccans developed out of the Hindi dialect of the Doab chiefly, and of the territory round Agra and Delhi, with a mixture of Persian vocables and phrases, and a readiness to adopt other foreign words It is also called Oordoo i. e, the language of the Urdu (Herde) or camp. This language was for a long time a kind of Mahommedan linguafranca over All India, and still possesses that character over a large part of the country and among certain classes. Even in Madras, where it least prevails, it is still recognised in native regiments as the language of intercourse between officers and men. Old-fashioned Anglo-Indians used to call it the Moors (Hobson-Jobson pp. 317.)

२. But to the Spaniards and Portuguese, whose contact was with the Musulmans of Mauritania, who had passed over and conquered the Peninsula, all Mahommedans were Moors. (Hobson Jobson p.p. 445)

अर्थ लिया गया है।[१] आगे चलकर इसी कोष में मूर-भाषा की रूप रेखा निम्न-लिखित रूप में निर्धारित की गयी है—

मूर भाषा की लिपि संस्कृत तथा बँगला से भिन्न है। इसे नागरी कहते हैं।[२]

इसप्रकार मुसलमानों की मूर भाषा का क्या स्वरूप था, यह स्पष्ट हो जाता है। यह हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषा नहीं थी और इसकी लिपि भी नागरी ही थी।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में किस प्रकार हिन्दुस्तानी-शब्द भी हिन्दी का ही पर्याय था; किन्तु १९वीं शताब्दी में यह शब्द उर्दू वाची बन गया। इसका उर्दू अर्थ प्रचलित करने में 'एंग्लो-इण्डियन' तथा यूरप के लोगों का विशेष हाथ था। आगे चलकर तो हिन्दुस्तानी की आड़ में उर्दू को इतना बढ़ावा दिया गया और उर्दू-हिन्दी विवाद को इतना विस्तृत बना दिया गया कि एक ही भाषा की इन दो-शैलियों के समन्वय की गुंजायश ही न रह गई। इसमें गहरी राजनीतिक-चाल थी। यद्यपि कांग्रेस का जन्म सन् १८८५ ई० में हुआ, किन्तु इसके पूर्व ही दूरदर्शी अंग्रेजों ने भारतीय-नवजागरण को स्पष्टरूप से देख लिया था और वे इस तथ्य को समझ गये थे कि भविष्य में राष्ट्रीयता की बाढ़ को रोकना असम्भव होगा। उन्होंने यह भी अनुभव किया था कि इसका प्रतिकार केवल हिन्दू-मुसलमानों के विद्वेष से ही हो सकता है। अतएव भारत-स्थित यूरोपियन-स्कूलों एवं कालेजों में उर्दू को ही स्वीकार किया गया। अधिकांश मिशनरियों तथा एंग्लो-इण्डियन लोगों ने भी उर्दू को ही प्रोत्साहन प्रदान दिया और इसप्रकार उर्दू-हिन्दी का विवाद १९वीं शताब्दी के मध्य में उग्र हो चला। इस सम्बन्ध में सन् १८७४ ई० की 'हरिश्चन्द्र मैगेजिन' (बनारस) में, बंगाल मैगेजिन से उद्धृत 'कॉमन हिन्दुस्तानी' (Common Hindustani) शीर्षक लेख द्रष्टव्य है। "जिस उर्दू भाष को

---

१. 1569 "......always whereas I have spoken of Gentiles is to be understood idolaters and where as I speak of Moors, I mean Mahomets secte." (Hobson-Jobson p. 446)

२. The language called "Moors" has a written character differing both from the Sanskrit and Bengalee character, it is called *Nagree* which means writing.

(Hobson-Jobson pp. 448)

पहले प्रोत्साहन दिया गया था वह अंग्रेजों तथा उनके[१] अनुगामी कचहरी के अमलों द्वारा पोषित उर्दू से अत्यधिक भिन्न थी।" आगे चलकर इसी लेख में यह भी कहा गया है कि मुगल-साम्राज्य के विध्वंस के बाद उर्दू तथा हिन्दी, दो नितान्त भिन्न-दिशाओं की ओर अग्रसर हो रही हैं।[२]

लिंग्विस्टिक-सर्वे के समय (खण्ड ६ भाग १, पश्चिमी-हिन्दी का प्रकाशन सन् १६१४-१६ में हुआ) हिन्दी तथा उर्दू में पर्याप्त अन्तर आ गया था। इधर यूरप के साहब तथा अफसर, उर्दू के पोषण में व्यस्त थे, अतएव हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी के विषय में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होते हुए भी ग्रियर्सन जैसे भाषाशास्त्री ने भी इस सम्बन्ध में उस समय प्रचलित विचारधारा से ही सन्तोष कर लिया। ग्रियर्सन ने हिन्दुस्तानी, उर्दू तथा हिन्दी के सम्बन्ध में श्री ग्राउस की निम्नलिखित परिभाषा स्वीकार कर ली—

"हिन्दुस्तानी, मुख्यरूप से गंगा के ऊपरी-दोआब की भाषा है। यह हिन्दुस्तान के अन्तर्प्रादेशिक व्यवहार का माध्यम है। यह फ़ारसी तथा देवनागरी, दोनों-लिपियों में लिखी जा सकती है तथा इसकी साहित्यिक-शैली में अत्यधिक फ़ारसी और संस्कृत शब्दों की उपेक्षा रहती है। तब उर्दू हिन्दुस्तानी की वह शैली है जिसमें फारसी शब्द अधिक मात्रा में प्रयुक्त होते हैं और जो केवल फारसी लिपि में लिखी जा सकती है। इसीप्रकार हिन्दी, हिन्दुस्तानी की वह शैली है जिसमें संस्कृत-शब्दों का प्राचुर्य रहता है तथा जो केवल देवनागरी-लिपि में लिखी जा सकती है।[३]

---

१. The Urdu camp language, the formation of which they encouraged was very different from modern Urdu as patronised by Ehglishmen and hangers-on English courts.

२. Since the dissolution of Mughal empire, the Hindi and Urdu have gone on diverging and pursuing the course of the two sides of a parabola.

हरिश्चन्द्र मैगेजिन १८७४ पृ० ११६

३. "We may now define the three varieties of Hindostani as follows:—Hindostani is primarily the language of the Upper Gangentic Doab, and is also the lingualranca of India, capable of being written in both Persian and Devanagri characters, and without purism, avoiding alike the excessive use of either Persian or Sanskrit words when employed for literature. The name 'Urdu' can there be confined to that special variety of Hindostani in which

ग्रियर्सन के अनुसार साहित्यिक-भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी के प्राचीन-तम नमूने 'उर्दू' या 'रेख्ता' में उपलब्ध हैं। साहित्य में इसका सर्वप्रथम प्रयोग १६ वीं शताब्दी में, दक्षिण में प्रारम्भ हुआ था। इसके सौ वर्ष बाद, रेख्ता के जनक, वली, औरंगाबादी, ने इसे प्रामाणिक-रूप दिया। 'वली' के आदर्श पर ही दिल्ली में भी इसमें रचना होने लगी, जहाँ अनेक कवि हुए। इनमें सौदा (मृत्यु १७८०) तथा मीरतकी (मृत्यु १८१०) आदि थे।

ग्रियर्सन के अनुसार 'हिन्दुस्तानी' शब्द यूरप के लोगों की देन है।* जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, यद्यपि यह सत्य नहीं है तथापि, यदि थोड़ी देर के लिए यह बात स्वीकार भी कर ली जाय तो फिर स्वाभाविकरूप से यह प्रश्न उठता है कि यूरप के निवासियों के आगमन के पूर्व हमारी भाषा का नाम क्या था? इसके अतिरिक्त गंभीरता से ग्रियर्सन के कथन पर विचार न करने से कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुस्तानी, रेख्ता, उर्दू, दक्खनी आदि पर्यायवाची हैं जो ठीक नहीं है। ग्रियर्सन के द्वारा ग्राउस की हिन्दुस्तानी की परिभाषा स्वीकार कर लेने के कारण भी लोगों को भाषा के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ हुईं। इस परिभाषा में पर्याप्त आकर्षण है और समय-समय पर देश के नेताओं ने यहाँ की भाषा-समस्या को सुलझाने के लिए इसे उद्धृत भी किया है किन्तु इस बात पर बहुत कम लोगों ने ध्यान दिया कि यह परिभाषा सर्वथा काल्पनिक है। सच बात तो यह है कि उत्तरी-भारत में हिन्दुस्तानी के रूप में कभी कोई ऐसी सर्वमान्य-भाषा अस्तित्व में नहीं आई जिसका हिन्दू-मुसलमान समानरूप से व्यवहार करते थे और जो नागरी अथवा फ़ारसी-लिपि में लिखी जाती थी। पादरी केलाग ने उत्तरी-भारत की भाषा-सम्बन्धी स्थिति को स्पष्ट करते हुए अपने व्याकरण की भूमिका में, सन् १८७५, में लिखा है—

---

persian words are of frequent occurrence, and which hence can only be written in the Persian character, and, similarly, 'Hindi' can be confined to the form of Hindostani in which Sanskrit words abound, and which hence can only be written in the Deva-nagri character." [Linguistic Survey of India, Vol. IX Part I p. 47.]

*The word 'Hindostani' was coined under European Influence, and means the language of Hindustan. L. S. Vol. IX Part I p. 43

"भारत की २५ करोड़ विभिन्न भाषा-भाषी जनता में से ६-७ करोड़ हिन्दी-भाषा-भाषी है। उत्तरी-भारत में, हिन्दी, बनारस, इलाहाबाद मथुरा से लेकर हिमालय के गंगोत्री, केदारनाथ तथा बद्रीनाथ तक बोली जाती है। इसके अतिरिक्त यह महाराज सिंधिया, जयपुर तथा अन्य राजपूत राजाओं के राज्य में भी प्रचलित है। संक्षेप में इसका विस्तार चौबीस लाख वर्गमील के क्षेत्रफल में है। केवल बड़े-बड़े नगरों में मुसलमानों तथा सरकारी दफ्तरों के कारण लोग फ़ारसी-मिश्रित हिन्दी का (जिसे उर्दू भी कहते हैं), व्यवहार करते हैं।"

ऊपर के उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उर्दू का प्रसार केवल नागरिक-मुसलमानों तथा सरकारी दफ्तरों से सम्बन्ध रखने वाले लोगों तक ही सीमित रहा। शेष हिन्दू तथा मुसलमान जनता तो हिन्दी भाषा-भाषी ही रही। एक बात और, ग्रियर्सन ने हिन्दी को हिन्दुस्तानी की एक शैली अवश्य माना, किन्तु उन्होंने न तो हिन्दी शब्द की निरुक्ति ही दी और न हमारी भाषा के इस नाम की प्राचीनता के सम्बन्ध में ही विचार किया। उर्दू की रूपरेखा तथा उसके नाम आदि के विषय में भी उन्होंने पूर्णरूप से मीमांसा नहीं की और फोर्टविलियम कालेज के मुंशी मीर अमन की 'बाग़ो बहार' की ही परिभाषा को मान लिया। 'उर्दू' के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायेगा। यहाँ ग्रियर्सन की हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में सर्वप्रथम विचार किया जाता है।

ग्रियर्सन के अनुसार 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'वर्नाक्यूलर हिन्दोस्तानी' ही मूल भाषा है। भौगोलिक दृष्टि से इसका क्षेत्र गंगा का ऊपरी दोआब तथा पश्चिमी-रुहेलखण्ड है। इस 'वर्नाक्यूलर हिन्दोस्तानी' से ही एक ओर 'साहित्यिक-हिन्दुस्तानी' (= उर्दू) तथा दूसरी ओर साहित्यिक-हिन्दी की उत्पत्ति हुई है। साहित्यिक-हिन्दुस्तानी के प्राचीन-नमूने दक्खिनी में उपलब्ध हैं और बाद में वली (औरंगाबादी) ने इसी में कविता की। अन्त में इसकी परिणति उर्दू में हुई। हिन्दुस्तानी की रूपरेखा निर्धारित करते हुए ग्रियर्सन पुनः लिखते हैं—"हिन्दुस्तानी की प्रत्येक शैली में फ़ारसी-शब्दों को स्थान मिला है। हिन्दी की गँवारू-बोलियों तक में भी ये मौजूद हैं और बनारस के हरिश्चन्द्र जैसे लेखक ने भी इनका प्रयोग किया है।......जब कोई शब्द हिन्दुस्तानी में स्थान प्राप्त कर लेता है, तब वह चाहे जहाँ से आया हो, उसके प्रयोग के सम्बन्ध में आपत्ति करने का अधिकार किसी को नहीं है। हाँ, यह प्रश्न विवादास्पद हो सकता है कि किस शब्द को नागरिकता का अधिकार मिलना चाहिए और किसे नहीं। किन्तु अन्ततोगत्वा यह शैली का प्रश्न है और अंग्रेजी की भाँति ही हिन्दुस्तानी की भी

अनेक शैलियाँ हैं। इस विषय में जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं उन सभी शब्दों को, जिनकी नागरिकता में सन्देह है, हिन्दुस्तानी से पृथक रखना ही पसन्द करता हूँ, किन्तु इसके साथ ही मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि यह केवल रुचि की बात है।"

ऊपर के उद्धरण में ग्रियर्सन ने हिन्दुस्तानी की जो रूप रेखा उपस्थित की है, वह **सरलहिन्दी** के अतिरिक्त अन्य भाषा नहीं हो सकती। आप हिन्दुस्तानी के अन्तर्गत उन्हीं विदेशी-शब्दों को रखने के पक्ष में हैं, जो ठेठ ग्रामीण-बोलियों तक में घुल मिल गए हैं। इसके अतिरिक्त आप हिन्दुस्तानी में उन भारी-भरकम शब्दों को भी रखने के पक्ष में नहीं हैं जो स्वाभाविक-रीति से इसमें नहीं आए हैं। ग्रियर्सन की हिन्दुस्तानी में अरबी-फारसी शब्द हैं, किन्तु ये शब्द तो आवश्यकतानुसार प्रायः सभी आधुनिक-आर्य-भाषाओं में आए हैं। बंगला में अरबी-फारसी से उधार लिए हुए कुल शब्दों की संख्या ढाई हजार के लगभग है। हिन्दी में इस सम्बन्ध में विशेष अनुसन्धान नहीं हुआ है, किन्तु अनुमानतः एक लाख शब्दों में इसप्रकार के शब्दों की संख्या तीन-साढ़े तीन हजार से अधिक न होगी। डा० ग्रियर्सन ने अपने लिंग्विस्टिक सर्वे में उत्तरी-भारत की विभिन्न-बोलियों के जो उदाहरण दिए हैं, उनमें अरबी-फारसी शब्दों की संख्या प्रायः नगण्य है।

काँग्रेस की हिन्दुस्तानी

काँग्रेस ने हिन्दुस्तानी को कब और कैसे स्वीकार किया, इसे समझने के लिए इसकी ऐतिहासिक-पृष्ठभूमि को समझना पड़ेगा। काँग्रेस की स्थापना सन् १८८५ ई० में हुई थी। इसके संस्थापक श्री ह्यूम का उद्देश्य यह था कि भारतीय वैधानिक-ढंग से शासन में स्थान प्राप्त करें; किन्तु पन्द्रह वर्षों के बाद ही पं० बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय तथा श्री विपिनचन्द्र पाल जैसे नेताओं के उद्योग के परिणामस्वरूप काँग्रेस क्रान्तिकारी संस्था में परिणत होने लगी। सन् १९०१ से १९१० ई० के बीच का इतिहास वस्तुतः भारतीय-नवजागरण का इतिहास है। इसी समय में लार्ड कर्जन ने बंग-भंग किया, जिसके कारण बंगाल में 'स्वदेशी-आन्दोलन' का सूत्रपात हुआ। इसी बीच सूरत की काँग्रेस के अधिवेशन में क्रान्तिकारी दल की विजय हुई और भारत के उदारदल (Moderate Party) का काँग्रेस से सदा के लिए निष्कासन हुआ। उधर विदेश-स्थित

भारतीय-क्रान्तिकारियों का एक दल संगठित हुआ, जिसमें महाराष्ट्र, बंगाली, पंजाबी, गुजराती आदि सभी प्रदेशों के नवयुवक थे। इस युग में राष्ट्रीयता की जो लहर उठी उसने राष्ट्र-भाषा की ओर भारतीय-तरुणों का ध्यान आकर्षित किया और उसके फलस्वरूप राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी, राष्ट्रीयता का अविभाज्य-अङ्ग बनने लगी।

इधर उत्तरी-भारत में भी हिन्दी को समुन्नत करने तथा उसे राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करने का आन्दोलन चल पड़ा। यह सर्वथा स्वाभाविक था। हिन्दी, उत्तरी भारत की जनता की मातृभाषा थी, किन्तु उसे कचहरियों तथा सरकारी-कार्यालयों में उचित स्थान प्राप्त न था। इस आन्दोलन के प्रवर्त्तक महामना पं० मदन मोहन मालवीय थे। उत्तर-प्रदेश [तब युक्तप्रान्त] की कचहरियों में वैकल्पिक-रूप से, हिन्दी में लिखित अर्जियाँ भी ले ली जाया करें, इसके लिए लाखों व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराकर, उस समय के गवर्नर, सर एन्थनी मैकडॉनिल के पास प्रार्थना-पत्र भेजा गया। इस कार्य में प्रयाग के एक तरुण-राष्ट्रकर्मी, बाबू पुरुषोत्तम दास जी टंडन, ने भी मालवीय जी की सहायता की। सन् १८९३ ई० में स्थापित, नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी, ने भी इस आन्दोलन में मालवीय जी का हाथ बँटाया। आगे चलकर, १० अक्तूबर, सन् १९१० को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना हुई। इसका प्रथम अधिवेशन, नागरी-प्रचारिणी-सभा के तत्वावधान में, काशी में ही हुआ। इसके प्रथम सभापति पं० मदनमोहन मालवीय जी हुए। सम्मेलन का संगठन हुआ और उसके मंत्री बाबू पुरुषोत्तम दास जी टंडन मनोनीत हुए। सम्मेलन ने अपनी प्रथम नियमावली में ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा तथा देवनागरी को राष्ट्र-लिपि माना।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साथ गाँधीजी का सहयोग

सन् १९१४ में गाँधीजी दक्षिणी अफ्रीका से भारत आए। एक बार उन्होंने बाबू पुरुषोत्तम दास जी टंडन को अपने एक पत्र में लिखा—"मेरे लिए हिन्दी का प्रश्न तो स्वराज्य का प्रश्न है।" ठीक यही बात श्री टंडन जी के मन में भी थी। अतएव दो समानधर्मा आ मिले। सं० १९७४ (सन् १९१७ ई०) में श्री टंडन जी की प्रेरणा से गाँधीजी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, इन्दौर के अधिवेशन में सम्मेलन के सभापति हुए। इसके बाद, दूसरी बार भी सं० १९९२ [सन् १९३५ ई०] में, इन्दौर में ही, आप सम्मेलन के सभापति बने। सम्मेलन

में गाँधीजी के आगमन से हिन्दी-राष्ट्रभाषा-आन्दोलन को बहुत बल मिला। महात्मा जी की ही प्रेरणा से सम्मेलन के तत्वावधान में, दक्षिण में, हिन्दी का प्रचार-कार्य प्रारम्भ हुआ और 'दक्षिण-भारत-प्रचार-सभा' की नींव पड़ी। सन् १९२१ के बाद, धीरे-धीरे, गाँधीजी, सम्पूर्ण-भारत के पूज्य बापू तथा कर्णधार बन गए। अन्य राजनीतिक कार्यों के साथ, राष्ट्रभाषा-हिन्दी का भी आपको सदैव ध्यान रहा।

कानपुर-काँग्रेस में हिन्दुस्तानी का प्रस्ताव

सन् १९२६ में, काँग्रेस का वार्षिक-अधिवेशन, कानपुर में हुआ। यद्यपि काँग्रेस के मंच से कतिपय नेता हिन्दी में भी भाषण देते थे, किन्तु अभी भी काँग्रेस की कार्यवाही में अंग्रेजी का ही बोलबाला था। इसे राष्ट्रीय-प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझकर बाबू पुरुषोत्तम दास जी टंडन ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि काँग्रेस की कार्यवाही भविष्य में हिन्दुस्तानी में हो। हिन्दुस्तानी से श्री टंडन जी का तात्पर्य किसी कृत्रिम-भाषा से न था, अपितु उन्होंने इस शब्द को हिन्दी तथा उर्दू के स्थान पर ही व्यवहृत किया था। उस समय की परिस्थिति को देखते हुए कोई अन्य बात सम्भव भी न थी। श्री टंडन जी का मुख्य उद्देश्य यह था कि किसीप्रकार काँग्रेस जैसी राष्ट्रीय-संस्था का अंग्रेजी से पिण्ड छूटे। प्रस्ताव स्वीकृत हो गया, किन्तु इसके बाद भी यह कार्यान्वित न हो सका और काँग्रेस में अंग्रेजी पूर्ववत् चलती रही।

गाँधी जी हिन्दुस्तानी की ओर

यह ऊपर कहा जा चुका है कि गाँधीजी, सन् १९३५ में, इन्दौर-हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के, दूसरी बार सभापति हुए। भारतीय-इतिहास में, सन् १९३० से १९४० का समय जिसप्रकार राजनीतिक-दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, उसी-प्रकार राष्ट्रभाषा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। महात्मा जी की प्रेरणा से सन् १९३६ ई० में, मद्रास को छोड़कर, शेष अहिन्दी-प्रदेशों [सिन्ध, गुजरात, महाराष्ट्र, उत्कल, बंगाल तथा आसाम आदि] में हिन्दी के प्रचार के लिए राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के संगठन का प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। नागपुर के सम्मेलन के जिस पच्चीसवें अधिवेशन में यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, उसके सभापति श्री बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी थे। इस समिति का संगठन सम्मेलन के अन्तर्गत ही हुआ और इसका कार्यालय वर्धा में रखा गया। समिति के उद्योग

से, परीक्षाओं तथा अन्य साधनों के द्वारा, राष्ट्रभाषा-हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार का कार्य, अहिन्दी-प्रदेशों में ज़ोर से बढ़ा। उधर इसी समय साम्प्रदायिक तथा पाकिस्तानी-मनोवृत्ति से प्रेरित एक विशेष वर्ग के व्यक्तियों ने भी, उर्दू के देश-व्यापी प्रचार एवं प्रसार के लिए, दिल्ली में, 'अञ्जुमन तरक्किए उर्दू' की स्थापना की। बंगाल में, हिन्दू तथा मुसलमानों की बंगला में कोई अन्तर न था, किन्तु वहाँ भी, बँगला में, अरबी-फारसी शब्दों का सम्मिश्रण करके मुसलमानों की भाषा को पृथक करने का उद्योग होने लगा जिसका श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे व्यक्ति को विरोध करना पड़ा। पाकिस्तानी-मनोवृत्ति के लोग हिन्दी के प्रचार-प्रसार से अत्यधिक क्षुब्ध थे। उन्हें अभी तक यह निश्चय नहीं हो पाया था कि पाकिस्तान बन ही जायेगा; किन्तु उन्हें यह बात भलीभाँति ज्ञात थी कि गाँधीजी हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा अखण्ड भारत के लिए छटपटा रहे हैं। फिर क्या था, उपयुक्त अवसर देखकर उन्होंने गाँधीजी के हिन्दी-प्रचार-कार्य की कड़ी आलोचना आरम्भ कर दी। इसका गाँधीजी पर पर्याप्त-प्रभाव पड़ा। उन्होंने राष्ट्रभाषा के लिए हिन्दी-हिन्दुस्तानी नाम पसन्द किया। साम्प्रदायिक-मनोवृत्ति के लोगों को हिन्दुस्तानी [= उर्दू] के साथ हिन्दी का संयोग पसन्द न आया। उन्होंने गाँधी जी के विरुद्ध अपना आन्दोलन जारी रखा और अन्त में उनकी इच्छा पूरी हुई। गाँधीजी ने आगे चलकर राष्ट्रभाषा के नाम से हिन्दी शब्द को निकाल दिया और केवल हिन्दुस्तानी को ही रखा। उन्होंने राष्ट्रभाषा के लिए, नागरी तथा फ़ारसी, दोनों लिपियों को सीखना अनिवार्य बतलाया। यद्यपि गाँधी जी के परम भक्तों ने भी राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में उनकी इस नीति की स्पष्ट-रूप से आलोचना की तथापि गाँधी जी अपनी बात पर दृढ़ रहे। आगे चलकर बापू के जीवन-काल में ही देश स्वतन्त्र हो गया किन्तु देश का विभाजन करके ही यह कार्य सम्पन्न हुआ। जब भारत का संविधान बनने लगा तब राष्ट्र-भाषा का प्रश्न पुनः सामने आया और देश ने एक मत से यह पद नागरी-हिंदी को दिया।

गाँधी जी ने राष्ट्र-भाषा के लिए हिन्दुस्तानी नाम को पसन्द तो किया किन्तु उनकी हिन्दुस्तानी की परिभाषा तथा रूप-रेखा अपनी थी। उनकी हिन्दुस्तानी, उर्दू-हिन्दी से भिन्न, इन दोनों के बीच की सरल शैली थी।

गाँधी जी के अतिरिक्त अंजुमन तरक्किए-उर्दू के सर्वेसर्वा मौलवी अब्दुल हक तथा शिब्ली ऐकेडेमी, आज़मगढ़ के सैय्यद सुलेमान नदवी ने

भी भाषा के अर्थ में हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग किया; किन्तु इन दोनों महानुभावों की हिन्दुस्तानी, उर्दू-ए-मुअल्ला के अतिरिक्त अन्य शैली न थी।

रेख्ता-रेख्ती—रेख्ता हिन्दी की वह शैली है जिसमें फ़ारसी-शब्दों का सम्मिश्रण हो। प्रायः लोग रेख्ता तथा उर्दू को भ्रमवश एक दूसरे का पर्याय-वाची समझ लेते हैं, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। उर्दू की अपेक्षा रेख्ता की व्याप्ति अधिक है। उर्दू को तो रेख्ते की एक विशिष्ट-शैली कह सकते हैं, परन्तु रेख्ते को उर्दू कहना अशुद्ध होगा। रेख्ता वास्तव में पुरुषों की भाषा है। स्त्रियों की भाषा रेख्ती कहलाती है। इस सम्बन्ध में एक और उल्लेख-नीय बात यह है कि भाषा के अर्थ में रेख्ता का प्रयोग उर्दू से पुराना है।

उर्दू—हेनरी यूल तथा आर्थर कोक बर्नेल ने सन् १८८६ में प्रकाशित अपने प्रसिद्ध कोष हाब्सन-जाब्सन के पृ० ४८८ में, उर्दू के सम्बन्ध में निम्न-लिखित विवरण दिया है—"संज्ञा, हिन्दुस्तानी भाषा। उर्दू (तुर्की) शब्द से तातारखान के पड़ाव अथवा खेमे से तात्पर्य है। वस्तुतः अंग्रेजी 'होर्ड, (Horde) तथा रूसी ओर्दे (Orda) शब्द इसी से प्रसूत हैं। वोल्गा के तट पर स्थित 'गोल्डेन होर्ड' (Golden Horde) से प्रायः लोग तातार के एक विशेष क़बीले का अर्थ लेते हैं किन्तु इससे वास्तविक तात्पर्य है, सराय स्थित बातूवंश के खान का 'शाही पड़ाव' अथवा भवन।......तुर्किस्तान स्थित ताश-कन्द तथा खोकन्द में उर्दू का अर्थ है क़िला। 'शाही-पड़ाव' के अर्थ में 'उर्दू' शब्द भारत में, सम्भवतः बाबर के साथ आया और दिल्ली का राजभवन 'उर्दू-ए मुअल्ला' अथवा 'महान-शिविर' कहलाने लगा। दरबार तथा शिविर में एक मिश्रित-भाषा का आविर्भाव हुआ जो 'ज़बाने उर्दू' कहलाई। इसी का संक्षिप्तरूप आगे चलकर उर्दू हुआ। पेशावर की सीमा पर आज भी उर्दू शब्द युद्ध में प्रवृत्त सैनिकों के 'शिविर' के लिए प्रयुक्त होता है।"*

---

*Oordoo—S. The Hindustani language. The (Turki) word *Urdu* means properly the camp of a Tartar Khan, and is, in another direction, the original of our word '*horde*' (Russian, *Orda*). *The 'Golden Horde'* upon the Volga was not properly the name of a tribe of Tartars, as is often supposed, but was the style of the Royal camp, eventually palace, of the Khans of the House of Batu at Sarai......*Urdu* is

ऊपर के उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उर्दू वास्तव में दरबारी भाषा है और जन-साधारण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसकी पुष्टि उन अनेक-प्रमाणों तथा उद्धरणों से भी हो जाती है जिन्हें पं० चन्द्रबली पाँडे ने "अपने उर्दू के रहस्य', 'उर्दू का उद्गम' तथा 'उर्दू की ज़बान' आदि पुस्तकों एवं लेखों में प्रस्तुत किया है। वास्तव में इस सम्बन्ध में पाँडे जी की गवेषणा अन्यतम है। आपकी पुस्तिका **'उर्दू की ज़बान'** पृ० ३-४ से वह उद्धरण नीचे दिया जाता है जो इस विषय में आपने इंशा अल्ला के **'दरिया-ए-लताफ़त'** से उद्धृत किया है—

"बहर हाल (कुछ भी हो) अपनी समझ और सलीका (ढंग) के बमोजिब (अनुसार) बहुत ग़ौर (मनन) और तायम्मुल (गवेषणा) के बाद इस हेचमदा (विमूढ़) को यह मालूम होता है और ग़ालिब (संभव) है कि यह राय नाक़िस (तुच्छ विचार) दुरुस्त (ठीक) हो कि शाहजहाँबाद की ज़बान वह है जो दरबारी और मुसहियत पेशा (सभासद) क़ाबिल अशख़ास (योग्य पुरुष), ख़ूबसूरत माशूक़ों (छैल छबीलों), मुसलमान अहल हिरफ़ा (गुणज्ञ), शुहदों (गुंडों) और उमरा के शागिर्द पेशा (परिजनों) और मुलाज़िमों (नौकरों) हत्ता (यहाँ तक) कि उनके ख़ाकरोबों (मेहतरों) की ज़बान है। यह लोग जहाँ कहीं पहुँचते हैं उनकी औलाद (संतान) दिल्ली वाली और उनका मुहल्ला दिल्ली वालों का मुहल्ला बाजता है। और अगर तमाम शहर में फैल जाएँ तो शहर को उर्दू कहते हैं। लेकिन इन हज़रात (महाशयों) का जमघट सिवाय लखनऊ के और कहीं ख़ाकसार की राय में नहीं पहुँचता। अगरचे मुरशिदाबाद और अज़ीमाबाद (पटना) के बाशिंदे (निवासी) अपने ज़ोम (अभिमान) में ख़ुद को उर्दू-दाँ और अपने शहर को उर्दू कहते हैं। क्योंकि अज़ीमाबाद में देहलीवाले एक महल्ले के अन्दाज़े (अनुमान) के रहते होंगे और नवाब सादिक़ अली ख़ान उर्फ़ (उपनाम)

---

now used in Turkistan, *e. g*, Tashkhand Khokhand etc-, for a citadel. The word Urdu in the sence of royal camp, came into India, probably with Babar and the royal residence at Delhi was styled *Urdu-i-muall i*, the sublime camp. *The mixt language which grow up in the court and camp was called Zoban-i Urdu* ' The camp language' and hence we have eliptically *Urdu*. On the Peshwar frontier the word *Urdu* is still in frequent use as applied to the camp of a field force.

Hobson-Jobson, p.p. 488

मीरन और नव्वाब क़ासिम अली ख़ान आलीजाह के ज़माने में उसी क़दर (मात्रा) या उससे कुछ ज़्यादा (अधिक) मुर्शिदाबाद में होंगे।" (दरियाए लताफ़त, अंजुमन तरक्किए उर्दू, देहली, सन् १९४५ ई०, पृ०, १२१—२२)।

पाँडे जी ने अपनी पुस्तक 'भाषा का प्रश्न' पृ० १०६ में, 'दरियाए लताफ़त' का उद्धरण देकर निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किया है—'सैयद इंशा साफ़-साफ़ कहते हैं कि लाहौर, मुल्तान, आगरा, इलाहाबाद की वह प्रतिष्ठा नहीं है जो शाहजहानाबाद या दिल्ली की है। इसी शाहजहानाबाद में उर्दू का जन्म हुआ है, कुछ मुल्तान, लाहौर या आगरा में नहीं।' उर्दू की जन्म-कथा यह है—"शाहजहानाबाद में ख़ुशबयान लोगों ने एक मत होकर अन्य अनेक भाषाओं से दिलचस्प शब्दों को जुदा किया और कुछ शब्दों तथा वाक्यों में हेर-फेर करके दूसरी भाषाओं से भिन्न एक अलग नई भाषा ईजाद की और उसका नाम उर्दू रख दिया।'

ऊपर के विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उर्दू की उत्पत्ति कहाँ और कैसे हुई तथा मूलतः यह किसकी ज़बान थी। इधर जब से देश में, जन-सत्तात्मक-प्रणाली का सूत्रपात हुआ है तब से उर्दू के सम्बन्ध में इंशा अल्ला तथा उनके समान विचार रखनेवालों की विचारधारा को अन्यथा मानकर यह सिद्ध करने का उद्योग किया जा रहा है कि उर्दू जन-साधारण की भाषा है तथा इसके निर्माण में साधुओं-सन्यासियों एवं देशभक्तों का हाथ है। अभी हाल ही में [२६ जुलाई, सन् १९५३] अंजुमन तरक्किए-उर्दू, अलीगढ़ के प्रधान, डा० ज़ाकिर हुसेन ने, उर्दू को क्षेत्रीय-भाषा बनाने के लिए आन्दोलन करने वाली सभा में भाषण देते हुए, लखनऊ में, जो कुछ कहा है वह द्रष्टव्य है—

'इस समय तो उर्दू का ज़िक्र है, कैसा सितम है कि उर्दू के प्रेमियों पर कोई साम्प्रदायिकता का आरोप लगावे, हालाँकि उर्दू किसी सम्प्रदाय की भाषा नहीं है। किसी राजा की चलाई हुई भाषा नहीं है, किसी ख़ास उद्देश्य में बनावटी और गढ़ी हुई भाषा नहीं है, यह तो जीवन के रेल-पेल में मानवजाति के मेल-जोल का फल है, आप लोगों की और आम जनता की भाषा है, जिनके दिल को कुछ लगी थी और वह इसे दूसरे उन भाइयों तक पहुँचाना चाहते थे, जो उनसे प्रेम करते थे और कान धरकर उनकी बात सुनना चाहते थे, उनके दिलों की बोली है, यह साधुओं, सन्यासियों

और देश-भक्तों की बोली है, बाज़ारों में कारबार और लेन-देन से बनी हुई बोली है, मंडियों में अनाजों के साथ-साथ विचारों के विनिमय से बनी हुई बोली है, उनकी भाषा है जो किसी ख़ास परम्परा से ऐसे लिपटे हुए नहीं थे, जो हर नई बात से भड़कें, हर नए चलन से बिदकें, लोगों ही से नहीं, शब्दों से भी घृणा करें, यह हृदय की उदारता की भाषा है, भाई-चारेपन की भाषा है, प्रेम और मुहब्बत की भाषा है, इसीलिए फैले हुए दामन वाली ज़बान है, ऐसी उन्नतिशील भाषा है, ऐसी जानदार भाषा है। यह इसी देश के इसी उत्तर-प्रदेश के क्षेत्र में बसने वालों के हार्दिक और मानसिक सम्बन्ध का परिणाम है और इन बसनेवालों में हिन्दू-मुसलिम, सिक्ख का कोई भेद नहीं।"

[ज़ाकिर हुसैन का अभिभाषण, हिन्दी-संस्करण पृ० ५-६]

ऊपर डा० ज़ाकिर हुसैन ने उर्दू की जो रूपरेखा दी है, वह आधुनिक भारतीय-वातावरण के सर्वथा अनुकूल है। अच्छा होता कि उर्दू ऐसी भाषा होती, किन्तु परम्परा तथा उर्दू का इतिहास इसके सर्वथा विरुद्ध है। इस सम्बन्ध में प० चंद्रबली पाँडे द्वारा लिखित पुस्तिका 'उर्दू की ज़बान', पृ० १० में 'फरहंगे आसफ़िया' से उद्धृत निम्नलिखित-विवरण द्रष्टव्य है :—

"यह बात सबने तसलीम (स्वीकृत) कर रखी थी कि असली (सच्ची) उर्दू शाहज़ादगाने तैमूरिया (तैमूरी राजकुमारों) की ही ज़बान है और लाल क़िला ही उस ज़बान की टकसाल है। इसलिए सैयद (अहमद देहलवी) ख़ास हमें और चन्द और अज़ीज़ (प्रिय) शाहज़ादों को बुलाते थे, आम से ग़र्ज़ न थी।' [श्री अरशद गोरगानी, फरहंगे आसफ़िया, तकारीज़, जिल्द चहारुम, रफ़ाहे आम प्रेस, लाहौर, सन् १९०१; पृ० ८४५]।

आगे पाँडे जी अपनी पुस्तिका के पृ० ११ में ऊपर के विवरण की आलोचना करते हुए लिखते हैं—

उर्दू की टकसाल में जो ज़बान पैदा की गई वह शाही और शाही लोगों की ज़बान थी, कुछ आम लोगों की ज़बान नहीं। 'आम से ग़र्ज़ न थी', से यह बात इतनी स्पष्ट हो गई है कि अब इसे और अधिक छिपा रखना सम्भव नहीं। लीजिए, वही सैयद साहब, सैयद मौलवी अहमद देहलवी स्वयं कहते हैं—'सब कुछ सही, मगर मेरा दिल इन बातों को कभी क़बूल (स्वीकार) नहीं कर सकता कि सरतासर (एक सिरे से दूसरे सिरे तक) टकसाल बाहर ज़बान हो और यह बंदा उसकी तौसीफ़ (गुण-गीति) में हमातन रतबुल्लिसान (भरपूर) निमग्न हो। कोई लफ्ज़ क़वाअदे मन्ज़बत (शब्दानुशासन) से बाहर हो और हमारे दोस्त

उसे सराहें। हम अपनी ज़बान को मरहठी बाज़ों, लावनी बाज़ों की ज़बान, धोबियों के खंड, जाहिल (अपाट) ख्याल बन्दों के ख्याल, टेसू के राग याने बेसरवपा (बिना सिर पैर के) अल्फ़ाज़ का मजमूआ (समूह) बनाना कभी नहीं चाहते। और न उस आज़ादाना (स्वच्छन्द) उर्दू को ही पसन्द करते हैं जो हिंदोस्तान के ईसाइयों, नवमुसलिम भाइयों, ताजा बिलायत साहब लोगों, खान सामाओं ख़िदमतगारों, पूरब के मनहियों, (मनुष्यों), कैंप ब्वायों और छावनियों के सतबेभड़े बाशिंदों ने एख़्तयार कर रक्खी है। हमारे ज़री-फ़ुल्तबा (बिनोद-प्रिय) दोस्तों ने मज़ाक में इसका नाम पुड़दू रख दिया है।" (फरहंगे आसफ़िया, जिल्द अव्वल, वही पृ० २३ सब्ब तालीफ़)।

ऊपर के उद्धरण पर टिप्पणी करते हुए पंडि जी "उर्दू की ज़बान" पृ० ११-१२ पर पुनः लिखते हैं—

"जो लोग उर्दू की ज़बान को हिन्दू-मुसलिम-मेल की निशानी समझते हैं उन्हें 'नव-मुसलिम भाइयों' और जो लोग उर्दू को लश्कर की चीज़ समझते हैं उनको इस "छावनियों के सतबेभड़े बाशिंदों" पर विशेष ध्यान देना चाहिये और यह सदा के लिये टाँक लेना चाहिए की वस्तुतः उर्दू 'उर्दू की ज़बान' है, कुछ 'पुड़दू' याने लश्कर और बाजार की सतबेभड़ी बोली नहीं। नीतिवश चाहे आज जो कुछ कहा जाय पर उर्दू का अतीत पुकार कर कहता है कि—

"उर्दू के मालिक उन लोगों की औलाद (संतान) थे जो असल (वास्तव) में फ़ारसी ज़बान रखते थे। इसी वास्ते उन्होंने तमाम (सम्पूर्ण) फ़ारसी, बहरें (छन्द) और फ़ारसी के दिलचस्प (मनोरंजक) और रंगीन ख़यालात (भावों) और अकसाम इंशा परदाज़ी (रचना-प्रणालियों) का फोटोग्राफ़, फ़ारसी से उर्दू में लिया।" (नज़्मे आज़ाद, नवल किशोर प्रेस प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर, १९१० ई०, पृ० १४)

'शम्सुल उलमा मौलवी मुहम्मद 'आज़ाद' की इसी वाणी को उक्त सैयद मौलवी अहमद, देहलवी के मुँह से सुनिये और सच की दाद दे झूठ से तोबा कीजिए। कहते और किस ठिकाने से कहते हैं कि 'मज़हर अली 'बिला' ने बैताल पचीसी अव्वल (प्रथम) भाषा से उर्दू में की और इंशा अल्ला ख़ाँ ने क़वायद उर्दू (उर्दू का व्याकरण) लिखकर जौदततब्अ (भावोल्लास) दिखाई। मगर इसमें भी अरबी व फ़ारसी अल्फ़ाज़ का चरबा (चित्र) उतारा जिससे और माहिराने सर्फ़ व नह्वो (व्याकरण-विचक्षण) भी इसी डगर पर पड़ गए। उर्दू-नज़्म (पद्य) ने भी फ़ारसी ही की तर्ज़ (रीति) एख़्तयार (ग्रहण) की,

क्योंकि ये लोग तुर्की उन्नस्ल (तुर्की वंश) थे या फ़ारसी उन्नस्ल (फ़ारसी वंश) या अरबी उन्नस्ल (अरबी वंश) थे। यह हिन्दी की मुताबकत (अनुकूलता) किस तरह कर सकते थे ? अगर इन्हें हिन्दी की दिलचस्प शायरी और उसकी नाजुक ख़याली (कोमल-भावना) का चसका होता तो उर्दू क़वायद (व्याकरण) नीज़ (एवं) उर्दू शायरी में और ही लुत्फ़ (रस) पैदा हो जाता।' (मोक़दमा फ़रहंगे आसफ़िया, जिल्द अव्वल, पृ० ८)।

पांडे जी की ऊपर की आलोचना के पश्चात्, उर्दू के इतिहास तथा उसकी वास्तविक-स्थिति को समझने में किसीप्रकार की कठिनाई नहीं रह जाती और यह स्पष्ट हो जाता है कि 'उर्दू', लाल क़िले के बादशाही शाहज़ादों तथा उनके आसपास के अन्य लोगों की ज़बान है। अब यहाँ इस बात पर भी विचार करना है कि उर्दू की उत्पत्ति कैसे हुई ? चूँकि इस सम्बन्ध में, लोगों में आज भी भ्रम है, अतएव इसे स्पष्टरूप से जान लेना ही श्रेयस्कर है। नीचे इस सम्बन्ध में विद्वानों के मत दिए जाते हैं—

मुहम्मद हसन आज़ाद, अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'आबेहयात' के पृ० ६ पर 'ज़बान उर्दू की तारीख़' शीर्षक के अन्तर्गत लिखते हैं—'इतनी बात हर शख़्स जानता है कि हमारी ज़बान ब्रजभाखा से निकली है और ब्रजभाखा ख़ास हिन्दुस्तानी ज़बान है।'

मीर अम्मन देहलवी के अनुसार 'उर्दू' बाज़ारी और लश्करी भाषा है।' आप 'बाग़ो बहार' की भूमिका पृ० ४ में लिखते हैं—

'हक़ीक़त उर्दू की ज़बान की बुज़ुर्गों के मुँह से यों सुनी है कि दिल्ली शहर हिन्दुओं के नज़दीक चौजुगी है। उन्हीं के राजा-प्रजा क़दीम से वहाँ रहते थे और अपनी-अपनी भाखा बोलते थे। हज़ार बरस से मुसलमानों का अमल हुआ। सुल्तान महमूद ग़ज़नवी आया। फिर ग़ोरी और लोदी बादशाह हुए। इस आमदरफ़्त के बाइस कुछ ज़बानों ने हिन्दू-मुसलमानों की आमेज़िश पाई। आख़िर, अमीर तैमूर ने, जिनके घराने में अब तक नामनिहाद सल्तनत का चला आता है, हिंदोस्तान को लिया। उनके आने और रहने से लश्कर का बाज़ार शहर में दाख़िल हुआ। इस वास्ते शहर का बाज़ार उर्दू कहलाया।......जब अकबर बादशाह तख़्त पर बैठे तब चारों तरफ़ के मुल्कों से सब क़ौम क़दरदानी और फ़ैज़रसानी इस ख़ान्दान लासानी की सुनकर हुज़ूर में आकर जमा हुए। लेकिन हरएक की गोयाई और बोली जुदा-जुदा थी। इकट्ठे होने से आपस में लेन-देन,

सौदा-सुल्फ, सवाल-जवाब करते-करते एक ज़बान उर्दू की मुकर्रर हुई। जब हज़रत शाहजहाँ साहबे केरान किला मुबारक और जामा मसजिद और शहरपनाह तामीर फरमाया......तब बादशाह ने ख़ुश होकर जश्न फरमाया और शहर को अपना दारुलखिलाफ़त बनाया। तब से शाहजहानाबाद मशहूर हुआ।......और वहाँ के शहर को उर्दू-ए-मुअल्ला खिताब दिया। अमीर तैमूर के अहद से मुहम्मदशाह की बादशाहत तक, बल्कि अहमदशाह और आलमगीर सानी के वक्त तक, पीढ़ी ब पीढ़ी सल्तनत एक-साँ चली आई। निदान ज़बान उर्दू की मँजते-मँजते ऐसी मँजी कि किसी शहर की बोली उससे टक्कर नहीं खाती।'

श्री टी० ग्राहमबेली के अनुसार उर्दू की उत्पत्ति दिल्ली के आस-पास नहीं, अपितु पंजाब (लाहौर) में हुई। महमूद गज़नी ने सन् १०८७ ई० में पंजाब जीता और लाहौर में अपनी सेना रखी। सन् ११८७ तक यह शहर गज़नी वंश के हाथ में रहा। उसके बाद मुहम्मद गोरी ने उस पर आधिपत्य जमाया। उसने अपने प्रतिनिधि कुतुबुद्दीन ऐबक के हाथ में विजित प्रान्त को सौंप दिया। ऐबक ने दिल्ली को सन् ११९३ में अपने अधिकार में ले लिया और अपने मालिक की मृत्यु के पश्चात् वह स्वयं सुल्तान बन बैठा। इसी समय से दिल्ली में विदेशी फ़ौजों का आवागमन प्रारम्भ होता है। इसलिये भाषा की क्रिया-प्रतिक्रिया का कार्य लाहौर में ही प्रारम्भ हुआ। लाहौर में उस समय पुरानी खड़ीबोली प्रचलित थी। उसी को विदेशियों ने अपने व्यवहार की भाषा बनाया। इसप्रकार फ़ौज की भाषा, जो बाद में, उर्दू कहलाई 'खड़ीबोली' से उत्पन्न हुई।

जार्ज ग्रियर्सन बोलचाल की ठेठ-हिन्दुस्तानी से ही साहित्यिक-उर्दू तथा हिन्दी की उत्पत्ति मानते हैं। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, यह बोलचाल की हिन्दुस्तानी, हिन्दी के अतिरिक्त कोई अन्य भाषा अथवा बोली नहीं। इसका मूल-स्थान उत्तर-पश्चिम-भारत के पंजाब की सीमा पर है तथा इस पर पंजाबी का अत्यधिक प्रभाव है। ग्रियर्सन ने अपने लिंग्विस्टिक-सर्वे के खंड ९ भाग १ पृ० ६५ से साहित्यिक-हिन्दुस्तानी का उदाहरण देना प्रारम्भ किया है। इनमें पहला पं० सुधाकर द्विवेदी द्वारा अनूदित बाइबिल की वह कहानी है, जिसका अनुवाद ग्रियर्सन ने सभी बोलियों में कराया है। यह ठेठ-साहित्यिक हिन्दुस्तानी है। इसके सम्बन्ध में ग्रियर्सन लिखते हैं—"इस ठेठ-हिन्दी में केवल एक या दो शब्द विदेशी हैं। ये शब्द फ़ारसी बखरा (भाग या हिस्सा) तथा संस्कृत पाप हैं। यद्यपि ये शब्द विदेशी हैं, किन्तु ये दैनिक-जीवन में

व्यवहृत होते हैं और इन्हें पूर्ण नागरिकता प्राप्त हो चुकी है।" आश्चर्य है कि ग्रियर्सन जैसे भाषा-शास्त्री भी संस्कृत-शब्दों को विदेशी मानते हैं तथा भारत में उसे वही स्थान देते हैं जो फ़ारसी को। सच बात तो यह है कि जिस युग में ग्रियर्सन ने लिंग्विस्टिक-सर्वे का कार्य किया था, उस युग में हिन्दी तथा संस्कृत के प्रति वातावरण ही ऐसा था। एक बात और है। ऊपर ग्रियर्सन ने ठेठ-साहित्यिक-हिन्दुस्तानी को ठेठ-हिन्दी कहा है। यह वस्तुतः उल्लेखनीय है। अच्छा तो, इस ठेठ हिन्दुस्तानी में विदेशी (अरबी-फ़ारसी) शब्दों का अनुपात क्या है, इसका विश्लेषण भी आवश्यक है। पं० सुधाकर द्विवेदी द्वारा अनूदित ऊपर की कहानी में ४२५ शब्दों में केवल एक बखरा शब्द ही फारसी का है। इसप्रकार बोल चाल की हिन्दी में, दशमलव दो प्रतिशत [·२%] के लगभग विदेशी शब्द हैं। उत्तरी भारत की अन्य बोलियों में भी विदेशी [अरबी-फारसी] शब्दों का यही अनुपात है।

श्री ब्रजमोहन दत्तात्रय कैफी अपने ओरियंटल कान्फ्रेंस, लखनऊ (अक्टूबर १९५१) के भाषण में उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहते हैं—'शौरसेनी-प्राकृत में विदेशी-शब्दों के सम्मिश्रण से ही उर्दू की उत्पत्ति हुई। इसे हिन्दुस्तानी भी कहा जा सकता है। कतिपय भाषा-शास्त्रियों के अनुसार खड़ीबोली में फ़ारसी-शब्दों के सम्मिश्रण से ही उर्दू की उत्पत्ति हुई। खड़ीबोली दिल्ली के आस-पास की बोली है। व्याकरण की दृष्टि से उर्दू में खड़ीबोली का कुछ भी अंश नहीं है; किन्तु पंजाबी में शौरसेनी के जो अवशिष्ट रूप वर्तमान हैं, वे उर्दू में मिलते हैं। [प्रोसिडिंग्स एण्ड ट्रांजेक्शन आव ऑल इण्डिया, ओरियण्टल कान्फ्रेंस, लखनऊ, १९५१, पृ० २४७]

उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, ऊपर विभिन्न-विद्वानों के विचारों का दिग्दर्शन कराया गया है। अब इनके सम्बन्ध में यहाँ आलोचनात्मक विचार प्रकट किया जाता है।

जहाँ तक मुहम्मद हसन आज़ाद तथा मीर अम्मन के विचारों का सम्बन्ध है, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ये अमान्य हैं और इनमें वैज्ञानिकता का अभाव है। श्री टी० ग्राहम बेली तथा डा० ग्रियर्सन के मत प्रायः एक ही हैं और इनमें नाममात्र का भेद है। हाँ, श्री कैफी ने उर्दू तथा हिन्दुस्तानी को एक मानकर भ्रम अवश्य उत्पन्न किया है। इन मतों में भाषा-शास्त्रीय-दृष्टि से ग्रियर्सन का मत ही मान्य है। इसके अनुसार ठेठ-हिन्दुस्तानी एक ओर उर्दू तथा दूसरी ओर साहित्यिक-हिन्दी में परिणत हो जाती है। ऊपर यह स्पष्ट

किया जा चुका है कि वास्तव में यह हिन्दुस्तानी ठेठ-हिन्दी का ही पर्याय है और इसी को कतिपय विद्वानों ने खड़ीबोली भी कहा है। इसप्रकार उर्दू की उत्पत्ति हिन्दी से ही हुई है और उर्दू वास्तव में हिन्दी की ही एक शैली है। खड़ीबोली की जो निरुक्ति विभिन्न विद्वानों ने की है, उससे भी बहुत भ्रम फैला है। जैसा कि पं० चन्द्र बली पांडे ने लिखा है, खड़ीबोली से प्रकृत, ठेठ अथवा शुद्ध बोली से ही तात्पर्य है। [देखो, पं० चन्द्रबली पांडे, उर्दू का रहस्य, पृ० ७१] इसप्रकार ग्रियर्सन की हिन्दुस्तानी, ठेठ-हिन्दी तथा खड़ी-बोली पर्यायवाची हैं और एक ही भाषा के विभिन्न नाम हैं।

यह अन्यत्र लिखा जा चुका है कि हमारी भाषा का हिन्दी नाम वस्तुतः मुसलमानों की ही देन है और यह भारतीय-हिन्दू और मुसलमानों का सम्मिलित रिक्थ है। 'उर्दू की ज़बान' वस्तुतः एक वर्ग विशेष की भाषा है और यह नितान्त कृत्रिम ढग से हिन्दुस्तानी अथवा ठेठ-हिन्दी या खड़ीबोली में अरबी-फ़ारसी-शब्दों तथा मुहावरों का सम्मिश्रण करके बनाई गई है। यह कार्य भी दिल्ली में ही क़िला मुअल्ला में सम्पन्न हुआ। यही कारण है कि इसका नाम 'ज़बाने-उर्दू-ए-मुअल्ला' पड़ा। पं० चन्द्रबली पांडे ने अपनी पुस्तिका 'उर्दू की ज़बान' पृ० ६ पर सैयद इंशा अल्ला (१८०८) के दरिया-ए-लताफ़त में जो उद्धरण दिया है, उससे उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। यह इसप्रकार है—

'यहाँ (शाहजहानाबाद) के खुशबयानों (साधु-वक्ताओं) ने मुत्तफ़िक़ (एकमत) होकर मुताद्दिक़ (परिगणित) ज़बानों से अच्छे-अच्छे लफ्ज़ निकाले और बाज़ी इबारतों (वाक्यों) और अल्फ़ाज़ (शब्दों) में तसर्रुफ़ (परि-वर्तन) करके और ज़बानों से अलग एक नई ज़बान पैदा की जिसका नाम उर्दू रखा।'

सैयद इंशा अल्ला ने 'खुशबयानों' के सम्बन्ध में भी लिखा है। यह इसप्रकार है—

'ज़बान उर्दू जो फ़साहत (शिष्टता) व बलाग़त (प्रौढ़ता) की कान (खान) मशहूर है, वह हिन्दोस्तान के बादशाह की, [जिसके सर पर फ़साहत का ताज ज़ेब (शोभा) देता है] और चंद अमीरों और उनके मुसाहिबों (सभासदों) और चन्द मुअज़्ज़रात (महिलाओं) मिस्ल (जैसे) बेगम व ख़ानम की और क़सबियों की ज़बान है। जो लफ़्ज़ इनमें इस्तेमाल हुआ, उर्दू हो गया। यह बात नहीं

कि जो कोई भी शाहजहानाबाद में रहता है वह जो कुछ बोले सनद (प्रमाण) है।'

अब प्रश्न यह है कि भाषा के अर्थ में 'उर्दू' का प्रयोग कबसे प्रारम्भ हुआ। डाक्टर बेली के अनुसार इस अर्थ में इसका सब से पुराना प्रयोग मसहफ़ी (मृत्यु, सन् १८२४ ई०) का है। मसहफ़ी का शेर है—

ख़ुदा रक्खे ज़बाँ हमने सुनी है मीर वो मिरज़ा की,
कहें किस मुँह से हम ऐ 'मसहफ़ी', उर्दू हमारी है।

यह शेर मसहफ़ी ने कब कहा, इसका ठीक पता नहीं चलता। बेली के अनुसार मीर की मृत्यु सन् १७९९ में हुई थी। यदि यह ठीक है तो मसहफ़ी ने यह रचना सम्भवतः १८०० ई० अथवा इसके भी बाद की होगी।

हिन्दी-उर्दू-समन्वय की आवश्यकता

उर्दू की उत्पत्ति चाहे जिस परिस्थिति में हुई हो, वह हमारे देश की एक विशेष परिस्थिति तथा संस्कृति को द्योतित करती है, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है। यद्यपि सापेक्षिक-दृष्टि से उर्दू में विदेशी-विचारों एवं भावनाओं का ही प्राचुर्य है, तथापि हाली, चकबस्त तथा कतिपय अन्य कवियों की कविताओं में हमारी राष्ट्रीय-भावना का भी चित्रण है। इसप्रकार के समस्त साहित्य को नागराक्षरों में सुरक्षित करने की आवश्यकता है। उर्दू-हिन्दी-विवाद बहुत पुराना है। इस सम्बन्ध में हरिश्चन्द्र मैगेज़िन' से अन्यत्र उद्धरण दिया जा चुका है। इस विवाद में विदेशी-शासकों का भी कम हाथ न था। उनकी विभेदनीति के कारण भी एक ही भाषा की दो शैलियाँ दूर हटती गईं। फारसी-लिपिने भी इन दोनों के पार्थक्य में पर्याप्त सहायता पहुँचाई। चूँकि सरलतम तत्सम, तद्भव एव देशी-शब्दों को शुद्धरूप में लिखने में यह लिपि असमर्थ है, अतएव विदेशी (अरबी फारसी) शब्दों की भरमार इसमें आवश्यक हो गई। अतीत में चाहे उर्दू-हिन्दी में प्रतिद्वन्द्विता भले ही रही हो, आज उसका अन्त हो जाना चाहिए। आज नागरी-हिन्दी देश की राष्ट्र-भाषा घोषित हो चुकी है। उसकी अपनी निश्चित शैली है। उर्दू को समन्वय की दृष्टि से, धीरे-धीरे उसी ओर अग्रसर होना चाहिए। इस समन्वय की वस्तुतः दो आधार शिलाएँ हैं— (१) नागरी लिपि (२) राष्ट्रीय भावना। इन्हीं के द्वारा भविष्य में हिन्दी-उर्दू समन्वय सम्भव हो सकेगा।

हिन्दी के विभिन्न तत्त्व

यह अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत-हत्ती तथा भारोपीय-भाषा ही क्रमशः भारत-ईरानी तथा भारतीय-आर्य-भाषाओं के विविध-स्तरों—वैदिक, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश—से होती हुई आधुनिक-आर्य-भाषाओं में परिणत हो गई। वैदिक-भाषा में वस्तुतः उस युग की बोलचाल की भाषा तथा साहित्यिक-भाषा, दोनों, के नमूने उपलब्ध हैं। आगे चलकर एक ओर जब पाणिनीय-संस्कृत के साहित्यिक-रूप में वैदिक-संस्कृत का सहज-रूप अवरुद्ध हो गया, तब भी दूसरी ओर बोलचाल की भाषा का अविच्छिन्न-प्रवाह अबाधगति से चलता रहा। बुद्ध ने जनता की भाषा में ही उपदेश दिया; क्योंकि उन्हें जन-साधारण को ही उठाना था। किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह भाषा कौन थी? बुद्ध, वस्तुतः, प्राच्य-प्रदेश के निवासी थे और उनके जीवन का अधिकांश-भाग मगध में ही व्यतीत हुआ था। अतएव उनकी मातृ-भाषा, प्राच्य-भाषा ही थी। कुछ विद्वानों के अनुसार यह प्राचीन-अर्द्धमागधी थी, किन्तु यहाँ यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि तब तक मागधी तथा अर्द्धमागधी स्वरूप से दो विभिन्न-भाषाओं का रूप नहीं धारण कर सकी थीं। उस समय मुख्यरूप में केवल दो ही प्राकृतें थीं, एक पश्चिमी अथवा शौरसेनी, दूसरी प्राच्य अथवा मागधी। बुद्ध ने अपना उपदेश इसी मागधी में दिया था और सम्राट् अशोक ने मागधी-त्रिपिटक को ही पढ़ा था। आगे चलकर बुद्ध के ये उपदेश पालि में परिवर्तित किये गये। पालि साहित्यिक-भाषा है और इसके व्याकरण का ढाँचा मध्यदेश का है। यह दूसरी बात है कि इसमें मागधी के भी अनेक शब्द-रूप वर्तमान हैं। इस सम्बन्ध में अन्यत्र विचार किया जा चुका है।

समय की प्रगति के साथ-साथ विभिन्न प्राकृतें अस्तित्व में आईं। किन्तु बोलचाल की भाषा के रूप में अशोक तथा शुतनुका के लेखों के अतिरिक्त इनके नमूने अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं। इन अल्प उदाहरणों से ही उस समय की कथ्य-भाषा का थोड़ा बहुत अनुमान किया जा सकता है। नाटकीय-प्राकृतों—शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी तथा मागधी—के रूप में इन प्राकृतों के उदाहरण अवश्य मिलते हैं; किन्तु ये वस्तुतः साहित्यिक-भाषा के ही नमूने हैं। इनमें भी महाराष्ट्री तो शौरसेनी का ही विकसित-रूप है और अर्धमागधी पर, जैसा कि नाम से ही प्रकट है, मागधी का पूर्ण प्रभाव है। प्रादेशिक बोलचाल की प्राकृतों की भाँति ही कथ्य-अपभ्रंश के नमूनों का भी अभाव ही है। आज विविध जैन-भंडारों में अपभ्रंश का जो विशाल-साहित्य उपलब्ध है वह साहित्यिक-

अपभ्रंश का ही है। वस्तुतः बोलचाल के विभिन्न प्रादेशिक-अपभ्रंशों से ही नव्य-भारतीय भाषाएँ उत्पन्न हुई हैं।

परिवर्तन के निरन्तर प्रवाह का अनुभव करने वाले भाषा-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए एक बात जो स्मरणीय है, वह यह है कि भाषा का प्रवाह संश्लिष्टावस्था से विश्लेषावस्था की ओर चलता रहा। भाषा के इस परिवर्तन का कारण वस्तुतः आर्यों के साथ अनार्यों—कोल या मुंडा, निषाद, किरात तथा द्रविड़ों आदि—का सम्पर्क तथा सम्मिश्रण था। प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने अपने अखिल-भारतीय-प्राच्यविद्या-परिषद् के सत्रहवें अधिवेशन (अहमदाबाद, गुजरात) के सभापति के भाषण में यह स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया है कि अनुलोम, प्रतिलोम-विवाह द्वारा, प्राचीन-भारत में जहाँ एक ओर विभिन्न-जातियों का सम्मिश्रण हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर आर्य तथा अनार्य-भाषा एवं संस्कृति का भी संगम हो रहा था। इस पारस्परिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप ही वैदिक-भाषा में भी परिवर्तन प्रारम्भ हुआ और वह संश्लिष्टा-वस्था से विश्लेषावस्था में परिणत होने लगी। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन हिन्दी-काव्य-धारा' में अपभ्रंश को पुरानी-हिन्दी के नाम से अभिहित किया है। श्री राहुल जी का यह कथन इसलिए अनुमोदनीय है कि व्याकरण की दृष्टि से अपभ्रंश, संस्कृत की अपेक्षा, आधुनिक भाषाओं से अधिक निकट है।

आधुनिक-आर्य-भाषाओं की उत्पत्ति के विषय में ऊपर के संक्षिप्त विवरण के उपरान्त अब इस सम्बन्ध में विचार करना है कि हिन्दी का निर्माण किन तत्त्वों से हुआ है। इन तत्वों पर विचार करते समय यह बात न भूलनी चाहिये कि परिवर्तन सम्बन्धी कुछ तत्व ऐसे हैं जो सभी नव्य-आर्यभाषाओं में समानरूप से उपलब्ध हैं। उदाहरणस्वरूप यदि संस्कृत के ध्वनि-तत्त्व पर ही विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि इसके निर्माण-काल में ही, आर्यों तथा अनार्यों के सम्पर्क के फलस्वरूप, भारोपीय के 'अ', 'ए' तथा 'ओ' स्वर संस्कृत में 'अ' में परिवर्तित हो गए थे। इसीप्रकार संस्कृत के ध्वनि-समूह में ट-वर्ग का आगम भी द्रविड़ों के सम्पर्क से ही हुआ। प्राकृतों की चर्चा करते समय यह पहले ही कहा जा चुका है कि मागधी-प्राकृत में 'स' का उच्चारण 'श' हो गया था। 'क्ष' का 'ख' तथा 'त' का 'ट' उच्चारण वस्तुत प्राच्य में ही विकसित हुआ था। वैदिक-संस्कृत के विकृत, स्याल, वसिष्ठ, क्षुर आदि के संस्कृत के विकट, श्याल, वशिष्ठ, खुर आदि रूप यह सिद्ध करते हैं कि किसप्रकार आर्यों

के विस्तृत-भू-भाग में फैल जाने तथा अनार्यों के सम्पर्क में आने के कारण, भाषा में बहुत पहले ही परिवर्तन आरम्भ हो गया था। संस्कृत के उच्चारण तथा व्याकरण-सम्बन्धी उच्छृङ्खलता से क्षुब्ध होकर ही महर्षि पतञ्जलि को, ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में, कहना पड़ा—'व्यत्ययो हि बहुला' (बहुत व्यत्यय = विपर्यय हो रहा है)। किन्तु जो हो, इन व्यत्ययों के कारण ही तो, आगे चलकर प्राकृत, अपभ्रंश तथा नव्य-आर्य-भाषाओं का जन्म हुआ। जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है, १००० ई० के लगभग यह अस्तित्व में आ चुकी थी।

हिन्दी जिन तत्वों से निर्मित हुई है, उनपर विचार करने से पूर्व इसकी प्रकृति से परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। वस्तुतः साहित्य-रचना के लिए खड़ीबोली अथवा नागरीहिन्दी का प्रयोग १७-१८वीं शती से पुराना नहीं है। भाषा के रूप में हिन्दी की प्रकृति, रचनात्मक (Building) है। इस विषय में यह यूरोप की भाषाओं में, जर्मन से समानता रखती है। जर्मन-भाषा की यह विशेषता है कि अपने ही प्रत्ययों से वह नवीन-शब्दों का निर्माण कर लेती है। अँग्रेजी में प्रायः इस शक्ति का अभाव है और आवश्यकता पड़ने पर जिसप्रकार आधुनिक बँगला, संस्कृत के तत्समरूप में, शब्द उधार ले लेती है, उसी प्रकार अंग्रेजी भी ग्रीक-लैटिन तथा ससार की अन्य-भाषाओं से शब्द उधार लेती है। प्रकृत्या, हिन्दी को हम उधार लेने वाली भाषा (Borrowing Language) न कहकर रचनात्मक-भाषा (Building Language) ही कहना ठीक समझते हैं। इस विषय में आर्य-भाषाओं में हिन्दी का अपना अलग व्यक्तित्व है।

तद्भव :—हिन्दी की दूसरी विशेषता है, इसमें तद्भव-शब्दों का प्राचुर्य। प्राकृत-वैयाकरणों के अनुसार तद्भव वे शब्द हैं जो संस्कृत के उन्हीं शब्दों से किञ्चित भिन्न रूप वाले होते हैं। तद्भव का शाब्दिक-अर्थ है, तद = उससे, भव = उत्पन्न। यहाँ तद् से वस्तुतः संस्कृत से ही तात्पर्य है। हिन्दी तथा अन्य नव्य-आर्यभाषाओं में तद्भव वे शब्द हैं जो इन भाषाओं में, मूल-संस्कृत से प्राकृत से होते हुए आए हैं। उदाहरणस्वरूप हिन्दी के आज, काम, काज, भात, हाथ आदि शब्द तद्भव हैं, क्योंकि प्राकृत से होते हुए ये संस्कृत से निम्नलिखितरूप में उत्पन्न हुए हैं :—

अद्य>अज्ज>आज; कर्म>कम्म>काम; कार्य>कज्ज>काज; भक्त>भत्त>भात; हस्त>हत्थ>हाथ आदि। वस्तुतः तद्भव-शब्द ही हिन्दी के

मेरुदण्ड है। इस सम्बन्ध में हिन्दी की तुलना बँगला से की जा सकती है, जहाँ तद्भव-शब्दों की संख्या हिन्दी से न्यून है।

तत्सम—हिन्दी में, स्वाभाविकरूप से, तत्सम शब्दों की संख्या कम है। तत्सम से वस्तुतः तात्पर्य है तत्=उसके, सम=समान। यहाँ भी तत् से संस्कृत से ही तात्पर्य है। वस्तुतः तत्सम वे शब्द हैं जो नव्य-आर्य-भाषाओं में, संस्कृत से उसीरूप में लिए गए हैं। आधुनिक-आर्य-भाषाओं में, बँगला में, तत्सम-शब्दों की संख्या सब से अधिक है।

हिन्दी में भी आज तत्सम-शब्दों का बाहुल्य हो रहा है। इसके कई कारण हैं। हिन्दी अब केवल बोलचाल की भाषा मात्र ही नहीं है और न केवल वह प्रादेशिक-भाषा ही है, अपितु राष्ट्रभाषा के रूप में वह संस्कृत-वाहिनी भाषा बन रही है। संस्कृत-शब्दों के प्रयोग से एक यह भी लाभ है कि प्रायः सभी नव्य-आर्य-भाषाओं में वे समानरूप से प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त दक्षिण की तमिळ, तेलुगु, मलयालय तथा कन्नड़ आदि भाषाओं में भी संस्कृत के शब्द पर्याप्तमात्रा में मिलते हैं। इसप्रकार तत्सम्-शब्दों के प्रयोग में किसी प्रकार की प्रादेशिक-बाधा नहीं है। इस सम्बन्ध में एक और बात भी उल्लेखनीय है। वास्तव में आज, हिन्दी में, विभिन्न-बोलियों के कोषों का अभाव है। अतएव किन्हीं शब्दों का क्षेत्र यद्यपि बहुत विस्तृत है और वे पंजाब से बंगाल तक एक ही रूप में व्यवहृत होते हैं, तथापि हिन्दी के लेखकों को उनका पता नहीं है और ग्राम्य अथवा स्थानीय-दोषों के डर से वे उनके स्थान पर संस्कृत-शब्दों का प्रयोग ही श्रेयस्कर समझते हैं।

अर्द्धतत्सम—तत्सम के साथ ही साथ प्रायः सभी नव्य-आर्य-भाषाओं में अर्द्धतत्सम-शब्दों का भी प्रयोग होता है। जैसा कि नाम से ही प्रगट है, अर्द्धतत्सम से उन शब्दों से तात्पर्य है, जो तद्भव नहीं हैं, तथा जो तत्सम के अति निकट हैं। प्राकृत-युग में भी संस्कृति-वाहिनी-भाषा के रूप में संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन आज की भाँति ही चलता रहा। अतएव प्राकृतों में संस्कृत-शब्दों का आना अनिवार्य था। ऐसे शब्द जब प्राकृत में आते थे तथा जब वे संयुक्त-व्यञ्जन वाले होते थे, तब प्राकृत के उच्चारण के प्रभाव से, उनमें तत्सम की अपेक्षा, कुछ न कुछ अन्तर आ ही जाता था। यह अन्तर उससे सर्वथा भिन्न था जो विकासक्रम से संस्कृत से प्राकृत तथा प्राकृत से नव्य-आर्य-भाषाओं में परिणत हुए शब्दों में होता था। दूसरे प्रकार के शब्द, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, तद्भव कहलाए; किन्तु पहले प्रकार के शब्दों को अर्द्धतत्सम

संज्ञा से अभिहित किया गया। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा। संस्कृत 'तीक्ष्ण' से प्राकृत का 'तिक्खं' शब्द बना जो विकासक्रम से हिन्दी में 'तीखा' में परिणत हो गया। यहाँ संयुक्त-व्यंजन 'क्ष्ण' का 'क्ख' रूप में समीकरण प्राकृत के ध्वनि-सम्बन्धी-नियमों के सर्वथा अनुकूल था; किन्तु एक बार पुनः प्राकृत में 'तीक्ष्ण' शब्द का प्रयोग होने लगा। प्राकृत-उच्चारण के कारण इसका शुद्धरूप में उच्चारण कठिन था, अतएव स्वरभक्ति अथवा विप्रकर्ष की सहायता से इसका 'तिखिण' उच्चारण होने लगा। यह 'तिखिण' वस्तुतः अर्द्धतत्सम शब्द है। इसप्रकार के कई ऐसे शब्द हैं जिनके प्राकृत में दो रूप मिलते हैं। कृष्ण का प्राकृतरूप 'कण्ह' हुआ जो हिन्दी में 'कान्ह' तथा बँगला में 'कानू' में परिणत हो गया; किन्तु प्राकृत में इसका एक रूप 'कसण' चलता रहा जो वास्तव में अर्द्धतत्सम है। इसीप्रकार संस्कृत 'पद्म' शब्द, प्राकृत में 'पोम्म' बना, किन्तु इसका अर्द्धतत्सम रूप 'पदुम' भी प्राकृतकाल में ही प्रचलित हो गया। इस 'पदुम' से ही आगे चलकर प्राकृत में 'पउम' तथा अपभ्रंश में 'पउँद' शब्द बने। संस्कृत 'सर्षप' से प्राकृत 'सस्सप' शब्द निर्मित हुआ। इससे 'सस्सव' से होते हुए हिन्दी में 'सासों' शब्द बनना चाहिए था; किन्तु प्राकृत-युग में ही इसका अर्द्धतत्सम-रूप 'सरिसव' भी प्रचलित हो गया, जिससे बोलियों में 'सरिसों' तथा हिन्दी में स्वतः अनुनासिकता-युक्त 'सरसों' शब्द बने। संस्कृत 'आदर्श', स्त्रीलिंग रूप 'आदर्शिका' से 'आदस्सिका', 'आदस्सिआ', 'आअस्सिया' होते हुए हिन्दी में 'आसी' शब्द बनना चाहिए था; किन्तु एक बार प्राकृत-युग में आदर्शिका शब्द के पुनः प्रचलित हो जाने से *'आअरसिआ' होते हुए, हिन्दी में 'आरसी' शब्द प्रतिष्ठित हुआ।

हिन्दी में किसान, चन्दर, लगन आदि शब्द, आज, अर्द्धतत्सम रूप में चल रहे हैं। इधर पञ्जाबी के प्रभाव के कारण भी हिन्दी में अर्द्धतत्सम-शब्दों का प्रयोग बढ़ रहा है।

देशी—संस्कृत तथा प्राकृत में अनेक ऐसे शब्द हैं, जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत-धातुओं तथा प्रत्ययों से नहीं दी जा सकती। जहाँ इसप्रकार के शब्द संस्कृत में मिलते हैं, वहाँ उनकी वैज्ञानिक-व्युत्पत्ति न देकर, केवल आनुमानिक व्याख्या देकर ही सन्तोष कर लिया जाता है। प्राकृत के ऐसे शब्दों को, जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत में नहीं दी जा सकती, वैयाकरणों ने "देशी" नाम दिया है। वास्तव में देशी से उनका क्या तात्पर्य है, यह कहीं भी उन्होंने स्पष्ट नहीं किया

है। अनुकरण-मूलक-शब्दों को भी कोषकारों ने प्रायः इसी श्रेणी में रखा है। इसप्रकार पोट्ट>पेट ; गोड्ड>गोड़ ; तुप्प>तूप (मराठी में तूप, घी को कहते हैं) आदि शब्द देशी बतलाए गए हैं।

आधुनिक समय में देशी-शब्द किंचित भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। आज इससे उन शब्दों का तात्पर्य लिया जाता है, जो भारत के आदिवासियों की भाषाओं तथा बोलियों से वैदिक तथा पाणिनीय-संस्कृत एवं प्राकृत तथा नव्य-आर्यभाषाओं में समय-समय पर आए हैं। आर्य-भाषा में ऐसे शब्दों का आगमन वस्तुतः उस समय से होने लगा था, जिस समय आर्य तथा अनार्य एक दूसरे के सम्पर्क में आए थे। संस्कृत के ऐसे शब्दों के सम्बन्ध में आज अनुसन्धान कार्य सफलतापूर्वक चल रहा है और अब यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि ऐसे अनेक शब्द संस्कृत में विद्यमान हैं, जो मूलतः द्रविड़ तथा अन्य अनार्य-भाषाओं से आए हैं। आधुनिक भाषा-शास्त्रियों ने तो लगभग साढ़े चार सौ संस्कृत के ऐसे शब्दों को ढूँढ़ निकाला है जिनका अनार्य स्रोत है। ऐसे शब्दों में काल, कला, पुष्प, पुष्कर, अणु, पूजा, वल्गु, नाना, घोटक, पिक, कीचक, तिंतिड़ी, वटिंगण, मयूर, कदलि, कम्बल तथा बाण आदि की गणना है।

हिन्दी तथा अन्य नव्य-आर्य-भाषाओं में सैकड़ों देशी-शब्द प्राकृत से होकर आए हैं। इनमें से अनेक शब्द तो प्राचीन तथा मध्य-युग में भी प्रचलित थे और समय की प्रगति से ये आज हिन्दी में भी वर्तमान हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि किसी भी संस्कृत अथवा प्राकृत-कोष में न तो ऐसे शब्दों की व्याख्या ही उपलब्ध है और न सूची ही प्राप्य है।

हिन्दी में विदेशी-शब्द

संसार में आज कोई ऐसी भाषा नहीं है जो विशुद्ध है तथा जिसमें विदेशी-शब्दों का समावेश नहीं है। ऊपर देशी-शब्दों के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। ये देशी-शब्द भी एकप्रकार से इस अर्थ में विदेशी हैं कि ये विभिन्न-कुल की भाषाओं अथवा बोलियों से उधार लिए गए हैं, किन्तु आज ये शब्द आर्यभाषा में इसप्रकार घुल-मिल गए हैं कि देशी कहलाने लगे हैं। वैदिक-युग से लेकर आज तक, निरन्तर हमारी भाषा में, नए भावों तथा विचारों को प्रकट करने के लिए, विदेशी-शब्द समाविष्ट होते रहे हैं। ये शब्द हमारे प्राचीन-इतिहास पर भी पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। उदाहरणस्वरूप संस्कृत में लोह,

हिन्दी, लोहा शब्द की उत्पत्ति सुमेरीय*रोध (देखो, संस्कृत रुधिर) से हुई है। समय की प्रगति से ही*रोध,*लोध तथा लोह में परिणित हो गया है। इसीप्रकार, हिन्दी, मन (तौल सम्बन्धी बाँट) की उत्पत्ति बेबिलोनीय मिना शब्द से हुई।

भारत में आर्यों के प्रतिष्ठापित हो जाने के बाद और प्राकृत-युग के आरम्भ में हखामनीश (एकेमेनीय), ग्रीक, शक आदि भारत आए और एक ओर जहाँ वे भारतीय-संस्कृति और भाषा से प्रभावित हुए, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने स्वयं भी यहाँ की भाषा को प्रभावित किया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि प्राकृत में अनेक विदेशी-शब्द समाविष्ट हुए, जिनमें से कई तो संस्कृत में पुनः लिए गए। इनमें से कतिपय शब्द तो हिन्दी तथा अन्य नव्य-आर्य-भाषाओं में भी आए। उदाहरणस्वरूप, ग्रीक का द्रख्मे (Drakhme) शब्द एक ओर संस्कृत में द्रम्य हो गया तो दूसरी ओर वह द्रम्य, दम्ह से होते हुए हिन्दी दाम हो गया। इसीप्रकार ग्रीक का सेमिदालिस (Semidalis) शब्द हिन्दी में सेवइयाँ बन गया तथा पुरानी-फारसी का पोस्त शब्द पुस्त होते हुए 'क' प्रत्यय के संयोग से पुस्तक हो गया।

ईसा के जन्म से तीन-शताब्दी बाद, जब गुप्तकाल में, भारत का ईरान के साथ विशेष-सम्बन्ध स्थापित हुआ तब पारस्परिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप कतिपय-शब्द इरानी से संस्कृत में स्वीकृत हुए। ऐसे शब्दों में कम से कम दो शब्द आज भी हिन्दी में प्रचलित हैं। इनमें से मध्य-फारसी का एक शब्द मोचक (घुटनों तक का जूता) है, जिससे मोचिका>मोची शब्द हिन्दी में आया। मोचक शब्द ही आगे चलकर फ़ारसी में मोज़ा बन गया। इसीप्रकार मध्य-फ़ारसी का तश्त शब्द प्राकृत में टठ बन गया इसीसे अवधी टाठी (थाली) शब्द सिद्ध हुआ। उधर तश्त (टठ) बनाने वाला ठट्ठकार कहलाया जो हिन्दी में ठठेरा रूप में आया।

मिस्र का एक प्राचीन नाम मुद्रा (Mudra) है। इसीसे संस्कृत का मुद्रा शब्द सिद्ध हुआ, जिससे हिन्दी का मुँदरी शब्द निकला। उसीप्रकार सिरिया देश (सिरियन) का सिक्त (Sykt) शब्द संस्कृत में सेक्यकार (स्वर्णकार) बना, जिससे बँगला का शेकरा शब्द निकला। उधर हिन्दी में इसी सिक्त (Sykt) से सिक्का शब्द प्रचलित हुआ।

मुस्लिम-विजय से पहले ही हिन्दी में पठान शब्द प्रचलित हो गया था। अफगान लोग अपने को पश्ताना तथा अपनी भाषा को पश्तो कहते थे। पश्ताना

शब्द ही उत्तरी-भारत में पठाण रूप में प्रचलित हुआ और इसी से हिन्दी शब्द पठान बना। प्रो० सिल्वाँ लेवी के अनुसार ठाकुर (मालिक अथवा राजपूतों के नाम के आगे लगने वाला आदरसूचक शब्द) की उत्पत्ति तुर्की 'तेगिन' शब्द से हुई है। आगे चलकर जब तुर्कों ने भारत को अधीन किया तब कतिपय तुर्की शब्द हिन्दी में आए; किन्तु ऐसे शब्दों की संख्या अल्प ही रही। इसका एक कारण यह भी था कि तुर्कों ने यहाँ आकर अपनी मातृभाषा के स्थान पर फ़ारसी का व्यवहार आरम्भ कर दिया। आज भी हिन्दी में निम्नलिखित तुर्की शब्द प्रचलित हैं :—

(१) उर्दु > उर्दू (किला, बाद में उर्दू की ज़बान) (२) बोग्दोर (Bogadyr) बहादुर, (३) ओज़बेक>हि०, उज़्बक। (४) आका (मालिक) (५) कलगी (६) क़ैंची (७) काबू, (८) कुली (९) कोर्मा (१०) खाँ (११) ग़लीचा (१२) चक़मक (१३) चाकू (१४) चिक (१५) तमग़ा (१६) तुरुक (१७) तोप (१८) दरोगा (१९) बख्शी (२०) बबर्ची (२१) बीबी (२२) बेगम (२३) बकचा (२४) मुचलका (२५) लाश (२६) सौगात आदि। डा० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार हिन्दी में लगभग सत्तर, अस्सी शब्द तुर्की के हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि तुर्कों की विजय के पश्चात् उनसे सम्बन्ध रखने वाले कतिपय हिन्दुओं ने भी फ़ारसी पढ़ना आरम्भ किया; किन्तु इसका विशेष प्रभाव उत्तरी-भारत की भाषाओं पर न पड़ा, क्योंकि शासन-सम्बन्धी कार्य हिन्दी, पंजाबी, गुजराती तथा बँगला के माध्यम से चलता रहा, किन्तु १६ वीं शताब्दी के मध्य-भाग में मुग़लशासन में क्रान्तिकारी-परिवर्तन हुआ। अकबर के वित्त-मंत्री, राजा टोडरमल, की आज्ञा से देशी-भाषाओं का स्थान फ़ारसी को मिला और सरकारी-हिसाब और काग़ज़-पत्र फ़ारसी में रखे जाने लगे। इसका तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि कचहरी से सम्बन्ध रखनेवाले अमला लोग, प्रत्येक प्रदेश में, फ़ारसी से परिचित होने लगे और धीरे-धीरे निम्न-मध्यवर्ग के लोग फ़ारसी के ज्ञाता हो गये। उत्तरी-भारत के कायस्थ तथा बंगाल एवं गुजरात के ब्राह्मण इसमें अग्रगण्य थे। इनमें से अनेक फ़ारसी के अच्छे पण्डित थे और फ़ारसी की सूफ़ी कविता में विशेश रस लेते थे। इसप्रकार आधुनिक-भाषाओं में फ़ारसी-शब्द अबाधगति से आने लगे। वस्तुतः नव्य-आर्य-भाषाओं में १८ वीं शताब्दी में, फ़ारसी-शब्द अत्यधिक मात्रा में आए। बँगला में इसप्रकार के शब्दों की संख्या ढाई-तीन हज़ार के लगभग है। हिन्दी में, यह संख्या इससे अधिक होगी।

आधुनिक-हिन्दी के आदमी, औरत, बच्चा, हवा, आसमान, ज़मीन, आहिस्ता, देर, मालूम, नज़दीक, सब्र, कसूर, शर्म, हिसाब-किताब, सिपाही, फौज, मौज, मजा ,मुर्दा, गुस्सा जैसे दैनिक-जीवन के शब्द भी फ़ारसी के हैं ।

अरबी-भाषा का प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय-भाषाओं पर बहुत कम पड़ा। अरब वालों की सिन्ध-विजय वस्तुतः आकस्मिक-घटना थी और उसका प्रभाव भी भारतीय-इतिहास पर अस्थायी ही पड़ा। यद्यपि आलिम-मुसलमान अरबी के अध्ययन में संलग्न रहे तथा साधारण-मुस्लिम-जनता भी नमाज़ में अरबी का प्रयोग करती रही, किन्तु इसके अतिरिक्त इस देश में अरबी का प्रचार अति-सीमित-क्षेत्र ही में रहा। हाँ, फ़ारसी का प्रचार यहाँ प्रमुखरूप में अवश्य था। फ़ारसी का ख़ुदा (संस्कृत, स्वधा) शब्द यहाँ के मुसलमानों में उतना ही प्रचलित रहा, जितना अरबी का अल्लाह्। इनके अतिरिक्त ग्रामीण-मुसलमानों में तो ईश्वरवाची कर्तार गुसाईं (अवधी तथा भोजपुरी गोसइयाँ) आदि शब्द ही अत्यधिक प्रचलित रहे। इसीप्रकार पैग़म्बर, नमाज़, रोज़ा आदि धार्मिक शब्द भी जनप्रिय रहे। यद्यपि आज भारतीय-भाषाओं में सैकड़ों अरबी के शब्द प्रचलित हैं तथापि ये फ़ारसी के द्वारा इनमें आए हैं। यहाँ अरबी-शब्दों का उच्चारण भी प्रचलित न हो सका। भारत में अरबी-शब्दों का वैसा ही उच्चारण प्रचलित है, जैसा इरान (फारस) के लोग करते हैं। उदाहरणस्वरूप तो ط ज़ो ظ स्वाद ص तथा ज़्वाद ض का फ़ारसी-उच्चारण ही आज भारत में प्रचलित है और अरबी का क़ादी قاضی शब्द यहाँ काज़ी रूप में ही उच्चरित हुआ। अरबी अल्क़ादी القاضی शब्द स्पेन की भाषा में अल्केड (Alc-ayde) रूप में अपना शुद्ध-उच्चारण आज भी बहुत-कुछ सुरक्षित रक्खे हुए है।

फ़ारसी-अरबी के बाद हिन्दी में पुर्तगाली शब्द आते हैं। सन् १४९७ ई० में पुर्तगाली-यात्री वास्को-डि-गामा, दक्षिण-भारत में, कालीकट में उतरा। सन् १५१० में पुर्तगालियों ने गोवा पर अधिकार किया और सोलहवीं-शताब्दी के प्रथम-चरण में ही उन्होंने महाराष्ट्र तथा गुजरात के कुछ भागों को भी अधीन कर लिया। सन् १५३७ ई० में पुर्तगाली बङ्गाल में प्रतिष्ठित हुए और इसप्रकार पुर्तगाली-शब्दों को मराठी, गुजराती, बँगला तथा उड़िया में स्थान मिला। बिहार तथा उत्तर-भारत की भाषाओं एवं बोलियों पर पुर्तगाली-भाषा का सीधा प्रभाव नहीं पड़ा। यह धीरे-धीरे बङ्गाल तथा बङ्गला-भाषा के द्वारा ही आया। बङ्गला में पुर्तगाली-भाषा के लगभग सौ शब्द प्रचलित हैं। हिन्दी

में इसके निम्नलिखित शब्द द्रष्टव्य हैं—अनानास, अलमारी, अचार, आलपीन, आया, इस्पात, इस्त्री, कमीज़, कप्तान, कनस्तर, कमरा, काज, काफी, काजू, काकातुआ, क्रिस्तान, किरच, गमला, गारद, गिरजा, गोभी, गोदाम, चाबी, तंबाकू, तौलिया, नीलाम, परात, पाव, (=रोटी), पादरी, पिस्तौल, पीपा, फर्मा, फीता, बप-तिस्मा, बाल्टी, बिस्कुट, बटन, (बँगला, बोताम), बोतल, मस्तूल, मिस्त्री, मेज, यीशू, लबादा, सन्तरा, साया, सागू, बंडल आदि।

पुर्तगालवालों की भाँति ही डच तथा फ्रेंच लोगों ने भी भारत में अपने उपनिवेश बनाए; किन्तु इनके बहुत कम शब्द आधुनिक-आर्य-भाषाओं में आ सके। डा० चटर्जी के अनुसार तो बँगला में इन भाषाओं से सीधे दश शब्द से अधिक नहीं आए। हिन्दी में तो यह संख्या और भी कम है। फ्रेंच के केवल तीन ही शब्द—कार्तूस, कूपन तथा अंग्रेज़ आज हिन्दी में प्रचलित हैं। इसीप्रकार डच से केवल पाँच शब्द हिन्दी में आए हैं, जिनमें तीन, स्कावन चिड़ी या चिड़िया (चिड़ितन), तुरुप, ताश के पत्ते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य शब्द इस्कूप (अं० स्क्रू = Screw) तथा बम (गाड़ी में प्रयुक्त आगे की लम्बी लकड़ी) हैं।

अंग्रेजी ने तो आधुनिक-भाषाओं को इतना प्रभावित किया है कि अंग्रेजों के भारत छोड़ देने के बाद भी इसका बहिष्कार कठिन हो रहा है और बहुत लोग तो आज यह सोचने लगे हैं कि इससे भारत का पिंड कभी नहीं छूट सकता। इसमें सन्देह नहीं कि ज्ञान-विज्ञान की नवीन-विचारधारा हमारे देश में अंग्रेजी के द्वारा ही आई है; किन्तु इसके साथ ही यह बात भी न भूलनी चाहिये कि इसने हमारी प्रादेशिक-भाषाओं को बुरी तरह दबाया है और उसके अनुचित दबाव के कारण, देश मौलिक-चिन्तन के क्षेत्र में में, बौना बन गया है। जो हो, आज अंग्रेजी के अनेक-शब्द हमारे दैनिक-जीवन में घर कर गए हैं। कतिपय उल्लेखनीय शब्द इसप्रकार हैं :—

लालटेन, इस्टेशन, टिकट, पल्टन, डाक्टर, डिप्टी, गारद, अर्दली, बेहरा, रसीद, रपट, माचिस, मिनट, मोटर, मास्टर, राशन कार्ड, लाइब्रेरी, लोट, वोट, समन, सन्तरी, पास, फेल, फोटो, बिल्टी बैरंग, बुरुश, मसीन, लेक्चर, सिमेन्ट, जज, सिगरेट, साइंस, हाकी हारमोनियम आदि।

हिन्दी में अन्य प्रादेशिक-भाषाओं से भी अनेक शब्द आए हैं। इधर जब से हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित हुई है तब से प्रादेशिक-भाषाओं के शब्दों के लिए हिन्दी ने अपना द्वार उन्मुक्त कर दिया है। भारत जैसे विशाल-देश के लिए यह आवश्यक भी है। वस्तुतः कोई भी जीवित-भाषा अन्य-भाषाओं के शब्दों के आदान-प्रदान को अस्वीकार नहीं कर सकती। हिन्दी में अन्य-प्रादेशिक-भाषाओं से निम्नलिखित शब्द आए हैं:—

पंजाबी—सिक्ख।

गुजराती—गरबा, हड़ताल।

मराठी—वाङ्मय, पटेल, देशमुख।

बँगला—उपन्यास, गल्प, कविराज, रसगुल्ला, सन्देश, चम-चम, गमछा, छाता आदि।

अनार्य तथा बाहर की भाषाओं से भी कई शब्द हिन्दी में आए हैं। इनमें से कुछ शब्द तो अँग्रेजी के द्वारा आए हैं; जैसे चुरुट<अंग्रेज़ी—चेरुट = (Cheroot)<तमिळ—शुरुट्ट। द्रविड़-भाषाओं से पिल्ले, चेटी तथा भाषाओं के नाम तमिळ, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ आदि शब्द भी हिन्दी में आए हैं। इसीप्रकार कोल भाषा से हाँड़ी (सन्थाली, हँड़े) तथा तिब्बती-बर्मी से लुंगी शब्द हिन्दी में लिए गए हैं।

हिन्दी के विभिन्न-तत्वों के सम्बन्ध में विचार करते समय यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिये कि पाली की भाँति ही हिन्दी भी समन्वयात्मक-भाषा (Composite language) है और इसपर पड़ोस की विभिन्न-भाषाओं और बोलियों का प्रभाव पड़ा है। हिन्दी में आज कतिपय ऐसे शब्द प्रचलित हैं, जिनमें संस्कृत 'अ', 'इ' में परिणित हो जाता है। यह सम्भवतः राजस्थानी के प्रभाव के कारण हैं; यथा—सं० गणना>हिं० गिनना; सं० हरिण>हिं० हिरण। राजस्थानी में आदि 'अ', 'इ' में परिवर्तित हो जाता है; यथा—चमकना>चिमकणा; पशमिना>पिशमिणा; वगैरह>विगैरह; पण>पिण आदि।

इसी प्रभाव के कारण संस्कृत का अम्लिका शब्द हिन्दी में इमली हो गया है। 'दिन-दहाड़ा' के 'दहाड़ा' में ड़ा-स्वार्थे प्रत्यय पर भी राजस्थानी-प्रभाव स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है।

पूर्वी-हिन्दी तथा भोजपुरी का बहुत कम प्रभाव आधुनिक-नागरी-हिन्दी पर है, किन्तु इसके निर्माणकाल में इन बोलियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। नागरीहिन्दी में मूर्धन्य-उच्चारण वाले शब्द-रूपों पर पूर्वी-हिन्दी तथा भोजपुरी का प्रभाव है। पश्चिम में 'कृत' तथा 'मृत' के रूप 'किअ' (किय-) तथा 'मुअ' होंगे; किन्तु पूरब में 'कट' तथा 'मट' हो जायेंगे। इस 'मट' से बँगला का 'मड़' 'मड़ा' शब्द सिद्ध होंगे। इसीप्रकार पश्चिमी-हिन्दी में 'अर्द्ध', 'अद्ध' होते हुए 'आधा' हो जाएगा; किन्तु पूरब में यह 'अद्ट' रूप धारण कर लेगा। नागरी (पश्चिमी) हिन्दी के 'ढ़ाई' आदि रूपों पर पूर्वी-हिन्दी अथवा भोजपुरी का स्पष्ट प्रभाव है।

—'अइया' तथा —'अउआ' प्रत्यय वाले शब्द-रूपों पर भी पूर्वी-बोलियों का प्रभाव स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है। इसप्रकार कृष्ण>कण्ह >कान्ह तथा कन्हाई>कन्हइया, कन्हैया, एवं जुन्हाई>जुन्हइया, जुन्हैया और काक>*काबु>कवुआ, कौआ, आदि शब्दों का तो सूरदास ने भी प्रयोग किया है। वस्तुतः अइया अथवा—इया प्रत्यय वाले शब्द-रूप स्वाभाविकरूप से श्रुतमधुर होते हैं। यही कारण है कि आज के फिल्मी-गानों में कोयल के लिए कोइलिया तथा बेला के लिए बेइलिया एवं पुरवैया आदि रूप विशेषतया प्रयुक्त होते हैं।

हिन्दी की ग्रामीण-बोलियाँ

भौगोलिक-दृष्टि से हिन्दी का क्षेत्र उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में नर्मदा तक है। ग्रियर्सन ने इस समस्त भूभाग को पश्चिमी तथा पूर्वी-हिन्दी क्षेत्रों में विभाजित किया है। इनमें पश्चिमी-हिन्दी के अन्तर्गत—(१) हिन्दोस्तानी (२) बाँगरू (३) ब्रजभाखा (४) कनौजी तथा (५) बुन्देली का समावेश है। इसीप्रकार पूर्वीहिन्दी के अन्तर्गत—(१) अवधी (२) बघेली तथा (३) छत्तीसगढ़ी बोलियाँ आती हैं। भाषाशास्त्र के विद्यार्थियों को यह स्पष्टरूप से समझ लेना चाहिए कि प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार राजस्थानी एवं बिहार की मैथिली, मगही एवं भोजपुरी-बोलियाँ हिन्दी क्षेत्र के बाहर की हैं। पूरब में अवधी, बनारस ज़िले के मिर्ज़ामुराद थाने के पास, तमंचाबाद गाँव तक बोली जाती है। इसके आगे भोजपुरी का क्षेत्र है। उत्तरप्रदेश की गोरखपुर तथा बनारस कमिश्नरियों में भोजपुरी बोली जाती है।

वस्तुतः भोजपुरी का समस्त भूभाग ग्रियर्सन के अनुसार हिन्दी की सीमा से बाहर है।

हिन्दी के विभिन्न-तत्वों के सम्बन्ध में अन्यत्र विचार किया जा चुका है और यह भी कहा जा चुका है कि वर्तमानरूप में हिन्दी एक समन्वयात्मक-भाषा है तथा इसके व्याकरण का ढाँचा बहुत कुछ वर्नाक्यूलर-हिन्दोस्तानी अथवा खड़ी-बोली या नागरी-हिन्दी पर अवस्थित है। भौगोलिक-दृष्टि से इसका क्षेत्र नितान्त पश्चिमी है। यही कारण है कि पश्चिमी तथा पूर्वी-हिन्दी में भी मौलिक अथवा तात्विक-भेद है।

पूर्वी तथा पश्चिमी-हिन्दी में अन्तर

[क] उच्चारण तथा शब्द रूप—(१) सर्वप्रथम यदि 'अ' के उच्चारण ही को लें तो पश्चिमी तथा पूर्वी-हिन्दी में स्पष्टरूप से अन्तर प्रतीत होगा। पूरब की तीन भाषाओं–बँगला, उड़िया तथा असमिया–में 'अ' का उच्चारण 'ओ' की तरह होता है। किन्तु ज्यों-ज्यों हम पश्चिम (बिहारी-बोलियों) की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों 'अ' का विलम्बित-उच्चारण कम होता जाता है और पश्चिमी-भोजपुरी में तो यह विवृत हो जाता है। पूर्वीहिन्दी में भी 'अ' का उच्चारण पश्चिमी-भोजपुरी की ही भाँति होता है। पश्चिमी-हिन्दी में 'अ' के उच्चारण पर पंजाबी का प्रभाव पड़ने लगता है और यह अपेक्षाकृत और भी विवृत हो जाता है।

(२) पूर्वी-हिन्दी तथा भोजपुरी, दोनों में, पश्चिमी-हिन्दी की 'ड़', 'ढ़' मूर्धन्य-ध्वनियाँ 'र' तथा 'र्ह' में परिणत हो जाती हैं–यथा, पश्चिमी-हिन्दी तोड़े, पूर्वी-हिन्दी तथा भोजपुरी तोरे। किन्तु इसके अपवाद भी उपलब्ध हैं। यथा—पश्चिमी हि० तथा पूर्वी हि० बाढ़ भो० पु० बाढ़ि।

इसीप्रकार पश्चिमी-हिन्दी तथा पूर्वी-हिन्दी एवं भोजपुरी में 'र', 'ल' के परिवर्तन में पर्याप्त-भेद है। यथा-प० हि० फल किन्तु पू० हि० तथा भोजपुरी फर। वास्तव में पूर्वी-हिन्दी तथा भो० पु० में मागधी के प्रभाव के कारण 'र' के स्थान पर सर्वत्र 'ल' ही होना चाहिए था; किन्तु पश्चिम की आदर्शभाषा तथा शिष्ट-उच्चारण के कारण ऐसा नहीं हो पाया है और कहीं-कहीं तो पश्चिम का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि जहाँ 'ल' सुरक्षित रहना चाहिये था वहाँ भी 'र' हो गया है। यथा—पश्चिमी हि० हल, किन्तु पूर्वी हि० तथा भोजपुरी हर प० हि० जलै किन्तु पूर्वी हि० तथा भो० पु० जरे; संस्कृत, रज्जु, पूर्वी हि० लजुरी [लेजुरी], भो० पु० रसरी।

(३) पश्चिमी-हिन्दी में शब्द के मध्यग 'ह' का प्रायः लोप हो जाता है; किन्तु पूर्वी-हिन्दी तथा भोजपुरी में यह सन्ध्यक्षररूप में आता है। यथा; प० हिं० दिया, पू० हिं० देहेसि भो० पु० दिहलसि।

(४) पश्चिमी-हिन्दी में शब्द के आदि में 'य', तथा 'व' आता है, किन्तु पूर्वी-हिन्दी तथा भो० पु० में यह 'ए' तथा ओ में परिणत हो जाता है और कभी-कभी सन्ध्यक्षर रूप में, मध्य में, 'ह' भी प्रयुक्त होता है। यथा—प० हिं० (ब्रजभाषा) यामें, वामें; किन्तु पू० हिं० तथा भो० पु० एमें, एहमें, ओमें, ओहमें।

(५) पश्चिमी-हिन्दी में दो स्वर प्रायः एक साथ नहीं आते हैं, किन्तु पूर्वी-हिन्दी तथा भो० पु० में इसप्रकार का कोई बन्धन नहीं है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी-हिन्दी के ए तथा ओ, पूर्वी-हिन्दी तथा भो० पु० में 'अइ' एवं 'अउ' में परिणत हो जाते हैं। यथा—प० हिं० कहै, पू० हिं० कहइ, प० हिं० और, मौर, पू० हिं० तथा भो० पु० अउर, मउर, आदि।

(६) पश्चिमी-हिन्दी के आकारान्त (ब्रज, ओकारान्त) शब्द, पू० हिं० तथा भो० पु० में अकारान्त अथवा व्यञ्जनान्त हो जाते हैं। यथा—प० हिं० बड़ा (ब्रज, बड़ौ, बड़ो), किन्तु पू० हिं० तथा भोजपुरी बड़ अथवा बड्—[अवधी—बड़ मनई, भोजपुरी बड़ अदमी] इसीप्रकार प० हिं०, (खड़ी-बोली)—भला, ब्रज-भलौ, भलो; किन्तु पू० हिं० तथा भोजपुरी भल, भल्।

(७) पश्चिमी-हिन्दी में आकारान्त-शब्द का रूप कर्त्ता में सुरक्षित रहता है; किन्तु तिर्यक में 'आ', 'ए' में परिणत हो जाता है। पूर्वी-हिन्दी तथा भोजपुरी में कर्त्ता तथा तिर्यक, दोनों में, आकारान्तरूप सुरक्षित रहता है और उसमें परिवर्तन नहीं होता है।

यथा—पश्चिमी हिं० कर्त्ता— ए० व० घोड़ा
तिर्यक— ,, ,, घोड़े
पू० हिं० तथा भोजपुरी } कर्त्ता—ए० व० घोड़ा
तिर्यक—ए० व० घोड़ा

[ख] सर्वनाम—

(१) पश्चिमी-हिन्दी की खड़ी तथा ब्रज-भाषा में, सम्बन्ध तथा सह-

सम्बन्ध-वाचक सर्वनामों के रूप जो, सो तथा प्रश्न-वाचक के रूप **कौन** होते हैं; किन्तु पूर्वी-हिन्दी तथा भोजपुरी में ये क्रमशः जे, जवन, से, तवन तथा के कवन हो जाते हैं।

(२) अधिकार-वाचक सर्वनाम के रूप के मध्य में, पश्चिमी-हिन्दी में, 'ए' रहता है; किन्तु पूर्वी-हिंदी तथा भोजपुरी में यह 'ओ' में परिणत हो जाता है। यथा—प० हि० मेरा, किन्तु पूर्वी-हिन्दी तथा भोजपुरी मोर।

(३) पश्चिमी-हिन्दी (खड़ीबोली) के पुरुष-वाचक-सर्वनाम के एक-वचन मैं तथा बहुवचन के हम रूप होते हैं। किन्तु पूर्वी-हिन्दी तथा भोजपुरी में हम वस्तुतः एक वचन में ही प्रयुक्त होता है और इसके बहुवचन का रूप लोग संयुक्त करने से सिद्ध होता है। भोजपुरी में बहुवचन का रूप **हमनिका** होता है।

[ग] अनुसर्ग या परसर्ग

संज्ञा तथा सर्वनाम के रूपों में पूर्वी-हिन्दी तथा भोजपुरी में पूर्ण समता है। दोनों के अनुसर्ग भी प्रायः एक ही हैं; किन्तु कहीं-कहीं इनमें भिन्नता है। उदाहरणस्वरूप, कर्म तथा सम्प्रदान में, पूर्वी-हिन्दी में, 'का' तथा 'काँ' अनुसर्गों का प्रयोग होता है; किन्तु भोजपुरी तथा अन्य बिहारी बोलियों में यह 'के' तथा 'कें' रूप में मिलते हैं। इसीप्रकार अधिकरण कारक में, पूर्वी-हिन्दी में, 'मा' तथा 'माँ' अनुसर्ग प्रयुक्त होते हैं; किन्तु बिहारी-बोलियों में ये 'मे', 'मेँ' का रूप धारण कर लेते हैं। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि अनुसर्ग-रूप में 'का' तथा 'मा' पूर्वी-हिंदी की विशेषताओं में से हैं।

पश्चिमी-हिन्दी की सब से बड़ी विशेषता है 'ने' परसर्ग का प्रयोग। इसका पूर्वी-हिन्दी तथा बिहारी (भोजपुरी तथा बिहारी की अन्य बोलियाँ—मैथिली, मगही) में सर्वथा अभाव है। उदाहरणस्वरूप, पश्चिमी हिन्दी में कहते हैं—उसने किया किन्तु अवधी में उ किहिसि तथा भोजपुरी में उ कइलसि एवं मैथिली में उ कइलक हो जाता है।

[घ] क्रियारूप

क्रियारूपों के सम्बन्ध में तो पूर्वी-हिन्दी, पश्चिमी-हिन्दी से और भी दूर है। 'मैं हूं' के लिए पूर्वी-हिन्दी में, अहेउँ तथा आहेउँ' होता है। अवध के पूर्वी-भाग में यह बाटेउँ हो जाता है, जिसका सम्बन्ध स्पष्टरूप से भोजपुरी के बाटों, बाटी आदि से है। इसके अतिरिक्त मुख्यरूप से तीन कालों—सम्भाव्य

वर्तमान, अतीत तथा भविष्यत्—के रूपों की उत्पत्ति तो संस्कृत के वर्तमान काल से हुई है और इसके रूप प्रायः सभी नव्य-आर्य-भाषाओं में एक ही हैं। अतएव इसे छोड़कर, अन्य दो कालों के रूपों का तुलनात्मक अध्ययन यहाँ उपस्थित किया जाता है।

अतीतकाल—पश्चिमी तथा पूर्वी-हिन्दी क्रियाओं के अतीतकाल के रूपों में बहुत अन्तर है अतएव इनके सम्बन्ध में विशेषरूप से विचार करने की आवश्यकता है। प्रायः सभी नव्य-आर्य-भाषाओं में इस काल की उत्पत्ति, मूलतः भूतकालिक-कृदन्त के कर्मवाच्य के रूपों से हुई है। उदाहरण के लिए पश्चिमी-हिन्दी के 'मारा' क्रियारूप को लिया जा सकता है। इसकी उत्पत्ति संस्कृत के भूतकालिक-कृदन्त के कर्मवाच्य के रूप 'मारितः' से हुई है। इसका यह अर्थ नहीं है कि 'मैंने मारा' अथवा 'उसने मारा'; किन्तु इसका वास्तविक अर्थ यह है कि 'वह उसके अथवा मेरे द्वारा मारा (पीटा) गया'। इसीप्रकार 'चला'<चलितः का अर्थ 'वह चला (गया)' नहीं है, अपितु इसका ठीक अर्थ 'गया हुआ' है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि ऊपर, संस्कृत-कर्मवाच्य-कृदन्त के जो दो रूप उद्धृत किए गए हैं, उनमें अन्त से पूर्व वाले अक्षर (Syllable) में 'इ' वर्तमान है। यह प्रायः संस्कृत-कर्मवाच्य के कृदन्त के सभी रूपों में वर्तमान है और शौरसेनी-अपभ्रंश से प्रसूत-भाषाओं एवं बोलियों में तो इसका अस्तित्व विशेषरूप से उल्लेखनीय है। संस्कृत का 'मारितः' वस्तुतः निम्नलिखित रूपों में परिवर्तित हुआ है—

मारितः>शौ० प्रा० मारिदो>मारिओ>ब्रजभाखा मार्यौ।

ऊपर संस्कृत तथा प्राकृत का 'इ' ब्रजभाषा के 'य' में परिवर्ति हो गया है जिसका सम्बन्ध, उच्चारण की अपेक्षा वर्तनी अथवा लिखावट से ही अधिक है। इसप्रकार यह 'इ' अथवा 'य' शौरसेनी-प्रसूत-भाषाओं एवं बोलियों की अतीत-काल की विशेषता है।

मागधी-प्राकृत तथा अपभ्रंश से प्रसूत-भाषाओं एवं बोलियों में इससे सर्वथा विपरीत बात है। शौरसेनी में मारितः तथा चलितः का 'त' पहले 'द' में परिणत हो जाता है और तत्पश्चात् इसका लोप हो जाता है। मागधी-भाषाओं तथा बोलियों में इसके स्थान पर 'ल' हो जाता है। इसप्रकार 'मारा' का रूप बँगला में 'मारिल' तथा बिहारी में 'मारल' सिद्ध होता है। शौरसेनी-अपभ्रंश की पछाहीं-बोलियों—नागरी-हिन्दी, ब्रजभाषा आदि की भाँति मागधी-अपभ्रंश से प्रसूत-भाषाओं तथा बोलियों में केवल भूतकालिक-कृदन्त का ही प्रयोग नहीं

होतीं, अपितु इनमें सर्वनाम के लघुरूप भी संयुक्त हो जाते हैं। इसप्रकार के अनेक रूप इन बोलियों में वर्तमान हैं, जिनका अर्थ है—'मेरे द्वारा,' 'तुम्हारे द्वारा' आदि। जब कोई बँगला में यह कहना चाहता है कि 'मैंने मारा' तो वह कहता है—मारिल (मारा)+अम (मेरे द्वारा) और बाद में, इन दोनों को संयुक्त करके एक शब्द बना देता है। इसीप्रकार 'चलिलाम' का मूल अर्थ बँगला में 'मेरे द्वारा चला गया' था; किन्तु बाद में इसका अर्थ 'मैं चला' (गया) हो गया। समय की प्रगति से लोग इसके मूलरूप तथा अर्थ को भूल गये और बँगला में इनका रूप कर्तृवाच्य के समान ही समझा जाने लगा। मागधी-प्रसूत-भाषाओं एवं बोलियों में, सर्वनाम के ये लघुरूप विभिन्न-रूपों में मिलते हैं। तुलनात्मक-दृष्टि से यहाँ पूर्वी-हिन्दी तथा भोजपुरी के रूपों का अध्ययन सुविधाजनक होगा।

पूर्वी-हिन्दी में शौरसेनी तथा मागधी, दोनों की विशेषताओं का समन्वय हुआ है। इसके भूतकाल के रूप में मागधी का 'ल' नहीं आता, अपितु शौरसेनी का 'इ' अथवा 'य' आता है। दूसरी ओर शौरसेनी से प्रसूत-बोलियों की भाँति इसका भूतकालिक-कृदन्त-रूप अपने मूलरूप में ही नहीं रह जाता, अपितु इसमें भोजपुरी-सर्वनामों के लघुरूप भी संयुक्त हो जाते हैं। तुलना के लिये नीचे पूर्वी-हिन्दी तथा भोजपुरी के भूतकाल के पुल्लिंग एक वचन, के क्रियारूप दिए जाते हैं। स्पष्टता तथा विश्लेषण के लिए नागरी के साथ-साथ रोमन-अक्षरों में भी क्रिया-पद के रूप दिये गए हैं। पूर्वी-हिन्दी के अन्तर्गत यहाँ वस्तुतः अवधी के रूप दिए गए हैं—

हिन्दी	पूर्वी-हिन्दी	भोजपुरी
मैंने मारा	मारेउँ (mār-eũ)	मार-लो (mār-al-o)
तूने मारा	मारि-स् (mār-i-s)	मार-लस् (mār-al-as)
उसने मारा	मारिस (mār-i-s)	मारलस् (mār-al-as)

यदि पूर्वी-हिन्दी के ऊपर के शब्द-रूपों की वर्तनी (Spelling) निम्नलिखित-ढंग से कर दें तो एक ओर शौरसेनी तथा दूसरी ओर भोजपुरी से उसका सम्बन्ध स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होगा—

मार्-यौं (mār-y-aũ)
मार्-यस (mār-y-as)
मार्-यस् (mār-y-as)

वास्तव में ऊपर वाले ही मूलरूप हैं और इन्हीं से बिगड़कर 'इ' तथा 'ए' वाले रूप बने हैं।

भूतकाल के अन्यपुरुष के एक वचन के पूर्वी-हिन्दी के रूपों में, स्थानीय-वर्तनी के अनुसार-इस्,-एस् तथा-यस् प्रत्यय लगते हैं। कलकत्ते में कहिस्, मारिस् क्रिया-पद, प्रायः सुनाई पड़ते हैं, किन्तु इस बात को बहुत कम लोग जानते हैं कि इन रूपों में, शौरसेनी तथा मागधी, दोनों का, समन्वय हुआ है।

इस काल के रूपों के सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है। यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि मागधी से प्रसूत भाषाओं के बोलनेवाले यह बात प्रायः भूल चुके हैं कि अतीतकाल के ये रूप कर्मवाच्य के हैं। सर्वनाम के लघु-रूप इनमें संयुक्त होकर वस्तुतः इन्हें कर्तृवाच्य सा बना चुके हैं। किन्तु पूर्वी-हिन्दी में इनके कर्मवाच्य के रूप को विस्मरण करने की प्रतिक्रिया अभी भी चल रही है। साहित्य में प्रयुक्त होने के कारण अवधी में आज भी इनका कर्मवाच्य रूप सुरक्षित है। तुलसी तथा जायसी की रचनाओं में कर्मवाच्य के रूप स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें, कर्त्ता, करण के रूप में आता है तथा 'ने' के अभाव में यह तिर्यक-रूप होता है। इसके साथ ही यहाँ, वचन तथा लिंग में, क्रिया का अन्वय कर्म के साथ होता है। इसके फलस्वरूप, अतीतकाल में, क्रिया के स्त्रीलिंग-रूप भी उपलब्ध होते हैं। ज्यों-ज्यों हम पश्चिम की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों शौरसेनी के प्रभाव से यह कर्मवाच्य-क्रिया का रूप और भी स्पष्ट होता जाता है। इसप्रकार पूर्वी-अवध में 'उसने मारा' को 'ऊ मारिस्' कहते हैं; यहाँ 'ऊ' कर्त्ता कारक में है और वस्तुतः वह का स्थानवाची है, किन्तु पश्चिमी-अवध में स्थित उन्नाव ज़िले में, इसे, 'उइ मारिस्' कहते हैं। यहाँ पर 'उइ' वास्तव में तिर्यकरूप है और इसका अर्थ है, 'उसके द्वारा'। उइ, के कर्त्ता-कारक एक वचन का रूप है 'वो'।

भविष्यत्काल—भविष्यत्काल का रूप भी इसीप्रकार सम्पन्न होता है, किन्तु उसमें और भी जटिलता है। "वह जायेगा" इसे संस्कृत में दो प्रकार से कह सकते हैं—(१) कर्तृवाच्यरूप में (२) कर्मवाच्यरूप में। कर्तृवाच्यरूप में तो 'वह जायेगा', होगा; संस्कृत में, प्रथम का रूप होगा—चलिष्यति, किन्तु भावे-प्रयोग के रूप में दूसरे का रूप होगा—चलितव्यम्। चलिष्यति, वस्तुतः निम्नलिखित रूप में परिवर्तित होगा—

चलिष्यति>शौ० से० चलिस्सदि>पू० हिं० चलिहइ।

यह रूप ब्रजभाषा तथा शौरसेनी-प्रसूत बोलियों में आज भी उपलब्ध है। ब्रजभाषा के रूप नीचे दिए जाते हैं :—

	ए० व०	ब० व०
मैं मारूँगा आदि—	१. मारिहौं	मारिहैं
	२. मारि है	मारिहौ
	३. मारि है	मारिहैं

इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि शौरसेनी में ह-भविष्यत् के रूप प्रयुक्त होते हैं तथा ये—इह्-प्रत्यय लगाकर सम्पन्न होते हैं।

पूरब की मागधी-प्रसूत बोलियों में भविष्यत्-भावे-कर्मवाच्य-कृदन्तीय चलितव्यम् के रूप चलते हैं। इस कृदन्तीय-रूप की भावे प्रकृति वस्तुतः उल्लेखनीय है। इससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वास्तव में जाने वाला कौन है! यह भाव सर्वनाम द्वारा स्पष्ट होता है। चलितव्यम् निम्नलिखित रूप में परिवर्तित होता है—

चलितव्यम्>चलिदव्वं>चलिअव्वं>चलब (अवधी)। भविष्यत् का यह रूप, पुरुष तथा वचन के अनुसार परिवर्तित नहीं होता। वास्तव में 'कौन जायेगा', यह सर्वनाम की सहायता से ही स्पष्ट होता है। यही कारण है कि यहाँ क्रिया का रूप अपरिवर्तित रहता है।

इसे स्पष्ट करने के लिए, पूरब की भाषाओं में से, बँगला से उदाहरण लिया जा सकता है। असमिया तथा उड़िया भी इस बात में, बँगला का ही अनुसरण करती हैं। जिसप्रकार बँगला, भूतकालिक-कृदन्तीय-क्रियाओं के रूपों में सर्वनाम के लघुरूपों को संयुक्त करती है, उसीप्रकार यह भविष्यत् के कृदन्तीय-रूपों में भी सर्वनाम के लघुरूपों को जोड़े बिना आगे नहीं बढ़ती। बँगला-भविष्यत्काल का कृदन्तीय-रूप—इब प्रत्यय से सम्पन्न होता है। इसप्रकार संस्कृत चलितव्यम्, प्राकृत में चलिअव्वं एवं आधुनिक बँगला में चलिब हो जायेगा। इसीप्रकार संस्कृत मारितव्यम् भी प्राकृत में मारिअव्वं तथा बँगला में मारिब, हो जायेगा। इसमें सर्वनाम के लघुरूप संयुक्त हो जाएँगे। जब कोई बँगला में कहना चाहता है—मैं मारूँगा तो वह मारिब (= यह मारा जाने वाला है) में सर्वनाम का लघुरूप-ओ (जो लिखते समय 'अ' रूप में रहता है) जोड़ देता है और तब रूप बन जाता है—मारिब (mārib-a), किन्तु इसका उच्चारण होता है—मारिबो (mārib-o)। बँगला में भविष्यत् के निम्नलिखित रूप होते हैं—

	ए० व०	ब० व०
मैं मारूँगा आदि—	१. मारिब (mārib-a)	मारिब (mār-ib-a)
	२. मारिबि (mār-ib-i)	मारिबे (mār-ib-e)
	३. मारिबे (mār-ib-e)	मारिबेन् (mār-ib-en)

बिहारी (बोलियों) के भविष्यत् के रूप भी ऊपर के ही सिद्धान्त पर चलते हैं तथा उनमें ब-भविष्यत् के रूप ही प्रयुक्त होते हैं। हाँ, अन्य पुरुष के रूपों में कुछ कठिनाई अवश्य है। इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति यह है कि मैथिली तथा मगही-क्रियाओं के अन्य-पुरुष के रूप किंचित जटिल हैं; किन्तु भोजपुरी-अन्यपुरुष-भविष्यत् के रूप-इह प्रत्यय से सम्बद्ध होते हैं। इसप्रकार भोजपुरी अन्यपुरुष के रूपों पर शौरसेनी की स्पष्ट छाप है। यह एक विचित्र बात है कि भोजपुरी उत्तम तथा मध्यम-पुरुष के क्रियापदों में कर्मवाच्य भावे के रूप चलते हैं; किन्तु अन्य-पुरुष में कर्तृवाच्य के रूप ही आते हैं। जैसा कि अतीतकाल के सम्बन्ध में कहा जा चुका है, भविष्यत्-काल के सम्बन्ध में भी बात वही है। यहाँ भी लोग प्रायः कर्तृ तथा कर्मणि-प्रयोग के अन्तर को भूल गए हैं। नीचे भोजपुरी-क्रिया के भविष्यत के रूप दिए जाते हैं—

	ए० व०	ब० व०
मैं मारूँगा आदि	१. मारबों mār-abo)	मारब (mār-ab)
	२. मारबे (mār-abe)	मारबह (mār b-ab)
	३. मारिहे (mār-i-he)	मारिहेन् (māri-hen)

ऊपर के उदाहरण में उत्तम तथा मध्यम-पुरुष के क्रियापदों में सर्वनाम के लघुरूप संयुक्त हैं, जिनका, अर्थ है 'मेरे द्वारा' अथवा 'तुम्हारे द्वारा' आदि। ऊपर अन्यपुरुष, एक वचन का जो रूप दिया गया है, वह आज बहुवचन में प्रयुक्त होता है और इसके स्थान पर 'मारी' रूप चल रहा है। वास्तव में यह इतना संक्षिप्त हो गया है कि आज यह पहचानना भी कठिन है कि यह भविष्यत् का रूप है।

पूर्वी-हिन्दी में भविष्यत् के रूप भी इसीप्रकार चलते हैं। इसमें अवधी तथा भोजपुरी में पूर्ण-साम्य है। नीचे अवधी के रूप दिए जाते हैं :—

	ए० व०	ब० व०
मैं मारूँगा आदि	१. मारबूँ (mār-b-u)	मारब् (mār-ab)

२. मारबेस् (mār-b-es)	मारबो (mār-ab-ō)
३. मारि है (mārihai)	मारि हैं (mārihaĩ)

ज्यों-ज्यों हम पश्चिम की ओर बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों ऊपर के रूपों में परिवर्तन होता जाता है। उन्नाव की अवधी के निम्नलिखित रूप द्रष्टव्य हैं—

	ए० व०	ब० व०
मैं मारूँगा आदि	१. मारिहौं (mārihaũ)	मारि हैं (mārihaĩ)
	२. मारि है (mārihai)	मारि हौ (mārihau)
	३. मारि है (mārihai)	मारि हैं (mārihaĩ)

ऊपर के रूप विशुद्ध-ह-भविष्यत् के हैं और ये—इह प्रत्यय से सम्पन्न हुए हैं। ये ब्रजभाषा के रूपों के समान ही हैं।

डा० केलॉग के अनुसार बघेली मध्यम-मार्ग का अनुसरण करती है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि बघेली के उत्तमपुरुष, एक वचन का रूप मारब्येउँ, अन्य बोलियों की अपेक्षा, प्राकृत के मारिअव्वं रूप के अधिक निकट है। इसके रूप नीचे दिये जाते हैं—

	ए० व०	ब० व०
मैं मारूँगा आदि	१. मारब्येउँ (mār-avye-u)	मारब (mār-ab)
	२. मारिबेस (mār-ib-es) या मारिहेस (mārihes)	मारिबा (mār-ibā)
	३. मारी (māri)	मारि हैं (mārihaĩ)

छत्तीसगढ़ी के भविष्यत्काल के रूपों में ब-भविष्यत् तथा ह-भविष्यत् के रूपों का एक विचित्र-सम्मिश्रण मिलता है। नीचे इसके रूप दिये जाते हैं :—

	ए० व०	ब० व०
मैं मारूँगा आदि	१. मरिहौं (marihaũ)	मारब (mār-ab) या मरिहन्(marihan)
	२. मरबे (mar-a b-ē)	मरिहौ (marihau)
	३. मरिहै (marihai)	मरिहैं (morihaĩ)

ऊपर के विवरण एवं विवेचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अतीत

तथा भविष्यत्- काल के रूपों के सम्बन्ध में पूर्वी-हिन्दी का स्थान शौरसेनी तथा मागधी के बीच में है।

पूर्वी-हिन्दी के सम्बन्ध में यह संक्षेप में कहा जा सकता है कि संज्ञा तथा सर्वनाम के विषय में यह मागधी-भाषाओं तथा बोलियों से साम्य रखती है, किन्तु क्रियापदों के सम्बन्ध में यह मध्यम-मार्ग का अनुसरण करती है। यह शौरसेनी तथा मागधी, दोनों, के रूपों को अपनाती है और इसप्रकार यह प्राचीन-अर्द्ध-मागधी का यथार्थ प्रतिनिधि है।

पश्चिमी-हिन्दी की ग्रामीण-बोलियाँ

पश्चिमी-हिन्दी का क्षेत्र वस्तुतः प्राचीन-मध्यदेश है और पश्चिम में सरस्वती से लेकर प्रयाग तक इसकी सीमा है। ग्रियर्सन के अनुसार पश्चिमी-हिन्दी का क्षेत्र प्रयाग तक नहीं है—इसकी पूर्वी-सीमा कानपुर तथा उन्नाव के पश्चिमी-भाग तक ही है; किन्तु व्यवहारिक-दृष्टि से पश्चिमी-हिन्दी की सीमा प्रयाग तक मानना उचित होगा। कथ्यभाषा के रूप में पश्चिमी-हिन्दी, उत्तर प्रदेश के पश्चिमी-भाग, पञ्जाब के पूर्वी-भाग, पूर्वी-राजस्थान, ग्वालियर, बुन्देल-खण्ड तथा मध्यप्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी-भाग में बोली जाती है। इसी की एक उपभाषा, हिन्दोस्तानी अथवा नागरी-हिन्दी से साहित्यिक तथा राष्ट्रभाषा-हिन्दी की उत्पत्ति हुई है।

पश्चिमी-हिन्दी की उत्पत्ति तथा भाषागत-सीमाएँ—पश्चिमी-हिन्दी की उत्पत्ति, सीधे, शौरसेनी-अपभ्रंश से हुई है। प्राकृतों में शौरसेनी, संस्कृत की निकटतम-भाषा है। वस्तुतः पश्चिमी-हिन्दी उस केन्द्र की भाषा है, जिससे आर्य-संस्कृत का प्रचार एवं प्रसार हुआ है।

पश्चिमी-हिन्दी के उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, दक्षिण एवं दक्षिण-पश्चिम में राजस्थानी, दक्षिण-पूर्व में मराठी तथा पूरब में पूर्वी-हिन्दी का क्षेत्र है। इसके उत्तर में भारतीय-आर्य-वर्ग की, जौनसारी, गढ़वाली, कुमायँनी भाषाएँ बोली जाती हैं। इसकी विभिन्न-सीमाओं पर पंजाबी, राजस्थानी तथा पूर्वी-हिन्दी का प्रभाव पड़ने लगता है।

पश्चिमी-हिन्दी के व्याकरण की विशेषताएँ—पश्चिमी-हिन्दी की विभिन्न-उपभाषाओं का संक्षिप्तव्याकरण यथास्थान दिया जायेगा। जहाँ तक नागरी-हिन्दी का सम्बन्ध है, इसके व्याकरण का दिग्दर्शन अन्यत्र कराया जा चुका है। वास्तव में नागरी अथवा खड़ीबोली की एक उल्लेखनीय विशेषता है,

उसकी अत्यधिक विश्लेषणात्मकता। संज्ञा के रूपों में यह इतनी विश्लेषणात्मक है कि इसमें कर्त्ता तथा तिर्यक, दो प्रकार के ही रूप उपलब्ध हैं। इस तिर्यक के रूप में ही विभिन्न अनुसर्ग लगाकर इसके अन्य-कारकों के रूप सम्पन्न होते हैं। इसमें कर्तरि, कर्मणि तथा भावे, तीनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। इसमें वास्तव में केवल एक ही काल—सम्भाव्य वर्तमान—का प्रयोग होता है।

पश्चिमी-हिन्दी की पाँच उपभाषाओं—हिन्दोस्तानी बांगरु, ब्रज-भाखा, कनौजी तथा बुन्देली—की चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है। अब, यहाँ, इनके सम्बन्ध में संक्षिप्त-विवरण उपस्थित किया जायेगा।

हिन्दोस्तानी—इसके अन्य नाम खड़ीबोली, नागरी हिन्दी तथा सरहिन्दी भी हैं। यह पश्चिमी-रुहेलखण्ड, गंगा के ऊपरी-दोआब तथा अम्बाला ज़िले की बोली है। वर्तमान साहित्यिक-हिन्दी तथा उर्दू से इसके सम्बन्ध की चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है। इस्लाम के प्रभाव के कारण, हिन्दी की अन्य ग्रामीण-बोलियों की अपेक्षा, इसमें अरबी-फ़ारसी से कुछ अधिक शब्द आ गए हैं, किन्तु उनमें पर्याप्त ध्वन्यात्मक-परिवर्तन भी हो गया है। उदाहरण-स्वरूप इसमें इन्तकाल, काल, मतलब, मतबल तथा गुवाही, उगाही में परिवर्तित हो गए हैं।

क्षेत्र—खड़ीबोली, वस्तुतः, रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फर-नगर, सहारनपुर तथा देहरादून के मैदानी भाग में बोली जाती है। देहरादून के पहाड़ी-भाग में, पहाड़ी-वर्ग की जौनसारी बोली बोली जाती है। ऊपरी-दोआब के आगे, यमुना नदी के उसपार, पंजाब प्रारम्भ हो जाता है। यमुना के पश्चिमी किनारे पर दक्षिण से उत्तर की ओर दिल्ली कर्नाल तथा अम्बाला के ज़िले हैं।

दिल्ली (शहर को छोड़कर) ज़िले तथा कर्नाल की बोली बाँगरू अथवा जाटू है। इस पर पंजाबी तथा राजस्थानी का अत्यधिक प्रभाव है। अम्बाला में राजस्थानी का प्रभाव समाप्त हो जाता है। इस ज़िले के पूर्वी-भाग तथा कलसिया एवं पटियाला की बोली वस्तुतः हिन्दोस्तानी ही है और इसपर पंजाबी का यत्किंचित ही प्रभाव है। पश्चिमी-अम्बाला की बोली तो स्पष्टरूप से पंजाबी है। इधर पंजाबी तथा पश्चिमी-हिन्दी की सीमा घग्घर (प्राचीन दृशद्वती) नदी है। ऊपर की सीमा में ही कथ्यभाषा के रूप में हिन्दोस्तानी अथवा खड़ीबोली व्यवहृत होती है। इसके बोलनेवालों की संख्या ५३ लाख के लगभग है।

खड़ीबोली अथवा हिन्दोस्तानी की विशेषताएँ:—भौगोलिक-दृष्टि से पश्चिमी-हिन्दी के उत्तरी-पश्चिमी कोने में खड़ीबोली का क्षेत्र है।

इसके पश्चिम में पंजाबी अथवा दिल्ली एवं कर्नाल की राजस्थानी-मिश्रित-उपभाषा बोली जाती है। इसके उत्तर में भारतीय-आर्य-परिवार की पहाड़ी-भाषाएँ बोली जाती हैं। इन पहाड़ी-भाषाओं का सम्बन्ध वस्तुतः राजस्थानी से है तथा इसके दक्षिण एवं पूर्व में पश्चिमी-हिन्दी की ब्रजभाखा का क्षेत्र है।

खड़ीबोली की भौगोलिक-स्थिति को देखकर सहज में ही स्पष्ट हो जाता है कि यह तथा इसके आधार पर निर्मित साहित्यिक-हिन्दी उस स्थान की भाषाएँ हैं, जहाँ ब्रजभाखा शनैः-शनैः पंजाबी में अन्तर्भुक्त हो जाती है। खड़ीबोली के व्याकरण के अध्ययन से यह सरलतया प्रमाणित हो जाता है कि वास्तव में बात भी ऐसी ही है।

खड़ीबोली को छोड़कर पश्चिमी-हिन्दी की अन्य ग्रामीण-बोलियों में, क्रिया के तद्भव कृदन्तीयरूप, विशेषण तथा संज्ञापद ओकारान्त अथवा औकारान्त होते हैं। उदाहरणस्वरूप, हिन्दी भला के भलो, भलौ, मारा के मारो, मार्‌यौ तथा घोड़ा के घोड़ो, घोड़्यौ, रूप अन्य बोलियों में मिलते हैं। इसीप्रकार इन बोलियों में सम्बन्धकारक में, को या कौ अनुसर्ग व्यवहृत होते हैं—यथा घोड़े को अथवा घोड़े कौ आदि। पंजाबी में ओ तथा औ के स्थान पर आ प्रत्यय का संयोग होता है। ठीक यही-आ प्रत्यय खड़ीबोली में भी प्रयुक्त होता है। इसप्रकार पंजाबी तथा खड़ीबोली, दोनों, में भला, मारा, तथा घोड़ा रूप होंगे। हाँ, सम्बन्धकारक में, खड़ीबोली में, घोड़े-का तथा पंजाबी में घोड़े-दा अवश्य हो जायेगा। इस विवेचना से यह सिद्ध हो जाता है कि खड़ीबोली में-आ-प्रत्यय वस्तुतः पंजाबी से ही आया है। सम्बन्धकारक में, खड़ीबोली ने पंजाबी के-दा अनुसर्ग को न अपनाकर उसके स्थान पर का को ही ग्रहण किया है। यह का भी वस्तुतः को या कौ का आकारान्त रूप ही है।

बोलचाल की नागरी (खड़ी) तथा साहित्यिक-हिन्दी में अन्तर—जहाँ तक स्वरों का सम्बन्ध है, साहित्यिक-हिन्दी का ऐ तथा औ, बोलचाल की नागरी-हिन्दी में 'ए' एवं 'ओ' में परिवर्तित हो जाते हैं। यथा, पैर>पेर; है>हे [सा० हिं० जाता है>जाता हे]; हैं>हें। इसीप्रकार और >ओर; लौंडा लोंडा; दौड़>दोड़। 'और' कभी-कभी अर, पुनः प्राणध्वनि लेकर हर हो जाता है। सहारनपुर तथा देहरादून में तो यह 'होर' में परिणत हो जाता है। साहित्यिकहिन्दी का बैठ, बोलचाल की नागरी में बट्ठ तथा मेरठ में भी बट्ठ बन जाता है। बोलचाल की हिन्दी में स्वरपरिवर्तन तो एक साधारण बात है। इसमें कहा तथा केहा, दोनों का प्रयोग होता है। स्वराघातहीन-अक्षरों

में इ>अ; यथा शिकारी,सिकारी>सकारी; मिठाई>मठाई। कभी-कभी स्वराघातहीन होने के कारण आरम्भ में 'इ' का लोप हो जाता है। यथा, इकट्ठा>कट्ठा।

व्यंजन :—पंजाबी की ही भाँति, बोलचाल की नागरी में भी मूर्धन्य-व्यंजन-वर्णों का अत्यधिक व्यवहार होता है। मध्य तथा अन्त्य, दन्त्य 'न' एवं ल क्रमशः 'ण' तथा 'ळ' में परिवर्तित हो जाते हैं। साहित्यिक-हिन्दी में 'ळ' के उच्चारण का अभाव है; किन्तु राजस्थानी, पंजाबी एवं गुजराती में इसका उच्चारण साधारण बात है। 'न' के 'ण' में परिवर्तन के निम्नलिखित उदाहरण इसमें मिलते हैं; यथा, मानुस>माणुस, 'मनुष्य';अपना>अपणा; खोना>खोवण; सुनना>सुणणा। इसीप्रकार 'ल' के 'ळ' में परिवर्तन के निम्नलिखित-उदाहरण इसमें मिलते हैं। यथा, जंगल>जंगळ; बलद>बळद, बैल; बाल>बाळ (सिर का बाल)। एक और बात जो उल्लेखनीय है, यह है कि बोलचाल की नागरी में न का ण में परिवर्तन जितना क्रमबद्ध है, उतना 'ल' का 'ळ' में नहीं। यही कारण है कि इसमें 'चला' तथा 'मिलेंगी' रूप मिलते हैं, चळा तथा मिळेंगी नहीं।

साहित्यिक-हिन्दी तथा पूरब में 'ड' तथा 'ढ' का उच्चारण 'ड़' तथा 'ढ़' हो जाता है। इसप्रकार हिन्दी में बड़ा उचारण करते हैं, बडा नहीं। ऊपरी-दोआब में 'ड' का उचारण प्रायः सुरक्षित है। यहाँ गाड़ी को गाडी या गाड्डी एवं चढ़ना को चढना रूप में उचारित करते हैं।

स्वराघातयुक्त दीर्घस्वर के बाद के व्यंजन का इसमें द्वित्व हो जाता है; तब दीर्घस्वर प्रायः ह्रस्व हो जाता है। इसीप्रकार द्वित्व-व्यंजन के पूर्व का ई, इ, ऊ, उ, तथा ए, ऍ में परिणत हो जाते हैं। इसका अपवाद केवल 'आ' है जो लिखने में 'आ' ही रह जाता है, यद्यपि इसका उच्चारण भी किंचित ह्रस्व हो जाता है। बोलचाल की नागरी में व्यंजन को द्वित्व करने की यह प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि वर्तमानकालिक-कृदन्त का 'त' भी इससे नहीं बच सका है। इसके उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

बाप>बाप्पू, पिता; बासन>बास्सन्ह, बर्तन; गाड़ी>गाड्डी; पाना से हिन्दी पाता>पात्ता; जाना से हिन्दी जाता>जात्ता; भूखा>भुक्खा; बेटा>बेट्टा; खेतों में>खेत्तों में; देखा>देक्खा; भेजा>भेज्जा; रोटी>रोट्टी; छोटा>छोट्टा; लोगों-पै>लो-ग्गों-पै आदि।

शब्दरूप (संज्ञा) —

व्यंजनान्त संज्ञाओं के तिर्यक के एकवचन के रूपों के अन्त में ओं

तथा उँ आता है। यथा, घरों में (घर में); घरूँ पड़ रहा (घर पर रहा)। इसीप्रकार कभी-कभी तिर्यक के बहुवचन के रूप भी 'ऊँ' में अन्त होते हैं यथा—मरदूँ का (मर्दों का); बेट्यूँ का (बेटियों का); चो-क्खे यादम्यूँ का (चोखे आदमियों का)। ईकारान्त कर्त्ता के बहुवचन के रूपों के अन्त में ईं आता है। यथा—बेट्टीं (बेटियाँ)।

कर्त्ता का अनुसंग, यहाँ, ने या नें है। इसीप्रकार कर्म तथा सम्प्रदान में इसमें के, कूँ, अथवा को नूँ (नूँ, अनुसंग वस्तुतः पंजाबी का है) तथा ने का व्यवहार होता है। यथा—बाप के (बाप को); बीरबल कूँ, (बीरबल को), बाप्पू-नूँ, (बाप को), बन्दर ने-उस्ने देख लिया, (बन्दर ने उसे देख लिया); मठाई ने छोड़-दे [मिठाई (को) छोड़ दे] अधिकरण में 'पे' और 'प' तथा अपादान में सेत्ती व्यवहृत होते हैं।

सर्वनाम—उत्तम तथा मध्यम पुरुष के रूप, नीचे दिये जाते हैं—

	उत्तम पुरुष		मध्यम पुरुष	
	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
कारक	(मैं)	(हम)	(तू)	(तुम)
कर्त्ता	मैं	हम	तू	तम
कर्तृ (Agent)	मैं	हम-ने	तैं	तम-ने
तिर्यक	मझ,मुझ	हम	तझ, तुझ	तम
कर्म-सम्प्रदान	मझे, मुझे	हमें	तझे, तुझे	तमें
सम्बन्ध	मेरा	हमारा, म्हारा	तेरा	तुम्हारा, थारा

यह उल्लेखनीय है कि इन सर्वनामों में कर्तृ (Agent) एक वचन में, 'ने' अनुसर्ग का प्रयोग नहीं होता। मैं (मैं-ने, नहीं) भेज दिया-था (मैंने भेज दिया था) तैं या चीज किस-के-तैं लई ? (तू-ने यह चीज़ किससे ली ?)।

यह उल्लेखनीय है कि इन सर्वनामों के कर्तृ (Agent) एक वचन में 'ने' अनुसर्ग का प्रयोग नहीं होता। मैं (मैं-ने, नहीं) भेज दिया—था (मैंने भेज दिया था); तैं या चीज किस-के-तैं लई ? (तूने यह चीज किससे ली)।

उल्लेख-सूचक-सर्वनाम (Demonstrative Pronoun) के कर्त्ता कारक के—स्त्रीलिङ्ग-रूप भी होते हैं। ये नीचे दिये जाते हैं—

	कर्त्ता (पुलिङ्ग)	कर्त्ता (स्त्रीलिङ्ग)
यह	यू, यह	या
वह	ओ, ओ, ओह	वा

इसके अन्य-रूप साहित्यिक-हिन्दी की भाँति ही होते हैं। केवल कर्ता एकवचन का वो बहुवचन में वे हो जाता है।

अन्य सर्वनामों के रूप नीचे दिये जाते हैं —

अपणा (अपना); जो, जोण (जो, जौन); कोण या के (कौन?); के (क्या ?); कै (कितने); को (कोई); (तिर्यक, किसी); जोण-सा, जो-कुच्छ (जो कुछ); अस्सा (ऐसा); इब् (अभी);इभी, इब जाँ (अभी भी); जिब् ('जब' और 'तब'); हौ, हाँ-सी (वहाँ); जाँ (कहाँ) ।

क्रियारूप—वर्तमान-काल के रूप, इसमें इसप्रकार होते हैं—

एक वचन	बहु वचन
१—हूँ	हैं
२—है	हो
३—है	हैं

अतीतकाल के रूप 'था' लगाकर, साहित्यिक-हिन्दी की भाँति ही बनते हैं।

कर्तृवाच्य-क्रियापद—हिन्दी में जो क्रियापद केवल सम्भाव्यवर्तमान का भाव द्योतित करते हैं, वे यहाँ साधारण-वर्तमान के मूल भाव को भी प्रकट करते हैं। इसप्रकार यहाँ 'मैं मारूँ' का अर्थ, 'मैं मारता हूँ' तथा 'मार सकता हूँ, दोनों होता है।

निश्चयार्थक-वर्तमान के रूप यहाँ साधारण वर्तमान के रूपों से (कृदन्तीय-रूपों से नहीं) सम्पन्न होते हैं। ये नीचे दिये जाते हैं।

	एकवचन	बहुवचन
मैं मार रहा हूँ आदि	१. मारू हूँ	मारें हैं
	२. मारे है	मारो हो
	३. मारे है	मारें हैं

कभी-कभी साहित्यिक-हिन्दी की भाँति इसमें भी वर्तमान-कृदन्तीय-रूप प्रयुक्त होते हैं। यथा—होत्ता है (होता है); जात्ते हैं (जाते हैं)।

निश्चयार्थक-वर्तमान (Present Definite) की भाँति ही, यहाँ, घटमान (Imperfect) के रूप भी, वर्तमान के बदले, अतीत के रूप देकर सम्पन्न होते हैं। यथा—'मैं मारूँ-था' या 'मैं मारता था'। प्रायः यह काल, जैसा कि राजस्थानी, कभी-कभी ब्रजभाखा में भी होता है, ए—क्रियावाचक विशेष्य-पद (Verbal Noun) में अतीतकाल की सहायक-क्रिया संयुक्त

करके सम्पन्न होता है। यथा—मारे था (वह, तू अथवा मैंने मारा था); मारे थे (वे, तुम अथवा हम……)। इस-प्रकार के रूप बिहारी-भाषा की मगही में भी उपलब्ध होते हैं।

वर्तमान तथा भविष्यत् में, दीर्घस्वरान्त क्रियापदों के रूप संक्षिप्त हो जाते हैं। यथा—खाएँ-हूँ > खां हूँ; जाऊँगा>जां-गां; खाऐ-गा>खागा; खाएँ-गे > खां-गे आदि।—

इसमें 'खाना', खाणा में परिणत हो जाता है। इसके तिर्यक-रूप णे संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं; यथा—खाणे को (खाने के लिये), इसीप्रकार खोवण (खोना), पड़ण (पड़ना गिरना); भरण-को (भरने के लिये) आदि रूप सम्पन्न होते हैं।

'करणा' के अतीतकाल में करा तथा किया; दोनों रूप होते हैं। इसी-प्रकार जाणा के अतीतकाल के रूप गया तथा गिया (पंजाबी रूप) दोनों होते हैं। नकारार्थक में नहीं का प्रयोग होता है; किन्तु इसके लिये ने तथा नी भी व्यवहृत होते हैं। नी का प्रयोग उत्तम-पुरुष में होता है—यथा—मैं नी चला (मैं नहीं गया); किन्तु ने का व्यवहार अन्य-पुरुष में होता है; यथा—उसे को ने देवा (उसे कोई नहीं देता)।

बाँगरू

यह बाँगर देश की बोली है। बाँगर से उस उच्च एवं शुष्क-भूमि से तात्पर्य है जहाँ नदी की बाढ़ नहीं पहुँच पाती। बाँगरू, करनाल, रोहतक, तथा दिल्ली जिलों में बोली जाती है। यह दक्षिणी-पूर्वी पटियाला, पूर्वी-हिसार तथा रोहतक एवं हिसार के बीच, नाभा एवं झींद, में भी बोली जाती है। पूरब में बाँगर-प्रदेश को ऊपरी-दोआब से यमुना नदी पृथक् करती है। इसके उत्तर में अम्बाला, दक्षिण में गुड़गाँव, पश्चिम में पटियाला तथा दक्षिण में हिसार है। हिसार जिले के पूरब तथा उसके आस-पास का भूमि-भाग हरियाना नाम से प्रख्यात है।

बाँगरू के कई स्थानीय नाम हैं। हरियाना के पड़ोस में यह हरियानी, देसवाली अथवा देसड़ी कहलती है। रोहतक तथा दिल्ली के आस-पास जाटों की अधिक आबादी के कारण इसे जाटू तथा दिल्ली के चमारों की आबादी के कारण इसे चमरवा बोली भी कहते हैं। अन्य स्थानों में इसे बाँगरू नाम से ही अभिहित किया जाता है। बाँगरू बोलने वालों की संख्या लगभग २२ लाख है।

नामों में स्थानीय-भेद रहते हुए भी वास्तव में बोली में भेद नहीं है। नीचे बाँगरू के व्याकरण की विशेषता संक्षेप में दी जाती है।

उच्चारण—बाँगरू में स्वरों का उच्चारण बहुत निश्चित नहीं है। यथा—कहाऊँ>कोहाऊँ; रहा>रेहा; जबाब>जुवाब; बहुत>बोहत। ए तथा ऐ स्वरों का प्रायः परिवर्तन होता रहता है और करण-सम्प्रदान के अनुसर्ग ने, नै तथा सम्प्रदान-अपादान के अनुसर्ग ते, तै रूप में लिखे जाते हैं। इसीप्रकार तिर्यक के सम्बन्ध-कारक के अनुसर्ग के, कै रूप में मिलते हैं। खड़ीबोली की भाँति ही, इसमें भी न तथा ल क्रमशः ण तथा ळ में परिवर्तित हो जाते हैं; यथा—अपना>अपणा; होना>होणा; काल>काळ; चलन> चळण; किन्तु जब दित्व 'ल' आता है तब उसका मूर्धन्य-उच्चारण नहीं होता। यथा—चाल्लणा, चलना (चाळ्ळणा नहीं) घाल्लणा, भेजना (घाळ्ळणा नहीं)। ड़ के बदले यहाँ भी 'ड' का ही अधिक व्यवहार होता है। यथा—बड़ा>बडा। खड़ीबोली की भाँति ही, इसमें भी जब मध्य-व्यञ्जन द्वित्व होता है, तब आरम्भ का स्वर, दीर्घ से, ह्रस्व हो जाता है; किन्तु 'अ' इसका अपवाद है। यथा—चला>चाल्ल्या; छाल्ल्या, भेजा; लाग्ग; उन्होंने आरम्भ किया; राज्जी; भीतर>भित्तर; भूका>भुक्का आदि।

संज्ञा के रूप

खड़ीबोली की भाँति ही यहाँ भी संज्ञा के रूप चलते हैं; किन्तु तिर्यक बहुवचन के रूप ओं में अन्त न होकर आँ में अन्त होते हैं; दक्खिनी, पंजाबी तथा राजस्थानी में भी इसीप्रकार के रूप मिलते हैं। नीचे ये रूप दिये जाते हैं—

एकवचन		बहुवचन	
कर्ता	तिर्यक	कर्ता	तिर्यक
घोड़ा	घोड़े	घोड़े	घोड़ाँ
बाब्बू (पिता)	बाब्बू	बाब्बू	बाब्बुआँ
दिन	दिन	दिन	दिनाँ
खेत	खेत	खेत	खेताँ
माणस (मनुष्य)	माणस	माणस	माणसाँ
बरस	बरस	बरस	बरसाँ
छोरी (लड़की)	छोरी	छोर्याँ	छोर्याँ
बय्यर (स्त्री)	बय्यर	बय्यराँ	बय्यराँ

इसमें अनुसर्गों का प्रयोग अनिश्चित है; क्योंकि एक ही अनुसर्ग कई

कारकों में प्रयुक्त होता है। इसमें सम्बन्ध का अनुसर्ग खड़ीबोली की भाँति 'का' है। पुँल्लिङ्ग के विभिन्न-रूपों के साथ के-कै अनुसर्ग प्रयुक्त होता है। ने-नै अनुसर्ग का प्रयोग केवल कर्तृ (Agent) में ही नहीं होता, अपितु कर्म तथा सम्प्रदान में भी होता है। इसप्रकार जहाँ खड़ीबोली में को प्रयुक्त होता है, वहाँ बाँगरू में ने आता है। यथा—परदेश को (खड़ीबोली), परदेश ने (बाँगरू)। तो, ते, तै अनुसर्ग, अपादान में प्रयुक्त होते हैं; किन्तु कर्म-सम्प्रदान में भी ये व्यवहृत होते हैं। यथा—मैं-ने छोरे-तो मार्‌या, [मैंने छोरे (लड़के) को मारा]। खड़ीबोली में, अनुसर्ग-रूप में, जहाँ में का प्रयोग होता है, वहाँ बाँगरू में में-मैं प्रयुक्त होते हैं। अपादान में कानी-ती तथा करण में सिते का व्यवहार, यहाँ, अनुसर्ग-रूप में होता है; यथा—जिवरियाँ-सिते (जेंवरी, (रस्सी) से)। ती, ते अथवा तै का प्रयोग, दो अर्थों में, निम्नलिखित उदाहरण में द्रष्टव्य है। यथा—रोपय-ती· उस-ती, ले लो (रुपयों को उससे लेलो)।

इसमें सर्वनाम के कई विचित्ररूप मिलते हैं। उत्तम तथा मध्यम-पुरुष के रूप नीचे दिये जाते हैं—

	उत्तम पुरुष		मध्यम पुरुष	
कारक	एकवचन (मैं)	बहुवचन (हम)	एकवचन (तू)	बहुवचन (तुम)
कर्ता	मैं	हम, हमें	थूँ, तूँ, तौं	थम, तम्हें
कर्तृ	मैं-ने, मन्ने, मन्नै	म्हा-ने,-नै	तैं-ने, तन्ने, तन्नै	था-ने,-नै
सम्प्रदान	मन्ने, मन्नै	म्हा-ने, नै	तन्ने, तन्नै	थाने, -नै
सम्बन्ध	मेरा-मरा	म्हरा	तेरा, तरा	थारा

अन्य-सर्वनामों के रूप नीचे दिये जाते हैं—

उल्लेखसूचक—यउँह, योह्, यु, (हिन्दी यह); कर्ता (स्त्री० लिं०) याह्: तिर्यक, ए० व० इस; कर्ता, ब० व० ये, यैं; तिर्यक, इन् अउँह्, ओह् (हिन्दी, वह); कर्ता (स्त्री० लिं०) वाह्;; तिर्यक, ए० व० उस्, ; ब० व० वैं, ओह ;; तिर्यक, उन्।

सम्बन्ध-वाचक-सर्वनाम—(Relative Pronoun) जो या जौण, तिर्यक; ए० व० जिस।

प्रश्नवाचक-सर्वनाम—कौण (हिन्दी, कौन), तिर्यक, ए० व० किस; के या कै (हिन्दी, क्या), इब (हिन्दी अब)।

क्रियारूप

सहायकक्रिया के वर्तमानकाल के रूप निम्नलिखित हैं—

	ए० व०	ब० व०
१.	सूँ, साँ, (मैं हूँ)	सैँ, सेँ, साँ
२.	सै, से,	सो,
३.	सै, से,	सैँ, सेँ,

प्रायः ऊपर के रूप ही व्यवहृत होते हैं; किन्तु कभी-कभी 'स' के स्थान पर 'ह' भी प्रयुक्त होता है और इसीप्रकार हूँ आदि रूप सम्पन्न होते हैं। अतीत-काल के रूप, इसमें खड़ीबोली की भाँति ही 'था' आदि की सहायता से बनते हैं।

कर्तृवाच्य-क्रिया के रूप

खड़ीबोली में जो क्रिया-पद सम्भाव्य-वर्तमान का भाव द्योतित करते हैं, वे यहाँ साधारण-वर्तमान के मूलभाव को प्रकट करते हैं। इनके रूप नीचे दिये जाते हैं। ये दक्खिनी-हिन्दी के समान ही हैं—

	एक वचन	बहु वचन
१.	मारूँ, माराँ (मैं मारता हूँ)	मारैँ, मारेँ, माराँ
२.	मारै, मारे	मारो
३.	मारै, मारे	मारैँ, मारेँ

वर्तमान के कृदन्तीय अथवा साधारण-वर्तमान में सहायक-क्रिया के वर्तमानकाल के रूप संयुक्त करके, निश्चित-वर्तमान के रूप सम्पन्न होते हैं। यथा—मैं मारदा-सूँ अथवा मैं मारूँ-सूँ, (मैं मारता हूँ)।

घटमान (Imperfect) के रूप यहाँ क्रिया के वर्तमानकाल के कृदन्तीय-रूप में, सहायक-क्रिया के अतीत के रूप में संयुक्त करके अथवा खड़ी-बोली की भाँति ही ए—क्रियावाचक-विशेष्य (Verbal Noun) की सहायता से बनते हैं। यथा—मैं मारदा-था अथवा मैं मारे-था (मैं मारता था)। रोहतक की बाँगरू में तो निश्चित-वर्तमान की भाँति ही यह काल सम्पन्न होता है। यथा—मैं मारूँ था।

खड़ीबोली की भाँति ही साधारण अथवा सामान्य-वर्तमान में गा (-गे -गी) संयुक्त करके भविष्यत्-काल बनता है। यथा—माराँगा, 'मारूँगा'।

अतीतकाल के कृदन्तीय-रूपों की सहायता से ही, नियमानुसार अतीतकाल, सम्पन्न होता है। यथा, मन्ने मार्‌या, (मैंने मारा)।

वर्तमान-काल के कृदन्तीय-रूप (Present Participle) मारदा ('त' के स्थान पर 'द'); अतीत के कृदन्तीय रूप (Present Participle) मार्‌या; (पु० लि०) तिर्यक—मारे, (स्त्रि० लिं०) मारी।

धातुरूप—मारण या मारणा।

जाणा (जाना) के अतीत-काल के कृदन्त का रूप गया तथा गिया, दोनों, होते हैं।

व्रजभाखा अथवा अन्तर्वेदी

व्रजभाखा का अन्य नाम व्रजभाषा भी है। यह व्रजमण्डल की भाषा है। गङ्गा यमुना का दोआब आर्यों की पवित्र-यज्ञ-भूमि होने के कारण अन्तर्वेद कहलाता है। इसी कारण व्रजभाषा को अन्तर्वेदी (अन्तर्वेदी) भी कहते हैं। इन दोनों नामों में से किसी के द्वारा व्रजभाषा के सम्पूर्ण-क्षेत्र का भलीभाँति बोध नहीं हो पाता। व्रजमण्डल का क्षेत्र मोटेतौर पर आधुनिक मथुरा ज़िला है इसी के अन्तर्गत कृष्ण की लीला-भूमि गोकुल तथा वृन्दावन हैं; किन्तु-व्रजभाषा का क्षेत्र इससे अधिक विस्तृत है।

व्रजभाखा के लिए प्रायः संक्षिप्तरूप में 'व्रज' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है। उधर दोआबे—आगरा, एटा, मैनपुरी, फ़र्रुखाबाद, तथा इटावा, की बोली को अन्तर्वेदी कहा जाता है, इनमें से फर्रुखाबाद तथा इटावा की भाषा तो कनौजी तथा शेष की भाषा, व्रज है।

क्षेत्र—यदि मथुरा को केन्द्र माना जाय तो दक्षिण में व्रजभाखा आगरा, भरतपुर के अधिकांश भाग, धौलपुर, करौली, ग्वालियर के पश्चिमी-भाग तथा जयपुर के पूर्वी-भाग में बोली जाती है। उत्तर में यह गुड़गाँव के पूर्वी-भाग में बोली जाती है। उत्तर-पूरब, दोआबे में, यह बुलन्दशहर, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, तथा गङ्गापार के बदायूँ बरेली तथा नैनीताल की तराई में बोली जाती है। इसका कुल क्षेत्रफल २७ हजार वर्गमील तथा बोलनेवालों की संख्या ७६ लाख के लगभग है।

विभिन्न-बोलियाँ—विभिन्न-स्थानों में व्रजभाषा में यत्किञ्चित् अन्तर आ जाता है। मथुरा, अलीगढ़ तथा पश्चिमी-आगरे की व्रजभाषा आदर्श है। अलीगढ़ के उत्तर में बुलन्दशहर है, जहाँ भाषा में खड़ीबोली का अत्यधिक

सम्मिश्रण हो जाता है। जहाँ तक ब्रजभाषा-व्याकरण का सम्बन्ध है, मुख्य अन्तर यह है कि इधर ब्रज का औ-प्रत्यय ओ में परिणत हो जाता है। इसप्रकार यहाँ चल्यौ को चल्यो बोलते हैं।

आगरे के पूरब, धौलपुर तथा करौली के मैदानी-भाग एवं ग्वालियर के पड़ोस में प्रायः आदर्श-ब्रजभाखा ही चलती है, किन्तु इधर एक अन्तर अवश्य मिलता है और वह यह है कि अतीतकाल के कृदन्तीय-रूप से 'य्' का लोप हो जाता है और चल्यौ के स्थान पर चलौ प्रयुक्त होने लगता है। दोआबे के ज़िलों—एटा, मैनपुरी एवं बुलन्दशहर में भी 'य्' का लोप हो जाता है तथा औ, ओ में परिणत हो जाता है। इसप्रकार इधर चल्यौ का रूप चलो हो जाता है। यही विशेषता गंगापार के बदायूँ तथा बरेली ज़िलों की ब्रजभाखा में भी मिलती है। इधर ब्रजभाखा, कनौजी में अन्तर्भुक्त हो जाती है, जहाँ नियमितरूप से चलो का ही प्रयोग होता है। पुनः ग्वालियर के उत्तर-पश्चिम में भी औ, ओ में परिवर्तित हो जाता है और यहाँ भी 'य्' का लोप हो जाता है। इधर ब्रजभाखा का बुन्देली की उपभाषा भदौरी में अवसान हो जाता है।

भरतपुर तथा इसके दक्षिण की डाँग बोली में 'य्' सुरक्षित मिलता है और औ कभी ओ में परिवर्तित होता है और कभी नहीं भी होता। इधर ब्रजभाखा का राजस्थान की जयपुरी-बोली में अवसान हो जाता है जहाँ 'य्' वर्तमान है; किन्तु प्रत्यय रूप में 'ओ' का ही व्यवहार होता है, औ का नहीं। इसीप्रकार गुड़गाँव में, ब्रजभाखा, मेवाती में अन्तर्भुक्त हो जाती है और यहाँ भी औ, ओ में परिणत हो जाता है; किन्तु इधर भी 'य्' सुरक्षित है। अन्त में, नैनीताल की तराई में, ब्रजभाखा एक मिश्रित-भाषा का रूप धारण कर लेती है। इसे वहाँ भुक्सा कहते हैं, क्योंकि इसके बोलनेवाले भुक्सा लोग हैं। इसे ग्रियर्सन ने ब्रजभाखा के अन्तर्गत रखा है; किन्तु आपका मत है कि इसे खड़ी-बोली अथवा कनौजी के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है।

ब्रजभाखा-बोलनेवाले ऊपर की विशेषताओं को नहीं स्वीकार करते, फिर भी वे इसकी कई विभिन्न-बोलियों से परिचित हैं। उदाहरणस्वरूप, ये लोग, पूरब की कनौजी में अन्तर्भुक्त होनेवाली ब्रजभाखा को अन्तर्वेदी कहते हैं। ग्वालियर के उत्तर पूरब के कोने में, धौलपुर के सामने, सिकरवाड़ राजपूतों के कारण यहाँ की ब्रजभाखा सिकरवाड़ी के नाम से प्रख्यात है। करौली के मैदान की तथा चम्बल पार की बोली जादो (यादव) राजपूतों के कारण जादोबाटी कही जाती है। भरतपुर के दक्षिण ऊबड़-खाबड़ तथा

करौली एवं जयपुर के पूरब का प्रदेश 'डाँग' नाम से अभिहित किया जाता है। अतएव इधर के पहाड़ों के गूजरों की बोली डाँगी कहलाती है। जयपुर में तो इसकी कई छोटी-छोटी उपभाषाएँ हो जाती हैं। जैसे—डाँगी, डूँगरवारा, कालीमाल, तथा डाँगभाँग। जैसे पहले कहा जा चुका है, नैनीताल की तराई की ब्रजभाखा भुक्सा कहलाती है।

अतीतकाल के कृदन्तीय-रूप के—यौ, औ, यो, अथवा ओ को कसौटी मानकर ग्रियर्सन ने ब्रजभाखा का निम्नलिखित विभाजन किया है।—

१. आदर्श-ब्रज (चल्यौ)।
 मथुरा
 अलीगढ़
 पश्चिमी-आगरा
२. आदर्श ब्रज (चल्यो)।
 बुलन्दशहर
३. आदर्श-ब्रज [चलौ]
४. कनौजी में अन्तर्भुक्त ब्रज (चलो)।
 एटा
 मैनपुरी
 बदायूँ
 बरेली
५ भदौरी में अन्तर्भुक्त ब्रज (चलो)।
 सिकरवाड़ी (ग्वालियर के उत्तर पश्चिम की बोली)।
६ राजस्थानी (जयपुरी) में अन्तर्भुक्त ब्रज (चल्यौ) या (चल्यो)।
 भरतपुर
 डाँग बोली
७ राजस्थानी (मेवाती) में अन्तर्भुक्त ब्रज (चल्यो)।
 गुड़गाँव
८ नैनीताल की तराई की मिश्रित ब्रजभाखा।

अलीगढ़ तथा आगरे जिले के पूरब में अन्य-पुरुष सर्वनाम 'वह' के लिये एक विचित्र-रूप 'ग्व' तथा 'गु' मिलता है। इसीप्रकार डांगी बोली में एक रूप 'ह' मिलता है, जिससे 'ग्व' तथा 'गु' की व्युत्पति स्पष्ट हो जाती है। ब्रजभाषा के पूरब के ज़िलों में 'र्' के बाद के व्यञ्जन का द्वित्व हो जाता है। यह विशेषता पड़ोस की

बुन्देली की उपभाषा भदौरी में मिलती है। यथा—खर्चु>खच्चु (मैनपुरी); मरत>मत्त, मरता (सिकरबाड़ी); ठाकुरसाहिब>ठाकुस्सा (एटा);अलीगढ़ तक में नौकरानो>नौकन्नी आदि।

अलीगढ़ की ब्रजभाषा में 'आ' ओ, आदि दीर्घ-स्वरों के बाद का 'व' 'म' में परिणत हो जाता है। यथा—मनावन (हिन्दी, मनाना)>मनामन; बावन>बामन; रोवति>रोमति।

यहाँ क्य, कभी-कभी च तथा 'द' के पूर्व का 'ज्,' 'द्,' में परिणत हो जाता है। इसप्रकार क्यों>चों; भेज्-दयो>भेद्दयो। कभी-कभी यहाँ महाप्राण ध्वनि, अल्पप्राण में परिणत हो जाती है; यथा - हाथ>हात। क्रिया-रूप है-गयो> है-गयौ।

बदायूँ तथा बुलन्दशहर जिलों की ब्रजभाखा में, पड़ोस की, हिन्दोस्तानी (खड़ीबोली) का सम्मिश्रण हो जाता है। बुलन्दशहर में, कनौजी से भी इसका सम्मिश्रण होता है। यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है। ब्रज-भाषा के अधिकांश भाग में करण-कारक में—अन् प्रत्यय लगता है। यथा—भूखन् (भूख से); आगरा तथा धौलपुर में यह—अनि प्रत्यय में परिणत हो जाता है।

अवधी तथा भोजपुरी में भी ठीक इसी कारक में—अन् तथा—आनि प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। यथा—भूखन, भूखनि। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'ने' अनुसर्ग किसी समय करण तथा कर्तृ, दोनों में प्रयुक्त होता था।

दक्षिणी-भरतपुर, करौली तथा पूर्वी-जयपुर की गूजर जातियाँ भी ब्रज भाखा-भाषी हैं। इनकी बोली में अनेक स्थानीय-विशेषताएँ हैं। वास्तव में इधर की ब्रज-भाखा में राजस्थानी का सम्मिश्रण मिलता है और इसप्रकार यह राजस्थानी तथा ब्रजभाखा के बीच की कड़ी है।

ब्रजभाखा की विशेषताएँ तथा हिन्दी से उसका अन्तर—ग्रियर्सन के अनुसार हिन्दुस्तानी की अपेक्षा, ब्रजभाखा, पश्चिमी-हिन्दी का श्रेष्ठतर प्रतिनिधि है। व्याकरण-सम्बन्धी-विशेषता की दृष्टि से भी इसका हिन्दुस्तानी से अधिक महत्व है। वस्तुतः हिन्दोस्तानी, पश्चिमी-हिन्दी के उत्तरी-पश्चिमी कोने की बोली है और इसपर पंजाबी का पर्याप्त प्रभाव है। पंजाबी की भाँति ही हिन्दोस्तानी में भी तद्भव संज्ञापद ओकारान्त तथा औकारान्त न होकर आकारान्त होते हैं; यथा—घोड़ा (घोड़ो या घोड़ौ नहीं)। इसीप्रकार हिन्दुस्तानी का भविष्यत्काल—गा-प्रत्यय से सम्पन्न होता है।

ब्रजभाखा में कभी-कभी नपुंसक-लिंग भी मिलता है। यह इसकी प्राचीनता का द्योतक है। उत्तरी-भारत की अधिकांश-बोलियों से यह लिंग लुप्त हो चुका है—इन बोलियों में नपुंसक-संज्ञापद, पुल्लिंग में परिवर्तित हो गये हैं। किन्तु ब्रजभाखा में कहीं-कहीं यह लिंग आज भी सुरक्षित है। उदाहरणस्वरूप, क्रियाबोधक-संज्ञा (infinitive) का लिंग इसमें मूलतः नपुंसक था। यही कारण है कि ब्रजभाखा में केवल पुलिंग-रूप मारनौ (हिन्दी, मारना) ही नहीं मिलता, अपितु अधिकतर इसका नपुंसक-रूप मारनौं ही मिलता है। साहित्यिक-ब्रजभाषा की अपेक्षा ग्रामीण-ब्रजभाषा में नपुंसक का रूप ही अधिक प्रचलित है। उदाहरणस्वरूप, 'सोने' का नपुंसक रूप सोनौं अथवा सोनों ही ग्रामीण-ब्रजभाखा में प्रचलित है। इसीप्रकार "अपनौं अथवा अपनों धन" में अपनौं अपनों, विशेषण, नपुंसक-लिंग में है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि ब्रजभाखा में हिन्दी 'आ'—प्रत्यय के बदले 'औ' प्रत्यय ही प्रयुक्त होता है। पूरब की ब्रजभाखा में, कनौजी के प्रभाव से, औ का ओ उच्चरण आरम्भ हो जाता है। आदर्श, दोआब तथा रुहेल-खंड की ब्रजभाखा में औ प्रत्यय नहीं प्रयुक्त होता है। इनमें औ के स्थान पर आ ही प्रत्यय संयुक्त होता है। इसप्रकार इनमें घोड़ा रूप ही चलता है, घोड़ौ नहीं। हिन्दी की भाँति ही, यहाँ की बोलियों में भी तिर्यक, एकवचन एवं कर्त्ता बहुवचन के रूप ए संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं। किन्तु जब हम मथुरा से दक्षिण की ओर प्रस्थान करते हैं तब ये संज्ञापद ओकारान्त अथवा औकारान्त हो जाते हैं। वस्तुतः ऐसा राजस्थानी-प्रभाव के कारण ही होता है। विशेषण-पद—जिसमें सम्बन्ध तथा क्रिया के कृदन्तीय-रूप भी सम्मिलित हैं—सर्वत्र ओकारान्त तथा औकारान्त ही होते हैं। इसप्रकार आदर्श-ब्रज में घोड़े-कौ, ब्रज में, घोड़ा-कौ (घोड़े का); भलौ, (भला) चल्यो,(चला;) आदि रूप होंगे।

हिन्दी से तुलना करने पर ब्रज के सर्वनामरूपों में पर्याप्त भिन्नता परि-लक्षित होती है। ब्रज के आगे दिए हुए संक्षिप्त-व्याकरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि ब्रज में, हिन्दी 'मैं' के लिये प्रायः हौं सर्वनाम ही प्रयुक्त होता है।

जहाँ तक क्रिया का सम्बन्ध है, सहायक-क्रिया के वर्तमानकाल के रूप प्रायः हिन्दी के रूपों के समान ही हैं। किन्तु अतीतकाल के रूपों में विशेष भेद

है, क्योंकि यहाँ सहायक-क्रिया के रूप में हौ तथा हुतौ का प्रयोग होता है। हिन्दी में इसके लिये था व्यवहृत होता है।

वर्तमान-कृदन्तीय (शतृ) के कर्तृवाच्य के रूप—तु अथवा त प्रत्ययान्त होते हैं। यथा—मारतु या मारत। हिन्दी में इसके लिये–ता–प्रत्यय प्रयुक्त होता है; यथा—मारता। आदर्श-ब्रज का अतीत-काल के कृदन्त का रूप वस्तुतः उल्लेखनीय है। यह–यौ–प्रत्ययान्त होता है; यथा—मार्यौ (हिन्दी, मारा)। ज्यों-ज्यों हम पूरब की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों 'य' के लोप की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है और चलौ तथा चलो जैसे रूप मिलने लगते हैं। दक्षिण में इसके सर्वथा विपरीत प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है और उधर विशेषण में भी 'य्' संयुक्त किया जाने लगता है। इसप्रकार इधर आछ्यौ (अच्छा); तिहार्यौ (तुम्हारा) आदि रूप मिलते हैं।

यह 'य' वस्तुतः संस्कृत के भूतकालिक कृदन्त 'इ' का अवशिष्ट-मात्र है। इसकी विभिन्न अवस्थाएँ इसप्रकार हैं—सं० मारितकः>प्रा० मारिदअ, मारिअओ, मारिऔ>ब्रज-मार्यौ।

हिन्दी के सम्भाव्य-वर्तमान का रूप वास्तव में वर्तमानकाल का ही रूप है। ब्रजभाषा में यह वर्तमानकाल के मूलभाव को ही प्रकाशित करता है; किन्तु जब इसे निश्चित-वर्तमान (Present Definite) का रूप देना होता है तब इसमें वर्तमानकाल की सहायक-क्रिया का रूप भी संयुक्त कर देते हैं। यथा—हौं मारौं-हौं (मैं मारता हूं) तू मारे-है (तू मारता है)। निश्चित-वर्तमान का दूसरा रूप ब्रजभाखा में हिन्दी की भाँति ही बनता है। इसीप्रकार घटमान (Imperfect) के रूप वर्तमान के कृदन्तीय-रूपों की सहायता से बनते हैं। ब्रज के कुछ क्षेत्रों में घटमान के रूप, क्रिया (Substantive verb) के अतीत-काल के रूपों में साधारण-वर्तमान के अन्यपुरुष एकवचन की सहायक-क्रिया के रूप संयुक्त करने से सम्पन्न होते हैं—यथा, मारै-हौ (मैं, तू अथवा वह मारता था), मारै-हे (हम, तुम अथवा वे मारते थे)।

ब्रजभाखा में भविष्यत्काल के रूप, साधारण-वर्तमान के रूपों में— गौ संयुक्त करने से सम्पन्न होते हैं; यथा, मारौं-गौ (मारूँगा)। किन्तु यहाँ प्रायः धातु में—इहू अथवा—एहू प्रत्यय जोड़ करके भविष्यत् के रूप बनते हैं; यथा, मारि-हौं, (मैं मारूँगा)। यह रूप वस्तुतः सीधे संस्कृत से ब्रजभाखा में आया है। इसकी विभिन्न-अवस्थायें इसप्रकार हैं—

सं० मारिष्यामि>प्रा० मारिस्सामि, मारिहामि, मारिहौं ब्रजभाखा, मारिहौं।

आगे ब्रजभाखा का संक्षिप्त-व्याकरण दिया जाता है। विभिन्न-स्थानीय-रूपों का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

ब्रजभाखा का संक्षिप्तव्याकरण

१. शब्द रूप

	पुल्लिंग		स्त्रिलिंग	
एकवचन	दीर्घ	ह्रस्व	दीर्घ	ह्रस्व
कर्ता	घोड़ा	घर्, घरु	नारी	बात्
तिर्यक	घोड़ा, घोड़े, घोड़ै	घर्, घरु	नारी	बात्
बहुवचन	घोड़ा, घोड़े, घोड़ै	घर्, घरु	नारी, नारियाँ	बातैं
कर्ता	घोड़े, घोड़ैं			
तिर्यक	घोड़ौं, घोड़ा,	घरौं, घरनि,	नारियौं	बातौं
	घोड़नि, घोड़न्	घरन्, घरनु	नारियनि,	बातनि,
			नरिन्	बातन्

अनुसर्ग—

कर्तृ—नें, नैं

कर्म-सम्प्रदान—कुँ, कूँ, कौं, कैं, कें।

करण-अपादान—सों, सूँ, तें, ते।

सम्बन्ध—कौ; तिर्यक (पुल्लिंग) के (स्त्रिलिंग) की।

अधिकरण—में, मैं, पै, लौं।

विशेषण, प्रायः खड़ीबोली की भाँति ही होते हैं; किन्तु दीर्घ-पुंल्लिंग आकारान्त शब्द, यहाँ औकारान्त हो जाते हैं। इनके तिर्यक-रूप एकवचन के रूप 'ए' अथवा 'ऐ' और पुंल्लिंग-बहुवचन के रूप—'ए'—'एँ' 'ऐ' या—'ऐं' प्रत्यान्त होते हैं।

सर्वनाम

एकवचन	मैं	तू	वह (पु० वा०) वह (संकेत वा०)	यह	कौन	वह (संकेत वा०)	कौन (प्र० वा०)	क्या (प्रा०वा०)
कर्ता	मैं, हौं, हों	तू, तैं, तैं	वो, वह, वुह	यह, यिह	जौ, जौन	सो, तौन	को, कौ, कौन	कहा, का
तिर्यक	मो मुज मोहि, मुहि	तो, तुज तोहि,तुहि	विस, वा वाहि	इस, या, याहि	जिस, जा जाहि	तिस, ता ताहि	किस, का, काहि	 काहे
कर्म-संप्रदान	मोहि मुहि मोए, मोय, मोइ, मो	तोहि, तुहि, तोए, तोय, तोइ, तो	वाहि, वाए, वाय, विसे	याहि याए, याय, इसे	जाहि, जाए जाय, जिसे	ताहि ताए, ताय, तिसे	काहि, काए, काय, किसे	...
सम्बन्ध	मेरौ, मेर्यौ	तेरौ तेर्यौ	...	...	जासु	तासु	...	...
बहुवचन कर्ता	हम	तुम	वे, वै	ये, यै	जौ	सो, ते,	को, कौ,	...
तिर्यक	हम हमों हमनि,हमन	तुम, तुम्हों	उनि, उन उन्हों,विनि, विन विन्हों	इनि, इन इन्हों	जिनि, जिन जिन्हों	तिनि, तिन् तिन्हों	किनि, किन् किन्हों	 ...
कर्म-संप्रदान	हमैं	तुम्हैं	उन्हैं, विन्हैं	इन्हैं, इहैं	जिन्हैं	तिन्हैं	किन्हैं	...
सम्बन्ध	हमारौ हमार्यौ	तुम्हारौ तुम्हार्यौ तिहारौ तिहार्यौ	...	...	...	...	...	...

उपर्युक्त (प्रमुख रूप से उत्तम तथा मध्यमपुरुष) बहुवचन के रूपों का प्रयोग प्रायः एक वचन में भी होता है। इसीप्रकार इधर 'व' के स्थान पर 'ब' तथा 'य' के स्थान पर 'ज' का प्रयोग भी चलता है।

क्रिया-रूप-(क) सहायक-क्रिया

वर्तमान—'मैं हूँ'।		भूत—'मैं था।'
एक वचन	बहुवचन	एक वचन पुँल्लिग-हो, हो।
१. हौं	हैं।	,, ,, स्त्रीलिंग-ही।
२. है	हौ।	बहुवचन पुल्लिग-हे हैं।
३. है	हैं।	,, ,, स्त्रीलिंग-हीं।

भूतकाल में कनौजी की भाँति हुतौ, हुती, हुते और हुतीं आदि, रूप भी मिलते हैं। इनमें पुरुष की दृष्टि से कोई परिवर्तन नहीं होता।

(ख) कर्तृवाचक-क्रियापद—क्रिया-बोधकसंज्ञा (Infinitive) मारन्, मारनौ या मारनौं।

तिर्यक-मारने या मारनैं; या मारिबौ या मारिबौं; मारिबे या मारिबैं (हिं० मारना) के स्थान पर प्रायः मारिबौ होता है।

वर्तमान-क्रियाबोधक-विशेषण (Present Participle) मारतु; मारत (हिं० मारते हुए)

अतीत-क्रियाबोधक-विशेषण (Past Participle) मार्यौ (हिं०मारा हुआ)

असमापिका-क्रिया (Conjunctive Participle) मारि, मारि कैं, मारि करि (हिं० मार करके)। इन सभी शब्दों की अन्त-'इ' का कभी-कभी लोप हो जाता है और कभी-कभी 'कैं' के स्थान पर 'के' हो जाता है। किन्तु 'कै' एवं 'की' इसके अपवाद हैं।

वर्तमानकाल या सम्भाव्य-वर्तमान 'मैं मारता हूँ' या 'मार सकता हूँ'		भविष्यत् (मैं मारूँगा)।	
एक वचन	बहु वचन	एक वचन	बहु वचन
१. मारौं, मारूँ	मारैं, मारहिं	मारिहौं, मारैहौं मारौंगौ, मारूँगौ	मारिहैं, मारैहैं, मारैंगौ
२. मारै, मारहि	मारौ, मारहु	मारिहै, मारैहै मारैगौ	मारिहौ, मारैहौ, मारौगै।
३. मारै, मारहि	मारैं, मारहिं	मारिहै, मारैहै, मारैगो	मारिहैं, मारैहौं, मारैंगै।

आज्ञार्थक (Imperative), मार, मारहि, मारि, (तू मार)।

मारौ (तुम मारो) ; मारिश्रो, मारियै, मारिजै (कृपया मारें); अन्य काल, साहित्यक-हिन्दी की भाँति ही होते हैं ।

(ग) अनियमित क्रियापद (Irregular verbs) होनौं (होना) ।

(१) क्रियाबोधक-संज्ञा (Infinitive) होनौं या ह्वैबौं ।

(२) अतीत-क्रिया-बोधक-विशेषण (Past Participle) भयौ, (पुंल्लिग, तिर्यक—भये या भए ; स्त्रीलिंग, भयी या भई)

(३) असमापिका-क्रियापद (Conjunctive Participle) ह्वै, ह्वै-कै आदि ।

(४) वर्तमान—होऊँ आदि ।

(५) भविष्यत् :—ह्वै-हौं, होइहौं, होउँगो आदि । शेष रूप नियमानुकूल ही चलते हैं, केवल मध्यमपुरुष, बहुवचन, भविष्यत् का रूप हौंगे और अतीत-क्रियाबोधक-विशेषण का रूप (Past Participle) हूत होगा ।

देनौं (देना)

(१) क्रियाबोधक-संज्ञा (Infinitive) देनौं या दैबौं ।

(२) अतीत-क्रियाबोधक-विशेषण (Past Participle) दियौ या दयौ (पुंल्लिग, तिर्यक, दये, दए ; स्त्रीलिंग, दयी, दई); या दीन्हौ अथवा दीनौं ।

(३) वर्तमान—देऊँ आदि ।

(४) भविष्यत्—देहौं, दैऊँगो आदि ।

लेनौं (लेना) देना की तरह ही होता है ।

ठाननौं (ठानना)—

(१) अतीत-क्रियाबोधक-विशेषण (Past Participle) ठयौ (पुल्लिग, तिर्यक, ठये, ठए ; स्त्री० लि० ठयी, ठई) ।

करनौं (करना)—

(१) क्रियाबोधक-संज्ञा (Infinitive) वैकल्पिक रूप में कीनौं ।

(२) अतीत-क्रियाबोधक-विशेषण (Past Participle) कर्यौ, कियौ, कीन्हौ, कीनौ ।

(३) असमापिका-क्रियापद (Conjunctive Participle) कै—कै या किर—कै ।

(४) भविष्यत्—करिहौं या कैहौं ।

जानौं (जाना)—

(१) अतीत-क्रियाबोधक-विशेषण (Past Participle) गयौ (पुल्लिंग तिर्यक, गये या गए स्त्री० लि०, गयी या गई) ।

(घ) कर्मवाच्य—यह प्रायः खड़ीबोली की भाँति ही जानौं के साथ अतीत-क्रियाबोधक-विशेषण (Past Participle) का संयोग करके बनाया जाता है । कभी-कभी धातु में 'इयै' लगाकर भी कर्मवाच्य बनाया जाता है । यथा, मारियै (वह मारा जा रहा है) ।

(ङ) निश्चित-वर्तमान (Definite Present) का द्योतन करने के लिए कभी-कभी ब्रजभाखा, राजस्थानी के नियमों का अनुसरण करती है । ऐसे स्थानों पर सामान्य-वर्तमानकाल के साथ वर्तमानक्रियाबोधक-विशेषण (Present Participle) के स्थान पर पूर्वक्रिया का प्रयोग होता है । इस तरह मारतु हौ आदि के स्थान पर निम्नलिखित रूप होते हैं :—

	एक बचन	बहु बचन
१	माराँ-हौं	मारैं-हैं
२	मारै-है	मारौ-हौ
३	मारै-है	मारैं-हैं ।

(च) णिजन्त—यह क्रिया के रूपों में—आव प्रत्यय संयुक्त करके बनाया जाता है, किन्तु दोहरे णिजन्त के प्रयोग में वाव् या 'वा' लगता है । इस तरह चलनौं के लिए चलावनौं तथा दोहरे णिजन्त के रूप में चलवावनौं या चलवानौं होगा । कभी-कभी 'आव' का ह्रस्व 'व' हो जाता है । इस तरह पुजावै या पुजवै रूप होते हैं । अतीतक्रियाबोधकविशेषण (Past Participle) में, अन्तिम 'व' प्रायः लुप्त हो जाता है । जैसे बुलायौ, बुलवयौ नहीं ।

कनौजी

कनौजी का नामकरण कनौज-नगर के नाम पर हुआ है । यह नगर गंगा के तट पर फर्रुखाबाद ज़िले में आज भी वर्तमान है । कनौज शब्द वस्तुतः कान्यकुब्ज का विकसित-रूप है । प्राचीनकाल में यह अत्यन्त प्रसिद्ध एवं समृद्ध नगर था । रामायण में भी इसका उल्लेख मिलता है तथा अरब-इतिहास-लेखकों ने भी इसकी चर्चा की है । पाँचवीं शती ईस्वी के मध्यभाग में इसे राठौर राजपूतों ने हस्तगत किया । इसका अन्तिम-राजा जयचन्द्र था, जिसे ११९३-

९४ में महमूद गोरी ने युद्ध में परास्त कर कनौज नगर एवं प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया। प्राचीनयुग में कान्यकुब्ज-प्रदेश की इतनी अधिक प्रतिष्ठा बढ़ी कि ब्राह्मणेतर-जातियों ने भी इसे अपने नाम के साथ संयुक्त करने में अपना गौरव माना। कनौजी से वस्तुतः इस कनौज-प्रदेश की भाषा से ही तात्पर्य है।

क्षेत्र—आजकल शुद्ध-कनौजी, दोआबे के, इटावा, फर्रुखाबाद एवं गंगा के उत्तर, शाहजहाँपुर ज़िले में बोली जाती है। यह कानपुर तथा हर्दोई ज़िलों में भी बोली जाती है, किन्तु हर्दोई में पूर्वी-हिन्दी की उपभाषा, अवधी से इसका सम्मिश्रण होने लगता है। इसीप्रकार कानपुर की कनौजी पर अवधी के अतिरिक्त बुन्देली का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। शाहजहाँपुर के उत्तर में स्थित, पीलीभीत की बोली भी, कनौजी ही है, परन्तु इधर ब्रजभाखा का सम्मिश्रण प्रारम्भ हो जाता है।

भाषागत-सीमायें—कनौजी के पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम में ब्रजभाखा तथा दक्षिण में बुन्देली का क्षेत्र है। कनौजी की भाँति ही, दोनों, वस्तुतः पश्चिमी-हिन्दी की ही विभाषाएँ हैं।

विभिन्न-बोलियां—कनौजी का क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं है और सीमाओं पर यह पड़ोस की बोलियों से पर्याप्तरूप में प्रभावित है। कनौजी में भिन्नताएँ कम ही हैं। इसकी एक उल्लेखनीय-विशेषता यह है कि गंगा के उत्तर तथा कानपुर की कनौजी में व्यञ्जनान्त-पदों से एक लघु 'इ' संयुक्त कर दी जाती है। यथा-देत् के लिए देति तथा बाद् के लिए बादि। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कानपुर तथा हर्दोई की कनौजी में, पड़ोस की अन्य-बोलियों का सम्मिश्रण हो गया है। हर्दोई के पूर्वी-भाग (मुख्यतया, संडीला तहसील) की भाषा में तो इतना अधिक सम्मिश्रण है कि यह निर्णय करना कठिन है कि यहाँ की भाषा कनौजी है अथवा ब्रज। ठीक यही दशा कानपुर ज़िले तथा हमीरपुर के सामने यमुना किनारे की बोली की भी है। इस पर बुँदेली का अत्यधिक-प्रभाव है और इसे तिरहारी बोली कहा जाता है। यमुना के दक्षिणी-किनारे की बोली भी तिरहारी ही कहलाती है। इसके सम्बन्ध में अवधी के अन्तर्गत आगे लिखा जायेगा। कनौजी-भाषा-भाषियों की संख्या ४५ लाख के लगभग है।

कनौजी का व्याकरण तथा ब्रजभाखा से उसका सम्बन्ध—कनौजी तथा ब्रजभाखा में इतना अधिक साम्य है कि इसे वस्तुतः अलग भाषा मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। इसमें ब्रजभाखा का—औ प्रत्यय—ओ

हो जाता है, किन्तु ब्रजभाखा की विभाषाओं में भी यह ओ मौजूद है। इसके अतिरिक्त कनौजी तथा ब्रजभाखा, दोनों, में हिन्दीव्यञ्जनान्त-पदों के अन्त में 'उ' प्रत्यय संयुक्त होता है।

कनौजी में दो स्वरों के बीच के 'ह' का लोप हो जाता है। यथा—कहिहौं>कैहौं। हिन्दी के आकारान्त पुल्लिङ्ग, तद्भव विशेषणपद, कनौजी में ओकारान्त हो जाते हैं। यथा—छोटा> छोटो। कनौजी आकारान्त पद, कभी-कभी तिर्यक में भी एकारान्त में नहीं परिणत होते। लरिका, लरिका को (लरिके-को नहीं)।

हिन्दी के ह्रस्व-व्यञ्जनान्त-तद्भवशब्द, विकल्प से कनौजी में उकारान्त हो जाते हैं। यथा—हिन्दी घर>कनौजी, घर अथवा घरु। यह 'उ' प्रत्यय विकल्प से तिर्यक-रूपों में भी सुरक्षित रहता है। यथा—घर्—को अथवा घरु को।

हिन्दी के संकेत अथवा उल्लेख-वाचक-सर्वनाम वह तथा यह बुँदेली में वो तथा जो हो जाते हैं। कनौजी में इन दोनों के रूपों का सम्मिश्रण मिलता है। इसमें वह के लिए वह तथा वौ एवं यह के लिए यहु तथा जौ रूप मिलते हैं।

कनौजी में, अतीतकाल, अन्यपुरुष की क्रिया का, एक विचित्र-रूप में, भावे प्रयोग होता है। यथा—लरिका-ने चलो गओ (लड़का गया = लड़के के द्वारा चला गया)। आदर्श-हिंदी में इसप्रकार का प्रयोग चिन्त्य माना जाता है। निम्नलिखित-उदाहरणों में, 'कहना तथा पूछना' क्रियायें अतीत-काल (स्त्री-लिङ्ग) में प्रयुक्त हुई हैं। इनका अन्वय वस्तुतः कर्मपद 'बात' से हुआ है जो यहाँ लुप्त है; यथा—उसने कही (= उसने (बात) कही); उसने पूछी (= उसने (बात) पूछी।

बुँदेली की भाँति ही कनौजी में भी देना, लेना, तथा जाना के अतीतकाल के रूप, दओ, लओ तथा गओ होते हैं। इसीप्रकार सहायक-क्रिया के अतीत के रूप रहों, हतो अथवा थो होते हैं। बुँदेली में ये रहों हतो अथवा तो तथा ब्रजभाषा में ये रहों, हुतौ अथवा हो हो जाते हैं।

आगे कनौजी का संक्षिप्त-व्याकरण दिया जाता है। कनौजी में साहित्य का अभाव है और इस क्षेत्र के कवियों ने साहित्य-रचना में ब्रजभाखा को ही अपनाया है।

कनौजी का संक्षिप्त-व्याकरण

(क) शब्द-रूप —

	पुल्लिंग		स्त्रीलिंग	
एक वचन	दीर्घ	ह्रस्व	दीर्घ	ह्रस्व
कर्त्ता	घोड़ा	घर् या घरु	नारी	बात्
तिर्यक	घोड़ा, घोड़े	घर् या घरु	नारी	बात्
बहुवचन कर्त्ता	घोड़ा, घोड़े	घर, घरु	नारीं	बातें
तिर्यक	घोड़न्	घरन् घरुन् घरनु	नारिन्	बातन

अनुसर्ग—कर्तृ-ने

कर्म-सम्प्रदान-को, काँ।

करण-अपादान-से, सेती, सन् , तें, ते, करि, कर-के।

सम्बन्ध-को (तिर्यक,-के) स्त्री० लि० की।

अधिकरण-में, मैं, माँ, मों, पर, लौं।

कभी-कभी संज्ञा या सर्वनाम के बहुवचन के रूपों में हार या हारु का प्रयोग होता है। इसमें तिर्यक बहुवचन के रूप कभी-कभी एकवचन में भी प्रयुक्त होते हैं; यथा—जादा दामन को (अधिक कीमती) आदि। कभी-कभी करणकारक एकवचन में ओं या अन और अधिकरण में 'ए' का प्रयोग भी होता है। यथा—

करण—भूखों या भूखन् (भूख से)।

अधिकरण—घरे (घर में)।

कनौजी के विशेषण, खड़ीबोली के समान ही होते हैं, केवल पुल्लिंग के दीर्घ-रूपों का अन्त 'आकारान्त' के स्थान पर 'ओकारान्त' से होता है।

सर्वनाम

एकवचन	मैं	तुम	वह	यह	कौन	वह	कौन	क्या	कोई
			(पु० सं०धा०)			(सं० वा०)	(प्र० वा०)	(प्र० वा०)	
कर्त्ता	मैं	तू	वहु, वुहि उहि	यहु, यिहु, इहु	जौन, जौनु	तौन, तौनु	कौन, कौनु	कहा, का	कोऊ, कोई
			वो, वहु	ये, जै, जहु	जौ	सो	को		कौनो
तिर्यक	मो	तो	उहि, वहि, वा	इहि, या	जेहि, जा	तेहि, ता	केहि, का	काहे	कौनो कसू
कर्म सम्प्र०	मोहि	तोहि	उसे, उसै	इसे, इसै	जिसे, जिसै	तिसे, तिसै	किसे, किसै	...	...
सम्बन्ध	मेरो	तेरो	...	...	...	...	...	...	...
बहुवचन									
कर्त्ता	हम	तुम	वे, वै, वे,	जे, जै	जौन, जो	सो	को	...	...
तिर्यक	हम,	तुम	उन, उन्हों	इन, इन्हों	जिन, जिन्हों	तिन तिन्हों	किन	...	...
कर्म सम्प्र०	हमें,	तुम्हें	उन्हें, उन्हैं	इन्हें, इन्हैं	जिन्हें	तिन्हें तिन्हैं	किन्हें	...	...
	हमैं	तुम्हैं			जिन्हैं		किन्हैं	...	...
सम्बन्ध	हमारो	तुम्हारो	...	...	...	...		...	...

बहुवचन के किसी भी रूप में बहुवचन-सूचक हार या हारु का प्रयोग किया जा सकता है, जैसे—हम-हार (हमलोग)।

'कुछ' के लिए 'कछु' या 'कुछु' का प्रयोग होता है।

पुरुषवाचक, बहुवचन, सर्वनामों का प्रयोग प्रायः एकवचन में भी होता है।

निजवाचक-सर्वनाम के लिए 'आप्' या 'आपु', सम्बन्ध, आपन् अपनु या अपनो का प्रयोग होता है।

(ख) क्रिया-रूप

(१) सहायक-क्रिया—एकवचन		बहुवचन
वर्तमान—मैं हूँ	१ हूँ	हैं, हैं—गे
	२ है, है—गो	हो, हो—गे
	३ है, है—गो,	हैं, हैं—गे
अतीत—मैं था—पु०	थो, हतो	थे, हते
स्त्री० लिं	थी, हती	थीं, हतीं

कभी-कभी रहों या रहीं का भी प्रयोग मिलता है

(२) कर्तृवाच्य-क्रिया—

क्रियाबोधक-संज्ञा (Infinitive)—मारन्, मारनु, मारनो या मारिबो (तिर्यक, मारिबे), (हिं० मारना)।

वर्तमान-क्रियाबोधक-विशेषण (Present Participle) मारत् या मारतु (मारते हुए)।

अतीत-क्रियाबोधक-विशेषण (Past Participle) मारो (मारा हुआ)।

असमापिका-क्रिया (Conjunctive Participle) मार-के या मारि-के (मार करके)।

(३) वर्तमानसूचक अथवा सम्भाव्य-वर्तमान—

	एकवचन	बहुवचन
मैं मारता हूँ।	१. मारों मारूँ	मारें
या मैं मार सकता हूँ।	२. मारे	मारो
	३. मारे	मारें।

(४) भविष्यत् 'मैं मारूँगा'—

	एकवचन	बहुवचन
	१. मारिहौं, मारिहों, मारेहूँ, मारोंगो	मारिहैं, मारेंगे
	२. मारिहै, मारेगो	मारिहो मारोंगे
	३. मारिहै, मारेगो	मारिहैं, मारेंगे

(५) आज्ञार्थ (विधि-क्रिया)—

	एकवचन	बहुवचन
	मार	मारो
(६) आदर (आदरार्थ)—	मारियो	मारिये

अन्य-कालों के रूप ब्रजभाखा की भाँति ही होते हैं, केवल पुल्लिंग में औ—प्रत्यय के स्थान पर—'ओ' हो जाता है।

(ग) अनियमित-क्रियापद (Irregular Verbs)--

१. होन् (होना)

२. अतीत क्रियाबोधक विशेषण (Past Participle) भयो या भओ। अन्य रूप ऐसे ही होते हैं।

देन (देना), लेन (लेना) (अतीत-क्रियाबोधक-विशेषण (Past Participle) दओ लओ।

इसीप्रकार जान (जाना) गओ या गयो

करन् (करना) मरन (मरना) से करो, मरो रूप बनते हैं।

इसमें कर्मवाच्य के रूप ब्रजभाषा की तरह ही बनते हैं। कनौजी में भी कभी-कभी राजस्थानी के वर्तमान रूपों को (ब्रजभाखा की तरह ही) प्रयुक्त किया जाता है।

बुन्देली अथवा बुन्देलखंडी

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, बुन्देली अथवा बुंदेलखंडी वस्तुतः बुंदेलखंड की भाषा है। बुन्देले राजपूतों की प्रधानता के कारण ही प्रदेश का नाम बुंदेलखंड तथा इसकी भाषा का नाम बुन्देली पड़ा। इंडिया गजेटियर के अनुसार बुंदेलखंड की सीमा, उत्तर में यमुना नदी, उत्तर तथा पश्चिम में चम्बल नदी, दक्षिण में मध्यप्रदेश के जबलपुर तथा सागर जिले तथा दक्षिण-पूरब में रीवाँ अथवा बघेलखंड एवं मिर्ज़ापुर के पर्वत हैं। किन्तु वास्तव में बुन्देली की भी यही सीमा नहीं है। उदाहरणस्वरूप बाँदा इस सीमा के अन्तर्गत है,

किन्तु यहाँ की बोली बुन्देली नहीं, अपितु पूर्वी-हिन्दी की बघेली है। इसके सम्बन्ध में पूर्वी-हिन्दी के अन्तर्गत लिखा जायेगा। इसके अतिरिक्त झाँसी कमिश्नरी के अन्य जिले-झाँसी, जालौन तथा हमीरपुर-बुन्देली भाषी-भाषा ही हैं।

चम्बल नदी वस्तुतः ग्वालियर की उत्तरी तथा पश्चिमी-सीमा निर्धारित करती है, किन्तु उत्तर में बुन्देली चम्बल नदी तक ही नहीं बोली जाती अपितु उसके पार, आगरे, मैनपुरी तथा इटावे के दक्षिण में भी बोली जाती है। पश्चिमी में यह चम्बल नदी तक नहीं बोली जाती क्योंकि पश्चिमी ग्वालिर में ब्रजभाखा तथा राजस्थानी की विभिन्न-उपभाषाएँ बोली जाती हैं। दक्षिण में, इसकी सीमा, बुंदेलखंड की सीमा से बहुत दूर तक आगे चली जाती है। इधर यह केवल सागर, दमोह, तथा भूपाल के पूर्वी-भाग में ही नहीं बोली जाती अपितु मध्यप्रदेश के नरसिंहपुर, हुशंगाबाद तथा सिवनी तक पहुँच जाती है। बालाघाट के लोधी तथा छिन्नवाड़ा के मध्यभाग की जनता भी एकप्रकार की मिश्रित-बुन्देली बोली, बोलती है। इसीप्रकार नागपुर के मैदान की भाषा यद्यपि मराठी है, तथापि यहाँ भी मिश्रित-बुन्देली बोलनेवाली अनेक जातियाँ बस गई हैं। बुन्देली-भाषा-भाषियों की संख्या लगभग ७० लाख है।

भाषागत-सीमा—बुन्देली के पूरब में, पूर्वी-हिंदी की बघेली बोली का क्षेत्र है, उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में, पश्चिमी-हिंदी की कनौजी तथा ब्रजभाखा एवं यमुना नदी के दक्षिणी-किनारे पर स्थित हमीरपुर की तिरहारी बोली, बोली जाती है। इसके दक्षिण में मराठी तथा दक्षिण-पश्चिम में राजस्थान की विभिन्न-बोलियों का क्षेत्र है। इनमें मालवी मुख्य है।

बुन्देली की विभिन्न-बोलियाँ—बुन्देली में भाषागत विशेषताएँ बहुत कम हैं। इसके अपने क्षेत्र में प्रायः एकप्रकार की भाषा प्रचलित है। इसके बोलनेवालों के अनुसार इसकी दो या तीन उपशाखाएँ भी हैं, किन्तु उनमें केवल कतिपय स्थानीय-विचित्रताओं के अतिरिक्त अन्य कोई विशेषता नहीं है। इसके उत्तर में अन्य-बोलियों के कुछ रूप अवश्य आ जाते हैं और इसीप्रकार इसके दक्षिण की बोली भी मिश्रित है। आदर्श-बुन्देली भाषा-भाषियों के अनुसार इसकी उपभाषाओं के अन्तर्गत पँवारी, लोधान्ती अथवा राठौरी एवं खटोला बोलियों का समावेश है। पँवारी-बोली ग्वालियर की उत्तर-पूरब दतिया तथा उसके पड़ोस में बोली जाती है। इधर पँवार राजपूतों की प्रधानता है। लोधान्ती अथवा राठौरी बोली हमीरपुर के राठ परगने तथा जालौन

के पड़ोस में बोली जाती है, क्योंकि इधर लोधी लोगों की आबादी अधिक है। हमीरपुर के मध्य में तथा राठ परगना से सटे हुए चरखारी के बावन चौरासी परगना, सरिला तथा जिगनी आदि स्थान पड़ते हैं। पहले यह क्षेत्र बुन्देलखंड एजेन्सी के अन्तर्गत था। इधर भी लोधान्ती अथवा राठौरी ही बोली जाती है। बुन्देली की खटोला बोली बुन्देलखण्ड एजेन्सी के दक्षिण-पूरब तथा उसके पड़ोस में बोली जाती है। यही बोली मध्य-प्रदेश के दमोह ज़िले में प्रचलित है।

मिश्रित-बोलियों में पूरब की बनाफरी, कुंड्री तथा निभट्टा हैं, जो क्रमशः पूरब की पूरबी-हिन्दी में तथा पश्चिम में ब्रजभाषा की भदावरी में अन्तर्भुक्त हो जाती हैं। इनमें बनाफरी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह हमीरपुर के दक्षिणपूर्व तथा बुन्देलखण्ड-एजेन्सी के पूर्व में बोली जाती है। इधर बनाफर राजपूत प्रबल हैं, जिनकी गाथा आल्हखण्ड में सर्वत्र उत्तरी-भारत में प्रचलित है। बनाफरी में स्थानीय-भेद अत्यधिक हैं। हमीरपुर के पास तो इसमें बघेली का अत्यधिक सम्मिश्रण हो जाता है। कुंड्री बोली हमीरपुर तथा बाँदा को पृथक करने वाली केन नदी के दोनों तटों पर बोली जाती है। बाँदा की ओर की कुंड्री में तो बघेली का अधिक सम्मिश्रण हो जाता है। इसीप्रकार हमीरपुर की कुंड्री भी मिश्रित बोली है, किन्तु इसमें बुंदेली की ही प्रधानता है। हमीरपुर के उत्तरी छोर पर, यमुना के दक्षिणी तट पर, एक पतली पट्टी चली गई है, जहाँ पर बघेली मिश्रित तिरहारी बोली बोली जाती है। यह तिरहारी जालौन ज़िले तक चली जाती है जहाँ वह आदर्श-बुन्देली में अन्तर्भुक्त हो जाती है; किन्तु इन दोनों के बीच की भाषा निभट्टा कहलाती है। भदावरी अथवा तोवँरगढ़ी वस्तुतः भदावर तथा तोवँरगढ़ इलाकों की बोली है। ये इलाके चम्बल नदी के किनारे उस स्थल पर स्थित हैं जहाँ चम्बल नदी ग्वालियर-राज को इटावा तथा आगरे से पृथक करती है। चम्बल नदी के उत्तर में इटावा के निकट ही आगरा तथा मैनपुरी भी बुंदेली का क्षेत्र है। ग्वालियर नगर में भी यही प्रचलित है, किन्तु उसके पश्चिम तथा पूरब में ब्रज तथा राजस्थानी-बोलियों का क्षेत्र है। आदर्श-बुन्देली, जालौन, हमीरपुर, झाँसी, सागर, ग्वालियर, भूपाल, सिवनी, नरसिंहपुर, होशंगाबाद, ओरछा तथा दतिया आदि में बोली जाती है। बुन्देली भाषा-भाषी पँवारी, लोधान्ती अथवा खटोला को आदर्श-बुन्देली के अन्तर्गत नहीं मानते।

दक्षिण की लोधी, कोष्टी, कुम्भारी तथा नागपुरी बोलियाँ वस्तुतः मराठी और बुन्देली का सम्मिश्रण हैं। इनके बोलनेवाले कभी एक वाक्य एक

बोली का तथा दूसरा वाक्य दूसरी बोली का बोलते हैं। लोधी बोली बालाघाट में स्थित लोधी लोग बोलते हैं और कोष्टी के बोलनेवाले छिन्दवाड़ा, चाँदा तथा भण्डारा के कोष्टी लोग हैं। इसीप्रकार छिन्दवाड़ा तथा बुल्डाना के कुम्भार लोग कुम्भरी बोली बोलते हैं। नागपुरी हिन्दी नागपुर-ज़िले में बोली जाती है।

बुन्देली में अधिक साहित्य नहीं है। आल्हखण्ड मूलतः बुन्देली में लिखा गया होगा, किन्तु इसका वर्तमानरूप फर्रुखाबाद के कलक्टर ने आज से चालीस वर्ष पूर्व अल्हैतों से गवाकर तैयार कराया था, जिसमें विभिन्न-बोलियों का समावेश हो गया। केशव-कृत 'रामचन्द्रिका' में भी यत्र-तत्र बुंदेली शब्द मिलते हैं; किन्तु लाल-कृत छत्र-प्रकाश, की भाषा अधिकांशरूप में बुंदेली है।

आगे बुंदेली का संक्षिप्त-कोष एवं व्याकरण दिया जाता है।

बुन्देली का शब्दकोष

बुन्देली में अनेक ऐसे शब्द प्रचलित हैं, जिनका हिन्दी में व्यवहार नहीं होता। कतिपय ऐसे शब्द नीचे दिये जाते हैं—

बाबा, बड़े बाबा = पितामह

दाई = पितामही

दादा, भाऊ, भैया, बापू = पिता

दीदी, अइया, माई = माता

दादू = चाचा

ककिही = चाची (दादू की पत्नी)

भैया, दाऊ, दादा, नाना = बड़े भाई

भौजी, भउजी = बड़े भाई की पत्नी, भाभी

लहुरी, गुदुई = छोटे भाई की पत्नी

दुलहिन, लुगाई, मेहरिया
बसहा, जुरूआ, गोटानो } पत्नी

दीदी = बहन

बिटिया, बुईया, छौनो = पुत्री

लाला, दाऊ, छौना, बूआ = पुत्र

फुवा, बुवा = मौसी

जीजा = बहन का पति

पाहुन, नात = दामाद
सार सारो = साला, पत्नी का भाई
सहो, राउत, महतौं = श्वसुर
भानिज, भैनें = बहन का पुत्र
गरै, लोटिया = लोटा
गेंडुवा, झारी, करोरा = टोंटीदार लोटा
थरिया, थार, टाठी = थाली
बटुवा = बटुवा, बटलोही
खोरा, खोरवा, खोरिया, बेलिया = कटोरा
कोपरी = परात
चम्बू = पीतल का कटोरा
कलसा = पीतल का घड़ा
तमेहरा = तांबे का घड़ा
करहिया = कड़ाही
गंगल = मिट्टी का घड़ा
पनडब्बा = पान का डब्बा
सनसी = सँड़सी

व्याकरण

उच्चारण—जब ए तथा ओ ह्रस्व-रूप में उच्चरित होते हैं तो वे क्रमशः 'इ' तथा 'उ' में परिणत हो जाते हैं; यथा—बेटो>बिटिया; घोरो>घुरवा (बेटिया एवं घोरवा नहीं); इसीप्रकार ऐ तथा औ क्रमशः 'ए' तथा 'ओ' में परिणत हो जाते हैं ; यथा—कैहों>केहों; जैहै>जेहै और>ओर। 'अ' के स्थान पर बुन्देली में कभी-कभी 'इ' भी व्यवहृत होता है ; यथा—बरोबर (हिन्दी, बराबर)>बिरोबर।

व्यंजनों में ड़ का उच्चारण 'र' में परिणत हो जाता है ; यथा—पड़ो>परो; दौड़-कै>दौरे-कै; घुडवा>घुरवा; हकीगत<हकीकत में क>ग। स्वर-मध्यग 'ह' प्रायः लुप्त हो जाता है ; यथा, कह्यो>कयो, कै; रहन (हि० रहना)>रन; कहावे-के लाइक>कआवे के लाक; पहिरा देओ>पैरा देओ। जब 'आ' के बाद 'ह' आता है तो उसके बाद का 'अ' 'उ' में परिणत हो जाता है ; यथा, चाहत>चाउत; रहि-के>रे-के; रहतों-हैं>

रती-हैं; रहा था>रओ-तो; बहुत>भउत। आदि-स्थित 'य', 'ज' में तथा 'व', 'ब' में परिणत हो जाता है ; यथा, यह>जो,वह>बो।

शब्द-रूप

बुन्देली में, संज्ञा के गुरु अथवा दीर्घान्त-रूपों का प्रयोग प्रायः होता है। ऐसे पुल्लिङ्ग-शब्दों के अन्त में वा तथा स्त्रीलिङ्ग के अन्त में—आ आता है ; यथा-घोरो, घुरवा, घोड़ा; बेटी, बिटिया। कभी-कभी संज्ञा के अतिरिक्त अथवा अनावश्यक-रूप भी व्यवहृत होते हैं। ऐसे पद-अइवा प्रत्ययान्त होते हैं ; यथा, बिलइवा, बिल्ली; चिरइवा, चिड़िया।

हिंदी के पुल्लिङ्ग आकारान्त-शब्द बुन्देली में ओकारान्त हो जाते हैं; यथा—हिं० घोडा>बुन्देली, घोरो। इसके कतिपय अपवाद भी उपलब्ध हैं—यथा-दद्दा (हिं० दादा); मोड़ा, लड़का; कक्का (हिं० काका)। इसीप्रकार दीर्घान्त-रूप भी आकारान्त होते हैं ; यथा-घुरवा।

हिंदी में जहाँ स्त्री-प्रत्यय के रूप में इन प्रत्यय व्यवहृत होता है, वहाँ बुन्देली में 'नी' हो जाता है ; यथा-हिं० तेलिन>बु०, तेलनी, हुरकिनी, वेश्या।

हिंदी की भाँति ही बुन्देली-संज्ञाओं के रूप भी बनते हैं। ओकारान्त, पुल्लिङ्ग, तद्भव-शब्दों के रूप, तिर्यक एकवचन तथा कर्ता बहुवचन में, ए संयुक्त करने से सम्पन्न होते हैं। इसीप्रकार तिर्यक, बहुवचन के रूप में 'अन्' प्रत्यय लगता है। नीचे बुन्देली घोरो शब्द के रूप दिए जाते हैं।

	ए० व०	ब० व०
कर्ता	घोरो	घोरे
तिर्यक	घोरे	घोरन्

अन्य-पुल्लिङ्ग-संज्ञापद, एकवचन तथा कर्ता, बहुवचन में, अपरिवर्तित रहते हैं; किन्तु तिर्यक बहुवचन में ये 'अन्' प्रत्यय संयुक्त करते हैं। सामान्य नियम यही है, परन्तु कभी-कभी आकारान्त संज्ञापदों के कर्ता बहुवचन के रूप आँ अथवा अन् संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं। यथा-हिन्ना कर्ता, ब० व० हिन्नाँ (हिरणों), कुत्ता कर्ता तथा तिर्यक बहुवचन कुतन्। -इयाँ तथा स्त्रीलिंग शब्दों के रूप कर्ता बहुवचन में–इयाँ तथा तिर्यक बहुवचन में– इयन् संयुक्त करने से सम्पन्न होते हैं , अन्य स्त्रीलिंग, संज्ञापदों के कर्ता के बहुवचन के रूप–एँ, किन्तु यदि वे इकारान्त हैं तो ईं तथा तिर्यक बहुवचन के रूप अन् या इन् संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं। इनके उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

एकवचन		बहुवचन	
कर्ता	तिर्यक	कर्ता	तिर्यक
लोरो (छोटा)	लोरे	लोरे	लोरन्
ददा (पिता)	ददा	ददा	ददन
कु-करम् (कुकर्म)	कुकरम्	कुकरम्	कुकरमन
चाकर (नौकर)	चाकर्	चाकर्	चाकरन्
साँड्	साँड्	साँड्न्	साँड्न्
रहाइया (रहने वाला)	रहाइया	रहाइया	रहाइयन्
नुगरिआ (उँगली)	नुगरिआ	नुगरिआँ	नुगरिअन
हुरकिनी (वेश्या)	हुरकिनी	हुरकिनीं	हुरकिनिन्
गतकी (धौल, धमाका)	गतकी	गतिकीं	गतकिन्

कभी-कभी हिन्दी के साधारण प्रयोग भी इसमें मिलते हैं ; यथा-बातें हेत्तिओं के संग मित्रों के साथ, पावों में, पैरों में आदि। इसीप्रकार घरे भूखन् के मारे आदि रूप भी उल्लेखनीय हैं।

बुन्देली में भी अन्य नव्यआर्यभाषाओं की भाँति ही अनुसर्गों की सहायता से विभिन्नकारक सम्पन्न होते हैं। ये अनुसर्ग इसप्रकार हैं :—

कर्तृ—ने, नें

कर्म-सम्प्रदान—कों, खों

अपादान—से, सें, सों

अधिकरण—मैं, में।

लै अथवा लाने (के लिए)।

सम्बन्ध को, तिर्यक पुं० लि, के; स्त्री० लि०, कर्ता तथा तिर्यक, की। सम्बन्ध-कारक के तिर्यक रूप कभी-कभी खों की सहायता से भी सम्पन्न होते हैं। यथा—ताखों पीछें, उसके पीछे।

सम्बन्ध-कारक की भाँति ही विशेषण के ओकारान्त तद्भव-रूपों में भी परिवर्तन होते हैं। पुल्लिंग-तिर्यक के रूप ए तथा इसके स्त्रीलिंग के कर्ता एवं तिर्यक के रूप—इ संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं। यथा—सबरो, 'सभी'; तिर्यक, पु० लिं० सबरे; स्त्री० लि० सबरी।

उत्तम तथा मध्यम-पुरुष सर्वनामों के रूप नीचे दिये जाते हैं—

	एकवचन		बहुवचन	
	उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष	उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष
कर्त्ता	मे, मैं, मैं	तूं, तैं	हम	तुम
कर्तृ	मैं-ने	तैं-ने	×	×
सम्बन्ध	मो-को, मेरो मोरो, मोनो	तो-को, तेरो तोरो, तोनो	हमको, हमारो हमाओ	तुम-को, तुमारो तुमाओ
तिर्यक	मोय, मोए, मो	तोय, तोए, तो	हम	तुम

"वह" (पुल्लिंग) के लिए बुन्देली में वो तथा ऊँ व्यवहृत होता है, किन्तु "वह" (स्त्री० लिं०) वा हो जाता है। दोनों के लिए तिर्यक एकवचन में, ऊ, ऊँ अथवा वा रूप मिलते हैं। कर्त्ता बहुवचन में वे तथा तिर्यक बहुवचन के रूप बिन तथा उन हो जाते हैं।

"यह" तथा "कौन" दोनों के लिए, बुन्देली में जो (स्त्री० लि० जा); तिर्यक एकवचन जा तथा कर्त्ता बहुवचन जे रूप हैं। "यह" के लिए यहाँ "ए" भी प्रयुक्त होता है। इसके तिर्यक बहुवचन का रूप 'इन्' हो जाता है।

हिन्दी 'आप' बुन्देली में इसीरूप में प्रयुक्त होता है, किन्तु सम्प्रदान में यह अपन-खों हो जाता है। 'अपना' का रूप यहाँ अपनो हो जाता है। सम्बन्ध-कारक के अन्य-सर्वनामों में नियमानुसार परिवर्तन होते हैं। यहाँ—मेरा = पुं० मेरो, स्त्री० लिं०, मेरी। इसीप्रकार अपनो, अपनी आदि। 'क्या' का रूप बुन्देली में का होता है। इसका तिर्यक-रूप काये होता है। 'कोई' के लिए बुन्देली में कोऊ तथा तिर्यक में काऊ रूप होते हैं। 'कुछ' यहाँ 'कछू' रूप धारण कर लेता है तथा 'कितने' के लिए इसमें कतेक, कितेक अथवा 'कै' रूप मिलते हैं।

क्रिया-रूप

(क) सहायक-क्रिया—

		एकवचन	बहुवचन
वर्तमान—'मैं हूँ'—	१.	हों, आऊँ या आँव	हैं-आँय
	२.	है, आय	हो, आव
	३.	है, आय	हैं, आंय

अतीत—मैं था :—

	एकवचन		बहुवचन	
	पुंल्लिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग	पुल्लिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग
१.	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं

२.	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं
३.	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं

भविष्यत्—"मैं हूँगा" —हुहौं या होऊँ-गो

सम्भाव्य—"यह हो सकता है"—हुए

हुआ—(पुं०) भओ; (स्त्री०) भये; (पु०, ब० व० भये),

"मैं नहीं हूँ"—नइयाँ।

वह नहीं है—नइया (इसीतरह दूसरे रूप भी होते हैं)।

(ख) कर्तृपदी-क्रियाएँ—"न होना चाहिए—" भएँना चहिए। मारना (१) वर्तमान, सम्भाव्य—"मैं मार सकता हूँ"—

	एकवचन	बहुवचन
	१. मारूँ	मारें
	२. मारे	मारो
	३. मारे	मारें
भविष्यत्-"मैं मारूँगा';—	१. मारिहौं	मारिहैं
	२. मारिहै	मारिहो
	३. मारिहै	मारिहैं

क्रियाबोधक-संज्ञा और क्रियावाचक-विशेष्यपद (Infinitive and Verbal noun)—

वर्तमान-क्रियाबोधक-विशेषण (Present Participle)—मारन् और मारबो (तिर्यक), मारबे, मारें, मारत।

अतीत-क्रियाबोधक-विशेषण—(Past participle) मारो।

नोट—भविष्यत्काल में प्रायः 'इ' के स्थान पर 'अ' हो जाता है। यथा—मरहौं भविष्यत्काल का दूसरा रूप, वर्तमान-संभावनार्थ के रूपों में गो जोड़कर भी बनाया जाता है तथा लिंग और वचन के अनुसार गो के स्वर का परिवर्तन भी हो जाता है। यथा—

	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
१	मारूँगो	मारूँगी	मारेंगे	मारेंगीं

इसीप्रकार मध्यम तथा अन्यपुरुष के रूप भी सम्पन्न होते हैं।

वर्तमान-निश्चयार्थ—"मैं मार रहा हूँ-मारत-हौं या मारताँव। मारताँव में तो सहायक क्रिया का लोप हो जाता है। इस तरह वर्तमान-क्रियाबोधक

(Present Participle) के रूपों का ही सभी पुरुषों और वचनों में प्रयोग होता है।

घटमान (Imperfect) मारत-हतो या मारत्तो इत्यादि (मैं मार रहा था)। सहायकिया में भी वचन, लिंग और पुरुष के अनुसार परिवर्तन हो जाते हैं। आज्ञा के रूप वर्तमान-संभावनार्थ की भाँति ही होते हैं, केवल मध्यम-पुरुष-एकवचन का रूप उससे भिन्न (मार) होता है।

सकर्मक-क्रियाओं के अतीतकाल के रूप बुँन्देली में भी हिन्दी की भाँति ही बनते हैं और कर्ताकारक के ने अनुसर्ग के साथ व्यवहृत होते हैं। यथा,मैं-ने मारो (मैंने मारा) और मैंने मारो-तो (मैंने मारा था)।

अपवाद-जिन क्रियाओं का मूलरूप आकारान्त होता है, उनके वर्तमान-क्रियाबोधक-विशेषण (Present Participle) के रूप प्रायः आत् लगाकर बनते हैं। यथा, जात (जाते हुए); किन्तु कुछ क्रियाओं के रूपों में 'उ' का आगम; यथा चाउत (चाहते हुए), आउत (आते हुए), हो जाता है। ऐसे ही राउत (रहते हुए) भी होता है। देन और लेन के रूप क्रमशः देत और लेत होते हैं।

करन (करना) क्रिया के अतीतकाल के रूप स्वाभाविक ढंग से चलते हैं; यथा करो। 'देन' का भूतकालिक-रूप दओ और 'लेन' का लओ और 'जान' का गओ होता है। किन्तु बहुवचन या स्त्रीलिंग में प्रयोग करते समय य का आगम हो जाता है। यथा दये दयी आदि। यह उल्लेखनीय है कि 'कन्' (कहना) क्रिया के अतीत-काल के रूपों का प्रयोग बात के अनुसार स्त्रीलिंग में ही होता है। यथा (उसने कही) कयी या 'कई'।

असमापिका-क्रिया (Conjunctive Participle) के रूपों का अन्त के से होता है; यथा—मार के (मार करके)।

कभी-कभी कर्ता के साथ 'ने' अनुसर्ग का प्रयोग एक विचित्र-ढंग से होता है। यथा—बाने-बैठो (वह बैठा) बस्ने लगी (उसने आरम्भ किया)।

बा ने चाउत-तो (वह चाहता था) में भी ने के प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि वर्तमान-क्रियाबोधक-विशेषण (Present Participle) के साथ भी ने का प्रयोग मिलता है।

पूर्वी-हिन्दी

पश्चिमी-हिन्दी तथा बिहारी के बीच में पूर्वी-हिन्दी का क्षेत्र है। अपनी

स्थिति के कारण वास्तव में यह मध्य की बोली है। पूर्वी-हिन्दी बोलियों का समूह है, यद्यपि इसकी एक बोली अवधी में विपुल-साहित्य है।

भौगोलिक-सीमा—पूर्वी-हिन्दी के अन्तर्गत अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी, इन तीन बोलियों का समावेश है। ये पाँच प्रान्तों-उत्तरप्रदेश, बघेलखंड, बुंदेलखंड, छोटा नागपुर तथा मध्यप्रदेश में फैली हुई हैं। हरदोई तथा फैज़ाबाद के कुछ भाग को छोड़कर समस्त अवध, पूर्वी-हिन्दी के अन्तर्गत है। उत्तरप्रदेश में बनारस तथा बुंदेलखंड में स्थित हमीरपुर के कुछ क्षेत्र में भी इसका प्रसार है। समस्त बघेलखंड, बुंदेलखंड के उत्तर-पश्चिम, मिर्ज़ापुर ज़िले में, सोन नदी के दक्षिण के कुछ भाग, चन्द्रभकार सरगुजा, कोरिया, जशपुर के कुछ भाग तथा छोटा नागपुर में भी पूर्वी-हिन्दी बोली जाती है। मध्यप्रदेश के जबलपुर, मण्डला तथा छत्तीसगढ़ के ज़िले भी पूर्वी-हिन्दी की भौगोलिक-सीमा के अन्तर्गत आते हैं।

बोलियाँ—पूर्वी-हिन्दी की तीनों बोलियों, अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी में पूर्ण समता है। वास्तव में बघेली और अवधी में बहुत कम अन्तर है और एक दृष्टि से इसको पृथक् रखना भी उपयुक्त नहीं है; किन्तु जार्ज ग्रियर्सन ने जनता में प्रचलित भावना का ध्यान रखकर ही इसे पृथक् बोली के रूप में लिंग्विस्टिक-सर्वे में स्थान दिया है। मराठी और उड़िया के प्रभाव के कारण छत्तीसगढ़ी की स्थिति अवश्य पृथक् है, परन्तु अवधी के साथ तो उसका भी घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट है। पूर्वी-हिन्दी की अवधी तथा बघेली बोलियां तो उत्तरप्रदेश, बुंदेलखण्ड, बघेलखंड, चन्द्रभकार, जबलपुर तथा मंडला तक फैली हुई हैं। मध्यप्रदेश के दक्खिनी तथा पश्चिमी-ज़िलों में भी कुछ जातियाँ अवधी एवं बघेली बोलियाँ बोलती हैं। अवधी और बघेली की सीमाओं को पृथक् करनेवाली वस्तुतः यमुना नदी है जो फतेहपुर और बाँदा ज़िले में होते हुए प्रयाग में गंगा से जाकर मिल जाती है। यह सीमा बहुत ठीक नहीं है, क्योंकि फतेहपुर में यमुना के उत्तरी-किनारे पर तिरहारी बोली बोली जाती है। इसमें बघेली का सम्मिश्रण है, और इलाहाबाद के दक्षिण-पूर्व की बोली यद्यपि बघेली कहलाती है, तथापि उसमें अवधी एवं बघेली का सम्मिश्रण है। पूर्वी-हिन्दी का शेष भाग छत्तीसगढ़ी का क्षेत्र है।

छत्तीसगढ़ी उदयपुर, कोरिया, सरगुजा तथा जशपुर रियासत के कुछ भाग, छोटा नागपुर एवं छत्तीसगढ़ ज़िले के अधिकांश भाग में बोली जाती है।

पूर्वी-हिन्दी एक प्रकार से नेपाल की तराई से लेकर मध्यप्रदेश के बस्तर

स्टेट तक की बोली है। यह ७५० मील की लम्बाई एवं २२५ मील की चौड़ाई तथा १८७५०० वर्गमील के क्षेत्र में बोली जाती है। इसके अतिरिक्त बिहार के मगही तथा मैथिली-क्षेत्रों के मुसलमान भी पूर्वी-हिन्दी की अवधी बोली बोलते हैं। ग्रियर्सन ने इसे जोलहा-बोली कहा है। पूर्वी-हिन्दी बोलने वालों की संख्या ३ करोड़ के लगभग है।

पूर्वीहिन्दी की उत्पत्ति—पूर्वीहिन्दी की उत्पत्ति अर्द्धमागधी बोलचाल अपभ्रंश से हुई है। प्राचीनकाल में उत्तरी-भारत में शौरसेनी तथा मागधी, दो, प्राकृतें प्रचलित थीं। इनमें शौरसेनी का मुख्य केन्द्र मध्यदेश स्थित मथुरा तथा मागधी का केन्द्र पटना के निकट था। वस्तुतः शौरसेनी तथा मागधी के बीच जो प्राकृत प्रचलित थी, उसे अर्द्धमागधी-प्राकृत के नाम से अभिहित किया जाता था, क्योंकि इसमें शौरसेनी तथा मागधी, दोनों के लक्षण विद्यमान थे। काल-क्रम से इस क्षेत्र में अर्द्धमागधी-अपभ्रंश उत्पन्न हुआ जिससे पूर्वीहिन्दी की उत्पत्ति हुई।

पूर्वीहिन्दी की भाषागत-सीमा—पूर्वीहिन्दी के उत्तर में पहाड़ी भाषायें, विशेषतया नेपाली बोली जाती है। इसके पश्चिम में पश्चिमी-हिन्दी की दो बोलियाँ, कन्नौजी एवं बुंदेलखण्डी स्थित हैं। इसके पूरब में पश्चिमी-भोजपुरी तथा नगपुरिया बोलियाँ बोली जाती हैं। इसकी दक्षिणी-सीमा पर मराठी बोली जाती है। इसप्रकार पूर्वीहिन्दी दो ओर से शौरसेनी से और एक ओर मागधी से घिरी हुई है।

पूर्वी तथा पश्चिमीहिन्दी में जो तात्विक अन्तर है, वह अन्यत्र दिया जा चुका है। यहाँ उसकी तीन बोलियों—अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी—का विवरण उपस्थित किया जाता है।

अवधी

पूर्वीहिन्दी की सबसे महत्वपूर्ण बोली अवधी है। इसके नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि यह केवल अवध की बोली है, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। एक ओर यह हरदोई, खीरी तथा फैजाबाद के कुछ भाग में नहीं बोली जाती तो दूसरी ओर वह अवध के बाहर फतेहपुर, इलाहाबाद, केराकत तहसील छोड़कर जौनपुर तथा मिर्ज़ापुर के पश्चिमी-भाग में बोली जाती है।

इसके अन्य नाम पूर्वी तथा कोशली भी हैं। पूर्वी से वास्तव में पूरब की बोली से तात्पर्य है। कभी-कभी अवधी तथा भोजपुरी, दोनों को, पूर्वी-बोलियों के नाम से अभिहित किया जाता है, किन्तु वास्तव में पूर्वी शब्द, पूर्वी-हिन्दी के

लिये ही प्रयुक्त होता है। कोशली से कोशल राज्य की भाषा से तात्पर्य है और यदि इस प्राचीन नाम को स्वीकार कर लिया जाय तो छत्तीसगढ़ी-भाषा भी इसके अन्तर्गत आ जायगी, किन्तु इधर तुलसीकृत रामचरितमानस के कारण अवध शब्द इतना अधिक प्रचलित हो गया है कि इस प्रदेश की बोली के लिये अवधी नाम सर्वथा उपयुक्त है। अवधी के स्थान पर कभी-कभी बैसवाड़ी व्यवहृत होती है (देखो, लिंग्विस्टिक सर्वे भाग ६, पृष्ठ ६); किन्तु बैसवाड़ी तो अवधी के अन्तर्गत एक सीमित-क्षेत्र की बोली है। वास्तव में बैस-राजपूतों की प्रधानता के कारण उन्नाव लखनऊ, रायबरेली तथा फतेहपुर के कुछ भाग को बैसवाड़ा कहते हैं और बैसवाड़ी इसी क्षेत्र की बोली है।

बैसवाड़ी, अवधी की अपेक्षा कर्णकटु बोली है। इसमें 'एँ' का उच्चारण 'य', -ओ' का उच्चारण 'व्' एवं ए के उच्चारण या तथा ओ के उच्चारण 'वा' में परिणत हो जाते हैं।

अवधी की भाषागत सीमायें—अवधी के पश्चिम में, पश्चिमी-हिन्दी की दो बोलियाँ—कनौजी और बुंदेली हैं और इसके पूरब में भोजपुरी का क्षेत्र है। कनौजी तथा बुंदेली से अवधी की तुलना करने पर निम्नलिखित भिन्नताएँ मिलती हैं—

(१) पश्चिमी-हिन्दी की दोनों बोलियों—कनौजी तथा बुंदेली—में कर्त्ता का ने अनुसर्ग वर्तमान है, किन्तु अवधी में इसका सर्वथा अभाव है।

(२) कनौजी तथा बुंदेली के संज्ञा, विशेषण तथा भूतकालिक-कृदन्त-पदों में—ओ तथा—औ प्रत्यय लगते हैं; किन्तु अवधी में—अ प्रत्यय ही व्यवहृत होता है।

अवधी तथा भोजपुरी से तुलना करने पर निम्नलिखित भिन्नताएँ मिलती हैं—

(१) पश्चिमी-भोजपुरी के वर्तमान-काल में—ला प्रत्यय लगता है, किन्तु अवधी में—ला वाले रूपों का सर्वथा अभाव है।

(२) भोजपुरी के भूतकाल में—अल्—इल् प्रत्यय लगते हैं; किन्तु अवधी में इनका अभाव है।

(३) भोजपुरी (शाहाबाद की बोली) में अपादान का अनुसर्ग—ले है; किन्तु अवधी में यह से है।

ऊपर की विशेषताओं को ध्यान में रखकर अवधी की सीमा सरलतापूर्वक निर्धारित की जा सकती है।

पश्चिम में ओकारान्त-रूप (ओकारान्त रूप पश्चिमी-हिन्दी की कनौजी तथा ब्रज बोलियों की विशेषता है) खीरी जिला स्थित गोलागोकर्णनाथ से प्रारम्भ हो जाते हैं। यदि एक सीधी रेखा गोलागोकर्णनाथ से सीतापुर जिले के नेरी स्थान तक खींची जाय तो यह कनौजी और अवधी की सीमा होगी। नेरी से गोमती नदी अवधी की दक्षिणी-पश्चिमी सीमा बनाती हुई उस स्थान तक चली जाती है, जहाँ वह हरदोई जिले को लखनऊ से पृथक करती है। यहाँ से दक्षिण-पश्चिम की ओर लखनऊ, हरदोई तथा उन्नाव जिलों की सीमा से होती हुई एक रेखा वहाँ तक खींची जा सकती है जहाँ उन्नाव की सीमा समाप्त हो जाती है। यहाँ से कानपुर तो पश्चिमी-हिन्दी के क्षेत्र में है और उन्नाव, फतेहपुर तथा इलाहाबाद जिले, अवधी के अन्तर्गत आते हैं।

लिंग्विस्टिक-सर्वे के भाग ६, पृष्ठ १३२ से १५६ तक में तिरहारी बोली के नमूने दिये गये हैं। इनमें से कुछ तो बुंदेली के अन्तर्गत आते हैं किन्तु शेष अवधी के निकट हैं। उदाहरणस्वरूप लि० स० के पृष्ठ १३३ पर, ८८ नं० का उदाहरण, बाँदा की (बघेली) तिरहारी बोली का दिया गया है। यह इसप्रकार है:—

कौनेउँ मड़ई-के दुइ गदाल रहैं। उन अपने बाप तन कहिन कि अरे मोरे बाप तैं हमरे हीसन का माल टाल हमैं बाँटि दे। तब मड़ै-ने आप सब लैया पुँजिया दुनौं गदालन-का बाँट दिहिस।

ऊपर के उदाहरण में अवधी गदेल के लिये गदाल शब्द उल्लेखनीय है। 'मड़ै-ने' में पश्चिमी हिन्दी के कर्त्ता कारक का चिह्न ने वर्तमान है, किन्तु बाँट-दिहिस क्रियापद विशुद्ध अवधी का है।

लिंग्विस्टिक-सर्वे के पृष्ठ १३८ पर बघेली-तिरहारी बोली का नमूना दिया गया है। इसके आरम्भ के कतिपय वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

याक मराई-के दुइ बेटवा रहैं। उन-माँ लहुरवा बेटवा अपने बाप ते कह्यसि जौन म्वार हीसा होय तौन बाँटि-याव-औ थोरे दिनन-माँ लहुरवा बेटवा आपनि सब जमा बटुरियाय-कै दूरी परयासै चला गवा औ हाँ आपन सब जमा कुचाल-माँ बहाय दिहिस।

ऊपर की तिरहारी-बोली का नमूना विशुद्ध अवधी का है। हाँ, इसमें बैसवाड़ी के प्रभाव से 'ए' 'य', में अवश्य परिणत हो गया है।

लिंग्विस्टिक-सर्वे के पृ० १४० पर हमीरपुर की बघेली तिरहारी-बोली का नमूना दिया गया है। इसके भी कतिपय वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

उई मनई के दुइ लाला रहैं। उई-माँ-ते छुटका-ने दादा-से कहिस कि बापू धन-माँ से जो मोर होइ सो मुँह-का दै दवा। वह-ने वह-का आपन धन बाँट दीन। बहुत दिनन गै-रहैं कि लहुरवा लाला बहुत कुछ जोर के परदेस चलौं-गा।

ऊपर के उदाहरण में कई बातें उल्लेखनीय हैं। इसमें बुन्देली का अधिक सम्मिश्रण है। हमीरपुर की तिरहारी में बघेली अथवा बुन्देली के क्रिया-पद बोलनेवालों की इच्छानुसार आते हैं। उदाहरणस्वरूप 'छुटकवा-ने कहिस' बघेली वाक्य है; किन्तु 'वह-ने बाँट दीन', वस्तुतः बुन्देली का वाक्य है। इसमें पश्चिमी-हिन्दी का कर्त्ता का अनुसर्ग **ने** वर्तमान है; किन्तु इसमें अवधी के क्रियापद भी वर्तमान हैं।

गहोरा बोली

यमुना के दक्षिणी किनारे के क्षेत्र को छोड़कर बाँदा ज़िले के पूर्वी-भाग में, बागैं नदी तक जो बोली बोली जाती है, वह गहोरा कहलाती है। यह **तिरहारी** से बहुत मिलती जुलती है, अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें **उचारा** (=धन) शब्द बुन्देली का है।

इसकी दो उपभाषायें हैं (१) पथा (२) अन्तर्पथा। इनमें से पहली तो दक्षिण-पूर्व में तथा दूसरी बाँदा के दक्षिण में बोली जाती है। बाँदा ज़िले की गहोरा बोली का नमूना लिंग्विस्टिक-सर्वे के पृष्ठ १५० पर दिया गया है। इसका किंचित-अंश नीचे उद्धृत किया जाता है :—

कौनो मइई-के दुइ लरिका रहैं। उइँ लरिका अपने बाप-से कहिन अरे बाप तैं हमरे हीसा के जजाति हमका बाँट दे। तबै बाप आपन जजाति दो-नहुँन लरिकन-का बाँट दिहिस। औ थोरे दिनन-माँ चुनकउना बेंटौना सब इयारा बाँदुर कै लिहिस औ बहुत दूरी पर-धास-का निकरि गा।

ऊपर की गहोरा बोली का नमूना वस्तुतः विशुद्ध अवधी का है।

जूड़र

यह बाँदा ज़िले की दूसरी बोली है। इसके बोलनेवालों की संख्या सवा लाख के लगभग है। यह केन तथा बागैं नदी के बीच की बोली है। गहोरा

अथवा तिरहारी की अपेक्षा इसमें बुन्देली का अधिक सम्मिश्रण है; किन्तु कालिंजर के निकट जो बोली प्रचलित है, उसकी अपेक्षा कम ही है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित तीन बोलियों का समावेश है—

१—**कुण्ड्री**—यह बाँदा ज़िले के उत्तर-पश्चिम में बोली जाती है।

२—**बनाफरी**—यह बाँदा ज़िले के दक्षिणी-पश्चिम की बोली है।

३—**अचर**—यह बाँदा ज़िले के मध्य की बोली है।

जूड़र का एक उदाहरण लिंग्विस्टिक-सर्वे के पृष्ठ १५३ पर दिया गया है। उससे कुछ अंश नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

कौनेउ मँड़ई-के दुई बेटवा रहें जिन्हन-ने अपने बाप से कह्यो कि अरे बाप मोरे हींसा-का ड्यारा मोही दै-दे। तब बाप आपन ड्यारा लड़कन-का बाँटि दीन्हेसि। थोड़े दिनन-मा छोट बेटवा अपने हींसा-का सब ड्यारा ढाँढ़ी बाँदुर कर-के बहुत दूरी परदेसै निकरी-गा। वहाँ जाय-के सब आपन ड्यारा उठाय-डारेसि। जब सब वहि-का रुपया उठि-गा और जौने वासै गा-तैं ह्वाँ बड़ा भारी अकाल परिगा औार वहि-का रोज-के खाँय खरिच-के तंगई होइ लागि तब वा वास-के एक रहैया-के ह्वाँ गा। वा रहैया-ने अपने खेतन-माँ सोरी चरावे-का पठै दीन्हेसि।

ऊपर के उदाहरण में "जिन्हन-ने अपने बाप से कह्यो" वाक्य स्पष्टरूप से बुन्देली का है; किन्तु उसके बाद के ही वाक्य में 'दीन्हेसि' क्रिया बघेली की है। इसीप्रकार गा-तैं में-तैं प्रत्यय बघेली का है। यह तैं=हिन्दी, था तथा बुन्देली तो। पुनः "वा रहैया ने पठै दीन्हेसि" वाक्य भी उल्लेखनीय है। इसमें 'दीन्हेसि' क्रिया स्पष्टरूप से बघेली की है; किन्तु रहैया के साथ ने अनुसर्ग बुन्देली प्रभाव के कारण है।

अवधी की विशेषताएँ—जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, अवधी का क्षेत्र पश्चिमी-हिन्दी तथा बिहारी के बीच में है। संज्ञापद के तीन रूपों— लघु (ह्रस्व) दीर्घ तथा दीर्घतर में से, पश्चिमी-हिन्दी (खड़ीबोली) में आकारान्त दीर्घ, घोड़ा तथा अवधी एवं बिहारी में घोड़, घोड़ा घोड़वा रूप मिलते हैं। प्रयाग की अवधी में एक और अतिरिक्तरूप घोड़ौना भी मिलता है, किन्तु बिहारी में इसका अभाव है।

संज्ञा तथा विशेषण के लिंग के सम्बन्ध में पश्चिमी-हिन्दी में कड़े

नियम हैं, अवधी के नियम ढीले हैं तथा बिहारी एकप्रकार से इन नियमों से मुक्त है।

व्यंजनान्त संज्ञापदों के कर्त्ता एक वचन के रूपों में, अवधी में 'उ' लगता है—यथा—घरु, मनु, बनु, आदि। पश्चिमी-हिन्दी, विशेषतया खड़ी-बोली अथवा हिन्दुस्तानी में इस 'उ' का अभाव है—यथा, घर्, मन्, बन, आदि। इसीप्रकार अवधी की कतिपय-बोलियों में कर्त्ताकारक, बहुवचन' का रूप—'ऐ' लगाने से बनता है।

अनुसर्गों के सम्बन्ध में अवधी तथा पश्चिमी-हिन्दी में सबसे बड़ा उल्लेखनीय अन्तर यह है कि इसमें कर्त्ताकारक के अनुसर्ग 'ने' का अभाव है। इस विषय में अवधी तथा बिहारी में पूर्ण साम्य है। कर्म-सम्प्रदान का अनुसर्ग अवधी में का, के, पश्चिमी-हिन्दी में को, कौ तथा बिहारी में के है। अधिकरण का अनुसर्ग अवधी में 'मा' तथा पश्चिमी-हिन्दी एवं बिहारी में 'में' है।

सर्वनामों के सम्बन्ध में अवधी में और विभिन्नता है। अवधी का सम्बन्ध-कारक का सर्वनाम तोर, मोर—पश्चिमी-हिन्दी में तेरा मेरा हो जाता है। इसीप्रकार अवधी हमार का तिर्यकरूप हमरे हो जाता है; किन्तु पश्चिमी-हिन्दी में यह हमारे हो जाता है। सम्बन्ध तथा प्रश्नवाचक सर्वनामों के कर्त्ताकारक एक वचन के रूप जो को होते हैं; किन्तु बिहारी में ये जे के में परिणत हो जाते हैं।

वर्तमानकाल की सहायकक्रिया के रूप पश्चिमी-हिन्दी में 'है' आदि, अवधी में अहै, बाट्, बाटै तथा बिहारी में बाड़्, बाड़े एवं आछ् आछै मिलता है। अवधी के अतीतकाल के घटमान के रूप (Imperfect Participle) में कोई प्रत्यय नहीं लगता (केवल पश्चिमी-अवधी में 'इ' प्रत्यय लगता है), किन्तु पश्चिमी-हिन्दी में—आ (यथा; जाता, खाता) अथवा, उ (यथा; जातु, खातु) प्रत्यय लगते हैं। पश्चिमी-हिन्दी के अतीत-काल में कोई प्रत्यय नहीं लगता, (यथा; गया<गअ<गतः); किन्तु अवधी में—इसि, – इस् प्रत्यय लगते हैं—यथा, कहिसि, कहिस् आदि। पश्चिमी-हिन्दी में भविष्यत् में केवल – ह् रूप व्यवहृत होते हैं; किन्तु अवधी में ह् तथा ब, दोनों रूप प्रयुक्त होते हैं।

अवधी की उत्पत्ति

पूर्वीहिन्दी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अन्यत्र कहा जा चुका है। अब प्रश्न यह है कि अवधी की उत्पत्ति कैसे हुई? अवधी के पश्चिम में जो भाषायें

तथा बोलियाँ प्रचलित हैं, उनका सम्बन्ध शौरसेनी-प्राकृत तथा अपभ्रंश से है। इसीप्रकार इसके पूरब में मागधी-बोलियों का क्षेत्र है। ग्रियर्सन ने इसीकारण पूर्वी-हिन्दी की बोलियों का सम्बन्ध अर्ध-मागधी से निर्धारित किया। किन्तु अवधी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डा० बाबूराम सक्सेना का डा० ग्रियर्सन से किंचित मतभेद है। अपने मत की पुष्टि में डा० सक्सेना ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं*—

"संस्कृत के 'त' एवं 'थ', शौरसेनी में 'द' और 'ध' में परिवर्तित हो गये हैं। महाराष्ट्री-प्राकृत में तो ये महाप्राणवर्ण 'ह' में परिणत हो गये हैं और कहीं-कहीं उनका लोप भी हो गया है। पुनः शौरसेनी में कर्त्ता, एक वचन के रूप ओकारान्त एवं मागधी में एकारान्त होते हैं। शौरसेनी का दन्त्य 'स' मागधी में तालव्य 'श' में परिणत हो जाता है। इसीप्रकार शौरसेनी 'र' मागधी में 'ल' हो जाता है। अर्ध-मागधी में, मागधी 'श' एवं 'ल' दोनों का अभाव है। इस सम्बन्ध में वह शौरसेनी के समान है और इसमें 'स' एवं 'र' व्यवहृत होते हैं। किन्तु अर्ध-मागधी कर्त्ता कारक, एकवचन के रूप 'एकारान्त' तथा 'ओकारान्त' दोनों होते हैं तथा इसमें 'देवो' अथवा 'देवे' सो या से, एवं 'के' जे आदि रूप मिलते हैं।

जब हम अर्द्ध-मागधी की विशेषताओं से अवधी की तुलना करते हैं, तो इसकी कतिपय-बोलियों में वर्तमान कृदन्तीय-रूपों (Imperfect Participle) में—इ तथा पुराघटित-कृदन्तीय (Perfect Participle) के एकवचन के रूपों में—ए मिलता है। इसके संज्ञापदों तथा अनुसर्गों में के को छोड़कर अन्यत्र 'ए' नहीं मिलता। इसके विपरीत यहाँ कर्त्ता के एकवचन के रूप में जो—उ मिलता है, वह स्पष्टरूप से शौरसेनी ओ का रूपान्तर है। जहाँ तक इसमें इकारान्त एवं एकारान्त पदों का सम्बन्ध है, वे पड़ोस की पश्चिमी-बोलियों में भी वर्तमान हैं। इसके आगे डा० सक्सेना लिखते हैं—पूर्वीहिन्दी का सम्बन्ध जैन-अर्द्धमागधी की अपेक्षा पाली से ही अधिक है; किन्तु वास्तव में पाली, जैन अर्द्धमागधी से पुरानी भाषा है; इधर जैन अर्द्धमागधी ग्रन्थों का सम्पादन तो ईस्वी सन् की पाँचवी शताब्दी में हुआ था। इससे हम यह कल्पना कर सकते हैं कि प्राचीन-अर्द्धमागधी, बाद की अर्द्धमागधी से भिन्न थी और इस प्राचीन अर्द्धमागधी से ही अवधी की उत्पत्ति हुई।"

ऊपर अवधी की उत्पत्ति के विषय में डा० सक्सेना का मत दिया गया

---

*सक्सेना—इवलूशन आव अवधी—पृ० ६-८।

है। इसके सम्बन्ध में अनेक कठिनाइयाँ हैं। डा० सक्सेना के अनुमान के अनुसार पुरानी अर्द्धमागधी का स्वरूप बहुत कुछ पँछाहीं होगा, क्योंकि आधुनिक अर्द्धमागधी में जितना मागधीपन है, उतना भी अवधी में नहीं है। यही नहीं डा० सक्सेना के अनुसार तो अवधी का सम्बन्ध, अर्द्धमागधी की अपेक्षा पाली से ही अधिक है। इधर पाली के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान हुए हैं उनसे यह स्पष्ट हो गया है कि इसके व्याकरण का ढाँचा मध्यदेश का है। इसके अतिरिक्त पाली तो वस्तुतः साहित्यिक-भाषा है और अवधी की उत्पत्ति किसी न किसी बोल-चाल की भाषा से ही हुई होगी। अब प्रश्न यह है कि वह कौन भाषा थी ? डा० सक्सेना के अनुसार यह पुरानी-अर्द्धमागधी होगी। किन्तु इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह है कि इस पुरानी अर्द्धमागधी का स्वरूप क्या था ? सच बात तो यह है कि बोलचाल के अर्ध-मागधी-अपभ्रंश के नमूने का आज सर्वथा अभाव है। तब पूर्वी-हिन्दी (जिसके अन्तर्गत अवधी भी है) की उत्पत्ति के अनुसन्धान का एक ही साधन है और वह यह है कि इसकी विभिन्न-बोलियों की विशेषताओं का अध्ययन कर बोलचाल की अर्द्धमागधी का आनुमानिक व्याकरण तैयार किया जाय।

अवधी की उसकी अन्य बोलियों से तुलना

अवधी तथा बघेली—भाषा-सम्बन्धी-विशेषताओं की दृष्टि से अवधी तथा बघेली में नाममात्र का अन्तर है, अतएव अवधी से अलग बोली के रूप में इसे स्वीकार करने की आवश्यकता न थी, किन्तु बघेलखंड की जनता की भावना का आदर करने के लिये ही डा० ग्रियर्सन ने अपने लिंगविस्टिक-सर्वे में इसका पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया। ग्रियर्सन के अनुसार अवधी तथा बघेली में निम्नलिखित अन्तर हैं—

(१) बघेली की अतीतकाल की क्रिया में—ते अथवा-तै संयुक्त किया जाता है; किन्तु अवधी में इसका आभाव है।

(२) अवधी के उत्तम तथा मध्यमपुरुष के भविष्यत्काल के रूप—ब संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं; किन्तु बघेली में ये—ह जोड़कर बनाये जाते हैं। यथा—अवधी—देखबौं, किन्तु बघेली—देखिहौं।

(३) अवधी 'व' बघेली में 'ब' में परिणत हो जाता है। यथा—

अवधी—आवाज > बघेली—अबाज।

अवधी—जवाब > बघेली जबाब।

ऊपर की विभिन्नताओं पर विचार करते हुए डा० बाबूराम सक्सेना लिखते हैं*—

"ते तथा तै वस्तुतः हता, हतै अथवा हती के लघुरूप हैं। इसप्रकार के लघुरूप केवल अवधी तथा छत्तीसगढ़ी ही में नहीं मिलते, अपितु पश्चिमी-हिन्दी की बोलियों में भी ये पाये जाते हैं। इसीप्रकार ह-भविष्यत् के रूप लखीमपुर, सीतापुर, लखनऊ तथा बाराबंकी की भी बोलियों में पाये जाते हैं। व का ब में परिवर्तन भी अवधी की बोलियों में मिलता है, किन्तु इनके अतिरिक्त बघेली की निम्नलिखित दो विशेषताओं का अवधी में प्रायः अभाव है—

(१) बघेली विशेषणपदों के दीर्घान्त रूपों में—हा संयुक्त होता है। यथा—निकहा, अच्छा, भला (भोजपुरी में निकहा तथा निकहन, दोनों, इसके लिये प्रयुक्त होते हैं)।

(२) आदरार्थ, आज्ञा का रूप देई (भोजपुरी में देईं हो जाता है। यथा—रउँवा देईं)।

ऐसा प्रतीत होता है कि ये विशेषतायें अवधी में भोजपुरी से आई हैं।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि अवधी तथा बघेली में नाममात्र का ही अन्तर है और बघेली को अवधी से पृथक रखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अवधी तथा मण्डलाहा बोली—लिंग्विस्टिक-सर्वे के पृ० १५८ पर गोंडवानी अथवा मण्डलाहा के सम्बन्ध में निम्नलिखित सामग्री उपलब्ध है—

मण्डला ज़िला वस्तुतः प्राचीन गढ़ा मण्डला का मुख्य केन्द्र था। यह मध्यप्रदेश में स्थित प्राचीन-गोंडवाना के चार राज्यों में से एक था। १६वीं शताब्दी में गोंड राजाओं की अड़तालीसवीं पीढ़ी के संग्राम साह ने गढ़ा मण्डला से चलकर बावन गढ़ों को जीता। ये गढ़ विन्ध्य-प्लेटों में स्थित, भोपाल, सागर, दमोह, नर्मदा के काँठे में स्थित होशंगाबाद, नरसिंहपुर, जबलपुर तथा सतपुड़ा पर स्थित, मंडला तथा सिवनी में थे। आज भी मंडला की आबादी में गोंड तथा बैगा जातियों की ही संख्या अधिक है। मंडला की जनसंख्या साढ़े तीन लाख के लगभग है, जिनमें ढाई लाख व्यक्ति मंडलाहा बोली बोलते हैं। इसे वहाँ वाले गोंडवानी कहते हैं।

गोंडवानी वस्तुतः पूर्वी-हिन्दी का ही एक रूप है। यह अन्य बोलियों

---

*डा० सक्सेना—इवोलूशन आव अवधी—पृ० ३

१८

की अपेक्षा बघेली के अधिक निकट है। अवधी से तुलना करने पर इसमें निम्न-लिखित विशेषतायें मिलती हैं—

(१) अतीतकालिक-क्रिया के साथ तै का प्रयोग।

(२) उत्तमपुरुष एकवचन में ब–भविष्यत् की अपेक्षा ह्–भविष्यत् का प्रयोग।

मंडला के पूरब बिलासपुर जिला है जहाँ छत्तीसगढ़ी बोली जाती है। इधर की बोली में छत्तीसगढ़ी तथा गोंडवानी का खूब सम्मिश्रण हुआ है, किन्तु छत्तीसगढ़ी बहुवचन के चिह्न, मन का इसमें सर्वथा अभाव है।

लिंग्विस्टिक-सर्वे में मंडलाहा अथवा गोंडवानी के जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें व्याकरण-सम्बन्धी निम्नलिखित विशेषतायें उल्लेखनीय हैं—

कर्म तथा सम्प्रदान का अनुसर्ग—'के', किन्तु इसमें छत्तीसगढ़ी का 'ला' अनुसर्ग भी मिलता है।

अधिकरण का अनुसर्ग—'में', यह वास्तव में बुन्देली से आया है।

सम्बन्ध का अनुसर्ग —'केर', किन्तु इसके स्त्रीलिंग तथा तिर्यक-रूप नहीं होते। करणकारक में पूर्वी-हिन्दी की बोलियों में—अन् आता है,—भूखन, गोंडवानी में—ओं हो जाता है; यथा, भूखों।

इसमें सर्वनाम के निम्नलिखित रूप उल्लेखनीय हैं, तोय=तुम; इ-कर=इसका, उ-कर तथा ओ-कर=उसका; इसके सम्बन्ध के बहुवचन के रूप में अनुसर्ग संयुक्त करके तिर्यक रूप सिद्ध होते हैं। यथा—उन-कर-में-से (उनमें से) इसमें अपने के लिये अपन तथा आपन दोनों का प्रयोग होता है। हिन्दी 'क्या' का रूप इसमें का तथा इसका तिर्यक रूप काहिन होता है तथा हिन्दी 'कोई' अथवा 'किसी' के लिये इसमें 'कोई' अथवा कोही प्रयुक्त होते हैं।

मंडलाहा में क्रिया के रूप इसप्रकार हैं—हूँ (मैं हूँ), हो (तुम हो), है (वह है)। ये तीनों क्रियापद वस्तुतः इसमें बुन्देली से आये हैं। वर्तमान का रूप, डार थूँ (मैं डरता हूँ), वस्तुतः छत्तीसगढ़ी से आया है। भविष्यत्काल के रूपों जाहूँ (मैं जाऊँगा), तथा कहूँ (मैं कहूँगा), पर स्पष्टरूप से बघेली का प्रभाव है। अतीत के रूप इसमें टारों (टाला), करे (बनाया), दीइस (दिया) आदि मिलते हैं। पुराघटित (Perfect के रूप इसमें करे-हों (किया है) हैं।

छत्तीसगढ़ी की भाँति ही इसमें अतीतकाल के कृदन्तीय रूप के अन्त में ए आता है। यथा, करे (किया), गये (गया) आदि। इसकी क्रिया-सूचक-संज्ञाओं

(infinitive) के कर्त्ता तथा तिर्यक के रूपों में अन् प्रत्यय लगता है। यथा, कहन् लगिस (वह कहने लगा), खान् से ज्यादा (खाने से ज्यादा या अधिक), यह भी वस्तुतः छत्तीसगढ़ी का रूप है। असमापिका क्रिया के चिह्न के तथा कर है। यथा—सुन केर, सुनकर, देख केर, देखकर आदि। यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि आर्य-परिवार की समस्त भारतीय-भाषाओं में असमापिका का सम्बन्ध, सम्बन्ध-कारक से है। सर्वे के पृष्ठ १६० पर मंडला जिले की बघेली (गोंडवानी) का नमूना इसप्रकार है—

कोई आदमी केर दो लरका रहैं। उन-कर-में-से नान लरका अपने दादा-से कहिस, हे दादा सम्पत-में-से-जो मोर हिसा हो मो-ला दो। तब ऊ अपन सम्पत उन-के बाँट दे-दीइस। बहुत दिन नहीं बीतिस कि लहुरा बेटा सब कुछ जमा-कर-के दूर मुलुक चल दीइस और वुहाँ लुचाई-में दिन काटने-से अपन सब सम्पत उड़ाय डालिस।

अवधी तथा छत्तीसगढ़ी—अवधी के दक्षिण में पूर्वी-हिन्दी की दूसरी बोली, छत्तीसगढ़ी का क्षेत्र है। इसमें कई ऐसी विशेषताएँ हैं जो इसे अवधी से पृथक् करती हैं। संक्षेप में, ये नीचे दी जाती हैं—

(१) संज्ञा तथा सर्वनाम के बाद निश्चयार्थ—हर का प्रयोग। यथा—छोकरा-हर, छोटे-हर आदि।

(२) बहुवचन में—मन का प्रयोग। यथा—घेंटा-मन (सूअरों)।

(३) कर्म-सम्प्रदान में परसर्ग का के साथ—ला का भी प्रयोग; यथा—वो-ला, उसके लिए अथवा उसको।

(४) करणकारक के परसर्ग से के साथ ले का प्रयोग। यथा—नौकर-ला कहिस, 'नौकर से कहा'।

छत्तीसगढ़ी के सर्वनाम भी अवधी से भिन्न हैं और उन पर भोजपुरी का प्रभाव है।

अवधी के उत्तर में नेपाल-राज्य है। इसका अधिकांश भाग जंगल तथा बंजर है। इस भाग में थारू लोगों के कहीं-कहीं गाँव हैं जो आदिवासी हैं। इधर कई मंडियाँ हैं, जहाँ पीलीभीत, खीरी, बहराइच तथा गोंडा से व्यापारी आकर व्यापार करते हैं। वे नेपाली लोगों से कम्बल तथा ऊन खरीदते हैं तथा उनके हाथ तम्बाकू और गहने आदि बेचते हैं। ये मंडियाँ मई से दिसम्बर तक बन्द रहती हैं, अतएव इधर अवधी तथा नेपाली का निकट का सम्पर्क नहीं हो पाता।

नेपाल की तराई में अवधी रुम्मनदेई (प्राचीन 'लुम्बिनी') तथा बुटवल तक बोली जाती है ; किन्तु गोरखपुर जिले में नेपाल की तराई में स्थित उत्तरी-पूर्वी-रेलवे के नौतनवा स्टेशन के आसपास भोजपुरी बोली जाती है।

अवधी की पूर्वी-सीमा पर भोजपुरी है। पूरब में अवधी तथा गोंडा जिले की सीमा एक ही है। वहाँ से घाघरा नदी के साथ-साथ यह सीमा पूरब में टाँडा तक जाती है। यदि टाँडा से जौनपुर तक और वहाँ से मिर्ज़ापुर तक एक सीधी-रेखा खींची जाय तो यह अवधी की दक्षिणी-पूर्वी सीमा होगी। मिर्ज़ापुर शहर के पश्चिम ओर कुछ मील की दूरी से ही अवधी आरंभ हो जाती है। यहाँ से दक्षिण-पूर्व में इलाहाबाद ज़िले की सीमा तथा पूर्व में रींवा-राज्य की सीमा वस्तुतः अवधी की पूर्वी-सीमा है। मिर्ज़ापुर के दक्षिणी-पूर्वी त्रिभुजाकार (सोनपार के) क्षेत्र में भोजपुरी मिश्रित अवधी बोली जाती है। इस सोनपारी-अवधी की दक्षिण ओर, छत्तीसगढ़ी की सरगुजा-बोली का क्षेत्र है।

अवधी का महत्व—अवधी भाषा-भाषियों की संख्या सवा दो करोड़ के लगभग है। वस्तुतः यह जिस क्षेत्र की भाषा है उसका भारतीय-इतिहास में अत्यधिक महत्व है। प्राचीन-काल में यह प्रदेश कोशल नाम से प्रसिद्ध था और साकेत (वर्तमान, अयोध्या) इसकी राजधानी थी। बौद्धकाल में भी यह जनपद अत्यन्त-महत्वपूर्ण था। बुद्ध ने अपने जीवन का अधिकांश-भाग, सावत्थी (गोंडा ज़िले में, बलरामपुर के पास, सहेट-महेट) तथा कोशल-राज्य में व्यतीत किया था। प्रयाग अथवा इलाहाबाद भी अवधी-क्षेत्र में ही है जिसका गुप्त, मुग़ल, तथा, ब्रिटिश-काल में महत्वपूर्ण-स्थान रहा और अवध के शिया नवाब तो अपनी शानशौकत तथा उच्च-संस्कृति के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थे। लखनऊ का महत्व आज भी अक्षुण्ण है।

अवधी के अन्तर्गत ही बघेली है जिसका केन्द्र रीवाँ राज्य है। यहाँ के राजा लोग केवल विद्या एवं कलानुरागी ही नहीं थे, अपितु वे कवि भी थे। भारत के संगीतज्ञों में शिरोमणि, तानसेन, पहले रीवाँ के राजा रामचन्द्र सिंह के दरबार में थे, जहाँ से वे अकबर के यहाँ गए।

अवधी में प्रचुर-साहित्य रचना हुई है। प्रेममार्गी-सूफ़ि-कवियों, कुतबन, मंझन, जायसी, नूरमुहम्मद, उस्मान ने इसमें रचना की है। गो० तुलसीदास ने इसे अपने जगत-प्रसिद्ध-काव्य रामचरितमानस की रचना से अलंकृत किया है। आजकल अवधी-क्षेत्र की साहित्यिक-भाषा हिन्दी है, किन्तु साधारण-जनता पारस्परिक बातचीत में प्रायः अवधी का व्यवहार करती है। उधर बीच में इसमें

साहित्य-रचना का कार्य बन्द हो गया था, परन्तु इधर नवजागरण के साथ-साथ अवधी में पुनः साहित्यिक-रचना प्रारम्भ हुई है। ऐसे साहित्यिकों में वंशीधर शुक्ल, रमई काका आदि प्रसिद्ध हैं।

अवधी की विभाषाएँ :—डा० बाबूराम सक्सेना के अनुसार अवधी की तीन विभाषाएँ—पश्चिमी, केन्द्रीय तथा पूर्वी हैं। खीरी (लखीमपुर), सीतापुर लखनऊ, उन्नाव तथा फतेहपुर की अवधी, पश्चिमी, बहराइच-बाराबंकी तथा रायबरेली की, केन्द्रीय, एवं गोंडा, फैजाबाद, सुल्तानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर तथा मिर्ज़ापुर की अवधी, पूर्वी के अन्तर्गत आती हैं।

अवधी का संक्षिप्त व्याकरण आगे दिया जाता है—

१. संज्ञा

अवधी संज्ञाओं के तीन रूप—ह्रस्व, दीर्घ तथा दीर्घतर अथवा अनावश्यक मिलते हैं। ये इसप्रकार हैं—

ह्रस्व	दीर्घ	दीर्घतर अथवा अनावश्यक
घोड़ (हि० घोड़ा)	घोड़वा	घोड़ौना
नारी (हि० स्त्री)	नरिया	नरीवा

शब्द रूप

एक वचन	कर्ता—घोड़वा (हि० घोड़ा)	घर		नारी (स्त्री)
	तिर्यक—घोड़वा	{ घर घरै	घरहि घरे	नारी नारिहि
		{ घरने घरन्		नारिन्

बहुवचन

कर्ता { घोड़वे
घोड़वने
घोड़वन्

तिर्यक— घोड़वन् घरन् नारिन्

करण एक वचन का रूप—अन् संयुक्त करके बनता है। यथा भूखन, भूख से।

कर्म-सम्प्रदान—अनुसर्ग—का, काँ, का।

सम्प्रदान—बाड़े।

करण-अपादान—से, सेनी, सेन।

सम्बन्ध—केर, कर, के; तिर्यक के, स्त्रीलिंग कै

अधिकरण—में, म, पर

विशेषण में कभी-कभी लिंग-परिवर्तन होता है। यथा—पु०—आपन स्त्री० आपनि, पु० ऐस्, स्त्री० ऐसी, पु० ओकर (हि० उसका), स्त्री०—ओकरी (हि०, उसकी)।

२—सर्वनाम

	मैं	तू	आप	यह	वह	जो	सो	कौन
एक वचन कर्ता	मैं	तैं, तू	आपु	ई, यु	ऊ, वै	जे, जवन्, जौन्	से, तवन्	के, कवन
तिर्यक	मो	तों	आपु	ए एह एहि	ओ, ओह ओहि	जे	ते	के
सम्बन्ध	मोर	तोर		ए-कर तिर्यक-ए-करे	ओ-कर तिर्यक-ओकरे	जे-कर ति० (जेकरे)	ते-कर ति० तेकरे	के-कर तिर्यक केकरे
बहुवचन कर्ता	हम	तुम	आप	इन्, ऐ	ओन् उन् ओ	जे	ते	के
तिर्यक	हम हमरे	तुम तुमरे	आप्	इन्	ओन् उन्	जेन जेन्हे	तेन् तेन्ह	केन केन्ह
सम्बन्ध	हमार तिर्यक हमरे	तुमार ति० (तुमरे) तोहार ति० तोहरे	आप कर	इन्-कर तिर्यक(इनकरे)	ओन-कर ति०ओनकरे	जेन-कर ति०(जेन-करे)	तेन-कर ति०(तेन-करे)	केन्-कर ति० (केन-करे)

ऍहि तथा ओहि की वर्तनी क्रमशः यहि एवं वहि भी मिलती है।

हिन्दी 'क्या' का रूप अवधी में का एवँ काव् मिलते हैं। इनके तिर्यक-रूप काँय, कइ, तथा काहे मिलते हैं।

हिन्दी 'कोई' के रूप अवधी में केह, केऊ, के ऊ, कौनो, कवनौ होते हैं। इनके तिर्यकरूप के ऊ तथा केहू होते हैं।

हिन्दी 'कुछ' के रूप अवधी में कुछ ही होते हैं; 'स्वयं' के रूप आपु तथा 'अपना' के रूप आपन् होता है। इसका तिर्यक रूप अपने होता है।

३ (क) सहायक-क्रियाएँ

वर्तमान काल-मैं हूँ

	प्रथम रूप				द्वितीय रूप			
	ए० व०		ब० व०		ए० व०		ब० व०	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग	पुल्लिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग	पुल्लिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग
१–	बाट्यें उँ	बाटिउँ	बाटी	बाटिन्	अहेउँ	अहिउँ	अही	अहिन
२–	बाटे बाटस् बाटेस् बाट्	बाटिस्	बाटेव, बाट्ये	बाट्यो बाटिव	अहे, अहस् अहसि, अहेस्	अहिस्	अहेव अह्यो अह अहे	अहिव
३–	बाटै, बाटइ	बाटई	बाटैं	बाटीं	आ, अहै है, आय्	अहई	अहीं अहईं	अहईं

अतीतकाल-में था आदि

एकवचन		बहुवचन	
पुल्लिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग	पुल्लिङ्ग	स्त्रीलिंग
१– रहेउँ	रहिउँ	रहे, रहा	रहीं
२– रहेस्, रहिस्	रहिस्	रहेउ, रहा	रहीं
३– रहेस् रहिस	रही	रहेन् रहिन्	रही
रहा, रहै		रहे, रहई	

(ख : सकर्मक-क्रिया)

क्रियासूचक-संज्ञा (Infinitive) देखब।
कर्तृवाच्य, वर्तमान, कृदन्तीयरूप (Pres. Part. Act) देखत्, देखित्, देखता।
कर्मवाच्य, अतीत कृदन्तीयरूप (Past. Part. Pass) देखा।
कर्मवाच्य भविष्यत्, कृदन्तीयरूप (Fut. Part. Pass) देखब्।
असमापिका के कृदन्तीयरूप (Conjunctive. Part) देख-कै-के।
अवधी वाक्य कर्तृ प्रधान होते हैं, हिन्दी की भाँति कर्म-प्रधान नहीं।

सम्भाव्यवर्तमान		आज्ञा अथवा विधिक्रिया	भविष्यत् ('मैं देखूँगा' आदि)	
(यदि 'मैं देखूँ आदि)		'तुम देखो' आदि		
एकवचन	बहुवचन		एकवचन	बहुवचन
१-देखौं	देखी	×	देखबूँ	देखब
२-देख, देखस्	देखउ, देखब्	ए० व० देख् देखस् ब० व० देखा, देखौ देखब् आदरार्थ-देखउ	देखबे, देखबेस्	देखबो
३-देखइ	देखैं	×	देखे, देखिहै	देखिहैं

	अतीत, 'मैंने देखा' आदि				सम्भाव्य—अतीत (यदि) 'मैं देखा होता' आदि			
	एकवचन		बहुवचन		एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
१	देखेउँ	देखिउँ	देखा, देखन् देखेन	देखीं	देखतेउँ	देखतिउँ	देखित्	देखित्
२	देखेस्, देखिस्	देखिस् देखिसि	देखेउ, देखा	देखीं	देखतेस् देखतिस	देखतिस्	देखतेहु देखतेउ	देखतिन्
३	देखेस, देखिस् देखिसि, देखै	देखो देखिसि	देखेन, देखिन देखे, देखैं	देखीं देखिनि	देखत्	देखित्	देखतेन् देखतिन्	देखतिन्

वर्तमान—'मैं देखता हूँ' आदि = देखत् अहेउँ, आदि।

घटमान (अतीत)—'मैं देखता था' आदि = देखत् रहेउँ, आदि

पुराघटित—'मैंने देखा है' आदि।

	एक वचन		बहु वचन	
	पुल्लिग	स्त्रीलिंग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
१—	देखेउँ-हौं	देखिउँ-हौं	देखे-अहीं	देखे-अहीं
२—	देखेस-है देखिसि-है	देखिस-है	देखउ-हैं	देखिउ-हैं
३—	देखेस-है देखिसि-है	देखी-है देखिसि-है	देखेन-हैं देखिन-हैं	देखिनि-हैं

अतीतकाल में अकर्मक सम्भाव्य का रूप रहेउँ की भाँति चलता है। **अनियमित क्रिया-रूप**—'जाब' का अतीत कृदन्तीय-रूप ग, गा, गै अथवा गय् होता है। स्त्रीलिंग में इसका रूप गै हो जाता है। इसीप्रकार होब् के रूप भ, भा, भय् अथवा भै (स्त्री० लि० भै) अथवा भवा (स्त्री० लि० भै) होते हैं। करब् (करना), देब्, (देना), लेब् (लेना) आदि के कीन्ह, दीन्ह तथा लीन्ह् रूप होते हैं। इनके अतीतकाल के रूप किहिस् (किया); दिहिस् (दिया); लिहिस् (लिया) होते हैं। स्वरान्त-धातुओं में सन्ध्यक्षर रूप में 'व्' आता है, 'य्' नहीं। इसप्रकार बनावा रूप होता है, बनाया नहीं। आव् का अतीतकाल का रूप आय (वह आया) होता है। आकारान्त धातुओं के अतीतकाल में न प्रत्यय संयुक्त होता है—यथा दयान् (उसने दया किया), **रिसान** (वह क्रुद्ध था)।

बघेली

बघेली वस्तुतः बघेलखंड की बोली है। इसका नामकरण बघेले राजपूतों के नाम पर हुआ है जिनकी इधर प्रधानता है। इसका एक नाम रीवाँई भी है क्योंकि रीवाँ बघेलखंड का मुख्य स्थान है। बघेली, छोटा नागपुर के चन्दभकार तथा रीवाँ के दक्षिण, मंडला ज़िले में भी बोली जाती है। यह मिर्ज़ापुर तथा जबलपुर के कुछ भाग में बोली जाती है। इसीप्रकार फतेहपुर, बाँदा तथा हमीरपुर भी उसी के अन्तर्गत हैं, किन्तु इधर की बघेली में पड़ोस की बोलियों का सम्मिश्रण हो जाता है। मंडला के दक्षिण-पश्चिम की बघेली भी वस्तुतः मिश्रित ही है।

राजनीतिक-दृष्टि से बाँदा जिला बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत है, इसके परिणामस्वरूप कुछ लोग बाँदा की बोली बुन्देली ही मानते हैं। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि बाँदा की बोली तथा बघेली के सादृश्य को प्रायः सभी स्वीकार करते हैं, किन्तु इसके साथ ही लोग भ्रमवश यह भी समझते हैं कि बुन्देली तथा बघेली में कोई अन्तर नहीं है और ये दोनों पर्यायवाची नाम हैं। यह भारी भ्रम है। वास्तव में बुन्देली तथा बघेली, दोनों, सर्वथा पृथक बोलियाँ हैं और यद्यपि बाँदा जिला बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत है किन्तु यहाँ की बोली बघेली है।

भाषागत सीमायें——बघेली के उत्तर में दक्षिणी-पश्चिमी इलाहाबाद की अवधी तथा मध्य मिर्जापुर की पश्चिमी-भोजपुरी बोली जाती है। इसके पूरब में छोटा नागपुर तथा बिलासपुर की छत्तीसगढ़ी का क्षेत्र है। इसके दक्षिण में बालाघाट की मराठी तथा दक्षिण-पश्चिम में बुन्देलखण्डी का क्षेत्र है। बघेली भाषा-भाषियों की संख्या ४० लाख से ऊपर है।

बघेली की मिश्रित बोलियाँ पश्चिम तथा दक्षिण में बोली जाती हैं। पश्चिम में मिश्रित बघेली फतेहपुर, बाँदा तथा हमीरपुर में बोली जाती है। इधर की भाषा में यद्यपि बघेली की ही प्रधानता है तथापि उसमें बुन्देली का भी सम्मिश्रण हुआ है। जब हम पश्चिम ओर बढ़ते हुए जालौन ज़िले में पहुँचते हैं तो वहाँ निबट्ठा बोली, बोली जाती है। यह भी एक मिश्रित बोली है किन्तु इसमें बुन्देली की ही प्रधानता है। इधर की मिश्रित बोलियों के बोलने वालों की संख्या लगभग ६ लाख है।

दक्षिण की मिश्रित बोली को मंडला ज़िले की विविध जातियाँ बोलती हैं। इसमें बघेली का मराठी तथा बुन्देली से सम्मिश्रण हुआ है। पश्चिम की मिश्रित बोलियों से इससे यह अन्तर है कि यह किसी क्षेत्र विशेष में नहीं बोली जाती अपितु इसे विभिन्न जातियों के लोग ही बोलते हैं। इसके बोलने वालों की संख्या प्रायः एक लाख है।

आगे बघेली का संक्षिप्त-व्याकरण दिया जाता है।

१. संज्ञा—इसके रूप निम्नलिखित हैं—

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	घ्वाड़, (घोड़ा)	घ्वाड़, घ्वाड़े
तिर्यक	घ्वड़े	घ्वड़न

अनुसर्ग—

कर्म-सम्प्रदान—को, कहों।
करण-अपादान—से, ते, तार।
सम्बन्ध—कर,
अधिकरण—में।

इसमें कर्त्ता के अनुसर्ग ने का अभाव है तथा सम्बन्ध के अनुसर्ग में लिंग के अनुसार परिवर्तन नहीं होते। इसीप्रकार विशेषण के रूप भी स्त्रीलिंग तथा पुल्लिग में एक ही रहते हैं और उनमें परिवर्तन नहीं होता।

२ सर्वनाम

	मैं	तू	आप	स्वयं	यह	वह	जौन	तौन	कौन
एकवचन	मँय्	तँय्	अपना	—	या	वह्	जौन जऊनँय	तौन्,तऊनँम	कऊन्
तिर्यक्	म्वहि, म्वाँ म्वारे	त्वहि, त्वाँ त्वारे	अपना अपाने	—	यहि या	वहि	जउने ज्यहि, जेहि ज्या	तउनै त्यहि, तेहि त्या	क्यहि, केहि क्या
सम्बन्ध	म्वार्	त्वार्	—	—	ए-यहि कर् आदि	वहि-कर् आदि	ज्यहि कर् आदि	त्यहि कर् आदि	क्यहि-कर् आदि
बहुवचन									
कर्त्ता	हम्ह्	तुम्ह्	—	—	ए, एँन्ह	ओ, उन्ह्	जेन्ह्	तेन्ह्	केन्ह्
तिर्यक्	हम्ह, हम्हारे	तुम्ह, तुम्हारे	—	—	यन् यन्ह	उन, उन्ह	जेन्ह् ज्यन, ज्यन्ह	तेन्ह,त्यन त्यह	क्यन क्यन्ह
सम्बन्ध	हम्हार्	तुम्हार्	—	—	यन-कर् आदि	उन-कर् आदि	जेन्ह्-कर् आदि	तेन्ह्-कर् आदि	केन्ह्-कर् आदि

हिन्दी "क्या" बघेली में काह् होता है। इसके तिर्यक-रूप कई अथवा कयी होते हैं। "कोई" इसमें कउनी तथा कोऊ हो जाता है। तिर्यक में भी इसके रूप अपरिवर्तित रहते हैं। हिन्दी 'कुछ' का रूप भी बघेली में अपरिवर्तित रहता है।

३—क्रिया (क) सहायकक्रियायें

	वर्त्तमान—मैं हूँ आदि		अतीत—मैं था आदि			
			प्रथम रूप		द्वितीय रूप	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१.	हूँ, आँ	है	रहेउँ, रहये	रहेन्	—	तैँ
२.	है	हौ, अहेन्	रहा, रहे	रहेन्	ते	तैं
३.	है, आ	हैं, अहेन्	रहा	रहेन्	ते, तो	तैं
		अँहैं, आँ			ता	

	वर्तमान सम्भाव्य '(यदि) मैं होऊँ'		भविष्यत्—"मैं होउँगा"		अतीत "मैं हुआ"	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१.	होऊँ	होन्	होत्येउँ	होब् हौबै	भयों	भयेन्
२.	होस्	होव्	होइहेस्	होवा	भयेस्	भयेन्
३.	होय्	होँय्	होई	होंयिहैं	भ	भयेन्

(ख) क्रियापद—

सकर्मक-क्रिया के अतीत के रूप, कर्तृवाच्य में ही चलते हैं।

क्रियावाचक-संज्ञा—देखब, देखना।

कृदन्तीयरूप—वर्तमान—देखत (देखत हुए), अतीत—देख (देखा)।

असमापिका—देख कै (देखकर)।

	सम्भाव्य वर्तमान (यदि मैं देखूँ)		भविष्यत् (मैं देखूँगा)		आज्ञा अथवा विधि
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	
१.	देखौं	देखन्	देख्येउँ	देखिब, देखब, देखबै	×
२.	देखस्	देखन्, देखब्	देखिहेस्, देखिबेस्	देखिबा	देखस्, देखब्
३.	देखि	देखाँय	देखी	देखिहैं	×

	अतीत—'मैंने देखा' आदि				अतीत (सम्भाव्य) '(यदि) मैं देखा होता'			
	एक वचन		बहु वचन		एक वचन		बहुवचन	
	पुल्लिग	स्त्रीलिग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
१.	देखेहूँ	देखी	देखेन्	देखिन्	देखत्येहुँ	देखत्यिहुँ देखित्याँ	देखत्येन्	देखत्यिन्
२.	देखेह	देखिह्	देखेह्	देखिह्	देखत्येह्	देखत्यिह्	देखत्येंह्	देख् त्यहि
३.	देखी	देखी	देखेन्	देखिन्	देखत्येइ	देखत्यिइ	देखत्येन्	देखत्यिन्

ऊपर के रूपों में 'त्य्' के स्थान पर 'न्' का प्रयोग होता है।

निश्चितवर्तमान-"मैं देख रहा हूँ" आदि। घटमानअतीत-"मैं देख रहा था" आदि।

	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१	देखताँ	देख्त्ये-हैं	देखत् रहेउँ	देखत् { -तें -रहेन्
२	देखते-है	देखत हेन्	देखत् { -तें -रहा	देखत् { -तें -रहेन्
३	देखता	देखताँ	देखत् { -ते, ता -रहा	देखत् { -तें -रहेन्

'मैंने देखा है' आदि 'मैंने देखा था' आदि

	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१	देख-हौं	देख-हैं	देखें-हुं { -ते-ता -रहा	देखेन् { -तें -रहेन्
२	देखेस-है	देखे- देखेन् } -हन	देखेह् { -ते,-ता -रहा	देखेंह् { -तें -रहेन
३	देखेस-है	देखे देखेन् } -अहेन	देखी { -ते-ता -रहा	देखेन् { -तें रहेंन्

अतीतकाल में अकर्मक-क्रियाओं का रूप-भयाँ की भाँति ही चलता है।

ग—अनियमित क्रियारूप

होब् (होना) का अतीत कृदन्तीयरूप 'भ' हो जाता है। इसीप्रकार जाब् (जाना) का अतीत कृदन्तीयरूप 'ग' हो जाता है। धातुओं के अन्त का 'ए', 'या' में परिवर्तित हो जाता है और पुनः उनके रूप होब् की तरह चलते हैं। दयात् 'देता हुआ' तथा दावा 'तुम दोगे'; होता है। देब् (देना) लेब् (लेना) तथा करब् (करना) के अतीत कृदन्तीय के रूप दीन्ह, लीन्ह तथा कीन्ह होते हैं।

छत्तीसगढ़ी, लरिया या खल्टाही

छत्तीसगढ़ी के लिए ऊपर के दो अन्य नाम भी प्रयुक्त होते हैं। यह वस्तुतः छत्तीसगढ़ की भाषा है। बिलासपुर ज़िले का एक भाग भी इसी के अन्तर्गत आता है और इसे पड़ोस के बालाघाट ज़िले में खलोटी कहते हैं।

छत्तीसगढ़ी बालाघाट के भी कुछ भागों में बोली जाती है और यहाँ पर 'खल्टाही' अथवा 'खलोटी' की भाषा कहलाती है। छत्तीसगढ़ के मैदान के पूरब में पूर्वी सम्भलपुर का उड़ीसा का प्रदेश है। यहाँ के लोग अपने पश्चिम में स्थित, छत्तीसगढ़-प्रदेश को लरिया नाम से पुकारते हैं और इसप्रकार इधर छत्तीसगढ़ी का नाम लरिया पड़ जाता है।

क्षेत्र—छत्तीसगढ़ी के अन्तर्गत, मध्यप्रदेश के, रायपुर तथा बिलासपुर जिले आते हैं। यहाँ तथा सम्भलपुर ज़िले के पश्चिमी-भाग में, विशुद्ध छत्तीसगढ़ी बोली जाती है। इधर रायपुर के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में उड़िया की एक विभाषा प्रचलित है। पुनः काँकेर, नन्दगाँव, खैरागढ़, छुइखदान तथा कवर्धा एवं चाँदा ज़िले के उत्तर-पूरब में तथा बालघाट के पूरब में भी शुद्ध छत्तीसगढ़ी ही प्रचलित है। बिलासपुर के पूरब में, यह सक्ती तथा रायगढ़ एवं सारंगगढ़ के कुछ भागों में भी प्रचलित है। इसके उत्तर पूरब में कोरिया, सरगुजा, उदयपुर तथा जशपुर राज्य हैं। इनमें से प्रथम तीन में तो छत्तीसगढ़ी की ही एक विभाषा सरगुजिया प्रचलित है। जशपुर के पश्चिमी-भाग में भी वस्तुतः यही प्रचलित है। विशुद्ध छत्तीसगढ़ी बोलनेवालों की संख्या ४० लाख के लगभग है।

छत्तीसगढ़ी वस्तुतः पड़ोस के उड़ीसा प्रदेश एवं बस्तर में भी बोली जाती है। बस्तर की भाषा वस्तुतः हलबी है। डा० ग्रियर्सन के अनुसार, यह मराठी की ही एक उपभाषा है; किन्तु डा० सुनीति कुमार चटर्जी ग्रियर्सन के इस मत से सहमत नहीं हैं। हलबी में यद्यपि मराठी अनुसर्गों का प्रयोग होता है, तथापि डा० चटर्जी के अनुसार यह मागधी की ही एक उपभाषा है।

इसके अतिरिक्त इधर की अनार्य जातियाँ भी छत्तीसगढ़ी बोलती हैं। उनकी भाषा में छत्तीसगढ़ी तथा उनकी मातृभाषा का पर्याप्त सम्मिश्रण रहता है। आगे छत्तीसगढ़ी का संक्षिप्त व्याकरण दिया जाता है।

१. संज्ञा-बहुवचन—संज्ञा के बहुवचन के रूप-मन संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं; किन्तु कभी-कभी इसका व्यवहार नहीं भी होता है—यथा **मनुख** (मनुष्य); किन्तु **मनुख-मन**, (मनुष्यों)। इसीप्रकार **सब्**, **सबो**, **सब्बों**, **जम्मा** अथवा **जम्मा** शब्द भी कभी-कभी मनुष्य के साथ संयुक्त होते हैं और कभी-कभी नहीं भी होते हैं। यथा **जम्मा पुतो-सन्**। बहुवचन का एक प्राचीनरूप **अन्** प्रत्ययान्त भी मिलता है। यथा—**बइला** (बैल) बहुवचन—**बइलन**, (बैलों)। निश्चयार्थक में संज्ञा के साथ—**हर्** शब्द भी जोड़ दिया जाता है

यथा—गर, (गर्दन) गर-हर (निश्चयार्थक) संज्ञा के साथ निम्नलिखित अनुसर्गों का प्रयोग होता है।

कर्म-सम्प्रदान—का, ला, बर।

करण-अपादान—ले, से।

सम्बन्ध—के।

अधिकरण—माँ।

सम्बन्ध के अनुसर्ग में 'के' लिंग के अनुसार परिवर्तन नहीं होता। इसके उदाहरण हैं—लइका (लड़का का), लइका-का (लड़के के लिए), लइका के (लड़के का); लइका-मन-के (लड़कों)। यहाँ भी—अन् प्रत्यय से करण का रूप सम्पन्न होता है। यथा—भूखन (भूख से)। आकारान्त विशेषण के रूप स्त्रीलिंग में इकारान्त हो जाते हैं; यथा—छोटका बाबू (छोटा लड़का), छोटकी नोनी (छोटी लड़की)। अन्य विशेषण पदों में लिंग के अनुसार परिवर्तन नहीं होता।

२. सर्वनाम

	मैं	तू	तुम (आदरार्थ)	स्वयं (अपने)	यह	वह
एकवचन कर्ता	में, मैं	तें, तैं	तु, तुह	अपन्	ये, इया	वो
तिर्यक्	मो, मोर	तो, तोर	तुह् तुहार्	अपन	ये, ये-कर्	वो, वो-कर्
सम्बन्ध	मोर्	तोर्	तुहार्	अपन	ये-के, ये-कर्	वो-के, वो-कर्
बहुवचन कर्ता	हम्, हम्मन्	तुम, तुम्मन्	तुह-मन्	अपन्-अपन्	इन्, ये-मन	उन् , वो-मन
तिर्यक्	हम, हमार्	तुम्ह, तुम्हार्	तुह-मन्	अपन्-अपन्	इन, इन्ह्	उन्, उन्ह्
सम्बन्ध	हमार्	तुम्हार्	तुहार मन्	अपन्-अपन्	इन्ह्-के	उन्ह्-के
					इन्ह्-कर्	उन्ह्-कर्

	जो	सो, तौन	कौन ?	क्या ?	कोई	कुछ
एकवचन कर्ता	जे, जोन्, जउन	ते, तोन, तउन	कोन, कउन	का, काये	कोनो, कउनो	कुछ्
तिर्यक्	जे, जोन, जउन	ते, तोन्, तउन्	का, कोन्, कउन्	काहे-काये,	कोनो, आदि	कुछ्
सम्बन्ध	जे कर	ते-कर	का-कर, कोन-के	काहे-के	कोनो-के, आदि	कुछ् के
बहुवचन कर्ता	जिन, जे-मन्	तिन्, ते-मन	कोन-मन् आदि	का-का	कोनो-कोनो	कुछ् कुछ्
तिर्यक्	जिन्, जिन्ह्	तिन्, तिन्ह्	कोन-मन आदि	काहे-काहे	कोनो-कोनो	कुछ्-कुछ्
सम्बन्ध	जिन्ह्-के	तिन्ह्-के				
	जिन्ह्-कर्	तिन्ह्-कर्	......	......	......	......

अपनत्ववाचकसर्वनाम का रूप इसमें आपुस् या आपुसो (आपस में) होता है।

३. क्रिया (क) सहायक क्रिया

	मैं हूँ (क) अशिष्ट		(ख) शिष्ट		मैं था	आदि
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१	हवउँ	हवन्	हौं, आँव	इन्	रहेंव्, रहौं	रहेन्
२	हवस्	हवौ	हस्	हौ	रहे, रहेंस् रहस्	रहेव्
३	हवै	हवैं	है, अय्	हैं	रहिस्, रहै, रहय्	रहिन्, रहैं, रहैय्

(ख) क्रियापद—इसमें सकर्मक तथा अकर्मक क्रियाओं के रूप एक ही प्रकार से चलते हैं।

क्रियासूचक संज्ञाएँ—(१) देख; तिर्यक्, देखे (२) देखन् (३) देखब्, देखना।

कृदन्तीयपद—वर्तमान-देखत्, देखते (देखते हुए),

अतीत-देखे (देखा हुआ),

असमापिका-देख्-के (देखकर)।

	वर्तमान सम्भाव्य (यदि) मैं देखूँ		आज्ञा अथवा विधिक्रिया		भविष्यत्-मैं देखूँगा आदि — अशिष्ट		शिष्ट	
	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
१	देखौं	देखन्	...	देखी	देख-हूँ	देख-बो देख-बों	देखि हौं	देखिहन् देखब् }
२	देखस्	देखन्	देख्, देखे	देखौ (शिष्ट, देखी, देखा)	देखबे- देखिबे	देखहू	देखबे देखिबे	देखिहौ
३	देखैं, देखय	देखैं, देखँय	देखे	देखैं	देखहीं	देखहीं	देखि-है (देखी)	देखि-हैं

अतीत मैंने देखा		अतीत सम्भाव्य (यदि) मैं देखा होता	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१ देखेंव, देख्यौं	देखेन्	देखतेंव्, देखत्यौं	देखतेन्
२ देखे, देखेस्	देखेव्	देखते, देखतेस्	देखतेव
३ देखिस्	देखिन्	देखतिस्	देखतिन्

निश्चित वर्तमान (मैं देख रहा हूँ) के अशिष्ट-रूप देखत्-हवउँ तथा शिष्ट रूप देखत्-हौं होते हैं। इसका संक्षिप्त-रूप देखथौं भी कभी कभी प्रयुक्त होता है।

घटमान अतीत के रूप=(मैं देखता था) देखत्-रहेंव होता है।

घटमान वर्तमान (मैंने देखा है) आदि के रूप, अशिष्ट में, देखे-हवउँ तथा शिष्ट में, देखे हौं होते हैं। इसीप्रकार "मैं देख रहा था" का देखत्-रहेंव होता है। 'मैंने देखा है' के रूप अशिष्ट में देखे-हवउँ तथा शिष्ट में देखे हौं होते हैं। हवै संयुक्त करके भी शिष्ट-रूप सम्पन्न होते हैं। यथा, देखेव-हवै (मैंने देखा है)। 'मैंने देखा था' का रूप देखे-रहेंव होता है।

(ग) स्वरान्त धातुएँ—मड़ान् रखना; सम्भाव्य वर्तमान—(१) मड़ाओं या मड़ाँव (२) मड़ास या मड़ावस् आदि।

भविष्यत्—(१) मड़ाहौं (२) मड़ावे आदि। अतीत-मड़ायेंव; वर्तमानकृदन्तीय-रूप-मड़ात्।

भपों, संयुक्त करना या जोड़ना; सम्भाव्य वर्तमान (१) भपोओं (२) भपोस् या भपोवस् आदि; भविष्यत्-भपोहौं, अतीत-भपोयेंव; वर्तमान-कृदन्तीयरूप भपोत्। इसीप्रकार अन्य क्रियाओं के रूप भी चलते हैं।

(घ) अनियमित-क्रियापद

क्रियासूचक-संज्ञा—होन् (होना); जान् (जाना); करन् (करना); देन् (देना); लेन् (लेना) आदि।

अतीत के कृदन्तीयरूप—(अनियमित) होये या भये;

असमापिका भय्; 'वह गया' के लिए गये, गय् या गये रूप होते हैं। इसीप्रकार करे, किये या किहे, दिये, दिहे तथा लिए या लिहे रूप होते हैं।

(ङ) कर्तृवाच्य—के रूप अतीत के कृदन्तीयरूप में 'जान' संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं। यथा-देखे-गयेंव, मैं देखा गया।

(च) छत्तीसगढ़ी के णिजन्त के रूप हिंदी की भाँति ही होते हैं।

(४) अव्यय-के ए, च तथा एच, लघुरूप 'तक' अर्थ में तथा, ओ, ओच् एवं हू रूप 'भी' अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यथा, दाई-च-का, 'मा तक को,' तोर्-ओच्-तुम्हारा भी।

बिहारी

डाक्टर ग्रियर्सन ने पश्चिमी-मागधी बोलियों का बिहारी नामकरण किया है। बिहारी से ग्रियर्सन का उस एक भाषा से तात्पर्य है जिसकी मगही, मैथिली तथा भोजपुरी तीन बोलियाँ हैं। बिहारी नामकरण के निम्नलिखित कारण हैं—

(१) पूर्वी-हिन्दी तथा बँगला के बीच में बिहारी की अपनी विशेषताएँ हैं जो ऊपर की तीनों बोलियों में सामान्य-रूप से वर्तमान हैं।

(२) भाषा के अर्थ में-ई प्रत्ययान्त, बिहारी नाम भी गुजराती, पञ्जाबी, मराठी आदि की श्रेणी में आ जाता है।

(३) ऐतिहासिक-दृष्टि से भी यह नाम उपयुक्त है। बौद्ध-बिहारों के नाम पर ही इस प्रदेश का नाम (बिहार) पड़ा। प्राचीन-बिहारी-भाषा ही वस्तुतः प्रारम्भिक बौद्धों तथा जैनों की भाषा थी।

(४) बिहारी में साहित्य का सर्वथा अभाव है, ऐसी बात भी नहीं है। उत्तरी-बिहार की भाषा, मैथिली, में प्राचीन साहित्य उपलब्ध है।

बिहारी का भौगोलिक-क्षेत्र—पश्चिम में बिहारी, उत्तर-प्रदेश की गोरखपुर तथा बनारस कमिश्नरियों में बोली जाती है। दक्षिण में यह छोटा नागपुर के पठारों में प्रचलित है। उत्तर में हिमालय की तराई से दक्षिण में मानभूमि तक तथा दक्षिण-पश्चिम में मानभूमि से लेकर उत्तर-पश्चिम में बस्ती तक इसका विस्तार है।

बिहारी की भाषागत सीमाएँ—बिहारी के उत्तर में हिमालय की तिब्बती-बर्मी भाषाएँ, पूरब में बँगला, दक्षिण में उड़िया तथा पश्चिम में पूर्वी-हिन्दी की छत्तीसगढ़ी बघेली तथा अवधी बोलियाँ प्रचलित हैं।

बिहारी का वर्गीकरण—बिहारी का वर्गीकरण पहले विद्वानों ने, बीच की भाषा, पूर्वीहिंदी की बोलियों में—अवधी, बघेली तथा छत्ती सगढ़ी—के साथ किया। इसके कई कारण थे। वस्तुतः ऐतिहासिक-दृष्टि से बिहारी-भाषा बोलने वालों का सम्बन्ध, उत्तर-प्रदेश से ही अधिक है। समय-समय पर उत्तर-प्रदेश की विभिन्न-जातियाँ ही बिहार में जाकर बस गईं और बिहारी-भाषा-भाषी बन गईं। विवाहादि सम्बन्ध से भी बिहार का सम्बन्ध, बंगाल की अपेक्षा, उत्तर-प्रदेश से ही अधिक रहा। उत्तर-प्रदेश की

व्रजभाखा का, मध्ययुग में, बिहार में पर्याप्त आदर था और आज की नागरी-हिंदी अथवा खड़ीबोली समस्त बिहार की शिक्षा का माध्यम है। यद्यपि बंगाल तथा बिहार में अत्यन्त प्राचीन-काल से, निकट का सम्बन्ध है और इधर हाल तक, राजनीतिक-दृष्टि से बिहार, बंगाल का ही एक भाग था, तथापि शिक्षित-बंगाली तथा बिहारी कभी इस बात का अनुभव नहीं कर सके कि उनकी मातृ-भाषाओं का स्रोत वस्तुतः एक ही है। बंगला भाषा-भाषियों ने बिहारियों को 'पश्चिमा' तथा उनकी भाषा को सदैव पश्चिमी-हिंदी की ही एक विभाषा माना। बंगाल से अलग हो जाने पर तो बंगाल एवं बिहार में और भी अधिक पार्थक्य हो गया है और इन दोनों प्रदेशों में मनमुटाव की जो दरार पड़ गई है वह आज भी पट नहीं सकी है। यह होते हुए भी, यह निर्विवाद सत्य है कि बिहारी, पूर्वीहिंदी से पृथक् भाषा है तथा इसका सम्बन्ध बँगला, उड़िया तथा असमिया से है।

बिहारी तथा बंगाली संस्कृति—बिहार तथा बंगाल में केवल भाषा-सम्बन्धी ही एकता नहीं है, अपितु दोनों में सांस्कृतिक एकता का भी दृढ़ बन्धन है। जिसप्रकार बंगाल शक्ति का उपासक है, उसीप्रकार समस्त बिहार भी प्रधानरूप से शाक्त ही है। प्रायः मिथिला तथा बंगाल का सम्बन्धसूत्र तो सभी लोग स्वीकार करते हैं, किन्तु भोजपुरी-प्रदेश को मागधी-संस्कृति से पृथक् मानते हैं। यह भी वास्तव में भ्रम ही है। भोजपुरी-भाषा-भाषी प्रदेश यद्यपि बिहार के पश्चिमी छोर पर है, तथापि उसकी तथा बंगाल की संस्कृति में अत्यधिक साम्य है। बँगला की भाँति ही, प्रत्येक भोजपुरी गाँव में काली-बाड़ी (काली स्थान अथवा मन्दिर) की प्रथा है। इसके अतिरिक्त इधर मुख्य रूप से शिव तथा दुर्गा की पूजा का ही प्रचलन है। प्रत्येक परिवार की इष्ट देवी का सम्बन्ध भी शाक्त परंपरा से ही है। विवाह के अवसर पर भोजपुरी प्रदेश में सर्वप्रथम शक्ति (माता) के ही गीत गाये जाते हैं।

शक्ति और शिव की उपासना के साथ-साथ बिहारी भाषा-भाषी क्षेत्र में विष्णु की पूजा भी प्रचलित है। यह पूजा शालिग्राम, राम तथा हनूमान के रूप में ही होती है। अयोध्या के निकट होने तथा तुलसीकृत 'रामचरितमानस' के विशेष प्रचार के कारण ही राम तथा उनके परम-भक्त हनूमान की उपासना बिहार—विशेषतया भोजपुरी-क्षेत्र—में प्रचलित है। वीर भोजपुरियों का महावीर हनूमान की ओर, विशेष आकर्षण स्वाभाविक है।

मागधी-संस्कृति के फलस्वरूप, प्राचीनकाल में, भोजपुरी-क्षेत्र में,

जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' का भी प्रचार था, परन्तु आजकल इसका स्थान 'रामचरितमानस' ने ले लिया है। बंगाल का प्रसिद्ध छंद 'पयार' तो किसी समय सम्भवतः समस्त बिहार में प्रचलित था और आज भी अहीरों के बिरहों की कड़ियों में यह छन्द सुनाई पड़ता है।

बिहारी-भाषा की उत्पत्ति—ऊपर यह कहा जा चुका है कि बिहारी—मैथिली, मगही, भोजपुर—एवं बँगला, उड़िया तथा असमिया की उत्पत्ति मागधी-प्राकृत तथा अपभ्रंश से हुई है। यह प्राकृत मूलतः उन आर्यों की भाषा थी जिसे हार्नेली तथा ग्रियर्सन ने बाहरी आर्यों के नाम से अभिहित किया है। ग्रियर्सन के अनुसार, अत्यन्त प्राचीनकाल में, मागधी का प्रसार उत्तरी-भारत में भी था; किन्तु कालान्तर में शौरसेनी के प्रभाव के कारण, मागधी दक्षिण तथा पूरब की ओर फैल गई। उस युग में इस मागधी का ठीक-ठीक स्वरूप क्या था, यह आज कहना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण तथा पूरब के प्रसार में, मागधी ने कई अनार्य-भाषाओं पर विजय प्राप्त किया होगा।

शौरसेनी तथा मागधी के बीच अर्द्धमागधी का क्षेत्र है। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है, अर्द्धमागधी में शौरसेनी तथा मागधी दोनों की विशेषताएँ वर्तमान हैं; किन्तु वस्तुतः अर्द्धमागधी पर मागधी का ही अधिक प्रभाव है, अन्यथा प्रवीन-वैयाकरण इसे अर्द्धशौरसेनी नाम से अभिहित किए होते।

समय की प्रगति से शौरसेनी अपने केन्द्र मध्यदेश से, पूरब की ओर बढ़ी, और इसने अर्द्धमागधी के पश्चिमी क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। उधर मागधी भी अर्द्धमागधी के पूर्वी-क्षेत्र की ओर बढ़ी, किन्तु पश्चिम की ओर बढ़ने में उसे अधिक सफलता नहीं मिली और वह इलाहाबाद तथा जबलपुर के बीच से होती हुई महाराष्ट्र-प्रदेश की ओर चली गई। इधर पहले अर्द्ध-मागधी अथवा विकृत शौरसेनी प्रचलित थी। ग्रियर्सन के अनुसार दक्षिणी भाषाएँ—मराठी, कोंकणी आदि—यद्यपि मागधी प्रसूत हैं, तथापि इन पर शौरसेनी का प्रभाव है। इसीप्रकार उत्तरी भाषाएँ—गढ़वाली कुमायूँनी, नेपाली आदि—यद्यपि शौरसेनी-प्रसूत हैं, तथापि इन पर मागधी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ग्रियर्सन के निम्नलिखित विवरणपट से, उत्पत्ति की दृष्टि से आधुनिक-आर्यभाषाओं की स्थिति बहुत स्पष्ट हो जाती है—

प्राचीन संस्कृत [बोलचाल रूप में थी]
प्राचीन कथ्य प्राकृत
कथ्य शौरसेनी प्राकृत
कथ्य मागधी प्राकृत
बोलचाल की भाषाएँ
पश्चिमी गौड़ीय
उत्तरी गौड़ीय
दक्षिणी गौड़ीय
पूर्वी गौड़ीय
भाषाएँ
सिन्धी
गुजराती
पंजाबी
पश्चिमी-हिंदी
गढ़वाली
कुमायूनी
नेपाली
मराठी
बिहारी
बँगला
उड़िया
असमिया
बोलियाँ
राजस्थानी
बाँगरू
वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी या नागरी-हिंदी या खड़ीबोली
ब्रजभाषा
कनौजी
बुन्देली
दक्षिणी
कोंकणी
भोजपुरी
मैथिली
मगही
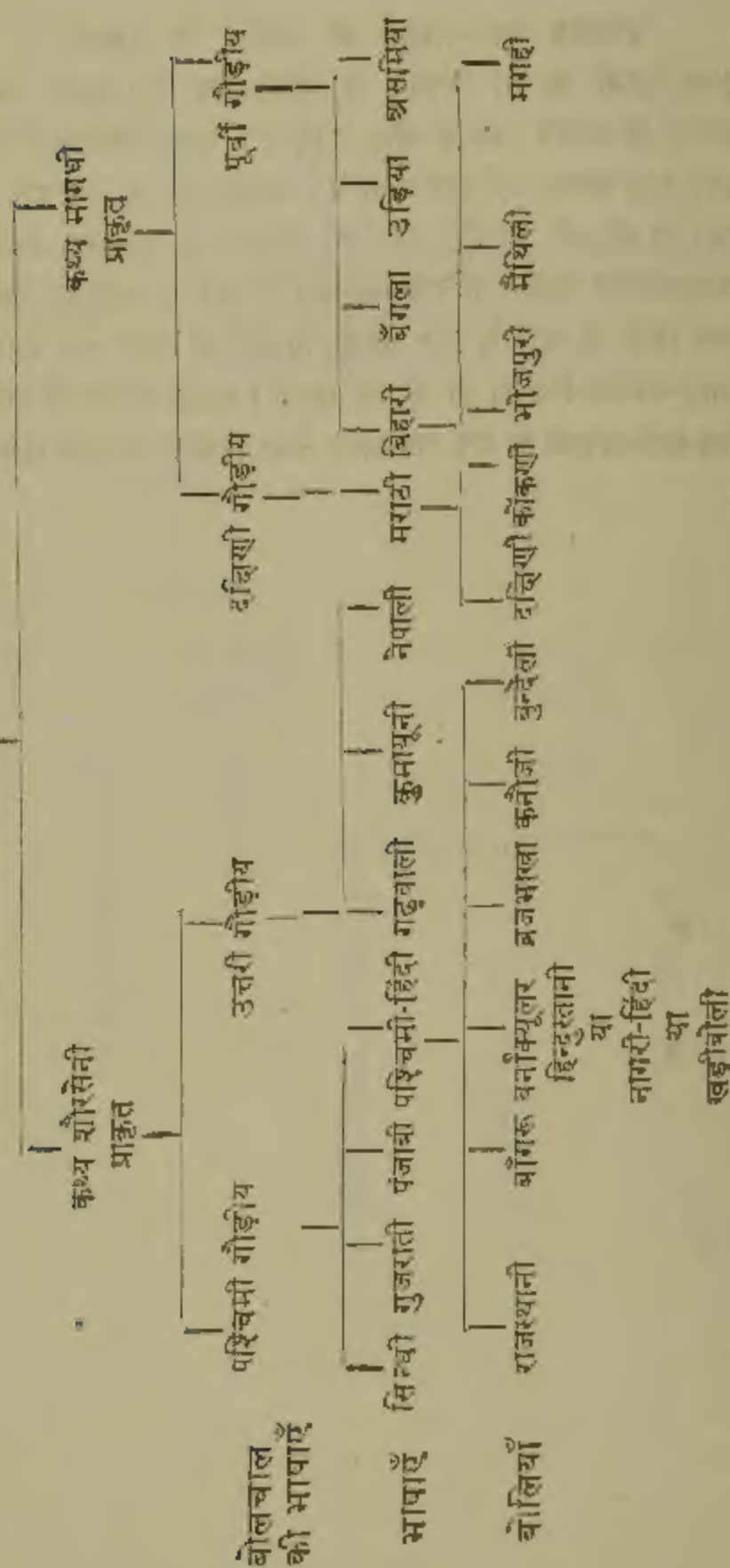
आधुनिक आर्य-भाषाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डा० सुनीति कुमार चटर्जी का मत ग्रियर्सन से तनिक भिन्न है। आपके अनुसार पहाड़ी भाषाओं की उत्पत्ति खश अपभ्रंश से हुई है। उत्तर हिमालय के निवासी किसी समय खश अथवा दर्द-भाषा-भाषी थे। प्राकृत-युग में राजस्थान के निवासी इधर जा बसे और उन्होंने यहाँ की बोलियों को प्रभावित किया। इसी के परिणामस्वरूप पहाड़ी बोलियाँ अस्तित्व में आईं। इसीप्रकार जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, डा० चटर्जी, ग्रियर्सन की भीतरी तथा बाहरी आर्यों के भाषा-सम्बन्धी-सिद्धान्त को भी नहीं मानते। आपने उत्पत्ति की दृष्टि से, आधुनिक-आर्य-भाषाओं का एक विवरणपट तैयार किया है जो आगे दिया जाता है—

शौरसेनी
शौरसेनी अपभ्रंश
पश्चिमी हिन्दी
मागधी
पश्चिमी मागधी
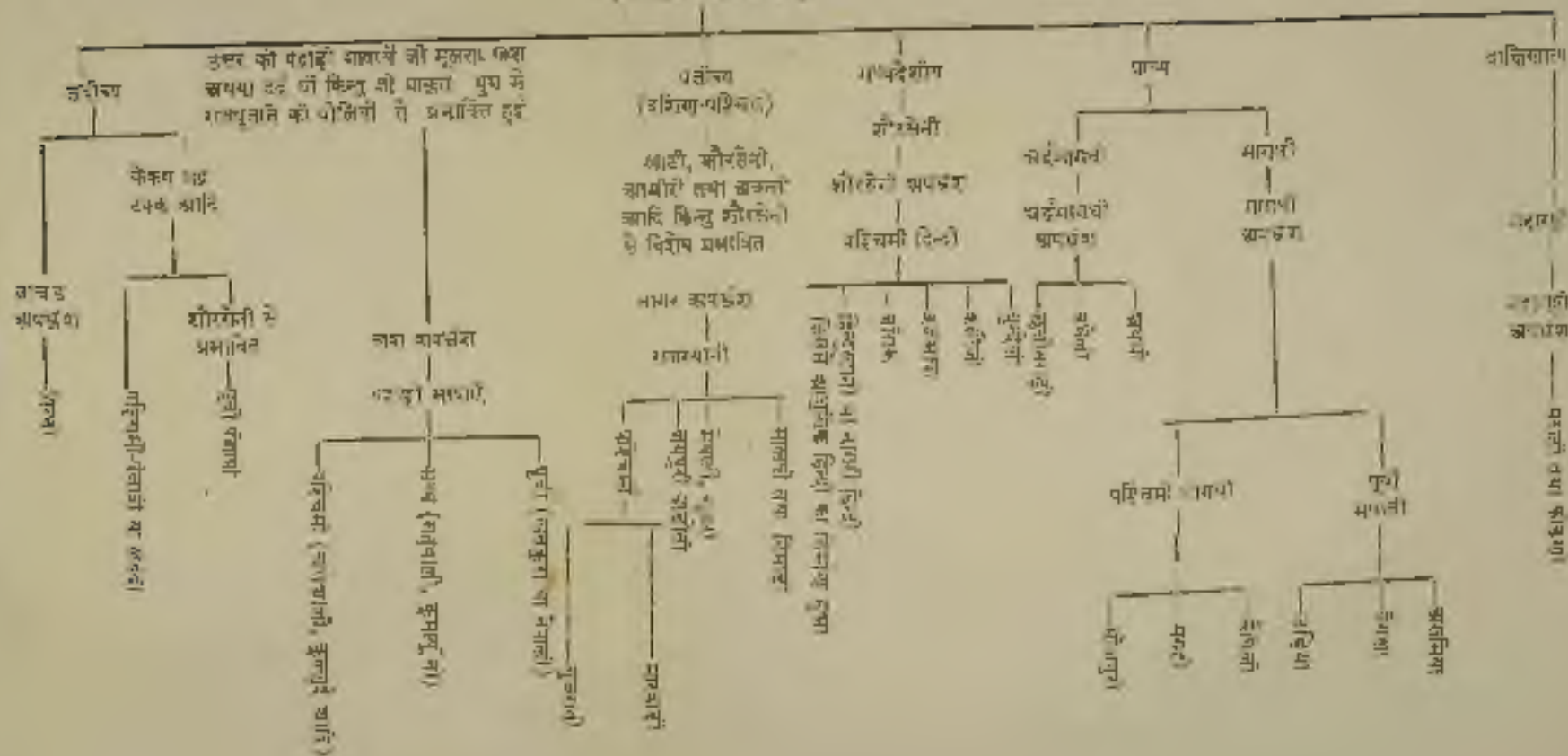
दोनों विवरणपटों के देखने से एक बात जो स्पष्ट हो जाती है यह है कि हिन्दी तथा बिहारी की उत्पत्ति दो पृथक प्राकृतों से हुई है। बिहार की बोलियों का वस्तुतः बँगला से तथा हिन्दी का राजस्थानी एवं पंजाबी से ही अति निकट का सम्बन्ध है। इसमें अतिशयोक्ति भी नहीं है। एक अशिक्षित तथा निरक्षर बिहारी बंगाल में जाकर अल्पप्रयास से ही शुद्ध बँगला बोलने लगता है; किन्तु साधारण-रूप में शिक्षित एवं साक्षर बिहारी के लिए भी शुद्ध हिंदी बोलना सरल कार्य नहीं है। हाँ, यह बात दूसरी है कि अनेक कारणों से, बिहार में शिक्षा का माध्यम हिंदी ही रहेगी। यह वास्तव में बिहारी भाषा बोलनेवालों का सौभाग्य ही है कि एक ओर-वे बँगला के ललित-साहित्य का आनन्द ले सकते हैं तो दूसरी ओर वे पश्चिम की बलिष्ठ-भाषा, हिंदी के माध्यम से अपने हृदय के भावों का प्रकाशन कर सकते हैं। बिहार में, व्यवहारिक-दृष्टि से आज, उच्च-शिक्षा का माध्यम हिंदी के अतिरिक्त कोई अन्य भाषा नहीं हो सकती।

यद्यपि साहित्यिक-भाषा के रूप में, बिहारी-भाषा-भाषी-क्षेत्र में आज हिंदी की ही प्रतिष्ठा है तथापि बिहारी—मैथिली, मगही एव भोजपुरी—बोलने-वालों को अपनी-अपनी बोलियों के प्रति अत्यधिक ममता है। बिहारी की इन बोलियों की जड़ें यहाँ की जनता के हृदय में बहुत दूर तक चली गई हैं और यह आशा करना कि निकट भविष्य में, बोलचाल के रूप में भी, हिंदी इनका स्थान ले लेगी, दुराशामात्र है। इन बोलियों के अनेक शब्द आज समर्थ बिहारी लेखकों द्वारा हिंदी में प्रयुक्त होकर उसे सशक्त बना रहे हैं। आज हिंदी तथा बिहार की इन बोलियों में किसीप्रकार की प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। ये वस्तुतः हिंदी की पूरक ही हैं।

बिहारी तथा हिन्दी

सर्वप्रथम बिहारी तथा हिंदी के उच्चारण के सम्बन्ध में विचार करना उपयुक्त होगा।

(१) हिन्दी मूर्धन्य 'ड़' तथा 'ढ़' का उच्चारण, बिहारी में 'र' तथा रह (rh) हो जाता है। यथा—हिं०, पढ़ना>बि० परल या परब। इसीप्रकार हिंदी 'ल्', बिहारी में, 'र्' तथा 'न्' में परिणत हो जाता है। यथा—हिं० फल> बि० फर; हिं० गाली>भो० पु० गारी; हिं० लंगोट>भो० पु० लंगोट, तथा नंगोट; लँगोटी>भो० पु० लँगोटी, नँगोटी तथा निंगोटी।

बँगला में भी प्रायः यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। यथा—हिं० तथा संस्कृत लक्ष्मी>आदर्श बँ० लक्खी किन्तु ग्रामीण बँगला नक्खी, एवं हिन्दी लँगोटी> बँ० नेंगटी।

(२) हिन्दी में स्वर मध्यग 'ह्' का लोप हो जाता है, किन्तु बिहारी (भो० पु०) में यह सन्ध्यक्षर रूप में मौजूद है, यथा—हि० दिया> बि० दिह्लस्।

(३) बिहारी तथा बँगला में, विस्मयादिबोधक को छोड़कर, शब्द के आदि में 'य' तथा 'व' नहीं आते, किन्तु पश्चिमी-हिंदी की ब्रजभाखा में 'य' तथा 'व' आते हैं। खड़ीबोली में तो ये 'इ' तथा 'उ' में परिणत हो जाते हैं। यथा--बिहारी (भो० पु०) एमे, ओमे> ब्र० भा० यामे, वामे, किन्तु हिंदी इसमें, उसमें।

(४) बिहारी तथा बँगला में ह्रस्व ऍ, ऐ ओ एवं औ का प्रयोग होता है; किन्तु हिंदी में इनका अभाव है। यथा—बि० बे टिया, बो लावत्, तथा बँ० ऍक, बेक्ति (व्यक्ति) तथा गो म (गेहूँ); किन्तु, हिंदी बिटिया, बुलाना आदि।

(५) बिहारी में दो स्वर, अइ तथा अउ एक साथ आते हैं; किन्तु हिंदी में ये ऐ तथा औ में परिणत हो जाते हैं। यथा—बि० बइसे>हि बैठे; बि० अउर> हिं० औंर।

शब्दरूप

(१) बिहारी में आकारान्त—घोड़ा, भला, बड़ा आदि-शब्द हिंदी से ही आये हैं। हिंदी के भी ये अपने शब्द नहीं हैं, अपितु इसमें भी ये पंजाबी से आए हैं। बिहारी के वास्तविक शब्द हैं—घोड़, भल् आदि। ब्रजभाषा में इनके ओकारान्त तथा औकारान्त रूप हो जाते हैं। यथा—घोड़ो, घोड़ौ; भलो, भलौ आदि। हिंदी के जो सर्वनाम का रूप ब्रजभाखा में जो, जौ होता है, किन्तु बिहारी (भो० पु०) में यह जे हो जाता है।

(२) बिहारी के व्यक्तिवाचक सर्वनाम के सम्बन्धकारक के एकवचन के रूप के मध्य में ओ आता है; किन्तु खड़ीबोली तथा ब्रजभाखा में यह ए में परिणत हो जाता है। यथा—बि० मोर; हिं० मेरा, ब्र० भा० मेरौ।

हिन्दी = हिं; बिहारी = बि०; बँगला = बँ०, ब्रजभाषा = ब्र० भा०; भोजपुरी = भो० पु०; मैथिली = मै०।

(३) हिंदी में केवल कर्त्ता तथा तिर्यक् के रूप ही मिलते हैं; किन्तु बिहारी में करण तथा अधिकरण के रूप भी मिलते हैं। यथा—मैथिली घोड़े (सं० घोटकेन), घोड़े (स० घोटके) भो० पु० इंटे, (इंड़े, से) घरें (घर में)।

(४) बिहारी में कर्त्ताकारक के संज्ञापदों के साथ ने प्रयुक्त नहीं होता। पूर्वी-हिन्दी में भी इस अनुसर्ग का अभाव है; किन्तु हिंदी की सभी बोलियों में यह वर्तमान है, यथा—बि० कइलसि; ब्र० भा० वाने कियौ; हिं० उसने किया।

(५) बिहारी में आकारान्त, तिर्यक एकवचन का रूप आकारान्त ही रहता है, किन्तु हिन्दी में यह एकारान्त हो जाता है। यथा—बि०, कर्ता–घोड़ा, तिर्यक्–घोड़ा; हिं० तिर्यक् घोड़े।

(६) व्यञ्जनान्त संज्ञापदों के तिर्यकरूप बिहारी में 'अ' अथवा 'ए' संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं। यथा—मगही-घरे से; किन्तु हिं० घर से। इससे बिहारी में 'ए' से अन्त होनेवाले क्रिया-विशेष्य-पदों (Verbal Nouns) के रूपों की स्पष्ट व्याख्या हो जाती है। बिहारी। (भो० पु०) तथा हिंदी के इच्छाद्योतक वाक्य की तुलना से यह स्पष्ट हो जावेगा। यथा—भो० पु० उ बोले के चाहेला; हिं०-वह बोला या बोलना चाहता है।

(७) बिहारी में ल से अन्त होनेवाले, क्रिया-विशेष्य-पदों के तिर्यकरूप, आ से अन्त होते हैं, यथा—बि० (भो० पु०) मारल तिर्यक् मॉरला। हिंदी में इसप्रकार के रूपों का अभाव है।

(८) बिहारी तथा हिंदी अनुसर्गों में पर्याप्त अन्तर है।

(९) हिंदी-सम्बन्ध कारक में, कौ (ब्रजभाखा) तथा नागरी-हिंदी (खड़ी-बोली) में का, के तथा की अनुसर्ग प्रयुक्त होते हैं। हिंदी में इनके प्रयोग दो बातों पर निर्भर करते हैं :—(१) अनुसर्गों के बाद के संज्ञापद, कर्त्ता अथवा तिर्यकरूप में हैं; (२) अनुसर्गों के बाद के संज्ञापद स्त्रीलिंग अथवा पुलिंग हैं। यथा, (हिं०) उसका घोड़ा, उसके घोड़े पर, उसकी घोड़ी। बिहारी में इसप्रकार के प्रयोग नहीं मिलते। यहाँ दो प्रकार के सम्बन्ध के अनुसर्ग हैं—(क) जो कभी परिवर्तित नहीं होते, यथा, ओकर घोड़ा ओंकर घोड़ा पर, ओकर घोड़ी तथा (ख) जो अनुसर्ग के बाद के कर्त्ता अथवा तिर्यक् के रूपों के अनुसार परिवर्तित होते हैं, लिंग के अनुसार नहीं। यथा, (भो० पु०) ओ करे घोड़ा ओ करे घोड़ी; ओ करा घोड़ा पर, ओकरा घोड़ी पर।

बिहारी की कतिपय बोलियों में इससे सर्वथा विपरीत बात है। यहाँ लिंग के अनुसार तो परिवर्तन होता है, किन्तु कर्त्ता अथवा तिर्यक् के रूपों के अनुसार

परिवर्तन नहीं होता। यथा, (मगही) ओकरा घोड़ा, ओकरा घोड़ा पर, ओकरी घोड़ी, ओकरी घोड़ी पर।

यह बात उल्लेखनीय है कि बिहारी तथा बंगला के सम्बन्ध-कारक के अनुसर्गों में पूर्ण साम्य है। यथा, उहार् घोड़ा, उहार घोड़ाय, उहार घोड़ी, उहार घोड़ीते।

क्रियारूप

(१) बिहारी की कतिपय बोलियों में वर्तमान के रूप, प्राचीन (संस्कृत) के वर्तमान के रूप में ला संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं। यथा, देखिला, मैं देखता हूँ। हिंदी में यह काल नहीं होता।

(२) हिंदी में, वर्तमान कृदन्तीय (शतृ) के रूपों में ही सहायकक्रिया संयुक्त करके मिश्र अथवा यौगिक वर्तमान (Periphrastic present) की रचना होती है, किन्तु बिहारी की कतिपय बोलियों में क्रियाविशेष्यपदों (Verbal Nouns) में सहायकक्रिया जोड़कर, यह काल सम्पन्न होता है। यथा, मगही-हम देखिहि हि० मैं देखता हूँ।

(३) बिहारी में अतीतकाल-अल् प्रत्यय संयुक्त करके सम्पन्न होता है, किन्तु हिंदी (खड़ीबोली) में-आ तथा व्रज में-औ एवं-ओ जोड़कर यह बनता है। यथा, बि० (भो० पु०) रहल्, हिं०, रहा (= था) व्रज, रह्यौ। बँगला में इसका रूप होता है—रोहिलो।

(४) *पुराघटितवर्तमान तथा अतीत* (Perfect, present and past) के रूप हिंदी में, अतीत के कृदन्तीय-रूपों में सहायक-क्रिया जोड़कर सम्पन्न होते हैं। यहाँ सहायक-क्रिया के रूप ही चलते हैं। यथा, मैं गिरा हूँ, तू गिरा है, वह गिरा है आदि। बिहारी में इसप्रकार के रूप तो बनते ही हैं, इनके अतिरिक्त, अन्यपुरुष, एकवचन की सहायक-क्रिया के रूप को, अतीत के रूप में जोड़कर भी कतिपय कालों के रूप सम्पन्न होते हैं। बिहारी में अतीत के रूप ही चलते हैं, सहायक-क्रिया के रूप नहीं; यथा, मगही—हम गिरल् है, 'मैं गिरा हूँ'; तो गिरले है, 'तू गिरा है'; उ गिरल् है, 'वह गिरा है', आदि।

(५) सकर्मक-क्रिया के मिश्र या यौगिककाल में, बिहारी में, पुराघटित कृदन्तीय (Prefect participle) के रूप, तिर्यक के रूप में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु हिन्दी में, ऐसा नहीं होता। यथा, हम देखले बाटी (बानी), 'मैंने देखा है।'

(६) बँगला की भाँति ही, बिहारी में भी, भविष्यत् के रूप अब् संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं; किन्तु ब्रजभाखा में ये इह् की सहायता से सम्पन्न होते हैं, खड़ीबोली में यह रूप एक अन्य ढंग से सम्पन्न होता है। यथा, बि० (भो० पु०) करब, बँ० कोरिबो, ब्र० भा० करिहौं, खड़ीबोली, करूँगा।

(७) बिहारी में, पाँचकाल, सीधे धातु या कृदन्तीय (Participle) के रूप से सम्पन्न होते हैं; ये वस्तुतः मौलिक काल (Simple Tenses) हैं, मिश्र या यौगिक (Periphrastic) नहीं। ये पाँचो काल हैं—वर्तमान, अतीत, भविष्यत् एवं सम्भाव्य-वर्तमान एवं अतीत के रूप। किन्तु खड़ीबोली-हिन्दी में केवल एक ही काल है और वह है सम्भाव्य-वर्तमान। आज्ञा अथवा विधि का रूप, इस सम्भाव्य के रूप का ही एक प्रकार है और इसी में—गा प्रत्यय जोड़ कर भविष्यत् के रूप सम्पन्न होते हैं।

(८) क्रियारूपों के सम्बन्ध में, केवल सम्भाव्य-वर्तमान के एक दो रूपों को छोड़कर, बिहारी तथा हिंदी के क्रियापदों में किसीप्रकार की समानता नहीं है। इसके विपरीत बँगला तथा बिहारी के क्रियापदों के प्रायः सभी रूपों में निकट का सम्बन्ध स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है।

(९) बिहारी में वर्तमान-कृदन्तीय (Present Participle) के रूप एत् तथा-अत् से सम्पन्न होते हैं, किन्तु खड़ीबोली में ये ता जोड़कर बनते हैं। यथा मै० देखैत्, भो० पु० देखत् ख० बो० देखता।

(१०) हिन्दी में क्रियाविशेष्यपद (Verbal Nouns) तीन रूपों में मिलते हैं। ये हैं—(१)—अब्, (२) न ना तथा (३) इ; तिर्यक्—आ प्रत्ययान्त इसके उदाहरण क्रमशः हैं—चलब्यौं, चलन्यौ चलना, चलीः तिर्यक्-चला। बिहारी में—अब् प्रत्ययान्त रूप तो मिलता है; किन्तु अन्य दो रूप नहीं मिलते; इनके स्थान पर एक—अल् प्रत्ययान्त तथा दूसरा केवल धातु रूप में ही क्रिया-विशेष्यपद मिलते हैं। इसके उदाहरण, बिहारी में, चलब्, चलल् तथा चल् हैं। अन्तिम का तिर्यक् रूप चले होता है। ब तथा-ल प्रत्ययान्त, क्रिया-विशेष्य के तिर्यक् रूप, बंगला में भी मिलते हैं। यथा-चोलिबार, चलने के लिए; चोलिले, चलने पर या चलकर। अन्तिम रूप को, बँगला में असमापिका क्रिया कहते हैं।

(११) बिहारी में णिजन्त (प्रेरणार्थक) के रूप साधारण-क्रिया में आव् प्रत्यय संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं, किन्तु खड़ीबोली में ये आ (आय) जोड़कर बनते हैं। यथा-बि० (भो० पु०) करावल, ख० बो० कराना।

(१२) बिहारी तथा हिन्दी में एक तात्विक अन्तर यह भी है कि हिंदी की सकर्मक-क्रियाओं में जहाँ कर्मणि-प्रयोग चलता है, वहाँ बिहारी-मैथिली, मगही तथा भोजपुरी-में कर्तरिप्रयोग प्रचलित है। मागधी-प्रसूत, बँगला, उड़िया आदि भाषाओं में भी कर्तरिप्रयोग प्रचलित हैं; यथा-हि० मैंने घोड़ा देखा; मैंने घोड़ी देखी; किन्तु बिहारी (भो० पु०) में—हम घोड़ा देखलीं; हम घोड़ी देखलीं।

(१३) बिहारी तथा हिन्दी के कतिपय साधारण शब्द एवं प्रयोग भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। उदाहरणस्वरूप बिहारी (भो० पु०) में अन्य पुरुष, एक वचन वर्तमान की सहायक-क्रिया बाटे (भो० पु० उ बाटे = हि० वह है), तथा अतीत-काल की क्रिया रहल (भो० पु० उ रहल = हि० वह था) हैं; किन्तु हिन्दी (खड़ीबोली) में ये क्रमशः है तथा था है। भोजपुरी की भाँति ही बँगला में भी बोटे (वह है) का प्रयोग होता है।

पुनः नकारात्मक रूप में बिहारी में जिन, जनि तथा मति शब्द व्यवहृत होते हैं, किन्तु हिन्दी में केवल मत का प्रयोग होता है। इसीप्रकार बिहारी में सम्प्रदान के अनुसर्गरूप में बदे, खातिर, लागि, लेल एवं ले का व्यवहार होता है, किन्तु हिंदी (खड़ीबोली) में इनके स्थान पर केवल लिए प्रयुक्त होता है।

ऊपर के विवरण एवं विवेचन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि बिहारी (मैथिली, मगही तथा भोजपुरी) एवं पश्चिमी-हिन्दी (खड़ीबोली, ब्रजभाखा आदि) में तात्विक अन्तर है। इन दोनों की उत्पत्ति दो विभिन्न-प्राकृतों से हुई है तथा उच्चारण, व्याकरण, वाक्यगठन एवं शब्दों के प्रयोग में, इनमें पर्याप्त अन्तर है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि बिहारी—मैथिली, मगही तथा भोजपुरी—का जिन बातों में पश्चिमीहिन्दी से पार्थक्य है; उन्हीं बातों में इसका बँगला से साम्य है। बिहारी बोलियों की पारस्परिक एकता इस बात को स्पष्टरूप से प्रमाणित करती है कि इनकी उत्पत्ति मागधी-अपभ्रंश से है।

बिहारी बोलियों की आन्तरिक एकता

ऊपर यह कहा जा चुका है कि डा० ग्रियर्सन ने मैथिली, मगही तथा भोजपुरी को एक ही भाषा के रूप में देखा था तथा इसका बिहारी नामकरण किया था। वस्तुतः बिहार की इन तीनों बोलियों के व्याकरण के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् ही ग्रियर्सन इस परिणाम पर पहुँचे थे और वैज्ञानिक दृष्टि से उनकी यह खोज अत्यन्त महत्पूर्ण है; किन्तु इधर कुछ लोग ग्रियर्सन

की इस खोज को अन्यथा सिद्ध करने का उद्योग कर रहे हैं। अभी हाल ही में श्री जयकान्त मिश्र ने अँग्रेजी में 'ए हिस्ट्री आव मैथिली लिट्रेचर' थीसिस लिखकर प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त की है। डा० मिश्र अपनी थीसिस के पृ० ५६ पर 'मैथिली तथा भोजपुरी' शीर्षक के अन्तर्गत लिखते हैं—

'भोजपुरी के सम्बन्ध में पुनः यह बात दुहराई जा सकती है कि बिहार की अपेक्षा उसका सम्बन्ध उत्तरप्रदेश से ही अधिक है।' अपने मत की पुष्टि में डा० मिश्र ने डा० चटर्जी की पुस्तक 'ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आव बँगाली लैंग्वेज' के पृ० ६६ से कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की हैं जहाँ उन्होंने यह कहा है कि भोजपुरी-क्षेत्र पर सदैव पश्चिम का प्रभाव रहा है तथा वहाँ पश्चिमी-हिन्दी की ब्रजभाखा तथा हिन्दुस्तानी का ही साहित्यिक-भाषा के रूप में प्रयोग होता रहा है। पुनः इसी पृष्ठ पर डा० मिश्र लिखते हैं—

'डा० ग्रियर्सन ने भोजपुरी को बिहारी के अन्तर्गत रखकर भूल की है।' इसके बाद आपने कतिपय साधारण व्याकरण-सम्बन्धी बातों में मैथिली तथा भोजपुरी की तुलना करके, भोजपुरी को बिहारी तथा मागधी के टाट से बाहर कर दिया है।

डा० मिश्र तथा उन्हीं के समान अन्य व्यक्तियों की ऊपर की विचार-धारा के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि इन महानुभावों ने ग्रियर्सन तथा चटर्जी जैसे भाषाशास्त्रियों के मन्तव्य को गम्भीरता पूर्वक समझने का उद्योग नहीं किया है। इन दोनों पण्डितों ने यह ठीक ही कहा है कि भोजपुरी-भाषा-भाषी-प्रदेश पर पश्चिम का प्रभाव रहा है, किन्तु इन्होंने कहीं भी यह नहीं कहा कि भोजपुरी की उत्पत्ति शौरसेनी अथवा अर्धमागधी-प्राकृत से हुई है। साहित्यिक-रूप में पश्चिम के शौरसेनी अपभ्रंश का किसी युग में, बंगाल तक प्रभाव था, किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि बँगला की उत्पत्ति शौरसेनी से हुई। इसीप्रकार आज समस्त बिहार—मैथिली, मगही तथा भोजपुरी क्षेत्रों—में साहित्यिक-भाषा के रूप में हिंदी का ही प्रचलन है, किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि बिहारी बोलियों की उत्पत्ति उसी प्राकृत से हुई है जिससे हिन्दी की। सच बात तो यह है कि आज बिहारी बोलियों में जितना पार्थक्य है, उसकी अपेक्षा इनमें एकता अधिक है। इसी सम्बन्ध में नीचे विचार किया जायेगा।

उच्चारण—सर्व प्रथम 'अ' के उच्चारण के संबंध में विचार करना

आवश्यक है। डा० मिश्र अपनी पुस्तक के पृ० ६३ में लिखते हैं—'भोजपुरी में 'अ' का उच्चारण, यू० पी० की भाँति ही होता है, पूरब के वर्तुलाकार उच्चारण की तरह नहीं।'

यू० पी० उच्चारण से डा० मिश्र का तात्पर्य पश्चिमी-हिन्दी के उच्चारण से ही है। आपके अनुसार भोजपुरी में 'अ' का उच्चारण ठीक खड़ीबोली 'अ' के उच्चारण की भाँति ही होता है। यह अशुद्ध है। "भोजपुरी भाषा और साहित्य"* के पृष्ठ ७३ में, भोजपुरी 'अ' के उच्चारण के संबंध में पूर्ण रूप से विचार किया गया है। उसके देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः मैथिली तथा भोजपुरी, दोनों, में 'अ' का उच्चारण समान रूप से ही होता है।

निम्नलिखित दशाओं में भी मैथिली तथा भोजपुरी में 'अ' के उच्चारण में समानता है—

(१) अन्य नव्य-भारतीय-आर्य-भाषाओं [पंजाबी, हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती] की भाँति ही मैथिली, मगही, तथा भोजपुरी में भी पदान्त स्थित, 'अ' का उच्चारण नहीं होता; यथा—फल, दाल, भात आदि में 'ल' 'त' में अ का उच्चारण नहीं होता, यद्यपि इन्हें सस्वर लिखने की प्रथा है। किन्तु कभी-कभी इन तीनों में 'अ' का अपवाद स्वरूप उच्चारण होता भी है।

(क) नहीं के अर्थ में 'न' का विलम्बित उच्चारण मगही, मैथिली तथा भोजपुरी, तीनों, में समान रूप से होता है।

(ख) शान्त, प्रिय, आद्य आदि तत्सम-शब्दों में भी बिहार की तीनों बोलियों में 'अ' का उच्चारण होता है।

(ग) कतिपय क्रिया-रूपों में भी बिहारी की तीनों बोलियों में 'अ' का उच्चारण होता है। यथा देखिह के 'ह' में।

(२) जहाँ दो-पदों का समास होता है, वहाँ भी पहले पद के अन्त के 'अ' का उच्चारण बिहार की तीनों बोलियों में होता है। यथा-फल+दायक में फल' के 'ल' में 'अ' का उच्चारण होता है। इसीप्रकार ह,मरा तथा दे,खल आदि में 'म' तथा ख' में 'अ' का उच्चारण होता है; क्योंकि ये स्वराघात के बाद आए हैं।

इ ई, उ ऊ आदि स्वरों के उच्चारण के सम्बन्ध में भी मैथिली, मगही

*भोजपुरी भाषा और साहित्य—बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना।

तथा भोजपुरी में पूर्ण साम्य है। स्थान-संकोच से इस विषय में लिखने का लोभ संवरण करना पड़ता है।

हिन्दी तथा बिहारी में उच्चारण-सम्बन्धी जो अन्तर है, वह 'बिहारी तथा हिन्दी' शीर्षक के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है। वहाँ बिहारी के अधिकांश उदाहरण भोजपुरी से ही लिए गये हैं। बीच-बीच में बँगला से भी उदाहरण दिए गये हैं। इससे बिहारी बोलियों के उच्चारण-सम्बन्धी स्थिति का बहुत-कुछ पता चल जाता है।

संज्ञा के रूप

मैथिली, मगही तथा भोजपुरी, तीनों, में संज्ञा तथा विशेषण के कई रूप होते हैं जिनके अर्थ में विशेष अन्तर नहीं होता। ये रूप हैं लघु (Short), गुरु (Long) तथा अनावश्यक या अतिरिक्त (Redundant)। लघु रूप में भी निर्बल (Weak) तथा सबल (Strong) रूप हो सकते हैं।

लघुरूप ही वस्तुतः अति प्रचलितरूप हैं। निर्बल तथा सबल, इन दो रूपों में से निर्बलरूप वस्तुतः संज्ञा के अति लघुरूप हैं। निर्बल-रूपों के अन्त में व्यंजन अथवा ह्रस्व 'इ' रहता है। इनमें 'अ' लगाने अथवा अन्तिम-स्वर को दीर्घ करने से सबल-रूप सिद्ध होते हैं। यथा-घोड़्, घोड़ा; लोह्, लोहा; छोट्, छोटा; मारि, (मरपीट) छोटि, छोटी आदि।

लघुरूपों में-या तथा वा संयुक्त करके ही बिहारी (मैथिली, मगही तथा भोजपुरी) में गुरुरूप सिद्ध होते हैं। यथा-घोड़िया, घोड़वा आदि।

संज्ञा की भाँति ही विशेषण के लघुरूपों में भी का तथा क्का (स्त्री० लि०-की, क्की) संयुक्त करके गुरुरूप सिद्ध होते हैं। यथा-बड़का, गुरुरूप बड़+का, एवं छोट्+का छोटका होगा। इसीप्रकार भारी का गुरुरूप भरिक्का होगा तथा छोटि (स्त्री० लि०) का गुरुरूप छोटकी होगा।

बहुवचन के रूप

वचन के सम्बन्ध में मैथिली तथा भोजपुरी की तुलना करते हुए, डा० जयकान्त मिश्र पुस्तक के पृष्ठ ६३ में लिखते हैं—'मैथिली में बँगला की भाँति ही बहुवचन के रूप बनते हैं किन्तु भोजपुरी में-नि-न तथा न्ह प्रत्यय संयुक्त करके ये रूप बनते हैं।' यह भी सत्य नहीं है। भोजपुरी में जहाँ एक ओर ऊपर के प्रत्ययों की सहायता से बहुवचन के रूप सिद्ध होते हैं, वहाँ मैथिली तथा बँगला की भाँति समुदायसूचक-शब्दों के योग से भी बहुवचन के रूप बनते हैं।

कभी-कभी तो भोजपुरी बहुवचन के रूपों में-नि-नि-न्ह् तथा सभ् या लोगनि एक ही साथ लगते हैं। मैथिली तथा भोजपुरी दोनों, में 'सभ्' संज्ञा के पहले या बाद में आवश्यकतानुसार प्रयुक्त होता है। नीचे भो० पु० लरिका, मै० नेना (लड़का) के सम्बन्ध-कारक के बहुवचन के रूप दिए जाते हैं; यथा-भो० पु० लरिकन, लरिकनि, लरिकन्हि् के अथवा लरिका सभ् के या लरिकन सभ के या लरिका लोगनि के = मै० नेना सभक, नेना सबहिक; नेना लोगनिका। यहाँ एक बात यह उल्लेखनीय है कि भोजपुरी तथा मैथिली दोनों, में 'सभ' तो संज्ञापदों के आदि में आ सकता है, किन्तु लोगनि तथा लोकनि सदैव बाद में ही आते हैं। यथा भो० पु० सभ लरिका के या सभ लरिकन के = मै० सभ नेनाक, सबहि नेनाक।

साधारणतया सर्वनामों के भी बहुवचन के रूप, मैथिली तथा भोजपुरी में, ऊपर के नियमों से ही बनते हैं किन्तु यहाँ कभी-कभी प्रत्ययों का भी व्यवहार होता है। अवधी में भी सर्वनामों के बहुवचन के रूप 'पचन' शब्द की सहायता से सम्पन्न होते हैं। यथा—हम पचन (हम लोग) तू पचन (तुम लोग) आदि।

अनुसर्ग या परसर्ग

भोजपुरी तथा मैथिली अनुसर्गों की तुलना करते हुए डा० मिश्र अपनी पुस्तक के पृष्ठ ६३ में लिखते हैं—'भोजपुरी में, सम्बन्ध-कारक में, अनुसर्ग रूप में के व्यवहृत होता है, किन्तु पूरब की भाषाओं में क,-कर अथवा केर का प्रयोग होता है।'

डॉ० मिश्र की ऊपर की धारणा भी मिथ्या ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि आप केवल मैथिली को ही पूरबी अथवा मागधी का मानदण्ड मानकर उसकी तुला पर अन्य पूर्वी-भाषाओं को तौलना चाहते हैं, केवल भोजपुरी में ही सम्बन्ध-कारक का अनुसर्ग के नहीं है, अपितु मगही में भी यह इसीरूप में मिलता है। इस के का भी मागधी अपभ्रंश से उतना ही सम्बन्ध है, जितना -क,-कर तथा -केर का। वस्तुतः अवधी में यह अनुसर्ग भोजपुरी (मागधी) से ही गया है, अवधी से भोजपुरी में नहीं आया है।

मैथिली-क अनुसर्ग का भोजपुरी में सर्वथा अभाव है, यह बात भी नहीं है। प्राचीन भोजपुरी गीतों में यह वर्तमान है। सम्बंध-कारक में -कर अनुसर्ग, आधुनिक भोजपुरी में केवल सर्वनाम में ही मिलता है। यथा केकर (किसका), सेकर, तेकर (तिसका), ओकर, होकर (उसका) आदि। ये रूप किंचित परिवर्तन के साथ मैथिली में भी वर्तमान हैं।

सर्वनाम तथा सहायकक्रिया

इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक के ऊपर के पृष्ठ में ही डा० मिश्र लिखते हैं—'भोजपुरी में आदरप्रदर्शक सर्वनाम रउरे तथा सहायक क्रिया बाटे का व्यवहार होता है, किन्तु इसका मैथिली में अभाव है, इसीप्रकार भोजपुरी में, मैथिली की भाँति, कर्म के अनुसार क्रियारूपों में भी परिवर्तन नहीं होता।'

भोजपुरी में आदरसूचक सर्वनाम के रूप में राउर तथा अपने का व्यवहार होता है। अपने का व्यवहार तो मैथिली तथा बँगला में भी होता है। किन्तु जिसप्रकार मैथिली के आदरसूचक सर्वनाम अइस, आइस, अहाँ आदि का प्रयोग भोजपुरी में नहीं होता, उसीप्रकार बँगला में भी इनका अभाव है। क्या इस कारण यह कथन युक्तिसंगत होगा कि बँगला की उत्पत्ति मागधी से नहीं हुई है अथवा उसका सम्बन्ध मागधी से नहीं है।

सहायकक्रिया बाटे की उत्पत्ति भी√ वृत्त, वर्तते, से हुई है। यह रूप भी मागधी का ही है जो भोजपुरी से अवधी में गया है।

अब रह गई मैथिली में, कर्म के अनुसार क्रिया में परिवर्तन की बात। इस सम्बन्ध में तनिक ब्योरे के साथ विचार करने की आवश्यकता है। बात यह है कि मैथिली में कर्त्ता तथा कर्म, दोनों के अनुसार क्रियारूपों में परिवर्तन होता है। यथा—

१ अनादरसूचक कर्ता, अनादरसूचक कर्म;
२ अनादरसूचक कर्ता, आदरसूचक कर्म;
३ आदरसूचक कर्ता, अनादरसूचक कर्म;
४ आदरसूचक कर्ता, आदरसूचक कर्म;

द्वितीय तथा चतुर्थ रूप की क्रियाओं के अन्त में मैथिली में न्हि प्रत्यय लगता है। यथा—देखल-थिन्हि = उसने (राजा ने) उसको (राजा को) देखा अथवा उसने (दास ने) उसको (राजा) को देखा। प्रथम रूप में क्रिया का रूप देखलक होता है = उसने (दास ने) उसको (दास को) देखा। तृतीय रूप में क्रिया का रूप होता है, देखलथि = उसने (राजा ने) उसको (दास को) देखा।

मगही में भी यही प्रक्रिया चलती है किन्तु भोजपुरी में थोड़ी भिन्न व्यवस्था है। यहाँ प्रत्येक दशा में क्रिया कर्ता के अनुसार ही चलती है। यदि

कर्त्ता आदरसूचक है तो क्रिया भी आदरसूचक होती है, किन्तु यदि कर्त्ता अनादर-सूचक है तो क्रिया भी अनादर सूचक होती है। यथा--दास ने दास को देखा अथवा दास ने राजा को देखा = देखलसि, किन्तु राजा ने राजा को देखा अथवा राजा ने दास का देखा = देखलन्हि। भोजपुरी के इन दोनों रूपों का प्रभाव स्पष्टरूप से अवधी पर भी पड़ा है जहाँ अनादर तथा आदरसूचक कर्त्ता के अनुसार क्रिया के क्रमशः देखिस तथा देखेन रूप मिलते हैं।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जायेगा कि जहाँ भोजपुरी में केवल दो क्रिया रूप मिलते हैं, वहाँ मैथिली में तीन। मैथिली क्रियापदों की इस जटिलता का बँगला में भी अभाव है। यह आधुनिक मैथिली की अपनी विशेषता है। विद्यापति तथा वर्णरत्नाकर की मैथिली में भी इस जटिलता का प्रायः अभाव है। इस विवेचना से स्पष्ट हो जायेगा कि बिहारी की तीनों बोलियों--मैथिली, मगही तथा भोजपुरी--में पूर्णरूप से एकता है।

उत्तर-पीठिका

सातवाँ अध्याय

हिन्दी की ध्वनियाँ

§१. यद्यपि भारतीय-संविधान के अनुसार हिन्दी समस्त-भारत की राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन हुई है, तथापि इसके बहुत पहले से ही वह पञ्जाब से बिहार तथा हिमालय से मध्य-देश तक साहित्यिक तथा सांस्कृतिक-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। इस विस्तृत भू-भाग में अनेक बोलियाँ प्रचलित हैं; उनके बोलने वालों की संख्या कहीं-कहीं तो दो करोड़ से भी अधिक है, किन्तु यह होते हुए भी प्रधानरूप से इस समस्त क्षेत्र की भाषा हिन्दी ही है। इसके अतिरिक्त कलकत्ता तथा बम्बई जैसे नगरों में भी हिन्दी भाषा-भाषियों की संख्या बहुत अधिक है। इस विस्तृत-क्षेत्र में प्रचलित हिन्दी के उच्चारण में यत्-किंचित् स्थानीय अन्तर, मिलते हैं। यह अन्तर स्थानीय-बोलियों के स्वरों तथा कभी-कभी व्यञ्जनों के उच्चारण की-विभिन्नता के कारण ही है। उदाहरण-स्वरूप मैथिली तथा भोजपुरी क्षेत्रों में बोली जाने वाली हिन्दी के उच्चारण पर इन बोलियों के उच्चारण का प्रभाव है। यही हाल पञ्जाब तथा ब्रज में बोली जाने वाली हिन्दी का भी है। प्रामाणिकता की दृष्टि से वस्तुतः पश्चिमी-उत्तर-प्रदेश के शिक्षित लोगों का उच्चारण ही आदर्श है। इसी को दृष्टि में रखकर आगे हिन्दी के स्वरों एवं व्यञ्जनों के उच्चारण के संबंध में लिखा जाएगा।

§२ साहित्यिक-हिन्दी की ध्वनियाँ देवनागरी लिपि की वर्णमाला द्वारा अधिकांश में भली भाँति प्रकट हो जाती हैं। परन्तु प्राचीन तथा मध्य-भारतीय -आर्य-भाषाओं से हिंदी की उच्चारण-गत विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में देव-नागरी लिपि के साथ कतिपय नए चिह्नों का व्यवहार आवश्यक हो जाता है। साहित्यिक-हिंदी की समस्त-ध्वनियों का वर्गीकरण नीचे किया जाता है।

स्वर-ध्वनियाँ

§३. ह्रस्व—अ, ॲ, इ, उ, ऍ, ऑ,

दीर्घ—आ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ

देवनागरी-लिपि में ऋ, ॠ, ऌ, ॡ,—ये चार स्वर-ध्वनियाँ भी दी

जाती हैं, परन्तु हिंदी-उच्चारण में यह ध्वनियाँ नहीं हैं। संस्कृत-तत्सम शब्दों में ऋ लिखा अवश्य जाता है, परन्तु इसका उच्चारण होता है 'रि'। अतः हिंदी की स्वर-ध्वनियों में 'ऋ' का समावेश अवांछनीय है। 'ॠ, ऌ, ॡ' का तो हिंदी में सर्वथा अभाव है।

हिंदी की सभी स्वर-ध्वनियाँ सानुनासिक रूप में भी व्यवहृत होती हैं। इसका विवेचन आगे यथास्थान किया जाएगा।

व्यञ्जन-ध्वनियाँ

§४. क्, ख्, ग्, घ्, ङ्
च्, छ्, ज्, झ्, ञ्
ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्
त्, थ्, द्, ध्, न्, न्ह्
प्, फ्, ब्, भ्, म्, म्ह्
य्, व्, र्, र्ह्, ल्, ल्ह्
स्, श्, ह् ॥

§५. स्थान और प्रयत्न के अनुसार इन व्यञ्जन-ध्वनियों का विभाजन नीचे के वर्ग में दिया जाता है—

	द्वयोष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	मूर्द्धन्य	तालव्य	कंठ्य	स्वर यंत्र मुखी
स्पर्श अल्पप्राण	प् ब्	त् द्		ट्, ड्,		क्, ग्	
,, महाप्राण	फ् भ्	थ् ध्		ठ् ढ		ख्, घ्	
घृष्ट्य अल्पप्राण					च्, ज्		
,, महाप्राण					छ्, झ्		
अनुनासिक अल्पप्राण	म्		न्	[ण्]	[ञ्]	ङ्	
,, महाप्राण	म्ह्		न्ह्				
पार्श्विक अल्पप्राण			ल्				
,, महाप्राण			ल्ह्				
लुंठित या कंपनजात अल्पप्राण			र्				
,, ,, महाप्राण			र्-ह				
ताड़नजात या उत्क्षिप्त अल्पप्राण				ड़			
,, महाप्राण				ढ़			
संघर्षी अल्पप्राण			स्		श्		ह्
,, महाप्राण							
अर्धस्वर	व				य		

§६. हिंदी लेखन-पद्धति में च-वर्गीय अनुनासिक व्यञ्जन 'ञ्' का भी संस्कृत तत्सम-शब्दों में प्रयोग किया जाता है; परन्तु हिंदी के उच्चारण में 'ञ्' ध्वनि का अभाव है और इसका उच्चारण 'न्' किया जाता है, यथा, संस्कृत 'चञ्चल' का उच्चारण हिंदी में सन्स्कृत. 'चन्चल' होता है। इसीप्रकार 'ण्' का प्रयोग भी तत्सम-शब्दों में होता है किन्तु उच्चारण में यह 'न्' में परिणत हो जाता है। यथा, पण्डित का उच्चारण हिन्दी में पन्डित होता है। ऊपर की प्रत्येक ध्वनि का विवरण उदाहरण सहित आगे दिया जायेगा।

§७. हिन्दी के मूल-स्वरों को भलीभांति समझने के लिए सर्वप्रथम प्रधान-स्वरों (Cardinal Vowels) को समझना पड़ेगा।*

प्रधान-स्वर Cardinal Vowels)

§८. जब किसी व्यक्ति को अपनी मातृ भाषा के अतिरिक्त अन्य कोई विदेशी-भाषा सीखनी पड़ती है तो उसके लिए उस भाषा के स्वरों के उच्चारण स्थान का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। जहाँ इसप्रकार की भाषा अध्यापकों से सीखी जाती है वहाँ उच्चारण सीखने में इसलिए कठिनाई नहीं होती कि अध्येता, अध्यापक के शुद्ध उच्चारण को श्रवण द्वारा ग्रहण कर धीरे-धीरे सीख लेता है। विदेशी-भाषा के स्वरों का उच्चारण सीखते समय अध्येता, यह स्पष्टरूप से समझता जाता है कि उसकी मातृ-भाषा में इनका उच्चारण-स्थान क्या है तथा जिस भाषा को वह सीख रहा है, उसमें इनका उच्चारण-स्थान कहाँ है ? इस प्रक्रिया द्वारा ही विदेशी-भाषा का शुद्ध उच्चारण सीखा जाता है। किन्तु आज के व्यस्त-जीवन में लोगों को, विदेशी-भाषा, अध्यापकों की अपेक्षा

---

*शास्त्रीय-रूप में यहाँ स्वर एवं व्यञ्जन की परिभाषा भी जान लेना आवश्यक है। वास्तव में स्वर वे घोषध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में, वायु, बिना किसी अवरोध या संघर्ष के मुख (अथवा मुख एवं नासिका) से निर्गत होती है। इनके अतिरिक्त अन्य ध्वनियाँ व्यजन हैं। व्यञ्जन-ध्वनियों के उच्चारण में निर्गत-वायु का पूर्ण अथवा आंशिकरूप में अवरोध होता है। व्यंजन अघोष अथवा घोष, दोनों होते हैं। इनके उच्चारण में निर्गत-वायु की तीन अवस्थाएँ होती हैं—

(१) अवरोध (Obstruction) (२) विराम (Stop) (३) स्फोट (Release)।

स्वयं-शिक्षकों से ही अधिक सीखनी पड़ती है और इसप्रकार इनका ज्ञान कानों से अधिक चक्षु द्वारा ही प्राप्त करना पड़ता है।

इस दशा में विभिन्न-भाषाओं के स्वरों के उच्चारण-स्थान का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई न कोई वैज्ञानिक-पद्धति आवश्यक है। इसी पद्धति के परिणामस्वरूप प्रधान-स्वर [Cardinal Vowels] अस्तित्व में आए हैं। इनके आविष्कर्ता लन्दन विश्वविद्यालय के प्रो० डेनियल जोन्स तथा उनके सहयोगी हैं। अनेक प्रयोगों के पश्चात ही इनका स्थान निर्धारित किया गया है। इनकी संख्या आठ है। वास्तव में ये अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इतालीय अथवा अन्य किसी भाषा के स्वर नहीं हैं अपितु ये अमूर्त-ध्वनियाँ [Abstract Sounds] हैं और विभिन्न-भाषाओं के स्वरों के स्थान निर्धारित करने में ये मापदण्ड का काम करते हैं।

प्रधान-स्वर निर्धारित करने की विधि

§९. प्रधान स्वर 'अऽ' के उच्चारण में जिह्वा प्रायः शयित अवस्था में रहती है किन्तु इसका अग्रभाग किंचित उठा रहता है। इस अवस्था के बाद जब जिह्वा के अग्र-भाग को ऊपर उठाकर कठोरतालु के उस उच्च स्थान तक ले जाते हैं जहाँ तक किसी प्रकार का संघर्ष अथवा अवरोध नहीं होता तो यह प्रधान स्वर ई का स्थान होता है।

§१०. इसीप्रकार प्रधान स्वर 'आ' के उच्चारण में जिह्वा प्रायः प्रकृतावस्था में रहती है किन्तु उसका पिछला भाग किंचित उठा रहता है। इस अवस्था के बाद जब जिह्वा के पिछले भाग को ऊपर उठाकर कोमलतालु के उस उच्च-स्थान तक ले जाते हैं जहाँ तक किसीप्रकार का संघर्ष अथवा अवरोध नहीं होता तो यह प्रधान स्वर ऊ का स्थान होता है।

§११. जिह्वा के अग्रभाग के ई तथा अऽ बिन्दुओं एवं पश्चभाग के 'ऊ' तथा आ बिन्दुओं को मिलाकर जो चतुर्भुज बनता है उसे तीन समभागों में विभक्त करने से अग्रभाग की ओर क्रमशः ऍ तथा ए एवं पश्चभाग की ओर ऑ तथा ओ प्रधान-स्वरों का स्थान निर्धारित होता है। ये चारों स्वर क्रमशः निम्न-मध्य तथा उच्च-मध्य होते हैं। वास्तव में आठों प्रधान-स्वरों के स्थान निर्धारित करने की यही विधि है।

§१२. कुछ स्वर ऐसे भी हैं जिनके उच्चारण में जिह्वा का मध्य-भाग ऊपर उठता है। ऐसे स्वर मध्य-स्वर हैं। जैसा कि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है,

प्रत्येक स्वर के उच्चारण में अग्र, मध्य अथवा पश्च-भाग भिन्न-भिन्न मात्रा में ऊपर उठता है। इसकारण मुखद्वार के अधिक या कम खुलने की दृष्टि से स्वरों के चार भेद किए जाते हैं। ये हैं (१) विवृत् (२) अर्द्धविवृत् (३) अर्द्ध-संवृत् (४) संवृत्। इन आठ प्रधान-स्वरों के स्थान नीचे दिए हुए चित्र में दिखलाए गए हैं :—
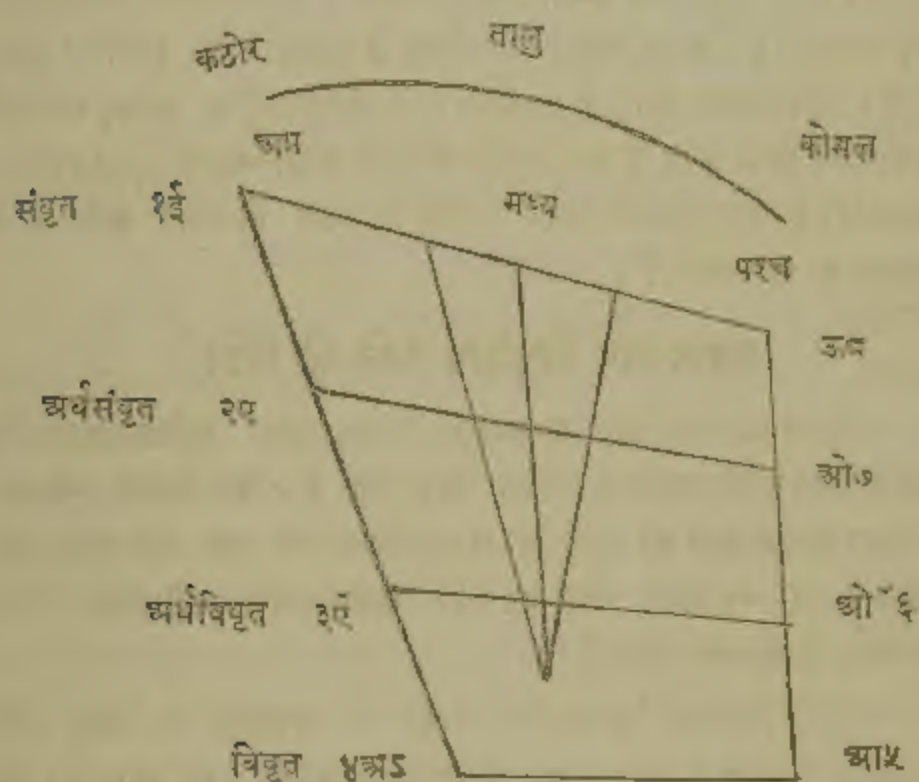
हिन्दी के मूलस्वर

§१३. ऊपर के आठ प्रधान-स्वरों के स्थानों को ध्यान में रखते हुए हिन्दी के मूलस्वरों का स्थान नीचे के चित्र की सहायता से समझा जा सकता है।

§१४. (i) अ यह अर्द्धविवृत् मध्य-स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वा का मध्य-भाग कुछ ऊपर उठता है तथा होंठ कुछ खुल जाते हैं। बिहार में इसका उच्चारण विवृत् की अपेक्षा वर्तुल हो जाता है। 'अ' का व्यवहार अनेक शब्दों में पाया जाता है। यथा—अचल, सरल, चपल, अगहन आदि। अगर (फा०) तथा अकबर (अ०) शब्दों में भी 'अ' का उच्चारण ठीक उसीप्रकार होता है जिसप्रकार हिन्दी तत्सम तथा तद्भव शब्दों का।
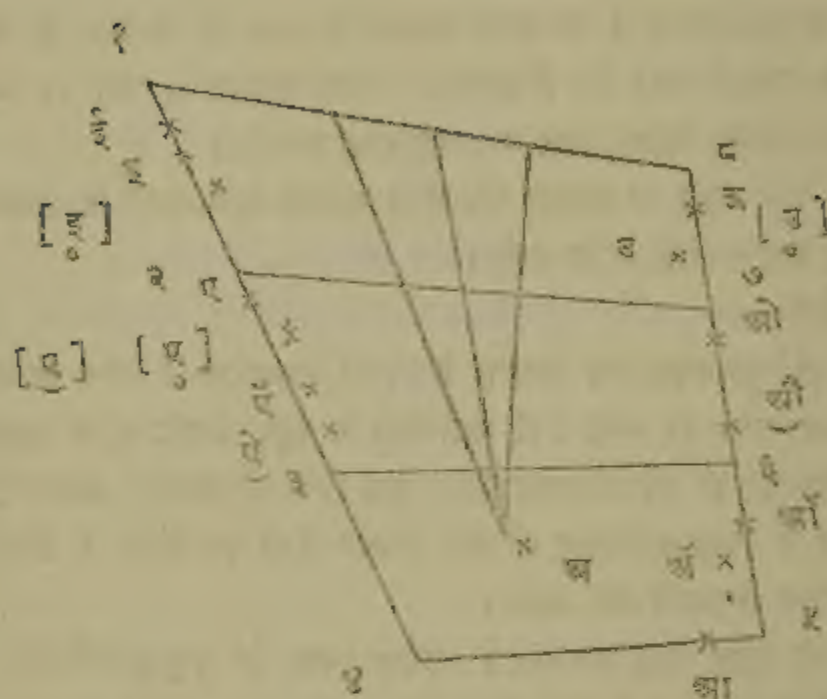
आ० भा० आ० भा० की पदान्त-स्वर लोप की प्रवृत्ति के कारण पदान्त में 'अ' स्वर साधारणतया नहीं मिलता है; यथा, बात्, हल्, कर्, बहिन्, कलम् शब्दों में पदान्त त, ल, र, न, म, हलन्त उच्चरित होते हैं, यद्यपि लिखने में ये 'अ' स्वर युक्त लिखे जाते हैं। परन्तु एकाक्षरीय तथा पदान्त में संयुक्त-व्यञ्जन वाले शब्दों में पदान्त 'अ' स्वर उच्चरित होता है; यथा, न, सभ्य, सत्य शब्दों के उच्चारण में पदान्त 'अ' विद्यमान है।

(ii) स्वराघात रहित अक्षर में 'अ' का लघु उच्चारण होता है। प्रायः स्वरभक्ति के रूप में व्यवहृत 'अ' का उच्चारण ऐसा होता है; यथा, रतॅन (सं०-रत्न), जतॅन् (सं०-यत्न) शब्दों को जब तत्सम-रूप में उच्चारण करने का प्रयत्न किया जाता है तो त् में अति-लघु 'अ' ध्वनि सुनाई पड़ती है। ध्वनि-शास्त्र में इसप्रकार के 'अ' को 'ə' रूप में लिखा जाता है। ऊपर के चित्र में यह [अॅ] रूप में प्रदर्शित किया गया है।

§१५. आ यह विवृत, दीर्घ, पश्च-स्वर है। इसका उच्चारण प्रधान-स्वर 'आ' के बहुत निकट है। इसके उच्चारण में जीभ का पिछला हिस्सा कुछ ऊपर उठता है और मुख 'अ' की अपेक्षा अधिक खुलता है। इसका ह्रस्व-उच्चारण नहीं मिलता। साधारणतः 'आ' को 'अ' का दीर्घ-रूप समझा जाता है। परन्तु यह धारणा विज्ञान-सम्मत नहीं है। 'अ' एवं 'आ' के उच्चारण में मात्राकाल

का थोड़ा सा अंतर तो है ही, इनके उच्चारण के प्रकार में भी भेद है, जैसा कि ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है। हिंदी-शब्दों में सभी स्थितियों में 'आ' स्वर मिलता है, यथा—माल्, माला, मसाला, महाराज् इत्यादि।

'ऑ' ध्वनि का व्यवहार अंग्रेजी के कतिपय तत्सम-शब्दों के उच्चारण में होता है, यथा—लॉर्ड, हॉट आदि।

§१६. ई, इ—

'ई' यह संवृत दीर्घ अग्रस्वर है। इसके उच्चारण में जीभ का अगला भाग इतना ऊपर उठ जाता है कि कठोरतालु के बहुत निकट पहुँच जाता है। प्रधान-स्वर 'ई' की अपेक्षा इसका स्थान कुछ नीचा है अर्थात् प्रधान 'ई' के उच्चारण में जिह्वा कठोरतालु की ओर जितनी ऊँची उठ जाती है, हिंदी 'ई' के उच्चारण में उतनी नहीं उठती।

'इ' संवृत, ह्रस्व, अग्र-स्वर है। इसका स्थान 'ई' से कुछ नीचे है।

'ई' स्वर शब्दों में सभी स्थितियों (आदि, अंत, मध्य) में मिलता है, यथा—भीतर, भतीजा, भाई। ह्रस्व-स्वर 'इ' पदान्त में तत्सम-शब्दों में मिलता है, तद्भव-शब्दों में पदान्त 'इ' लुप्त हो गया है; पदादि एवं पद-मध्य में 'इ' मिलता है; यथा—हरि, हिया, हिलना, घटिया इत्यादि।

इ̥ वस्तुतः फुसफुसाहट वाला स्वर (Whispered Vowel) है। डा० बाबूराम सक्सेना के अनुसार यह पश्चिमी-अवधी में मौजूद है। इसके उच्चारण में दोनों कंठ-पिटक अत्यन्त समीप आ जाते हैं। इसके कारण एकप्रकार का संगीतात्मक-प्रकंपन उत्पन्न होता है और निर्गत-वायु फुसफुसाहट-ध्वनि उत्पन्न करती है; यथा—आवत्इ̥, जात्इ̥ आदि।

§१७. ऊ, उ—

ऊ—यह संवृत, दीर्घ, पश्च-स्वर है। इसका स्थान प्रधान-स्वर से थोड़ा नीचे है। इसके उच्चारण में ओठ बंद होते हुए गोल हो जाते हैं। सभी स्थितियों में यह स्वर मिलता है; यथा—भूल्, जलूस्, उल्लू।

उ—यह संवृत, ह्रस्व, पश्च-स्वर है। इसका स्थान 'ऊ' से नीचा है। पदान्त को छोड़कर अन्य सभी स्थितियों में यह आता है। तत्सम-शब्दों में यह पदान्त में भी मिलता है; यथा— भानु, कुल्हाड़ी, ससुर्।

उ̥ फुसफुसाहट वाला स्वर है। यह पश्चिमी-अवधी में मौजूद है। यथा—आवत् उ̥, जात् उ̥ आदि।

§१८. ए, ऍ

ए, यह अर्ध-संवृत, दीर्घ, अग्र-स्वर है। इसका उच्चारण-स्थान, प्रधान 'ए' स्वर से कुछ नीचा है। इसके उच्चारण में जीभ का उठा हुआ भाग प्रधान-स्वर 'ए' की अपेक्षा थोड़ा पीछे रहता है। पदान्त के अतिरिक्त अन्य स्थितियों में यह स्वर मिलता है; यथा—देवर्, ठठेरा, इत्यादि।

ऍ : यह ह्रस्व-स्वर है। इसका उच्चारण-स्थान प्रधान ए (अर्ध-संवृत) तथा ऍ (अर्ध-विवृत) के लगभग मध्य में पड़ता है। इसके उच्चारण में जीभ केन्द्रीय स्थान की ओर अधिक अग्रसर होती है। इसके उदाहरण हैं—जेॅवनार्, एॅकरार् इत्यादि।

ए फुसफुसाहट वाला स्वर है और यह पश्चिमी-अवधी में मौजूद है।

§१९. ऐ

साहित्यिक-हिंदी में ऐ का उच्चारण संध्यक्षर (Dipthong) के समान न होकर मूल-स्वर के समान होता है। अतः संध्यक्षर 'ऐ' से भेद करने के लिए इसको यहाँ 'ऐ' लिखा गया है।

यह अर्ध-विवृत्त-दीर्घ अग्रस्वर है और प्रधानस्वर 'ऍ' से इसका स्थान कुछ ऊँचा है। पदान्त में यह नहीं मिलता। इसके उदाहरण हैं—ऐसा, कैसा, बिगड़ैल इत्यादि।

§२०. ओ

यह अर्ध-संवृत, दीर्घ, पश्च-स्वर है। इसका स्थान, प्रधान 'ओ' से कुछ नीचे है। इसके उच्चारण में ओठ गोल होते हैं। इसके उदाहरण हैं, मोल्, भरोसा, मारो, इत्यादि।

§२१. औ

'ऐ' के समान यह भी हिन्दी में मूल-स्वर है। यह अर्धविवृत, दीर्घ, पश्च-स्वर है। इसके उदाहरण हैं—औरत्, गाली-गलौज्, सौ, आदि।

अनुनासिक-स्वर

§ २२. हिंदी में प्रत्येक स्वर के अनुनासिक-रूप भी मिलते हैं। वास्तव में अनुनासिक-स्वर को निरनुनासिक से सर्वथा भिन्न मानना चाहिये, क्योंकि इसके कारण शब्दभेद, अर्थभेद तथा दोनों भी हो सकते हैं, यथा—बास्, बाँस गोद, गोंद, इत्यादि।

अनुनासिक-स्वरों के उच्चारण में स्थान वही रहता, किन्तु साथ ही कोमल तालु और कौवा कुछ नीचे झुक जाता है और बाहर आने वाली वायु का कुछ भाग, मुख-विवर के अतिरिक्त नासिका-विवर से भी निकलने लगता है, जिससे स्वर में अनुनासिकता आ जाती है।

२३. *हिंदी के अनुनासिक-स्वर*—

अं–अंधेरा, अंगार,√फंस् (ना), √डंस् (ना)।
आँ–आँचल्, आँसू, साँस्, बाँस्, बाँह, साँझ्।
इं–सिंचाई,√खिंच् (ना),√भिंच् (ना)।
ईं–ईंट√सींच् (ना),√खींच् (ना), सींक्।
उं–उँचाई, घुंघची।
ऊं–√ऊँघ् (ना) √सूँघ् (ना), ऊँट्।
एं–गेंद्, में, केंचुवा।
ऐं–गैंडा, भैंस्।
ओं–खरोंच्, गोंद्।
औं–सौंफ्, लौंग्।

सन्ध्यक्षर अथवा संयुक्त-स्वर (Dipthongs)

§ २४. प्रा० भा० आ० भाषा में ए, ऐ, ओ, औ सन्ध्यक्षर हैं। इनकी उत्पत्ति क्रमशः अ+इ, आ+इ, अ+उ, आ+उ से हुई है। परन्तु जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, हिंदी में ये सन्ध्यक्षर मूल-स्वर में परिणत हो गए हैं।

आधुनिक-भारतीय आर्य-भाषाओं में भी दो-स्वरों का सन्निकर्ष पाया जाता है, परन्तु इस सम्पर्क में और सन्ध्यक्षर में अन्तर है। वास्तव में सन्ध्यक्षरों में सम्पर्कित-स्वर-ध्वनियाँ एकाक्षर में परिणत हो गई हैं, परन्तु इस दूसरे प्रकार के सम्पर्क में वह अपनी अलग-अलग सत्ता बनाए हैं और उच्चारण में उनकी स्वतन्त्र-स्थिति स्पष्ट झलक जाती है।

§ २५. हिन्दी में दो (तथा कहीं-कहीं तीन) स्वरों के अव्यवहितरूप से सम्पर्कित होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं, यथा—

अई–कई, नई, गई।
अए–गए, नए।
अउ–कउवा (लिखा जाता है 'कौवा')।
आओ–जाओ, लाओ, गाओ।

आई–रजाई, नाई, खाई, रुलाई।

आऊ–चलाऊ, उड़ाऊ, दिखाऊ।

आए–नहाए, दिखाए, जलाए, बिछाए।

इए–चाहिए, चलिए, गाइए।

उआ–जुआरी।

उई–रुई, सुई।

उए–चुए (यथा, पानी चुए जा रहा है)।

एई–खेई, सेई।

ओई–कोई, सोई, रोई।

आइए–आइए, जाइए, खाइए।

ग्रामीण-बोलियों में संयुक्त-स्वरों के उदाहरण अधिक मिलते हैं।

व्यञ्जन

स्पर्श-व्यञ्जन

§ २६. क्, ख्, ग्, घ्—कण्ठ्य-स्पर्श-व्यञ्जन हैं। इनके उच्चारण में जिह्वा का पिछला-भाग, कोमल-तालु का स्पर्श करता है। इनमें से क् अघोष-अल्पप्राण तथा ग् सघोष-अल्पप्राण हैं और ख् अघोष-महाप्राण एवं घ् सघोष-महाप्राण हैं।

ये सभी व्यञ्जन-ध्वनियाँ, पद के आदि, मध्य एवं अन्त स्थानों पर आती हैं; यथा—

काम, खाल, गान, घर; ककड़ी, अखबार, नगाड़ा, चिंघाड़; नाक्, राख्, रोग्, बाघ्।

§ २७. च्, छ् ज्, झ्—तालव्य-स्पर्श-घृष्ट्य अथवा संघर्षी व्यञ्जन हैं। इनके उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग दन्तपंक्ति के पीछे के भाग को देर तक स्पर्श करता है; यही कारण है कि इनको 'घृष्ट्य' कहा गया है। इनमें च्, छ् अघोष, तथा ज्, झ् घोष एवं च्, ज् अल्पप्राण तथा छ्, झ् महाप्राण-ध्वनियाँ हैं।

ये सभी ध्वनियाँ पद के आदि, मध्य एवं अन्त में मिलती हैं, यथा—

चमड़ा, छतरी, जायफल् झूला; खिचड़ी, कछुवा, खजूर, बोझीला; सच्, पूंछ्, राज्, सांझ्।

§ २८. ट् ठ् ड् ढ्—के उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग किञ्चित् मुड़कर कठोर-तालु को स्पर्श करता है। ये मूर्धन्य-स्पर्श व्यञ्जन हैं। इनमें से ट् ड् अल्पप्राण एवं ठ् ढ् महाप्राण और ट् ठ् अघोष तथा ड्, ढ् सघोष-ध्वनियाँ हैं।

पद के आदि, मध्य, अन्त सभी स्थानों में यह ध्वनियाँ मिली हैं; यथा—
टट्टू, ठठेरा, डमरू, ढक्कन, निडर, ठंढक, हांडी, ठंढी।

§ २६. त्, थ्, द्, ध्—यह दन्त्य-स्पर्श-व्यञ्जन हैं। इनके उच्चारण में जीभ ऊपरी मसूड़े को स्पर्श करती है, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वह बहुत धीरे से दाँतों को स्पर्श कर रही है। इनमें त्, थ् अघोष, द्, ध्, घोष, एवं त्, द् अल्पप्राण तथा थ्, ध् महाप्राण हैं।

ये सभी ध्वनियाँ पद के आदि, मध्य एवं अन्त में मिलती हैं; यथा—तार्, थाली, दाई, धीरज्, सितार, पत्थर, कुदाल, मंझधार्; बात्, हाथ्, नींद, सुध्।

§ ३०. प्, फ्, ब् भ्—ये ओष्ठ्य-स्पर्श-व्यञ्जन-ध्वनियाँ हैं। इनके उच्चारण में दोनों ओंठ मिल जाते हैं जिससे निर्गत-श्वास का पूर्ण रूप से अवरोध हो जाता है और तत्पश्चात् सहसा उसका स्फोट होता है। इनमें से प्, फ्, अघोष तथा ब्, भ् घोष एवं प्, ब् अल्पप्राण और फ्, भ् महाप्राण-ध्वनियाँ हैं।

पद में, सभी स्थानों में, ये ध्वनियाँ आ सकती हैं; यथा—पहाड़, फल्; बकरी, भभूत्; कपड़ा, कुफल्, कबड्डी, साँभर्; धूप, बरफ्, कब्, कभी।

अनुनासिक-व्यञ्जन

§ ३१. अनुनासिक-व्यञ्जनों के उच्चारण में कोमल-तालु के ऊपर उठने से नासिका-विवर के द्वार का अवरोध नहीं होता, जैसा कि निरनुनासिक-व्यञ्जनों के उच्चारण में होता है।

§ ३२. ङ्—यह घोष, अल्पप्राण, कंठ्य, अनुनासिक-व्यञ्जन है। पद के आदि एवं अन्त में यह ध्वनि नहीं मिलती। केवल पद-मध्य में कवर्ग से पूर्व यह आती है; यथा—कङ्गन्, कङ्घा, सङ्ग, बङ्गाल।

§ ३३. न्—इसके उच्चारण में जीभ की नोक, दंत्य-स्पर्श-व्यञ्जनों के समान, दाँतों की पंक्ति को न छूकर ऊपर के मसूड़ों को छूती है। अतः इसको वर्त्स्य-अनुनासिक-ध्वनि कहा जाता है। यह अल्प-प्राण तथा सघोष-ध्वनि है। हिंदी अनुनासिकों में इसका व्यवहार संभवतः सर्वाधिक होता है और पद के सभी स्थानों में यह मिलता है; यथा—नाई कन्धा, कान्।

§ ३४. न्ह्—यह वर्त्स्य, महाप्राण, घोष, अनुनासिक-ध्वनि है। इसके उदाहरण हैं, कन्हैया, उन्होंने, इन्होंने आदि।

§ ३५. म—यह द्वयोष्ठ्य, अल्पप्राण, घोष, अनुनासिक-ध्वनि है। इसके

उच्चारण में दोनों ओष्ठ बंद हो जाते हैं और श्वास, नासिका-विवर में गूँज पैदा करती है। न् के समान यह भी हिन्दी का बहुत अधिक व्यवहृत अनुनासिक-व्यञ्जन है और पद के आदि, मध्य, अन्त, सभी, स्थानों में मिलता है; यथा—मलमल, नीम्, कम्ज़ोर।

§ ३६. म्ह्—यह द्वयोष्ठ्य, महाप्राण, घोष अनुनासिक-ध्वनि है। इसके उदाहरण हैं—बाम्हन्, कुम्हार्, तुम्हारा।

§ ३७. प्राचीन-भारतीय-आर्य भाषा के अनुनासिक व्यञ्जन ञ् और ण हिन्दी में न् में परिणत हो गए हैं। यद्यपि प्राचीन-परकता के कारण हिंदी में यह अनुनासिक-ध्वनियाँ लिखी-जाती हैं परन्तु उच्चारण उनका न् ही होता है; यथा—चञ्चल का उच्चारण चन्चल और दण्ड का दन्ड ही होता है। ण ध्वनि तत्सम-शब्दों में मिलती है; यथा—प्राण, प्रणय इत्यादि।

पार्श्विक—ल्, ल्ह्

§ ३८. इन ध्वनियों के उच्चारण में जीभ की नोक, ऊपर के मसूड़ों को अच्छी तरह छूती है। न् के उच्चारण-स्थान से इनका स्थान किंचित् पीछे तथा च् से कुछ आगे है। मोटे तौर पर इनका उच्चारण-स्थान न् तथा च् के बीच में है। इनके उच्चारण के समय जीभ के दाएँ-बाएँ जगह छूट जाती है, जिसके कारण वायु पार्श्व से निकल जाती है और कंठपिटक में भी कंपन होता है। ल् पार्श्विक, घोष, वर्त्स्य अल्पप्राण-ध्वनि है और ल्ह् महाप्राण। इनके उदाहरण हैं—

लड़का, वल्लम्, वक्कल् अल्हड़।

लुंठित-व्यञ्जन—र्, र्ह्

§ ३९. इनके उच्चारण में जीभ की नोक वर्त्स या ऊपर के मसूड़े को शीघ्रता से कई बार स्पर्श करती है। र् लुंठित, घोष, वर्त्स्य अल्पप्राण-ध्वनि है और र्ह् महाप्राण। इनके उदाहरण हैं—

रजाई, पारस्, बार्; (र्ह् अधिकांश बोलियों में मिलता है, यथा—ब्रज कर्हानो (कराहना), अव० अर्ही (अरहर्) भो० पु० मार्ह्।

उत्क्षिप्त या ताड़नजात—ड़्, ढ़्

§ ४०. इनका उच्चारण जीभ की नोक को उलटकर नीचे के भाग से कठोर-तालु को झटके के साथ कुछ दूर तक छूकर किया जाता है। ड़् मूर्धन्य, घोष, उत्क्षिप्त, अल्पप्राण-ध्वनि है और ढ़् महाप्राण। उदाहरण हैं—

अड़तीस, बड़ा, बड़्, बढ़ई, चढ़्।

संघर्षी-व्यञ्जन—स्, श्, ह्

§ ४१. स्, श् के उच्चारण में जिह्वा के अग्रभाग के दोनों पार्श्व ऊपर की दन्त-पंक्ति का स्पर्श करते हैं, किन्तु निर्गत-वायु का पूर्णरूप से अवरोध न होने तथा जीभ के ऊपर उठने के कारण वायु संघर्ष करती हुई निकल जाती है। ये ध्वनियाँ इच्छानुसार देर तक की जा सकती हैं। ये अघोष, ऊष्म, संघर्षी-ध्वनियाँ हैं। स वर्त्स्य है और श् तालव्य। हिंदी में मूर्धन्य ष् का अभाव है। उदाहरण हैं—

साग्, हँसी, घास्; शक्कर्, मिश्र।

§ ४२. ह् के उच्चारण में जीभ, तालु एवं ओठों की सहायता बिल्कुल नहीं ली जाती। निर्गत वायु को भीतर से फेंककर मुखद्वार के खुले रहते हुए स्वरयंत्र के मुख पर संघर्ष उत्पन्न करके इस ध्वनि का उच्चारण किया जाता है। यह स्वरयंत्रमुखी, संघर्षी, घोष-ध्वनि है। इसके उदाहरण हैं—हमारा, सहारा, बारह, आदि।

§ ४३. ह् का अघोष रूप भी होता है, जिसे विसर्ग-ध्वनि कहते हैं। यह प्रायः विस्मयादि-बोधक शब्दों में मिलती है; यथा—ओः, आः, छिः।

अर्ध-स्वर या अन्तस्थ—य्, व्

§ ४४. य्—इसका उच्चारण जीभ के अगले भाग को कठोर-तालु की ओर ले जाकर किया जाता है; किन्तु जीभ न चवर्गीय-ध्वनियों के समान तालु को अच्छी तरह छूती है और न 'इ' आदि तालव्य-स्वरों के समान दूर ही रहती है। यही कारण है कि य् को अन्तस्थ या अर्धस्वर अर्थात् स्वर और व्यञ्जन के बीच की ध्वनि कहा जाता है। हिंदी की बोलियों में शब्द के आरम्भ में य् के स्थान पर ज् हो जाता है। इसका कारण यह है कि य् के उच्चारण में जीभ को तालु के निकट जिस स्थान में रखना पड़ता है, वहाँ उसे देर तक नहीं रखा जा सकता। इसके उदाहरण हैं—

यजमान्, कायर्, राय्।

§ ४५. व्—इसके उच्चारण में दोनों ओंठ एक दूसरे को, दोनों छोरों पर, स्पर्श करते हैं तथा बहिर्गत-वायु के लिए मध्य में मार्ग छोड़ देते हैं। इसके उच्चारण में जीभ का पिछला-भाग कोमल-तालु की ओर 'उ' के उच्चारणस्थान अपेक्षाकी और अधिक ऊपर उठता है; किन्तु यह कोमल-तालु का स्पर्श नहीं

कर पाता। इसप्रकार यह द्वयोष्ठ्य-अर्द्धस्वर है। इसके उदाहरण हैं—

वजन्, क्वार्, आदि।

स्वराघात

§ ४६. स्वराघात दो प्रकार का होता है—संगीतात्मक और बलात्मक। जब शब्द के भिन्न-भिन्न अक्षरों का उच्चारण ऊँचे, नीचे अथवा इनके मध्यवर्ती स्वर में किया जाता है, तो उसको संगीतात्मक स्वराघात कहते हैं; परन्तु जब शब्द में किसी अक्षर का उच्चारण अन्य अक्षरों की अपेक्षा विशेष बल देकर किया जाता है, तो उसको बलात्मक-स्वराघात के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रत्येक भाषा में स्वराघात की इन दोनों प्रणालियों का किसी न किसी अंश में सम्मिश्रण होता है। परन्तु कोई भाषा प्रधानतया संगीतात्मक-स्वराघात-युक्त होती है और कोई बलात्मक-स्वराघात-युक्त। वैदिक तथा ग्रीक-भाषाएँ संगीतात्मक-स्वराघात-युक्त थीं और अंग्रेजी बलात्मक-स्वराघात वाली भाषा है। प्राचीन-भारतीय-वैय्याकरणों ने वैदिक-स्वराघात का, स्वर-भिन्नता के अनुसार उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित संज्ञाएँ देकर विश्लेषण किया है। भाषा-विज्ञानियों का विचार है कि मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा में संगीतात्मक-स्वराघात की प्राचीन प्रणाली छोड़ दी गई और बलात्मक-स्वराघात की प्रवृत्ति चल पड़ी। इसका परिणाम यह हुआ कि शब्द में जिन अक्षरों पर बल पड़ता था, उनके स्वर तो अधिकांशतः सुरक्षित रहे, परन्तु बलाघात-युक्त-स्वर से दूर पड़ने वाले अक्षरों के स्वरों में संकोच, लोप आदि परिवर्तन होने लगे। यथा—पाली-धीता<प्रा० भा० आ० दुहिता; दक<प्रा० भा० आ० उदक; दानि<इदानीम्; प्राकृत—रहट्ट<अरघट्ट; हउँ<अहकम्; सिरिस<शिरीष; ओक्खल<उदूखल इत्यादि। बलात्मक-स्वराघात की यह प्रवृत्ति मध्य-भारतीय-आर्यभाषा-काल में बढ़ती गई और शब्दों के स्वरों में विविध-परिवर्तनों का कारण बनी। संक्रान्ति-काल में बलात्मक-स्वराघात के फल-स्वरूप भाषा में जो अनेक परिवर्तन हुए उनका आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं के स्वरूप-निर्माण में बहुत हाथ था। नीचे हम उन स्वर-परिवर्तनों पर विचार करेंगे जो बलात्मक-स्वराघात के कारण प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा से हिंदी में हुए हैं।

स्वराघात-युक्त अक्षर के स्वर

§ ४७. [अ] विवृत्त अक्षर में—प्रा० भा० आ० भा० के ऋ, ऐ, औ

के अतिरिक्त अन्य सब स्वर सुरक्षित रहे। नीचे प्रत्येक स्वर-ध्वनि पर विचार किया जाता है।

अ

§ ४८. अविकृतरूप से सुरक्षित है; यथा—

प्रा० भा० आ० भा० कङ्कण>हि० कंगन; कटाह>कड़ाई; कर्पूर>कपूर; कच्छप>कछुवा; कटुक>कड़ुवा; कथानक>कहानी; कर्कटिका>ककड़ी; खर्पर>खपड़ा; गभीर>गहिरा-गहरा; गत->गया; गर्दभ>गदहा-गधा; घट>घड़ा; चक्रवाक>चकवा; चणक>चना इत्यादि।

कुछ शब्दों में प्रा० भा० आ० भा० अ>इ; यथा—

√गण>√गिन (ना); हरिण>हिरन; क्षण>छिन;

अर्ध-तत्सम—अम्लिका>इम्ली; अमृत (+इका)>इमरती।

संभवतः यह परिवर्तन राजस्थानी के प्रभाव से हुआ है। सच>सं० सत्य (पं० सच्च ब्र०, अव० साँच); मक्खन<सं० मृक्षणम् (पं० मक्खन, अव०, ब्र०, माखन) इत्यादि शब्दों में खड़ीबोली हिंदी में 'आ' के स्थान पर 'अ' पंजाबी के प्रभाव से हो गया है।

आ

§ ४९. अविकृत-रूप से सुरक्षित रहा; यथा—

सं० ग्राम>हि० गाँव; सं० जानाति>हि० जाने; सं० बालुका>हि० बालू; सं० नाश>हि० नास; सं० नारी>हि० नार; सं० पण्यशालिक>हि० पनसारी; सं० व्याख्यान>हि० बखान (प्रा० वक्खाण) सं० भ्राता>हि० भाई।

इ

§ ५०. अविकृत-रूप से सुरक्षित रहा; यथा—

सं० शिरस्>हि० सिर; सं० तिल->हि० तिल; सं० गिरि>हि० गिरि।

ई

§ ५१. अविकृत रूप से सुरक्षित रहा; यथा—

सं० आभीर>हि० अहीर; सं० जीव>हि० जी; सं० जीरक>हि० जीरा; सं० क्षीर>हि० खीर; सं० नील>हि० नील; सं० हीन>हि० हीना।

परन्तु कुछ शब्दों में 'ई' निर्बल होकर ह्रस्वोच्चरित हो गया; यथा—
सं० दीप->हि० दिया।

उ

§ ५२. अविकृतरूप में सुरक्षित रहा; यथा—
सं० धुनति>हि० धुने; सं० क्षुर>हि० खुर; सं० शुक>हि० सुआ; सं० क्षुरक>हि० छुरा।

ऊ

§ ५३. अविकृतरूप से सुरक्षित रहा; यथा—
सं० धूलि>हि० धूल्; सं० मूल->हि० मूल; सं० कर्पूर>हि० कपूर्।

ए

§ ५४. अविकृतरूप से सुरक्षित रहा; यथा—
सं० मेघ>हि० मेह; सं० स्नेह>हिं० नेह; सं० देवर->हि० देवर्; सं० देश->हि० देस्; सं० आवेष्टनम्>अहेरना>हेरना।

ऐ

§ ५५. 'ऐ' अविकृतरूप से सुरक्षित न रह सका। सं० ऐ>हिं० ए, यथा—
सं० गैरिक-*गैरुक>हि०गेरू; सं० तैल>हि० तेल, यह परिवर्तन म० भा० आ० भा० काल में ही प्रतिष्ठित हो गया था।

ओ

§ ५६. अविकृत रूप से सुरक्षित रहा; यथा—
सं० रोदनम्>हि० रोना; सं० गोधा>हि० गोह;
सं० घोटक>हि० घोड़ा;
सं० विक्षोभ>हि० बिछोह; सं० गोरस>हि० गोरस्
सं० स्तोक (ड)>म० भा० आ० थोड>हि० थोड़ा;
सं० लोहित*लोहुल>लोहू।

औ

§ ५७. म० भा० आ० भा० काल से ही औ>ओ। अतः हिन्दी में प्रा० भा० आ० भा० 'औ' के स्थान में स्वराघात-युक्त, विवृत-अक्षर में भी 'ओ' मिलता है; यथा—

सं० गौ'र>हि० गो'रा; सं० चौ'र>हि० चो'र;
सं० मौ'क्तिक>म० भा० आ० मो'त्तिअ>हि० मो'ती;
सं० यौ'वन>म० भा० आ० जो'व्वण>हि० जो'बन्।

ऋ

§ ५८. प्रा० भा० आ० भा० का 'ऋ' स्वर, मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा में 'अ, इ, उ' में परिणत हो गया था; परन्तु म० भा० आ० भाषा में द्वित्व-व्यंजन से पूर्व अवस्थित 'ऋ' के विकार 'अ, इ, उ', आ० भा० आ० भा० में दीर्घ हो गए और द्वित्व-व्यंजन भी एक-व्यंजन रूप में अवशिष्ट रहा। नीचे 'ऋ' के विकार से उत्पन्न इन स्वरों की आ० भा० आ० भा० में स्वराघात-युक्त-विवृत-अक्षर में अवस्थिति पर विचार किया जाता है।

ऋ>अ—अविकृतरूप में सुरक्षित; यथा—

सं० वृ'त (यह शब्द संस्कृत में प्राकृत से ग्रहण किया गया)>म० भा० आ० भा० वंट-बंड>हि० बंड़ (+आ);

सं० वृ'तक>बंडअ>हि०बड़ा; सं० धृ'त>हि० धंड़;

सं० सृ'त (∠सृ 'सरकना, चलना')+क>हि० संड़क्;

ऋ>इ—अविकृतरूप से सुरक्षित; यथा—

सं० हृ'दय>म० भा० आ० भा० हिंअअ>हि० हिंआ-हिंया;

सं० अमृ'त>म० भा० आ० भा० अमिअ>हि० अमीं;

सं० घृ'त> म० भा० आ० भा० घिअ>हि०घी';

(म० भा० आ० भाषा का पदान्त-इअ हिंदी में 'ई' हो गया।)

ऋ>उ—अविकृतरूप से सुरक्षित; यथा—

सं० श्रृ'णोति>म० भा० आ० भा० सु'णइ>हि० सुने;

सं० मृ'त>म० भा० आ० भा० मु'अ>हि० मु'आ।

आ संवृत-अक्षर (Closed Syllble) में

अ

§ ५६. प्रा० भा० आ० भाषा का संवृत-अक्षर में आने वाला 'अ' म० भा० आ० में तो सुरक्षित रहा, परन्तु हिन्दी में 'आ' में परिणत हो गया; यथा—

सं० कर्म> म० भा० आ० कम्म>हि० काम्;

सं० अद्य> म० भा० आ० अज्ज>हि० आज्;

सं० कर्ण> म० भा० आ० कण्ण>हि० कान्;

सं० हस्त> म० भा० आ० हत्थ<हि० हाथ्;

सं० चक्र> म० भा० आ० चक्क>हि० चाक्।

यह परिवर्तन पंजाबी, सिन्धी के अतिरिक्त सभी आ० भा० आ० भाषाओं में हुआ है। पंजाबी सिन्धी में अभी तक कम्म, चक्का इत्यादि द्वित्व-व्यञ्जन वाले रूप ही प्रचलित हैं और हिन्दी में भी सच्चा (<सं० सत्य-), मक्खन (<सं० म्रक्षण-) आदि रूपों में पंजाबी के प्रभाव के कारण 'अ' का 'आ' में परिवर्तन नहीं हुआ है।

हि० पीछे (<सं० पश्चात्, प्रा० पच्छा, में सम्भवतः ('पीठ') (सं० पृष्ठ-, प्रा० पिट्ठ-) के प्रभाव के कारण 'अ' का 'आ' में परिवर्तन न हो कर 'ई' हो गया है।

आ

§ ६०. प्रा० भा० आ० भाषा का संयुक्त-व्यञ्जन से पूर्व का 'आ,' म० भा० आ० भाषा में 'अ' में परिणत हुआ और यह 'अ' हिन्दी में पुनः 'आ' में परिवर्तित हुआ; यथा—

सं० वार्ता>म० भा० आ० वत्ता>हिं० बात;

सं० आत्मा>म० भा० आ० अप्पा>हिं० आप्;

सं० कार्य->म० भा० आ० कज्ज-हिं० काज् ('काम्-काज्' में)

सं० सार्थ<म० भा० आ० सत्थ>हिं० साथ्;

सं० राज्ञी>म० भा० आ० रण्णी>हिं० रानी;

सं० मार्गण->म० भा० आ० मग्गण>हिं मांगना।

इ

§ ६१. 'अ' के समान प्रा० भा० आ० भाषा का संवृत्त-अक्षर का 'इ' म० भा० आ० भाषा में तो 'इ' ही रहा, परन्तु हिन्दी में उत्तरवर्ती द्वित्व-व्यञ्जन में से एक के अवशिष्ट रह जाने के साथ-साथ 'इ' भी 'ई' में परिणत हो गया; यथा—

सं० निद्रा>म०भा० आ० निद्द->हि० नींद;

सं० पृष्ठ->म० भा० आ० पिट्ठ->हि० पीठ।

ई

§ ६२. प्रा० भा० आ० भाषा का संवृताक्षरवर्ती 'ई' म० भा० आ० भाषा में 'इ' में परिवर्तित हुआ, परन्तु हिन्दी में संयुक्त-व्यञ्जन के सरलीकरण द्वारा पुनः 'ई' में परिणत हो गया; यथा—

सं० तीक्ष्ण->म० भा० आ० तिक्ख>हि० तीखा ;

सं० शीर्ष->म० भा० आ० सिस्स>हि० सीस् ।

[परन्तु सं० परीक्षा>म० भा० आ० परिक्खा>हि० परख में स्वराघात के न होने के कारण 'ई' का लघ्वीकरण 'अ' के रूप में हो गया है ।]

उ

§ ६३. प्रा० भा० आ० भा० का संवृताक्षरवर्ती 'उ' म० भा० आ० भाषा में सुरक्षित रहा, परन्तु हिन्दी में द्वित्व-व्यञ्जन के सरलीकरण के साथ-साथ 'ऊ' में परिणत हो गया; यथा—

सं० दुग्ध >म० भा० आ० दुद्ध >हि० दूध;

सं० पुत्र >म० भा० आ० पुत्त >हि० पूत;

सं० शुष्क>म० भा० आ०>सुक्क>हि० सूखा ।

ऊ

§ ६४. प्रा० भा० आ० भाषा का संवृताक्षरवर्ती 'ऊ' म० भा० आ० में ह्रस्व हो गया, परन्तु हिन्दी में द्वित्व-व्यञ्जनों में से एक के लोप होने के साथ-साथ क्षति-पूर्ति के लिए पुनः दीर्घ किया गया—

सं० ऊर्णा>म०भा० आ० उण्णा>हि० ऊन;

सं० चूर्ण>म० भा० आ० चुण्ण->हि० चूना;

सं० शून्य->म० भा० आ०* सुन्न>हि० -सूना;

परन्तु स्वराघात के न रहने पर हिन्दी में दीर्घ 'ऊ' ह्रस्व हो जाता है; यथा—

फुलवाड़ी-(<सं० फुल्लवाटिका, प्रा० फुल्लवाडिआ, हि० फूल), उजला (<उज्ज्वल-), उगा (<सं० उद्गत प्रा० उग्गअ) इत्यादि ।

ए

§ ६५. संवृताक्षरवर्ती प्रा० भा० आ० भा० का 'ए' > म० भा० आ० एॅ>हि० ए; यथा—

सं० क्षेत्र > म० भा० आ० खेॅत्त > हि० खेत ;

सं० वेत्र > म० भा० आ० वेॅत्त> हि० बेत ;

सं० प्रेक्षण—> म० भा० आ० पेॅक्खन—> पेखना ।

ऐ

§६६. प्रा० भा० आ० भा० का संवृताक्षरवर्ती 'ऐ' > म० भा० आ० भा० एॅ या इ > हिन्दी ए, अथवा ई; यथा—

सं० ऐक्य > म० भा० आ० ऍक्क — > हि० एका ;
सं० शैक्ष्य > म० भा० आ० सॅक्ख > हि० सीख् ;
सं० धैर्य > म० भा आ० धॅय्य ; *धॅर्र > हि० धीर ।

ओ

§६७. प्रा० भा० आ० भा० का संवृताक्षरवर्ती ओ > म० भा० आ० ओॅ > हि० ओ; यथा—

सं० ओष्ठ — > म० भा० आ० ओॅट्ठ — > हि० ओंठ् ;
सं० गोत्र — > म० भा० आ० गोॅत्त — > हि० गोत् ;
सं० कोष्ठिका > म० भा० आ० कोॅट्ठिअ > हि० कोठी ।

औ

§६८. प्रा० भा० आ० का विवृताक्षरवर्ती औ > म० भा० आ० ओॅ > हि० ओ; यथा—

सं० मौक्तिक — > म० भा० आ० मोॅत्तिअ > हि० मोती ।

ऋ

§६९. (१) प्रा० भा० आ० ऋ > म० भा० आ० अॅ > हि० 'आ'; यथा—

सं० मृत्तिका > म० भा० आ० मॅट्टिआ > हि० माटी
(पंजाबी के प्रभाव से 'मिट्टी');
सं० कृष्ण — > म० भा० आ० कण्ह > हि० कान्ह ।

(२) प्रा० भा० आ० ऋ > म० भा० आ० इ > हि० 'ई'; यथा—

सं० मृष्ट — > मिष्ट > म० भा० आ० मिॅट्ठ > हि० मीठा ;
सं० शृङ्ग — > म० भा० आ० सिंग > हि० सींग् ;
सं० वृश्चिक > हि० बिच्छू में पंजाबी का प्रभाव स्पष्ट है ।

(३) प्रा० भा० आ० ऋ > म० भा० आ० उ > हि० 'ऊ'; यथा—

सं० घृष्ट — > म० भा० आ० घुट्ट, घुँट — > हि० घूँट् ;
सं० पृच्छति > म० भा० आ० पुच्छइ > हि० पूछे ;
सं० वृद्ध — > म० भा० आ० वुड्ढ > हि० बूढ़ा ;
सं० वृत्तिक > म० भा० आ० वुट्टिअ > हि० बूटी ।

आदि-स्वर

§ ७०. प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा के आदि अक्षर (Syllable) के स्वर, आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं तक प्रायः सुरक्षित चले आए हैं। परन्तु आदि-अच् पर स्वराघात न होने पर उसके स्वरों में विकार हुए हैं। दीर्घ-स्वर लघु-उच्चारण के कारण निर्बल होते-होते ह्रस्व होकर लुप्त हो गए; यथा—

सं० अभ्यन्तर>(अप०) भिंतर>हिं० भीतर; अभ्यञ्ज् (= अभि-√अञ्ज्-)>(अप०)√भिञ्ज-√भिज्ज->√भींज् (ना), √भीज् (ना); उपविष्ट->बइट्ठ->√बैठ् (ना); अरिष्ट>रिट्ठ->रीठा; अलाबु>हिं० लौकी।

नीचे प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा के आदि-स्वरों की हिंदी में स्थिति पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाता है।

§ ७१. आदि-व्यञ्जन-युक्त 'अ'+एक व्यञ्जन

प्रारम्भिक अक्षर में, एक व्यञ्जन के पूर्व आने वाला प्रा० भा० आ० भाषा का 'अ' हिन्दी में अविकृतरूप से सुरक्षित है; यथा—हिं कलसा<सं० कलश; कड़ुवा<कटुक; √कह् (ना),<√कथय्; घड़ा<घट; चमड़ा<चर्म; छतरी<छत्र।

अरबी-फारसी से गृहीत शब्दों में भी आदि-अक्षर का 'अ' सुरक्षित है, यथा—महल्, गजल्, फसल्, खबर, जबान्, नमाज इत्यादि।

७२. (मूलतः दो या उससे अधिक अक्षरों वाले पदों में)

प्रा० भा० आ० भाषा तथा म० भा० आ० भाषा में संयुक्त-व्यञ्जन का पूर्ववर्ती आदि-अक्षर का 'अ'

हिंदी आदि आ० भा० आ० भाषाओं में (पंजाबी, सिंधी को छोड़कर) संयुक्त-व्यञ्जनों में से एक का लोप कर उनके पूर्ववर्ती 'अ' को 'आ' में परिणत किया गया है; यथा—

हिं० चाम<म० भा० आ० चम्म<प्रा० भा० आ० चर्म; भात्<भत्त-<भक्त; काम्<कम्म<कर्म; घाम्<घम्म<घर्म; कान्<कण्ण<कर्ण; पान<पण्ण<पर्ण।

जब संयुक्त-व्यञ्जन में से एक अनुनासिक होता है तो उसका लोप कर पूर्ववर्ती अ>आँ; यथा—आँत्<अँतड़ी, <अन्त्र; दाँत्<दन्त< दन्त इत्यादि।

परन्तु पञ्जाबी के प्रभाव से पश्चिमी-हिंदी में कहीं-कहीं यह परिवर्तन नहीं हुआ है; यथा—√थक् (ना)<√थक्क<√स्तभ्-क; नथ् 'नाक का गहना' <नत्थ<नस्ता; रत्ती<रत्तिअ<रक्तिका; सब<सव्व<सर्व इत्यादि।

७३. मूलतः दो से अधिक अक्षर वाले पद में यदि म० भा० आ० में आदि अक्षर के पश्चात् संयुक्त-व्यञ्जन हो और स्वराघात दूसरे अक्षर पर हो तो संयुक्त-व्यञ्जन के सरलीकरण के परिणाम-स्वरूप होने वाला आद्यक्षर के 'अ' का दीर्घत्व, अनेक शब्दों में नहीं मिलता; यथा—हिं० चमार<चम्मआर<चर्म-कार; सुनार<सुन्नार, सुन्न-आर<स्वर्ण-कार; कपास<कप्पास<कर्पास; पठार्<पट्ठार<प्रस्तार, इत्यादि।

आदि 'आ' तथा आदि-अक्षर का 'आ'

७४. प्रा० भा० आ० भा० का आदि 'आ' जिसके पश्चात् एक व्यञ्जन है और पुनः 'आ' स्वर नहीं है, हिंदी में साधारणतया अविकृतरूप से चला आया है; यथा—आंब्<आम<आम्र; आर्सी<(प्रा०) आअरिस, (पा०) आदासो<आदर्शः; आलू<आलुअ<आलु-कः; (अ० त०) आलस्<सं० आलस्य; आस्<आसा<आशा; घाव<घाअ<घात; पानी<पाणिअ<पानीय; भाई<भाइ, भाइअ<भ्रातृ, भ्रातृकः; सावन<सावण<श्रावण; सांवला<सामल<श्यामल।

§ ७५. स्वराघात-युक्त—आ—से अनुगमित प्रा० भा० आ० भा० का आदि-अक्षर का 'आ' जो म० भा० आ० में 'अ' + संयुक्त-व्यञ्जन हो गया था, > हिंदी में 'अ' बना रहा, यद्यपि, संयुक्त-व्यञ्जन सरल कर दिए गए, यथा—

हिं० बखान् < वक्खाण— < व्याख्यान—; भँडार् < भण्ड-आर < भाण्डागार—इत्यादि।

§ ७६. किन्हीं शब्दों में आदि में स्वराघात के अभाव से 'आ-' निर्बल होकर 'अ' हो गया है; यथा—असाढ़ < आसाढ़ < आषाढ़—; अहेर् 'शिकार' < आहेड < आखेट—; बनारस < बाणारसि < वाराणसी। इसीप्रकार अ० त० अचरज < सं० आश्चर्य; रजपूत < राजपूत—इत्यादि।

प्रा० भा० आ० के संयुक्त-व्यञ्जनों से पूर्व का 'आ'

§ ७७. प्रा० भा० आ० भाषा में संयुक्त-व्यञ्जनों से पूर्व का 'आ' म०

भा० आ० भा० में 'अ' में परिणत हुआ और हिंदी तथा अन्य आ० भा० आ० भाषाओं में भी (पंजाबी,सिन्धी को छोड़कर) संयुक्त-व्यञ्जन के सरलीकरण के परिणाम-स्वरूप पुनः 'आ' में परिवर्तित हो गया। यथा—

हिं० आम < म० भा० आ० अम्ब — < सं० आम्र— ; बाघ < वग्घ — < व्याघ्र — ; बात < वत्त — < वार्ता ; जाड़ा < जड्ड— < जाड्य — ; ताँबा < तम्ब— < ताम्र — ; काठ < कट्ठ — < काष्ठ।

§ ७८. प्रा० भा० आ० से आया हुआ हिंदी का आदि-अक्षर का 'आ', चाहे वह संयुक्त-व्यञ्जन से अनुगमित हो अथवा एक व्यञ्जन से, स्वराघात के अभाव में निर्बल होकर 'अ' में परिणत हो गया है; यथा—

काठ-किन्तु 'कठफोड़वा' ; बात किन्तु 'बतरस', 'बतकही', आम किन्तु अमावट।

प्रा० भा० आ० भाषा के आदि तथा आदि-अक्षर के 'इ, ई'

§ ७९ प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० में शब्द के आदि अक्षर के इ, ई के पश्चात् जब असंयुक्त-व्यञ्जन आता है, तब उस शब्द के हिंदी-प्रतिरूप में भी 'इ, ई' अविकृत-रूप से सुरक्षित रहता है; यथा—

हिं० बिहान < बिहाण— < विभान— ; सियार — < सिआल — < शृगाल— ; कीड़ा < कीडअ — < कीटक — ; खीर — < खीर — < क्षीर—इत्यादि।

§ ८०. प्रा० भा० आ० भा० के इ, ई तथा ऋ से प्रसूत म० भा० आ० के इ, ई के बाद जब संयुक्त-व्यञ्जन आते हैं तो यह ह्रस्व हो जाते हैं और हिंदी आदि आ० भा० आ० भाषाओं में संयुक्त-व्यञ्जन के सरलीकरण के कारण पुनः दीर्घ हो जाते हैं; यथा—

हि० जीभ < म० भा० आ० जिब्भा — < जिह्वा ; पीठ < पिट्ठ — < पृष्ठ— ; भीख < भिक्ख — < भिक्षा; ईंट < इट्ट — < इष्ट—; झीना < झिण्ण— < जीर्ण—; नीच < णिच्च— < नीच्य— †।

परन्तु आदि अक्षर पर स्वराघात के अभाव में ई > इ; यथा—बिन्ती < विण्णत्ति — < विज्ञप्ति—; निठुर— < णिट्ठुर — < निष्ठुर —; निकास < सं० निष्कास—।

---

† ट० वे० हि० पृ० ३४४।

प्रा० भा० आ० भाषा के आदि तथा आदि-अक्षर के 'उ, ऊ'

§ ८१. असंयुक्त-व्यञ्जन के पूर्ववर्ती 'उ, ऊ' हिंदी में सुरक्षित चले आए हैं; यथा—हिं० खुर् < खुर— < क्षुर—; छुरी < छुरिअ < क्षुरिका; पुराना < पुराण— < पुराण—; कुवाँरा < कुमारअ, कुवाँरअ- <, कुमारकः ; गुफा < सं गुहा+देशी 'गुम्फो' ; चूड़ा, चूड़ी < चूड —< चूड— ; जूड़ा 'बालों का गुच्छा' < जूडअ— < जूटकः ; दूर < दूर— < दूर- ; धूल् < धूलि— < धूलि— ; पूरा < पूरअ — < पूरकः।

§८२. प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० के संयुक्त-व्यञ्जन के पूर्ववर्ती आदि एवं आदि अक्षर के 'उ, ऊ' हिंदी में, साधारणतया, मूलरूप में चले आए हैं; यथा, दुबला<दुब्बल<दुर्बलः; उजला<उज्जल<उज्ज्वल ; उछाह् <उच्छाह्<उत्साह् ; √उगल् (ना) <√उग्गल (उग्गलइ) < उद्√ गल् (उद्गलति); √उघाड़ (ना)<√उग्घाड (उग्घाडइ) <उद्√घाटय् (उद्घाटयति), सूत्<सुत्त<सूत्र ; दूब्<दुब्बा<दूर्वा।

§८३. परन्तु प्रा० भा० आ० एवं मध्य भा० आ० उ+संयुक्त-व्यञ्जन > हिंदी ऊ+सरलीकृत एक व्यञ्जन के उदाहरण भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं; यथा—

ऊँचा<उच्च<उच्च ; ऊँट्<उट्ट<उष्ट्र ; √पूछ् (ना) <√पुच्छ (पुच्छइ) <√पृच्छ ; √बूझ् (ना) <√बुज्झ <√बुध्य् ; √जूझ् (ना) <√जुज्झ >√युध्य् ; सूना<सुण्ण<शून्य ; दूध्<दुद्ध< दुग्ध।

§८४. स्वराघात के अभाव में दीर्घ ऊ>उ; यथा दूध् , परन्तु दुध्-मुहाँ बच्चा।

प्रा० भा० आ० का आदि एवं आदि-अक्षर-गत 'ए', 'ऐ'

§८५. प्रा० भा० आ० का 'ऐ' म० भा० आ० में 'ए' हो गया था। असंयुक्त-व्यञ्जन से पूर्व आदि अथवा आदि-अक्षर में स्थित 'ए' हिंदी में भी बिना किसी परिवर्तन के चला आया है: यथा—केवट<केवट्ट<कैवर्त ; केवड़ा< (पालि) केतको, (प्रा०) केअअ (+स्वार्थ-ड) <केतकः ; चेला<चेलअ<चेलक।

§८६. प्रा० भा० आ० ऐ ए+संयुक्त-व्यञ्जन> म० भा० आ० एँ+ द्वित्व-व्यञ्जन>हि० ए+असंयुक्तव्यञ्जन; यथा—

खेत्<खे त्त<क्षेत्र ; बेंत्<बें त्त<वेत्र ; सेठ्<सें ट्ठी<श्रेष्ठिन् ; जेठ्< जें ट्ठ<ज्येष्ठ ; √देख् (ना) < (प्रा०) √दें क्ख ; एका< एक्क < ऐक्य ।

प्रा० भा० आ० के आदि तथा आदि-अक्षर-गत 'ओ, औ'

§८७. प्रा० भा० आ० 'औ' म० भा० आ० में 'ओ' में परिणत हो गया था । असंयुक्त-व्यञ्जन से पूर्व का आदि का 'ओ' हिन्दी तक सुरक्षित चला आया है; यथा—गोरू<गोरुअ<गोरूप ; घोड़ा<घोडअ<घोटक ; कोना <कोण<कोण ; थोड़ा<थोडअ<स्तोक–; कोसी (नदी का नाम) < *कोसिअ<कौशिकी ; गोरा<*गोर (दे० (अप०) गोरडी) <गौर ; चोरी<चोरिआ, चोरिअ<चौरिका ।

§८८. प्रा० भा० आ० 'ओ'+संयुक्त-व्यञ्जन> म० भा० आ० ओं + द्वित्व-व्यञ्जन> हिंदी ओ + एक व्यञ्जन; यथा—

ओंठ् <ओं ट्ठ <ओष्ठ ; कोठा, कोठी <कों ट्ठअ<कोष्ठक ; √बोल् (ना) < देशी √बों ल्ल ; √घोल् (ना) <√घों ल्ल ; डोम् < देशी, डोम्ब ।

§८९. म० भा० आ० भाषा में 'इ, ए' तथा 'उ, ओ' आपस में स्थान बदलते रहे हैं । इनमें प्रायः विवृत-ध्वनि ही अधिक प्रचलित रही है । अर्थात् इ तथा उ की अपेक्षा 'ए' और 'ओ' का अधिक प्रयोग हुआ है । म० भा० आ० की यह प्रवृत्ति हिन्दी में भी दिखाई देती है; यथा—

सं० छिद्र>छिं द्द , छें द्द>हिं० छेद् ; सं० पुष्कर> म० भा० आ० पोंक्खर> हिं० पोखर् ; सं० पुस्तिका > म० भा० आ० पों त्थिअ > हिं० पोथी ।

अन्त्य-स्वर

§ ९०. स्वराघात के अभाव के कारण पदान्त-स्वरों का उच्चारण निर्बल होता गया और प्रा० भा० आ० भाषा के पदान्त-स्वर मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा-काल में ह्रस्वोच्चरित होने लगे । इस प्रवृत्ति के कारण अपभ्रंश में प्रा० भा० आ० भाषा के दीर्घ-स्वर 'आ, ई, ऊ' ह्रस्व 'अ, इ, उ' में परिणत हो गए और मूल-ह्रस्व स्वरों के साथ मिल गए । ह्रस्व-स्वरों का उच्चारण भी निर्बल पड़ते-पड़ते अन्त में आ० भा० आ० भाषाओं में इन स्वरों के लोप का कारण बना । इसी प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप प्रा० भा० आ० भा० के 'ए, ओ' स्वर

अपभ्रंश काल तक 'इ, उ' में परिणत हो गए। अपभ्रंश के ये पदान्त ह्रस्व-स्वर, पुरानी-हिन्दी में, सत्रहवीं शती तक, अति-लघु-उच्चारण के साथ अपनी सत्ता बनाए रहे। व्रजभाषा और अवधी में ये इस रूप में मिलते हैं। पूर्वी-हिन्दी में आज भी ये अति-लघु-उच्चारण के साथ वर्तमान हैं। भोजपुरी में भी इनका हलका सा आभास मिल जाता है। इसीप्रकार सिन्धी एवं मैथिली में तथा उड़िया में भी ये वर्तमान हैं। किन्तु बंगला में पन्द्रहवीं शताब्दी में ही इनका लोप हो चुका था।[1] असमिया में भी ये लुप्त हैं। इसप्रकार अधिकांश आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में प्रा० भा० आ० भाषा-काल के पदान्त-स्वर लुप्त हो चुके हैं या उनका बहुत क्षीण-रूप अवशिष्ट है। उदाहरण-स्वरूप प्रा० भा० आ० भा० के 'पुत्र' शब्द में पदान्त-स्वर की परिणति निम्नलिखित प्रकार से हुई—

सं० पुत्रः>(प्रा०) पुत्तो (अप०) पुत्तु>पु० हि० पूतु, पूत>आ० हि० पूत, पं० पुत्त् गु० मरा० पूत्, असं० बं० पूत, सिं० पुट्रु, उड़ि० पूत।

§ ६१. परन्तु मध्य-भारतीय-आर्य भाषा के वे पदान्त-स्वर, जिनसे पहिले प्रा० भा० आ० भाषा के व्यंजन के लोप के कारण अवशिष्ट कोई स्वर-वर्ण था, लुप्त न होकर इस पूर्व-स्वर के साथ संयुक्त हो गए और इसप्रकार पदान्त में या तो संध्यक्षर अथवा दीर्घ-स्वर बन गया; यथा—सं० हृदय>म० भा० आ० हिअअ>हिया, इत्यादि। इनका विस्तृत विवेचन आगे, यथास्थान, किया जाएगा।

§ ६२. आ० भा० आ० भा० के कुछ शब्दों में, किसी प्रत्यय के संयोग तथा उसके बचे हुए स्वर-वर्ण से भी पदान्त स्वर सबल बन गए हैं; यथा—सं० वधू>हि० बहू इसीप्रकार का उदाहरण है।

नीचे प्रा० भा० आ० भाषा के स्वरों की हिन्दी में परिणति पर विस्तार से विचार किया जाता है—

§ ६३. (१) प्रा० भा० आ० भा०—अ, इ, उ>म० भा० आ० भा० अँ, इँ, उँ>हिन्दी अँ इँ उँ; यथा— आभीर>अहीर, अहीर; अञ्चल>अञ्चल> आँचल; उत्साह>उच्छाह>उछाह; अष्ट>अट्ठ>आठ; ओष्ठ>ओट्ठ>ओठ्, ओंठ; कार्य>कज्ज, >काज; क्षेत्र>खेत्त>खेत; चर्म>चम्म>चाम् 'चमड़ा हस्त>हत्थ>हाथ्।

---

[1] चटर्जी—बैं० लैं० § १४८

तत्सम-शब्दों में सं० भवन>हिं०भवन्; तरुण>तरुण्; कमल>कमल्; अर्ध-तत्सम शब्दों में—रत्न>रतन्, यत्न>जतन्।

पदान्त-स्वर से पूर्व, संयुक्त-व्यंजन वाले तत्सम-शब्दों में पदान्त-स्वर अति लघुरूप से अवशिष्ट हैं; यथा—चन्द्र, कृष्ण इत्यादि।

-इ; ग्रन्थि>गण्ठि,>गाँठि (पु० तथा पू० हिं०), गाँठ; मुष्टि>मुट्ठि> मूठि, मुठ; चत्वारि>(अप०) चारि>चारि, चार; राशि> रासि>रासि, रास्।

-उ; अगुरु>अगरु>अगर; हिङ्गु>हिंगु>हींग्।

§ ६४. (२) प्रा० भा० आ० भा०- आ,-ई,-ऊ>म० भा० आ० आँ,-ईं,-ऊँ, (अप०) अँ, इँ,-उँ>हिंदी में लुप्त; यथा—

-आ; आशा>(पा० प्रा०) आसाँ, (अप०) आसँ->आस; कला->(प्रा०) कलाँ, (अप०) कलँ>कल; बुभुक्षा>(प्रा०) बुहुक्खाँ-, बुहुक्खाँ-, (अप०) भुक्खँ>भूख्; निद्रा>(प्रा०) निद्दाँ-, णिद्दाँ-, (अप०) निद्द->नींद्; वार्ता->(प्रा०) वत्ताँ-,(अप०) वत्तँ->बात्; घृणा- > (प्रा०) घिणाँ-(अप०)घिणँ-, घिनँ->घिन्; सन्ध्या->(प्रा०) सञ्झाँ-(अप०) सञ्झँ->साँझ्; परीक्षा>(प्रा०) परिक्खाँ, (अप०) परिक्खँ-, परक्खँ->परख्; लज्जा->(प्रा०) लज्जाँ, (अप०) लज्जँ->लाज्।

ई; गर्भिणी>(पा०, प्रा०) गब्भिणीँ, (अप०) गब्भिणि>गाभिन्; भगिनी>(प्रा०) भइणीँ-, बहिणीँ-, (अप०) बहिणिँ>बहिन्; रात्री>(प्रा०) रत्तीँ-(अप०) रत्तिँ>रात्; चतुर्थी > (प्रा०) चउत्थीँ-, (अप०) चउत्थिँ->चौथ्; सपत्नी>(प्रा०) सवत्ती, (अप०) सवत्तिँ>सौत्; नारी>(प्रा०) णारीँ, णायरीँ, (अप०) णारिँ, नारिँ>नार्।

ऊ; श्वश्रू>(पा० प्रा०)सस्सू, (अप०) सस्सुँ>सासु।

§ ६५. (३) अपभ्रंश में पदान्त ह्रस्व-स्वर अपने पूर्ववर्ती-स्वर में मिलकर उसको दीर्घ अथवा सबल बना देता है। आ० भा० आ० भाषाओं में पदान्त दीर्घ-स्वरों का बहुत कुछ कारण अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति है। नए-नए स्वार्थे-प्रत्ययों के संयोग से भी पदान्त-स्वरों को सबलता अथवा दीर्घ-रूप प्राप्त हुआ है; यथा—

उपाध्याय>उवज्झाअ>ओझा; भिक्षाकारिक>भिक्खारिअ> भिखारी; गोरूप>गोरुअ>गोरू।

§ ६६. (४) प्रा० भा० आ०—ए,—ओ>म० भा० आ०—(अप०) इँ,—उँ>हिन्दी में लुप्त; यथा—

—ए; आ० भा० आ० भा० की प्रथमा एक वचन की विभक्ति स (=:) प्राच्या-प्राकृत- (मागधी) में—ए में परिणत हो गई थी और पूर्वी अपभ्रंश में–ईं में परिणत होते हुए आधुनिक-काल में यह पदान्त-स्वर-ध्वनि लुप्त हो गई। पूर्वी-अपभ्रंश से प्रसूत सभी आधुनिक-आर्य-भाषाओं में यह परिवर्तन-क्रम मिलता है। इसप्रकार सं० पुत्रः>मा० प्रा० पुत्ते>मा० अप० पुत्तिँ>अव०, भो० पु०, मै०, ब० पूत्।

इसीप्रकार अधिकरण-कारक की विभक्ति-ए भी निर्बल पड़ते-पड़ते आ० भा० आ० भाषाओं में लुप्त हो गई है; यथा—

सं० गृहे-गृहे>घरिँ-घरिँ>घर्-घर् 'प्रत्येक घर में'।

—ओ' शौरसेनी-प्राकृत में सं०-स् (=:) विभक्ति 'ओ' में परिणत हुई और फिर अपभ्रंश-काल में-उँ में बदलती हुई, आधुनिक-काल, में लुप्त हो गई; यथा-सं० पुत्रः>शौ० प्रा० पुत्तो>पश्चि० अप० पुत्तुँ>पूत।

शब्द के आभ्यन्तर-स्वर

असम्पर्कित-स्वर

§ ६७. स्वराघात के अभाव के कारण शब्द के आभ्यन्तर-स्वरों के लोप के उदाहरण प्रा० भा० आ० भा० में भी मिल जाते हैं। इसप्रकार सुवर्ण> स्वर्ण; सूनर>* सून्र>* सुन्द्र>सुन्दर-('न' पर स्वराघात न होने के कारण 'न' के 'अ' का लोप), अनु-वर्तिष्ये>अन्वर्तिष्ये। म० भा० आ० भाषा में बोलने की सुविधा को ध्यान में रखकर शब्दों में स्वराघात निर्धारित हुआ। अतः स्वराघात-परिवर्तन के फलस्वरूप आभ्यन्तर-स्वरों के लोप की प्रक्रिया प्रा० भा० आ० भाषा से बहुत अधिक मात्रा में यहाँ दिखाई देती है। कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—सं० जागर्ति>*जागरति>* जाग्रति> (पा०) जग्गति, (प्रा०) जग्गइ (हिं० जागे); सं० दुहिता>(पा०) धीता, (प्रा०) धीआ, धीअ, हिं० (बो०) धी, 'पुत्री', सनख-पद>* सनख्-पद>सणप्फय; कलत्र>*कल्त्र>कत्त-,'स्त्री'; पूगफल>*पूग्फल>पोप्फल 'सुपारी'; सुरभि>* सुर्भि>सुब्भि; उदूखल>*उद्खल>उक्खल,

ओक्खल (हि० ओखली')। आभ्यन्तर-स्वरों के लोप के उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रा० भा० आ० भाषा के संगीतात्मक-स्वराघात के स्थान पर म० भा० आ० भाषा-काल से बलात्मक-स्वराघातकी प्रवृत्ति ने ज़ोर पकड़ा, जिसके कारण बलात्मक-स्वराघात से रहित अक्षरों के स्वर-निर्बल पड़कर या तो लुप्त हो गए या ह्रस्व हो गए।

म० भा० आ० भाषा की यह प्रवृत्ति आ० भा० आ० भाषाओं में भी चली आई और स्वराघात वाले अक्षरों के आस-पास के असम्पर्कित-आभ्यन्तर स्वरों का कारण बनी। आ० भा० आ० भाषाओं में इसके उदाहरण पर्याप्त-संख्या में मिलते हैं। डा० चैटर्जी† के अनुसार इसका कारण द्विमात्रिक-उच्चारण की प्रवृत्ति है। एक उदाहरण से यह कथन स्पष्ट हो जायगा। 'पागल' शब्द में दो अक्षर (Syllable) हैं; इसके उच्चारण को द्वि-मात्रिक कहेंगे। अब इसी शब्द में जब स्त्री-प्रत्यय 'ई' जोड़ा जाता है तब इसका रूप हो जाता है 'पग्ली'। अब भी इसमें दो ही अक्षर हैं, उच्चारण द्वि-मात्रिक ही है।

अन्त्य स्वर के लोप के उपरान्त तीन अक्षर वाले शब्दों के आभ्यन्तर-स्वरों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, क्योंकि तब उपरिलिखित प्रवृत्ति के अनुसार शब्द दो-मात्राओं वाला रह गया। किन्तु जब प्रत्यय के योग से शब्द का विस्तार हुआ और उसके अक्षरों (Syllables) की संख्या बढ़ी तो आभ्यन्तर-स्वर निर्बल पड़ कर लुप्त हो गए। चार या इससे अधिक अक्षरों वाले शब्दों में, स्वराघात-रहित आभ्यन्तर-स्वर जो प्रायः अंतिम-अक्षर में रहते हैं, यदि दीर्घ न हुए तो लुप्त हो जाते हैं। आभ्यन्तर 'अ' के लोप के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

हि० कंग्ना < म० भा० आ० कङ्कण < प्रा० भा० आ० कङ्कण; कट्हल < सं० कण्टफलम्; कठ्घर <कट्ठघर < काष्ठगृह; धर्ना < धरण < धरण; टक्साल <* टङ्कसाल < टङ्कशाला; पन्सारी < पण्णसालिअ < पण्यशालिक; पन्द्रह < (अप०) पण्णरह < पञ्चदश; पत्ला<पत्तला <देशी पत्तल < सं० पत्रल 'पत्ते जैसा'; पुत्ली<पुत्तलिआ पुत्तलिका।

प्रा० भा० आ० भाषा का आभ्यन्तर असम्पर्कित—आ—

§ ६८. साधारणतया यह सुरक्षित है; यथा—हि० अखाड़ा<अक्खाड़

† वै० लैं० § १६७।

अक्ख-वाड < अक्ष-वाट; अजान् < अयाण < अज्ञान; अठारह् < अट्ठारस (अप०) अट्ठारह् < अष्टादश; अठावन् < अट्ठावण्ण< अष्टापञ्चाशत्; अठासी < अट्ठासि < अष्टाशीति; अथाह् < अत्थाह < अस्थाध; अनाज < सं० अन्नाद्य; अमावस < अमावस्स < अमावास्या; उतावला < प्रा० उत्तावल-; कहार < देशी काहार; ग्वाला < गुआल < गोपाल-; चमार < चम्मार < चर्मकार-।

६६. स्वराघात के अभाव में कहीं कहीं प्रा० भा० आ० —आ– > हिन्दी अ; यथा, कुवँर 'राजकुमार' < कुँआर < कुमार-; अगहन < सं० अग्रहायन इत्यादि।

प्र० भा० आ० असम्पर्कित आभ्यन्तर इ, ई

§ १००. साधारणतया इ, ई सुरक्षित हैं; यथा—पड़िवा < सं० प्रतिपदा; साकिनी ('डाकिनी-साकिनी' राक्षसी) < सं० शङ्खिनी; (अ० त०) अभिलास < सं० अभिलाष; मानिक < सं० माणिक्य।

§ १०१. प्रा० भा० आ० संयुक्त अथवा सानुनासिक व्यञ्जन+इ > हिन्दी एक अथवा निरनुनासिक व्यंजन+ई, यथा—

अड़तीस < सं० अष्टात्रिंशत्; अड़तालीस < सं० अष्टचत्वारिंशत्; उन्तीस < ऊनत्रिंशत्; चालीस < चत्वारिंशत्; टिटीहरी < टिट्टिभी; मंजीठ् < मंजिट्ठ < मञ्जिष्ठ।

§ १०२. प्रा० भा० आ० भाषा के आदि अक्षर के स्वराघात के अभाव में लुप्त हो जाने की अवस्था में मूलतः द्वितीय अक्षर का 'इ' हिन्दी में 'ई' हो गया है; यथा—

सं० अरिष्ट > म० भा० आ० रिट्ठ > हिं रीठा; सं० अभ्यन्तर > म० भा० आ० भितर > हिं भीतर।

§ १०३. स्वराघात के अभाव में प्रा० भा० आ० इ, ई > हिन्दी अ; यथा—तीतर < सं० तित्तिरि; गहरा < सं० गभीर (म० भा० आ० गहिर); परख < म० भा० आ० परिक्खा < परीक्षा।

प्रा० भा० आ० असम्पर्कित आभ्यन्तर-उ-,-ऊ-

§ १०४. हिन्दी में ये साधारणतया सुरक्षित हैं; यथा—हिं, पाहुना < सं० प्राहुण; फागुन < सं० फाल्गुण—(म० भा० आ० फग्गुण)—ससुर्<श्वशुर ; कपूर्<कर्पूर ; खजूर्<खर्जूर-।

§१०५. स्वराघात के अभाव में उ का लोप भी हो गया है; यथा—
कुटम्<कुटुम्ब ; कूकर<कुक्कुर

प्रा० भा० आ० असम्पर्कित-आभ्यन्तर-ए,-ओ—

§१०६ यह हिंदी में सुरक्षित है; यथा—
अहेरी<आखेटिक ; (अ० त०) उपदेस<उपदेश ; परेत<प्रेत ; बिछोह<विक्षोभ ।

सम्पर्क-स्वर

§१०७. संस्कृत-व्याकरण के अनुसार जब दो स्वर-ध्वनियाँ सम्पर्कित होती हैं तो उनमें संधि हो जाती है। परन्तु यह केवल वैयाकरणों का सिद्धान्त मात्र है और जब संस्कृत केवल साहित्यिक-भाषा रह गई, तब इस नियम का कड़ाई से पालन हुआ भी। परन्तु अन्य भाषाओं के समान प्रा० भा० आ० भाषा में भी दो-स्वरों का सम्पर्क सह्य था, यह वैदिक-मन्त्रों की भाषा के अध्ययन से निश्चितरूप से ज्ञात होता है। 'त्वं ह्यग्ने' को 'तुअं हि अग्ने' उच्चारण किया जाता रहा होगा, यह वैदिक-छन्दानुरोध से सहज ही अनुमान लग जाता है। म० भा० आ० भाषा-काल में शब्द के आभ्यन्तर-व्यञ्जनों के लोप से अनेक स्वर सम्पर्कित हुए। व्यञ्जन-लोप से अवशिष्ट सम्पर्कित-स्वरों को 'उद्वृत्त-स्वर' कहा जाता है। इसप्रकार 'हृदय', रसिक, चकित के स्थान पर हिअअ, रसिअ तथा चइअ शब्द अस्तित्व में आए।

म० भा० आ० भाषा के प्रथम-पर्व से ही ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिनमें उद्वृत्त-स्वर संकुचित होकर एक में मिल गए हैं; इसप्रकार पाली में प्रा० भा० आ० स्थविर > *थइर>थेरो ; कुशीनगर>*कुसीनअर> कुसीनारा, तथा पाली एवं अशोक के अभिलेखों में मयूर>*मउर>मोर जैसे शब्द मिल जाते हैं। इनमें अ+इ>ए, अ+अ>आ, अ+उ>ओ। परन्तु उद्वृत्त-स्वरों को अलग-अलग रखने की प्रवृत्ति म० भा० आ० भाषा-काल के अंतिम-पर्व, अपभ्रंश तक, चलती रही और कुछ (विशेषतया, पूर्वी) आ० आ० भाषाओं में यह प्रवृत्ति सजीवरूप में आज भी विद्यमान है।

§१०८. म० भा० आ० भाषा के अंतिम-काल (अपभ्रंश) तथा आ० भा० आ० भाषाओं के प्रारम्भ-काल में उद्वृत्त-स्वरों की निम्नलिखित तीन प्रक्रियाएँ मिलती हैं—

(१) वे संध्यक्षर बन गए।

(२) दो स्वर एक में परिणत हो गए।

(३) 'य्' तथा 'व्' श्रुतियों के प्रयोग से इनका स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहा।

-य्-, -व्- श्रुति

§ १०६. शब्द के स्वरमध्यग-व्यञ्जन का लोप होने पर या तो केवल स्वर-ध्वनि अवशिष्ट रही या उसका स्थान -'य्'- -'व्'- श्रुति ने ग्रहण किया। '-य्-' '-व्' श्रुति का सन्निवेश म० भा० आ० भाषा की उस स्थिति में ही प्रारम्भ हो गया था, जब मूल-व्यञ्जन-ध्वनियों का उच्चारण ऊष्म होकर शिथिल होता हुआ लोप की ओर अग्रसर हो रहा था। अर्ध-मागधी-प्राकृत में -'य्'- श्रुति का सन्निवेश नियमितरूप से किया जाने लगा। भारहुत-शिलालेख (ईसा पूर्व द्वितीय-शताब्दी) में 'अवयेसि<अवादेसि में '-य-' श्रुति मिलती है और खारवेल के शिलालेख में (ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दि) चवुथ<चतुर्थ में -'व्'- श्रुति वर्तमान है। परन्तु अशोक के अभिलेखों में (ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दी) में -'य्'- -'व्'- श्रुति का पता नहीं चलता, अपितु उद्वृत्त-स्वर सन्ध्यक्षर में परिणत हो गए हैं; यथा—थैर<*थइर<स्थविर-, त्रैदस<त्रयोदश। स्वरमध्यग-व्यञ्जन-ध्वनियों के पूर्णतया लुप्त हो जाने पर, श्रुति-सन्निवेश द्वारा, उद्वृत्त-स्वरों की सुरक्षा की प्रवृत्ति बढ़ चली। अपभ्रंश तथा आ० भा० आ० भाषा के प्रारम्भिक काल में इसके उदाहरण पर्याप्त-संख्या में मिलने लगते हैं। यद्यपि अपभ्रंश तथा आ० भा० आ० भा० के प्रारम्भ की लेखन पद्धति की अनियमितता के कारण अनेक स्थलों पर श्रुति-सन्निवेश नहीं मिलता, परन्तु आधुनिक उच्चारण, ध्वनि परिवर्तन आदि पर ध्यान देते हुए यह ज्ञात हो जाता है कि ऐसे अनेक शब्दों में जहाँ अपभ्रंश अथवा आ० आ० भाषाओं के लिपि कर्ताओं ने 'श्रुति' प्रदर्शित नहीं की है, वह अवश्य रही होगी। श्रुति-सन्निवेश की प्रक्रिया निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगी—

प्रा० भा० आ० शूकर->म० भा० आ० *सूगर, *सूअर, *सूवर, सूअर>हिंदी सूअर, सुवर; प्रा० भा० आ० दीप-,* दीव, दी (व्, य्-) अ> हिं दिया, पं०, दिवा; कातर->कादर-, *कादर-, का (य्) अर >कायर; राज->रा (-व्-, य्-) अ>राय, राव।

हिंदी में -य्—, -व् श्रुति के और उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—हिं० केवड़ा<म० भा० आ० केवअ (ड), केअअ (ड)<प्रा० भा० आ० केतक-; जुवा<जुव-जुअ-<द्यूत-; नारियल<णारिएल-, णारि (य्-)

अल< नारिकेल; घायल्<घा (य्-) अ+इल्ल<घात-; घाव<घा (व्-) अ<घात-; सियार<सियाल-<शृगाल-; क्यारी<के (य्-) आरिअ<केदारिका; (माल), पूवा<पू (व्-) अ-<पूप-; पाँव<पा<पा (व्-) अ<पाद-; बावला<बा व्-) अल<वातुल।

उद्वृत्त-स्वरों की सन्ध्यक्षर में परिणति

§ ११०. 'श्रुति'-सन्निवेश द्वारा सुरक्षित न होने पर उद्वृत्त-स्वर या तो सन्ध्यक्षर में परिणत हुए या संकुचित होकर एक में मिल गए। अ+इ, आ+इ, अ+उ, आ+उ का सन्ध्यक्षर में परिणत होना संस्कृत-व्याकरण का तो नियम है ही, म० भा० आ० की प्रारम्भिक-अवस्था में भी इसके उदाहरण हम देख चुके हैं (यथा, अशोक-अभिलेख में थेर, त्रैदस)। हिन्दी की प्रारम्भिक अवस्था तक अ-इ, अ-उ, ये उद्वृत्त-स्वर अलग-अलग बने रहे, परन्तु बाद में ये ऐ-औ, – में परिवर्तित हो गए। उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

हि√बैठ्(ना),<म० भा० आ०√बइठ –<सं० उपविष्ट (पु० हि० में 'बइठ'); भैंस<पु० हि० भइँस्<म्हइँस. (प्रा०) महिस्स<महिष –; चौथ्<पु० हि० चउथ<चउत्थ –<चतुष्क; चोक्<पु० हि० चउक<चउक्क<चतुष्क; चौगुना<(अप०) चउग्गुणा<चतुर्गुणिता; और<अउर<अवर –<अपर; बैल्<बइल्<बइल्ल; चित्तौड़<चित्तउड<चित्रकूट; गुहिलौत 'एक राजपूत जाति'< गोहिल-उत्त<गोभिलपुत्र; झिझोटी (राग) <पु० हि० जिजाउटि<जैजाअ-हुट्टिअ<जैजाकभुक्तिक।

§ १११. हिंदी में म० भा० आ० अय>ऐ तथा अव>औ; यथा—सं० कदल>कअल, कयल>*कैला>केला; नयन>नअण>नैन; रजनी>रअणि, रयणि>रैन; वचन>वयण>बैन; पवन>पवण>पौन; चमत्कइ>चौंके; समर्पयति>सम व)प्पेइ<सौंपे; कपर्दिका>कवड्डिअ>कौड़ी; कर्षपट्टिका>कसवट्टिआ>कसौटी; अवतार>, अ० त० औतार; अपर>अवर>और; कःपुनः>कवुण, – कवण>कौन; अवसर>(अ० त०) औसर।

प्रा० भा० आ० भा० के 'ऋ' का हिन्दी में परिवर्तन

§ ११२. संस्कृत-व्याकरण में 'ऋ' की गणना स्वरों में होती है। परन्तु म० भा० आ० भा० के प्रारम्भ-काल से ही यह स्वर लुप्त हो गया। नागरी एवं बंगला-लिपि में संस्कृत के अनुसरण पर 'ऋ' वर्ण तो है, किन्तु उच्चारण में वह

'रि' हो गया है। इसप्रकार 'ऋषि' का उच्चारण हिंदी, बंगला आदि उत्तर-भारत की आर्य-भाषाओं में 'रिखि' होता है। किन्तु उड़िया, मराठी आदि दक्षिण की भाषाओं में 'ऋ' का उच्चारण 'रु' होता है।

प्रा० भा० आ० भाषा में 'ऋ' का उच्चारण क्या था, यह ठीक-ठीक तो नहीं बताया जा सकता, परन्तु प्रातिशाख्यों में इस वर्ण के विवरण से ज्ञात होता है कि तब इसका उच्चारण 'अ र् अ' रहा होगा और यह संघर्षी-स्वर (Fricative) होगा। प्रातिशाख्यों में इसका विश्लेषण इसप्रकार किया गया है—$\frac{1}{4}$ मात्रा 'अ'+ $\frac{1}{2}$ मात्रा र् + $\frac{1}{4}$ मात्रा 'अ'। म० भा० आ० भाषाकाल में 'ऋ' में से 'र्' ध्वनि समीकृत हो गई और अवशिष्ट अंश 'अ इ, उ, ओ,' ए' में परिवर्तित हो गया। पाली में अवश्य कुछ शब्दों में 'र्' ध्वनि भी सुरक्षित है, यथा - सं० ऋग्वेद>पा० इरुव्वेद; ऋषभ >रिसभ एवं उसभ।

अशोक के अभिलेखों की भाषा के अध्ययन के पश्चात् ब्लॉश इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दक्षिण-पश्चिम में ऋ>अ तथा उत्तर-पूरब में ऋ>इ तथा उ।

परन्तु भाषाओं एवं बोलियों के सम्मिश्रण के कारण आज यह निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सा सकता कि किसी क्षेत्र विशेष में ऋ का परिवर्तन किस रूप में हुआ है। आधुनिक-हिन्दी में ऊपर के सभी परिवर्तनों के उदाहरण मिल जाते हैं। नीचे क्रमशः इन पर विचार किया जाता है।

(i) प्रा० भा० आ० ऋ>म० भा० आ० अ>हिन्दी अ तथा क्षति-पूरक दीर्घ रूप (Compensatory lengthening) में आ; यथा—

सं० कृत्यगृह>म० भा० आ० *कच्चघर, *कच्चहर>हिं कचहरी; कृष्ण>कण्ह>कान्ह; नृत्य>णच्च, नच्च-नाच्; मृत्तिका>मट्टिआ-मट्टिअ>माटी (पंजाबी के प्रभाव से मिट्टी); शृङ्खला>सङ्खल>साँकल।

(ii) प्रा० भा० आ० ऋ> म०भा० आ० इ>हिन्दी इ अथवा ई यथा—

सं० घृणा>घिण्णा—>घिन् ; वृश्चिक—>विञ्छिअ>बिच्छी 'छोटा बिच्छू'; शृगाल—>सियाल>सियार; घृत—>घिउ, घिअ>घी; पृष्ठ>पिट्ठ—>पीठ्; नप्तृक>नत्तिअ>नाती; शृङ्ग—>सींग; गृद्ध>गिद्ध>गीध।

---

[1] ब्लाश—§ २० तथा टर्नर गु० को० § १२।

(iii) प्रा० भा० आ० ऋ>म० भा० आ० उ>हिन्दी उ अथवा ऊ: यथा—

सं० शृणोति>सुणइ>सुने; मृतक>मुअअ> मुआ; वृद्ध>वुड्ढ—>बूढ़ा; √पृच्छ—>√पुच्छ—>√पूछ (ना).

मध्य तथा आधुनिक भारतीय-आर्य-भाषाओं के अनुस्वार

(१) अन्त्य-अनुस्वार

§ ११३. प्रा० भा० आ० भाषा में अनुस्वार, स्वर वर्णों के साथ, नासिक्य-ध्वनि का स्वतन्त्र संयोग था, अर्थात् स्वर-वर्णों के पश्चात् नासिक्य-ध्वनि स्वतन्त्र-रूप से सुनाई देती थी। इसप्रकार अं, इं, वास्तव में अ+ं, इ+ं थे, परन्तु व्यावहारिक-रूप में ये अ अं, इ इं थे। म० भा० आ० भाषा में प्रा० भा० आ० भा० के अनुस्वार के परिवर्तन तथा आधुनिक-काल में भी भारत के विभिन्न-भागों में संस्कृत के परम्परागत-उच्चारण से यह बात प्रमाणित हो जाती है। उत्तर-भारत में 'संस्कृत' शब्द का उच्चारण 'सन्स्कृत' होता है, बंगाल में 'सङ्स्कृतो' तथा पश्चिमी-भारत (महाराष्ट्र) में 'स्वस्कृत' होता है। इन भिन्न-उच्चारणों में प्रा० भा० आ० के अनुस्वार के लिए 'न्, ङ् तथा वँ'—इन नासिक्य-ध्वनियों का व्यवहार किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रा० भा० आ० का अनुस्वार शुद्ध-स्वर-ध्वनि से पृथक नासिक्य-ध्वनि था। म० भा० आ० भाषा-काल में यह अनुस्वार, पूर्ण अनुनासिक-ध्वनि 'ङ्, म्, न्' आदि में परिणत हो गया और जिस स्वर के साथ यह जुड़ा था, वह अलग छूट गया। इससे यह निश्चय-पूर्वक' कहा जा सकता है कि प्रा० भा० आ० भा० का अनुस्वार एक स्वतंत्र नासिक्य-ध्वनि था जिसके संयोग से स्वर-वर्णों में अनुनासिकता लाई जाती थी।

प्रा० भा० आ० भा० में स्पर्श-वर्णों के पूर्व का अनुस्वार उनके वर्ग के पञ्चम-वर्ण में परिवर्तित हो जाता है; यथा—गङ्गा, चञ्चल, दण्ड, तन्तु, √कम्प—। वैदिक-भाषा में केवल य्, र्, ल्, व्, तथा ऊष्म व्यञ्जन श् ष स् ह के पूर्व के अनुस्वार आता है; यथा—'रश्मिं रिव', 'सृनुयुवन्यूँरुन्'।

म० भा० आ० भाषा में अन्त्य—म् अनुस्वार में परिणत हो गया। प्रा० भा० आ० भाषा का अन्त्य अनुस्वार भी सुरक्षित रहा। अपभ्रंश-काल में प्रा० भा० आ०—म्>म० भा० आ०—मँ—उपान्त्य-स्वर की सानुनासिकता का

+चैटर्जी—वैं० लैं० पृ० २२४।

कारण बना। मराठी, गुजराती एवं ब्रजभाषा में अन्त्य-स्वर की सानुनासिकता के उदाहरण मिलते हैं; यथा—गुजराती—पहिलुँ (<पथिल्लउँ<प्रथ-इल-कम) 'पहिला', हुँ<हउँ<अहकम् 'मैं', सौँ∠सउँ∠शतम् 'सौ'; मराठी—शेँ∠सयँ∠शतम् 'सौ', 'मोतीँ'<मोँत्तिअँ<मौत्तिकम्; पाखरूँ∠पक्ख रूअँ∠पक्ष-रूपम् 'पखेरु'; ब्रज-भाषा—हउँ∠अहकम् 'मैं'; मारिवौँ< मारितव्यम्, इत्यादि। खड़ीबोली हिन्दी आदि अन्य आ० भा० आ० भाषाओं में अन्त्य-अनुस्वार सुरक्षित नहीं है।

हिन्दी में अनुनासिकता तथा लघ्वीकृत नासिक्यध्वनि

§११४. म० भा० आ० भाषा के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि उसमें स्वर-मध्यग संयुक्त-व्यञ्जन (जो स्पर्श अल्पप्राण + इसका महाप्राण-व्यञ्जन अथवा नासिक्य + स्पर्श अल्पप्राण अथवा महाप्राण होता था) से पूर्व का स्वर ह्रस्व रहता था। आ० भा० आ० भाषाओं ने (पंजाबी, सिंधी, लँहदी को छोड़कर) इस संयुक्त-व्यञ्जन को सरल कर दिया और इसकी क्षतिपूर्ति के रूप में पूर्व-स्वर को दीर्घ कर दिया। जहाँ संयुक्त-व्यञ्जन-नासिक्य + अल्पप्राण अथवा महाप्राण स्पर्श था, वहाँ नासिक्य-वर्ण का लोप हुआ और पूर्व-स्वर दीर्घ होने के साथ-साथ सानुनासिक भी हो गया। प्रायः सभी आधुनिक भा० आ० भा० में यह प्रक्रिया हुई। परन्तु पंजाबी, उड़िया तथा (संभवतः पंजाबी के प्रभाव से) हिन्दी में इसके साथ-साथ यह भी देखा जाता है कि पूर्व-स्वर के सानुनासिक होने पर भी नासिक्य-ध्वनि का कुछ अंश अवशिष्ट रह ही गया है। इस नासिक्य-ध्वनि को हम 'लघ्वीकृत-नासिक्य-ध्वनि' कहेंगे और इसको पंक्ति से कुछ ऊपर उठाकर अंकित करेंगे। उदाहरण-स्वरूप सं० दन्त एवं 'पञ्च' शब्द उड़िया में 'दाँन्त' तथा 'पाँम्च' और पंजाबी में 'दँन्द्' तथा 'पँञ्ज्' उच्चरित होते हैं। हिन्दी कंगाल (< सं० कङ्काल); तथा कंधा का उच्चारण भी क्रमशः 'कङ्गाल' तथा 'कन्धा' होता है। डा० चैटर्जी ने लघ्वीकृत-नासिक्य-ध्वनि पर विचार करते हुए लिखा है कि म० भा० आ० एवं आ० भा० आ० के संक्रान्ति-काल में क्षतिपूर्ति के रूप में पूर्वस्वर के दीर्घीकरण एवं नासिक्य-ध्वनि के पूर्णतया लुप्त होकर पूर्वस्वर के अनुनासिक बनने से पूर्व नासिक्य-ध्वनि के लघुरूप में उच्चारण करने की प्रवृत्ति रही होगी। इसप्रकार सं० अङ्क> आँक बनने से पूर्व 'अङ्क' उच्चारण की प्रवृत्ति रही होगी जिसका चिह्न उड़िया, पंजाबी तथा हिन्दी के ऊपर दिए गए उदाहरणों में है।

हिन्दी में वर्गीय-अनुस्वार के लोप के साथ-साथ पूर्व-स्वर के दीर्घी-करण के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—आँगन<अङ्गण-; जाँघ्<जङ्घा; चोंच्<चञ्चु; गाँजा<गञ्जा; पिंजरा<पिञ्जर-; साँझ<सञ्झा (म० भा० आ०) पाँडे<पाण्डेय; साँड़<सण्ड-; माँड़<मण्ड; खँडहर्<खण्डगृह; बूँद्<बिन्दु; संभाल्<सम्भार; पाँत<पङ्क्ति;<काँप् (ना)<कम्प; आँचल्<अञ्चल-; आँत्<अन्त्र-;<पोंछ (ना)<प्र√उञ्छ्-); उँगली<अङ्गुलि; सोंध्< सुगन्ध-; भाँग्<भङ्ग; लौंग्<लवङ्ग; पूँजी<पुञ्ज-; गूँज्<गुञ्ज-; अँधेरा<अन्धकार; कांध<स्कन्ध-।

§ ११५. हिन्दी में निम्नलिखित स्थितियों में नासिक्य-ध्वनि का लोप नहीं हुआ है—

(१) -न्द्—हिन्दी में; कुछ शब्दों में इसीरूप में सुरक्षित है तथा प्र० भा० आ० ण्ड्-भी हिन्दी में-न्ड-हो गया है; यथा-

हि० सिन्दूर<सं० सिन्दूर-; चन्दन<सं० चन्दन-, डन्डा<दण्ड-चन्डाल<चण्डाल-।

(२) सं०-म्र>म० भा० आ०-म्ब्>हिं०-म्; यथा-

सं० आम्र>म० भा० आ० अम्ब्>हिं० आम्।

(३) –ण्ह्–>हिं०–न्ह्, तथा प्रा० भा० आ० –ह्म–>म० भा० आ० म्ह्–>हि–म्ह्–यथा–कान्ह्<कृष्ण–, बाम्हन्<बम्हण<ब्राह्मण–।

(४) म० भा० आ० म्ह्–(सं०–म्भ–ष्म्–आदि से प्राप्त) म्भ> हिं०–म्ह्–, यथा–कुम्हार्<सं० कुम्भकार–कुम्हड़ा<कूष्माण्ड

(५) म० भा० आ० के द्वित्व-नासिक्य-व्यञ्जन जब हिन्दी में एक-व्यञ्जन रह जाता है, तब भी पूर्व-स्वर सानुनासिक नहीं होता; यथा–

काम्<कम्म<सं० कर्म; चाम्<चम्म<चर्म–कान्–<कण्ण कर्ण–आदि।

§ ११६. जब प्रा० भा० आ० के अनुस्वार के बाद उष्मस्वर 'इ' आता है, तब अनुस्वार का लोप होता है; यथा–

बीस्<विंशति; तीस्∠त्रिंशत् बाइस्∠द्वाविंशति।

स्वतः अनुनासिकता (Spontaneous Nasalisation)

§ ११७. आ० भा० आ० भाषाओं के अनेक ऐसे शब्दों में अनुनासिकता मिलती है, जिनके मूल, प्रा० भा० आ० रूप में, अनुनासिकता नहीं है। यथा—

सांप्<सर्प—; ऊँट्< उष्ट्र इत्यादि। आ० भा० आ० भाषाओं की अनुनासिक-ध्वनि का सन्निवेश करने की इस प्रवृत्ति को स्वतः-अनुनासिकता (Spontaneous Nasalisation) कहा जाता है, क्योंकि 'साँप्' जैसे शब्दों की अनुनासिक-ध्वनि व्यञ्जनों के सरलीकरण आदि किसी सामान्य-प्रवृत्ति का परिणाम न होकर स्वतः (बिना किसी दृष्ट कारण, के) चली आई है। म० भा० आ० भा० में भी स्वतः-अनुनासिकता के उदाहरण मिलते हैं: यथा—जम्पइ<जल्पति; दंसण (दस्सण भी) और वस्तुतः आ० भा० आ० भाषाओं में स्वतः अनुनासिकता की प्रवृत्ति अपनी ही नहीं है अपितु म०भा०आ०भा० से आई हुई है, यह आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा।

स्वतः-अनुनासिकता के विषय में ब्लाश एवं टर्नर का विचार है कि स्वर की मात्रा में परिवर्तन के परिणाम-स्वरूप इस प्रवृत्ति का विकास हुआ है। सानुनासिक-अक्षर का मात्रा-काल द्वित्व-व्यञ्जन वाले अक्षर के मात्राकाल के समान दीर्घ होता है। अतः जहाँ म० भा० आ० भाषा ने प्रा० भा० आ० के संयुक्त-व्यञ्जन को द्वित्व में परिवर्तित न कर एक-व्यञ्जन के रूप में ग्रहण किया, वहाँ शब्द के मात्राकाल को संतुलित करने के लिए पूर्वाक्षर को सानुनासिक कर दिया गया। डा० ग्रियर्सन को यह मत मान्य नहीं है। उनका विचार है कि स्वतः-अनुनासिकता की प्रवृत्ति म० भा० आ० भाषा के विकास के बाद की उस अवस्था में चल पड़ी जब स्वरों को दीर्घ कर दिया जाने लगा था। परन्तु गम्भीर विचार करने पर यह दोनों ही स्थापनाएँ ठीक नहीं जँचती।

डा० चटर्जी के अनुसार स्वतः-अनुनासिकता म० भा० आ० भाषा की किन्हीं शाखाओं की विशेषता थी। म० भा० आ० भाषा में अनेक शब्दों के सानुनासिक एवं निरनुनासिक, दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं; यथा—जम्पइ, जप्पइ <जल्पति; दंसण, दस्सण<दर्शन—' पङ्खी, पक्खी<पक्षिन् इत्यादि। 'देशी' नाम से अभिहित शब्दों में सानुनासिक-रूपों का अधिक आग्रह दिखाई देता है और आ० भा० आ० भा० के अधिकांश स्वतः-सानुनासिक शब्दों के सानुनासिक पूर्व-रूप म० भा० आ० में मिल भी जाते हैं। इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि म० भा० आ० भाषा काल में कुछ प्रदेशों में अलिजिह्व (Uvula) को नीचे झुकाकर बोलने की प्रवृत्ति थी, जिसके कारण शब्दों में सानुनासिकता आ जाती थी। कुछ प्रदेशों में इस प्रवृत्ति का अभाव था। इसीलिए म० भा० आ० में सानुनासिक एवं निरनुनासिक, दोनों प्रकार के, रूप उपलब्ध होते हैं। अतः जिन आ० भा० आ० के स्वतः-सानुनासिक शब्दों के

म० भा० आ० के पूर्व-रूप सानुनासिक नहीं मिलते हैं, वहाँ भी म० भा० आ० में सानुनासिकरूप की कल्पना कर लेना असंगत न होगा। आ० भा० आ० भाषाओं में यद्यपि स्वतः-सानुनासिकता के सामान्य-लक्षण सर्वत्र मिल जाते हैं, परन्तु ऐसा भी देखा जाता है कि एक आ० भा० आ० भा० में शब्द का सानुनासिक-रूप है तो दूसरी में निरनुनासिक; यथा—हिंदी में 'साँप्', 'पाँव्' रूप हैं तो बंगला में 'साप्' 'पा' और बंगला में 'पूँथि' है तो हिन्दी में 'पोथी'। इसका कारण स्पष्ट ही म० भा० आ० की सानुनासिकता एवं निरनुनासिकता की क्षेत्रीय-प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण है।

अतः आ० भा० आ० भा० की स्वतः-अनुनासिकता की प्रवृत्ति म० भा० आ० भाषा की देन है। हिंदी में स्वतः-सानुनासिक शब्दों के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

आँख्<*अङ्खि, अक्खि<सं० अक्षि—(परन्तु असं०; उड़ि० आखि पं० अक्ख, सिं० आखि ; आँच्<* अञ्चि, अच्चि<अर्चिष् परन्तु सिंधा० असि 'किरण'); ईंट्<* इण्ट–, इट्ट<इष्टि—(गुज० इंट्, मरा० ईंट्, असं०, उड़ि० इटा, बं० इट्, पं०, लहं० इट्ट); ऊँचा<*उञ्च, उच्च< उच्च (गुज० ऊँच्, मरा० उँच; बं० उच्, पं०,लंह०उच्चा); ऊँट्<*उण्ट्, उट्ट<* उट्ट—<सं० उष्ट्र): काँकर्, कंकर<कँकड़*कङ्कोड—कक्कोड< कर्कोट – ; काँख्<*कङ्ख, कक्ख<कक्ष– ; काँच्<* कञ्च, कच्च<काच; छाँह,<*छाँय<छाया; फाँक् 'टुकड़ा'<*फङ्क, फक्क (मिला० फक्किका); बेंत<*बेन्त, वेत्त<वेत्र—,√ माँज् (ना) <*मञ्ज—<√ मार्जय (√मृज् का णिजन्त) √माँग् (ना)<*√मङ्ग—,√मग्ग—<√मार्गय-) (<√मृग्)।

§ ११८ स्वतः-अनुनासिकता की प्रवृत्ति के विपरीत म० भा० आ० भाषा के कुछ शब्दों में मूलतः आगत अनुनासिक-ध्वनि का लोप भी हो गया और आ० भा० आ० भाषाओं में भी यह प्रवृत्ति परम्परया आ गई; यथा –

बीस<म० आ० भा० वीस<सं० विंशति; तीस<तीस<त्रिंशत्; भीतर<सं०अभ्यन्तर; पालकी<पर्यङ्किका; √भीग् (ना) अभि—√ अञ्ज्—; दाढ़ी<*दंष्ट्रिका।

आभ्यान्तर–म्–द्वारा अनुनासिकता

§ ११६ म० भा० आ० भाषा के तृतीय-पर्व (अपभ्रंश) में अकेला स्वर

मध्यग -म->-वँ-और आ० भा० आ० भाषाओं में इस -वँ- ने अपने से पूर्व के अक्षर को सानुनासिक कर दिया है; यथा—

कुँवर<कुवँर<कुमार-; साँवला<सावँलअ<श्यामल-; भौंरा <भवँर<भ्रमर; आँवला< आवँलअ<आमलक-; चँवर्<चवँर- <चामर-।

स्वरागम (Intrusive Vowels)

स्वरभक्ति अथवा विप्रकर्ष

§१२०. संयुक्त-ध्वनियों के उच्चारण में कठिनाई का अनुभव होने के कारण उच्चारण-सौकर्य के लिए उनके बीच में स्वरागम होता है। इसको स्वर-भक्ति (प्रातिशाख्यों के अनुसार) अथवा विप्रकर्ष (प्राकृत-वैयाकरणों के अनु-सार) कहते हैं। आर्य-भाषा के प्राचीनतम-काल में भी प्रयत्न-लाघव की यह प्रवृत्ति पाई जाती है। वैदिक-भाषा में 'इन्दर' (इन्द्र), दरशत् (दर्शत्) जैसे स्वरभक्ति-युक्त उच्चारण का उल्लेख प्रातिशाख्यों में मिलता है और संस्कृत में पृथिवी (पृथ्वी), सुवर्ण (स्वर्ण) जैसे रूप पर्याप्तसंख्या में मिलते हैं। म० भा० आ० भाषा काल में विप्रकर्ष-युक्त उच्चारण की प्रवृत्ति और भी बढ़ती हुई ज्ञात होती है और य्, र्, ल् तथा अनुनासिकयुक्त संयुक्त-व्यञ्जन में इसका प्रयोग मिलता है। पुरानी-हिन्दी में स्वरभक्ति-युक्त रूपों का खूब प्रचलन हुआ। हिन्दी के प्राचीन-साहित्य में ऐसे शब्द-रूपों का प्रयोग पर्याप्त-संख्या में मिलता है। आधुनिक-हिंदी-साहित्य में ऐसे प्रयोग अधिक आदर नहीं पा सके हैं, परन्तु जन-साधारण की कथ्य-भाषा में इन पर कोइ रोक टोक नहीं है और साहित्यिक हिन्दी में भी स्वरभक्ति-युक्त ऐसे शब्दों का व्यवहार होता ही है; यथा धनिया< सं० धन्या ; रतन्जोत<रत्नज्योति।

संयुक्त-व्यञ्जन-ध्वनियाँ आ० भा० आ० भाषा काल में सरल कर दी गईं। इसका एक परिणाम यह हुआ कि तद्भव-रूपों में तो स्वर-भक्ति की आव-श्यकता न रही परंतु संयुक्त-व्यञ्जन-ध्वनियों वाले तत्सम-शब्दों में तो यह उच्चारण-सौकर्य का साधन बनी ही। यही कारण है कि स्वरभक्ति का सन्निवेश अधिकतर अर्धतत्सम-शब्दों में मिलता है। हिन्दी में इसके कतिपय उदाहरण ये हैं—

अ ; करम् (सं कर्म) ; गरभ् (सं० गर्भ) ; जन्तर् (सं० यन्त्र) ; मन्तर (सं० मन्त्र) ; जनम् (जन्म) ; जतन् (यत्न) ; परब्

(पर्व) ; बरत् (व्रत) ; बजरंग (वज्राङ्ग) ; बरन् (वर्ण) ; रतन (रत्न) ; सनान् (स्नान) ; सनेह् (स्नेह) ; सवाद (स्वाद)।

विदेशी-शब्दों में—गरम (गर्म) ; नगद् (नक्द्) ; तखत् (तख्त) ; वखत् (वक्त) ; बकस् (बक्स) ; टराम् (ट्राम) ; डरामा (ड्रामा) ; परोगराम् (प्रोग्राम्)।

इ—किरिया (क्रिया); तिरिया (सं० स्त्रिया); धनिया (धन्या); सिरीमान् (श्रीमान्)।

उ—दुवार् (द्वार); मुकुता (मुक्ता); सुबरन् (स्वर्ण, सुवर्ण); सुमिरन् (स्मरण); सुमिरनी 'माला' (स्मरण + इका),

आदि-स्वरागम

§ १२१. म० भा० आ० भाषा में आदि-स्वरागम के एक-आध ही उदाहरण मिलते हैं; यथा—पालि इत्थी (स्त्री); उन्हयति (स्मयते); अप० इत्थिय (स्त्री-)। आधुनिक-हिन्दी में आदि-स्वरागम भी विशेषतया अपढ़ लोगों की बोलचाल में सुनाई देते हैं। साहित्य में इनका व्यवहार 'ग्राम्य' समझा जाता है। इसके कतिपय उदाहरण हैं—

इस्त्री (स्त्री); अस्तुति (स्तुति); अस्नान (स्नान); इस्लोक (श्लोक)। विदेशी-शब्दों में—इस्टेशन् (अं० स्टेशन); इस्कूल (अं० स्कूल)।

हिन्दी-स्वरों की उत्पत्ति

§ १२२. अ

(१) हि० अ<म० भा० आ० अ<प्रा० भा० आ० भा० अ; यथा—

हि कंगन्<प्रा०कंकण–<सं० कङ्कण; हि० कछुवा<प्रा० कच्छभ –<सं० कच्छप;—हि० खजूर<प्रा० खज्जूर<सं० खर्जूर; हि० खरा< म० भा० आ० खर-खरु∠सं० खर (खर-शब्द का अर्थ संस्कृत से हिंदी तक आते-आते कितना परिवर्तित हो गया है, यह अनुलक्षणीय है; सं० एवं म० भा० आ० भाषाओं में इसका अर्थ है 'तीक्ष्ण, कठोर', परन्तु हिन्दी में यह 'असली, सच्चा, शुद्ध' का अर्थ प्रकट करता है। अन्य आ० भा० आ० भाषाओं में भी इसका अर्थ ध्यान देने योग्य है। कश्मीरी में 'खोरु' का अर्थ है, 'असली', असमिया में 'खरा' का अर्थ 'सूखा' होता है, बंगला में 'गरम,

अधिक पकाया हुआ', उड़िया में 'धूप', मराठी में 'वास्तविक, दृढ़' और गुजराती में 'खरूं' का अर्थ है 'वास्तविक, भली-भाँति पकाया हुआ)।'[1]

हि० गदही-गधी<म० भा० आ० गद्दही<सं० गर्दभी; हि० गहिरा-गहरा<म० भा० आ० गहीर<सं० गभीर;—

हि० बहिन<म० भा० आ० बहिणि<सं० भगिनी।

(२) हिं० अ<म० भा० आ० अ<प्रा० भा० आ० स्वराघात रहित आ। यथा—

हि० 'व'खान<म० भा० आ० 'व'क्खाण–<सं० 'व्या'ख्यान;
हि० अहीर<म० भा० आ० अहीर<सं० आभीर;
हि० महँगा<म० भा० आ० महग्ग–<सं० महार्घ;
हि० अमा'व'स्<म० भा० आ० अमावस्स<सं० अमावा।

(३) हि० अ<म० भा० आ० अ<प्रा० भा० आ० उ; यथा—

हि० अ'ग'र्<म० भा० आ० अ'ग'रु–, अगलुअ–<सं० अ'गु'रु

(४) हि० अ<म० भा० आ० अ<प्रा० भा० आ० ऋ; यथा—

हि० बड़ा<म० भा० आ० वड्ड<सं० वृतक।

(५) हि० अ<म० भा० आ० अ, ए<प्रा० भा० आ० ए, यथा—

हि० नारियल<म० भा० आ० णालिअर;-णारिएल-<सं० नारिकेल—।

इ

(६) हि० अ<म० भा० आ० अ, इ<प्रा० भा० आ० इ, ई; यथा—

हि० बहेड़ा<म० भा० आ० बहेडअ<सं० बिभीतक—,
हि० परख्<म० भा० आ० परिक्खा-<सं० परीक्षा,
हि० हरड़्<म० भा० आ० हरीडइ<सं० हरीतकी।

(७) संयुक्त-व्यञ्जन-ध्वनियों के मध्य में स्वरभक्ति से; यथा—

हि० जतन्<सं० यत्न; हि० रतन्<म० भा० आ० रदण-रअण<सं० रत्न- हि० जन्तर्<सं० यन्त्र; हि० मन्तर्<सं० मन्त्र।

(८) हि० अ<म० भा० आ० ओ<प्रा० भा० आ० ओ; यथा—

हि० सहिजन्<म० भा० आ० *सोहञ्जण<सं० शोभाञ्जन।

---

1 ह० नै० हि० पृ० ११६

आ

§१२३.(१) हि० आ<म० भा० आ० आ<प्रा० भा० आ० आ; यथा—
हि० सियार<म० भा० आ० सिआल-<सं० शृगाल-;
हि० पानी<म० भा० आ० पाणिअ<सं० पानीय;
हि० पार्<म० भा० आ० पार-<सं० पारम् ।

(२) हि० आ<म० भा० आ० अ (द्वित्व-व्यञ्जन का पूर्ववर्ती)<प्रा० भा० आ० अ अथवा आ (संयुक्त-व्यञ्जन के पहले का); यथा—
हि० काम्<म० भा० आ० कम्म-<सं० कर्म-;
हि० काज्<म० भा० आ० कज्ज<सं० कार्य;
हि० फागुन्<म० भा० आ० फग्गुण-<सं० फाल्गुन-;
हि० भात्<म० भा० आ० भत्त-<सं० भक्त ।

(३) हि० आ<म० भा० आ० अ<प्रा० भा० आ० अ। यह परिवर्तन स्वराघात के कारण हुआ है; यथा—
हि० बारात<म० भा० आ० बरआत्त<प्रा० भा० आ० वर-यात्रा ।

(४) हि० आ<म० भा० आ० अ (द्वित्व-व्यञ्जन से पूर्व का)<प्रा० भा० आ० ऋ; यथा—
हि० माटी<म० भा० आ० मट्टिआ<सं० मृत्तिका;
हि० कान्ह्<म० भा० आ० कण्ह्<सं० कृष्ण ।

(५) हि० आ<म० भा० आ० अ+आ (प्रा० भा० आ० के व्यंजन के लोप से)<प्रा० भा० आ० के स्वरमध्यग-व्यञ्जन; यथा—
हि० जुआरी<म० भा० आ० जूअआर<प्रा० भा० आ० द्यूतकार-।

(६) हि० आ<म० भा० आ० आ+अ या आ+आ (प्रा० भा० आ० के स्वरमध्यग-व्यञ्जनों के लोप के कारण अवशिष्ट); यथा—
हि० मा<म० भा० आ० माअ, माआ<प्रा० भा० आ० माता;
हि० कोठारी<म० भा० आ० कोट्ठा-आरिअ<प्रा० भा० आ० कोष्टागारिक ।

(७) हि० आ<म० भा० आ० (पदान्त) उअ (प्रा० भा० आ० के स्वरमध्यग-व्यञ्जनों के लोप से अवशिष्ट); यथा—
हि० बुरा<म० भा० आ० बुरुअ<सं० विरूप।
(प्रा० भा० आ० के 'इ' का 'उ' उत्तरवर्ती 'उ' के प्रभाव से हुआ है।)

इ

§१२४. (१) हि० इ<म० भा० आ० इ<प्रा० भा० आ० इ; यथा—
हि० मानिक्<म० भा० आ० माणिक्क–<प्रा० भा० आ० माणिक्य;
हि० गाभिन्<म० भा० आ० गब्भिणी<प्रा० भा० आ० गर्भिणी।

(२) हि० इ<म० भा० आ० ई<प्रा० भा० आ० ई; यथा—
हि० दिया<म० भा० आ० दीव –<प्रा० भा० आ० दीप –;
हि० दिवाली<म० भा० आ० दीवावली<प्रा० भा० आ० दीपावलि – ।

(३) हि० इ<म० भा० आ० अ<प्रा० भा० आ० अ; यथा—
हि० इम्ली<म० भा० आ० अम्बिलिआ<सं० अम्लिका;
हि० √गिन् (ना)<म० भा० आ० √गण्–<प्रा० भा० आ० गण्;
हि० पिंजरा<म० भा० आ० पञ्जर<प्रा० भा० आ० पञ्जर।

(४) हि० इ<म० भा० आ० इ<प्रा० भा० आ० ऋ; यथा—
हि० सियार्<म० भा० आ० सिआल–<प्रा० भा० आ० शृगाल—;
हि० घिन्<म० भा० आ० घिण्ण –<प्रा० भा० आ० घृणा।

ई

§१२५. (१) हि० ई<म० भा० आ० ई<प्रा० भा० आ० ई; यथा—
हि० कीड़ा<म० भा० आ० कीड –, कीडअ<प्रा० भा० आ० कीट –; कीटक —;
हि० खीर्<म० भा० आ० खीर –<प्रा० भा० आ० क्षीर-।

(२) हि० ई<म० भा० आ० इ (द्वित्व-व्यञ्जन से पूर्व) <प्रा० भा० आ० ई, (संयुक्त-व्यञ्जन से पूर्व); यथा—

हि० तीखा<म० भा० आ० तिक्ख–<प्रा० भा० आ० तीक्ष्ण–

(३) हि० ई<म० भा० आ० इ (द्वित्व-व्यञ्जन से पूर्व) <प्रा० भा० आ० इ (संयुक्त-व्यञ्जन से पूर्व); यथा—

हि० ईंट्<म० भा० आ० इट्ठआ–<प्रा० भा० आ० इष्टका;

हि० ईख्<म० भा० आ० इक्खु<प्रा० भा० आ० इक्षु;

हि० √खीज् (ना) <म० भा० आ० खिज्ज<प्रा० भा० आ० खिद्य—;

हि० जीभ्<म० भा० आ० जिब्भ्<प्रा० भा० आ० जिह्वा;

हि० रीता<म० भा० आ० रित्त–<प्रा० भा० आ० रिक्त—;

हि० √सींच् (ना) <म० भा० आ० √सिञ्च्<प्रा० भा० आ० √सिञ्च्।

(४) हि० ई<म० भा० आ० इ<प्रा० भा० आ० ऋ; यथा—

हि० तीज्<म० भा० आ० तिइज्ज–, तइज्ज–, तइय–<प्रा० भा० आ० तृतीया;

हि० सींग्<म० भा० आ० सिंग–<प्रा० भा० आ० शृङ्ग—;

हि० भतीजा<म० भा० आ० भत्तिज्ज्<प्रा० भा० आ० भ्रातृज—।

उ

§१२६. (१) हि० उ<म० भा० आ० उ<प्रा० भा० आ० उ; यथा—

हि० खुर<म० भा० आ० खुर–<प्रा० भा० आ० क्षुर–;

हि० खुर्पा<म० भा० आ० खुरप्प–<प्रा० भा० आ० क्षुरप्र–;

हि० छुरी<म० भा० आ० छुरिआ<प्रा० भा० आ० क्षुरिका।

(२) हि० उ<म० भा० आ० ऊ, उ<प्रा० भा० आ० ऊ; यथा—

हि० सुई<म० भा० आ० सुई<प्रा० भा० आ० सूची;

हि० पाहुन्, पाहुना<म० भा० आ० पाहुण–<प्रा० भा० आ० प्राघूर्ण—;

हि० महुआ<म० भा० आ० महुअ–<प्रा० भा० आ० मधूक—।

(३) हि० उ<म० भा० आ० उ<प्रा० भा० आ० अ (शब्द में उत्तरवर्ती 'उ' के प्रभाव से); यथा—

हि० बुरा<म० भा० आ० बुरुअ<प्रा० भा० आ० विरूप:
(कहीं-कहीं स्वर-व्यत्यय से भी प्रा० भा० आ० अ के स्थान में हिंदी में 'उ' हो गया है; यथा—हि० उँगली<प्रा० अंगुलि<सं० अंगुलि)।

(४) हि० उ<म० भा० आ० उ प्रा० भा० आ० ऋ; यथा—
हि० सुने<प्रा० भा० आ० सुणइ<प्रा० भा० आ० शृणोति।

ऊ

§१२७. (१) हि० ऊ<म० भा० आ० ऊ<प्रा० भा० आ ऊ; यथा—
हि० कपूर<म० भा० आ० कप्पूर <प्रा० भा० आ० कर्पूर;
हि० गेहूँ<म० भा० आ० गोहूँ<प्रा० भा० आ गोधूम —।

(२) हि० ऊ<म० भा० आ० उ (द्वित्व-व्यञ्जन से पूर्व) <प्रा० भा० आ० ऊ या उ; यथा—
हि० सूत्<म० भा० आ० सुत्त—<प्रा० भा० आ० सूत्र—;
हि० ऊँचा<म० भा० आ० उच्च—<प्रा० भा० आ० उच्च—।

(३) हि० ऊ<म० भा० आ० उ (द्वित्व व्यञ्जन से पूर्व) <प्रा० भा० आ० ऋ (संयुक्त-व्यञ्जन से पूर्व); यथा—
हि० बूढ़ा<म० भा० आ० बुड्ढ<प्रा० भा० आ० वृद्ध—;
हि०√पूछ् (ना) <म० भा० आ√पुच्छ्—<प्रा० भा० आ० √पृच्छ्—;
हि०रूख<म० भा० आ० रुक्ख,—<प्रा० भा० आ० वृक्ष—।

(४) हि० ऊ<म० भा० आ० उ (संयुक्त-व्यञ्जन से पूर्व)<प्रा० भा० आ औ; यथा—
हि० पूस्<म० भा० आ० पुस्स<प्रा० भा० आ० पौष—।

§ १२८. 'ए' की उत्पत्ति

(१) प्रा० भा० आ० ए>म० भा० आ० ए, अथवा ए से; यथा—
एक<ऍक्क<एक—;
खेत्<खॅत्त—<क्षेत्र—;
बेंत्<बेत्त,*वेन्त—<वेत्र—;
सेठ्<सेट्ठिअ<श्रेष्ठिन्—।

(२) प्रा० भा० आ० ऐ>म० भा० आ० ए अथवा ए से, यथा—
गेरुआ<गेरुअ<गैरिक—;

तेल्<तेॅल्ल<तैल—;
केवट्<केवट्ट—<कैवर्त ।

(३) प्रा० भा० आ० अ<म० भा० आ० अ से; यथा—
सेंध्<सन्धि<सन्धि ।

(४) प्रा० भा० आ० इ<म० भा० आ० इ से; यथा—
छेद<*छेद्द<छिद्र—
बेल<*बेल्ल<बिल्व—।

(५) प्रा० भा० आ० ओ<म० भा० आ० ओ से; यथा—
गेहूँ<*गोहुँअ<गोधूम।

(६) प्रा० भा० आ० अय, अयो<म० भा० आ० अइअ से; यथा—
तेरह<तेरस<त्रयोदश—;
तेइस< <त्रयोविंशत् ।

§१२६. 'ओ' की उत्पत्ति

(१) प्रा० भा० आ० ओ>म० भा० आ० ओॅ अथवा ओ से; यथा—
ओठ्<–ओॅट्ठ<ओष्ठ—;
घोड़ा<गोड्अ<घोटक—;
कोठारी<कोट्ठारिअ—कोष्ठागारिक—।

(२) प्रा० भा० आ० औ>म० भा० आ० ओ या ओॅ से; यथा—
गोरा<गोरअ<गौर—;
मोती<मोॅत्तिअ<मौक्तिक।

(३) प्रा० भा० आ० अ>म० भा आ० से; यथा—
चोंच्<चञ्चु<चञ्चु—।

(४) प्रा० भा० आ० उ>म० भा० आ ओ या ओॅ से; यथा—
ओखल<ओक्खल<उद्खल;
मोल<मोॅल्ल<मूल्य;
पोथी<पोॅत्थिअ<पुस्तिका;
कोख<कोॅक्ख<कुक्षि।

प्रा० भा० आ० भाषा के व्यञ्जन

परिवर्तन के सामान्य-रूप

§१३०. आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं के ध्वनि-तत्व (Phonology) का प्रा० भा० आ० भा० > म० भा० आ० भा० से बहुत घनिष्ठ संबन्ध है क्योंकि वस्तुतः आ० भा० आ० भा० इसका ही विकसित-रूप हैं। भारतीय-आर्य-भाषा के विभिन्न-कालों के ध्वनि-परिवर्तन पर अनेक विद्वानों ने गवेषणा की है। डा० ज्यूल ब्लाख़ और डा० सुनीति कुमार चटर्जी की विवेचनाएँ इस विषय में आधुनिकतम हैं। इन्हीं के आधार पर नीचे भारतीय-आर्य-भाषा के व्यञ्जन-परिवर्तन का संक्षिप्त-इतिहास दिया जा रहा है। पूर्व-पीठिका में भारतीय-आर्य-भाषा के प्रत्येक-काल की प्रवृत्तियों के परिचय में व्यञ्जन-सम्बन्धी परिवर्तनों का भी उल्लेख हो चुका है। नीचे का विवरण इनका संक्षिप्त-समाहार है। हिंदी-व्यञ्जनों के इतिहास को भलीभाँति अवगत करने के लिए यहाँ पर यह संक्षिप्त-विवरण उपयोगी सिद्ध होगा।

§१३१. भारतीय-आर्य-भाषा के व्यञ्जनों के परिवर्तन के इतिहास में मुख्य बात यह हुई कि उनका उच्चारण धीरे-धीरे ऊष्म होता हुआ शिथिल पड़ने लगा, जिसके परिणाम-स्वरूप (१) पदान्त के व्यञ्जनों का लोप हो गया, (२) स्पर्श-व्यञ्जनों के समूह में प्रथम का दूसरे के साथ समीकरण हो गया और (३) केवल दो मूर्धन्य वर्णों को छोड़कर स्वरमध्यग-स्पर्श-व्यञ्जनों का लोप हो गया तथा महाप्राण-वर्णों में केवल 'ह' ध्वनि शेष रह गई।

§१३२. परिवर्तन का यह क्रम निरन्तर चलता रहा। म० भा० आ० भाषा के प्रारम्भ-काल में, जिसमें अशोक के अभिलेखों की भाषा भी सम्मिलित है, पदान्त-व्यञ्जनों के लोप तथा संयुक्त-व्यञ्जनों के समीकरण की प्रक्रिया कतिपय अपवादों के साथ चलती रही। प्रा० भा० आ० भाषा में मूर्धन्य-वर्णों का उपयोग वहीं मिलता है, जहाँ 'ष्' 'न्' अथवा 'र्' के संयोग से दन्त्य-वर्ण, मूर्धन्य में परिणत हो गए हैं। किन्तु समय की प्रगति के साथ-साथ इनके संयोग से निर्मित संयुक्त-व्यञ्जन वाले शब्दों की संख्या बढ़ती गई। इसका कारण कदाचित् आर्यभाषा पर द्रविड़-भाषा का प्रभाव था। यह प्रभाव निम्नलिखित-रूपों में परिलक्षित होता है—

(१) समीकरण-युक्त शब्दों की संख्या में अभिवृद्धि; यथा, त्रुटयति> म० भा० आ० टुट्टइ (<हि√टूट् (ना))।

(२) दन्त्य-वर्ण की मूर्धन्य में परिणति; यथा—
पतति>म० भा० आ० पडइ (< हिं० 'पड़े')।

§१३३. विभिन्न-भाषाओं तथा बोलियों में सबसे अधिक उल्लेखनीय अंतर 'क्ष' एवं 'ऋ तथा र् + दन्त्य' के परिवर्तन में मिलता है। (१) उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में क्ष > क्ख तथा मध्यदेश एव पूरब में क्ष > क्ख। (२) जहां तक 'ऋ एवं र् + दन्त्य' का सम्बन्ध है, पूरब में यह दन्त्य > मूर्धन्य, परन्तु पश्चिम में यह दन्त्य-व्यञ्जन सुरक्षित रहा। परन्तु यह बात स्मरणीय है कि पूरब एव पश्चिम की बोलियों में आदान-प्रदान होता रहा है। अतः एक देश के शब्दरूप थोड़े बहुत अंश में दूसरे प्रदेश में भी मिल जाते हैं।

§१३४. म० भा० आ० भाषा के द्वितीय-पर्व से हेमचन्द्र के कुछ समय पूर्व तक स्वरमध्यग स्पर्श-व्यञ्जनों के लोप की प्रक्रिया चलती रही। इसका एक परिणाम यह हुआ कि दो-स्वर साथ-साथ आने लगे जिससे उच्चारण में असुविधा होने लगी। इस कठिनाई को 'य्' 'व्' श्रुति के सन्निवेश से दूर किया गया। इसी समय —म्— > —वँ— और तत्पश्चात् अनुनासिक ध्वनि —वँ— में से निकल कर पूर्व-स्वर की सानुनासिकता का कारण बनी तथा रण > न्।

§१३५. म० भा० आ० भाषा के तृतीय-पर्व, अपभ्रंश, में पिछले पर्व से आए हुए द्वित्व-व्यञ्जन-वर्ण एक व्यञ्जन में परिणत होने लगे और इस परिवर्तन से शब्द के मात्रा-काल में जो क्षति हुई उसको इस लघ्वीकृत-व्यञ्जन के पूर्ववर्ती-स्वर को दीर्घ बनाकर पूरा किया गया। यही दशा अनुनासिक + व्यञ्जन समूह वाले शब्दों की हुई। यहाँ भी पूर्ववर्ती-स्वर, सानुनासिक एवं दीर्घ हो गया और अनुनासिक + व्यञ्जन में से अनुनासिक लुप्त हो गया। इसप्रकार प्राचीन-भारतीय-आर्यभाषा की आभ्यन्तर-व्यञ्जन प्रणाली की पुनः स्थापना हुई।

§१३६. इस युग की भाषाओं एवं बोलियों की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ब् (< व्व् < व्य्), पश्चिम में ब् रूप में सुरक्षित रहा, किंतु मध्यदेश एव पूरब में यह 'ब' हो गया।

§१३७. आधुनिक-भारतीय-आर्यभाषाकाल में म० भा० आ० भा० के पदान्त-स्वरों तथा आभ्यन्तर-व्यञ्जनों के बीच के स्वराघात-विहीन स्वर-वर्णों के लोप से, प्रा० भा० आ० भा० के स्पर्श-व्यञ्जनान्त-पदों एवं भिन्न-वर्गीय-व्यञ्जनों वाले शब्दों की प्रणाली पुनः स्थापित हो गई।

हिंदी-की व्यञ्जन-ध्वनियों का परिचय पीछे दिया जा चुका है। नीचे

हिन्दी के प्रारम्भ तक भारतीय-आर्य-भाषा के व्यञ्जन-विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की जाती है।

हिंदी के प्रारम्भ-काल तक का व्यञ्जन-ध्वनि-विकास

§१३८. नीचे दिए हुए व्यञ्जन-विकास के विवरण की रूपरेखा डा० चटर्जी के बें० लैं० § २३५ से ली गई है। हिन्दी के विशेष परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए यत्र-तत्र परिवर्तन कर दिया गया है।

(i) असंयुक्त-व्यञ्जन—

(१) आदि में आने वाला अकेला व्यञ्जन प्रायः अपरिवर्तित रूप में रह गया है। कहीं-कहीं स्पर्श-व्यञ्जनों में 'ह'कार ध्वनि का लोप अथवा आगम एवं शिन्-ध्वनि (Sibilant) का तालव्य च्, छ् में तथा भ् का ह् में परिवर्तन हुआ है। इसीप्रकार प्राचीन-आर्य-भाषा का य्>ज्, व्>ब्, र्>ल्, एवं ल्>र्। कहीं-कहीं ल्>न्।

(२) अकेला स्वरमध्यग-व्यञ्जन (Single Intervocal Consonant)—

(क) स्पर्श अल्पप्राण व्यञ्जन—क्–, –ग्–, –त्–, –द्–, –प्–, ब–तथा अर्धस्वर–य्–, –व्–लुप्त हो गए हैं; –ट्–, –ड्– >–ड़–; –त्–>–ट्–स्वरमध्यग–च–, –ज्–का भी प्रायः लोप हो गया है।

(ख) स्पर्श–महाप्राण–व्यञ्जन–ख्–, –घ्–, –थ्–, –ध्–, –फ्–, –भ्–, –ह्–में केवल 'ह' ध्वनि बच रही। –ठ्–, –ढ्–> ढ़–, –ढ़्–।

(ग) –म्–, –वँ–में परिवर्तित होते हुए, पूर्ववर्ती स्वर में अनुनासिक-रूप में ही रह गया; –ण्–>–न्–।

(घ) शिन्-ध्वनियों में से केवल दन्त्य 'स्' ही शेष रही और अकेली आदि अथवा स्वरमध्यग शिन्-ध्वनि प्रायः सुरक्षित चली आई है।

(ङ) हिंदी में र्, ल का व्यत्यय कम ही मिलता है और प्रा० भा० आ० 'र्'>'ल्'–की प्रवृत्ति ल्>र् से अधिक ही है।

(ii) संयुक्त-व्यञ्जन(Consonant Groups)—

म० भा० आ० भा० के प्रारम्भ-काल में प्रा० भा० आ० भा० के भिन्न-वर्गीय संयुक्त-व्यञ्जन समीकृत होकर एक-वर्गीय-संयुक्त व्यञ्जन में परिवर्तित हो

गए और तब हिंदी में इनमें से केवल एक व्यञ्जन शेष रह गया। यह परिवर्तन निम्नलिखितरूप में हुआ—

(१) (क) स्पर्श-व्यञ्जन+स्पर्श-व्यञ्जन > केवल एक व्यंजन। इसीप्रकार स्पर्श-व्यञ्जन+हकार (aspiration) के परिवर्तन के फलस्वरूप केवल हकार अवशिष्ट रहा। संयुक्त-व्यञ्जनों में जहाँ प्रथम एवं द्वितीय व्यञ्जन के उच्चारण-स्थान में अंतर था, वहाँ प्राकृत-युग में प्रथम का द्वितीय के साथ समीकरण हो गया; यथा—क्त्>त्त्, ग्ध्>द्ध, त्क्>क्क। इसप्रकार के व्यञ्जन समूह केवल मध्य में ही आते थे।

(ख) स्पर्श-व्यञ्जन+अनुनासिक; -क्न् त्न्->-क्-,-त्-,-ग्न्>-, ग्-, न्; प्रा० भा० आ० (संस्कृत) में ही-न्न्-में परिणत हो चुका था। हिंदी में यह 'न्' के रूप में शेष रहा। त्म्-> म० भा० आ०-प्प्->हिं०-प्; यथा, आत्मन्-<अप्पण-> अपना।

(ग) स्पर्श अल्पप्राण अथवा महाप्राण+य;

(i) कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य तथा ओष्ठ्य+य् में 'य्' का अपने पूर्व के व्यञ्जन के साथ समीकरण हो गया और प्राकृत में शब्द के मध्य में होने पर इनका द्वित्व हो गया। ऐसे संयुक्त-व्यञ्जन हिंदी में केवल एक स्पर्श-व्यञ्जन अथवा ह् (जहाँ महाप्राण+य् था) के रूप में आए।

(ii) दन्त्य+य्; ये शब्द के मध्य में च्च्,-च्छ्-,-ज्ज्-,-ज्झ् तथा आदि में च्-,-छ्-,-ज्-,-झ् में परिणत हुए। हिंदी में केवल च्-,-ज् झ् सुरक्षित हैं।

(घ) स्पर्श अल्पप्राण अथवा महाप्राण+र्; इस र् का पूर्व-व्यञ्जन में समीकरण हो गया और म० भा० आ० में शब्द के मध्य में इसके पूर्व-व्यञ्जन का द्वित्व हो गया। हिंदी में इस द्वित्व-व्यञ्जन में से केवल एक ही शेष रह गया है।

(ङ) स्पर्श-व्यञ्जन+ल् में ल् का समीकरण हो गया।

(च) स्पर्श अल्पप्राण अथवा महाप्राण+व् में व् का समीकरण हो गया है। कतिपय शब्दों में त्व्>प, द्व>ब् तथा ध्व्>भ्। इस प्रक्रिया को ओष्ठ्यीकरण (Labialisation) कहते हैं।

(छ) स्पर्श-व्यंजन+शिन-ध्वनि (Sibilant)—

(i) क्ष् (=क् ष्)>ख्; यथा, अक्षर>आखर; पक्ष>पँख्।

(ii) प्रा० भा० आ० त्स्, ‘स्> म० भा० आ० च्छ>हिंदी छ।

(२)(क) अनुनासिक+अल्पप्राण अथवा महाप्राणस्पर्श-व्यंजन—हिंदी में ऐसे संयुक्त-व्यञ्जन में से अनुनासिक का लोप होकर पूर्व-स्वर दीर्घ हो गया है; यथा जङ्घा>हिं-जांघ् इत्यादि।

(ख) अनुनासिक+अनुनासिक—म० भा० आ० भा० में ऐसे संयुक्त-व्यञ्जन ‘ण्ण’ ‘न्न्’ तथा ‘म्म्’ हैं; हिंदी में ये क्रमशः ‘न’, ‘न्’ एवं ‘म्’ में परिणत हो गए हैं।

(ग) अनुनासिक+अन्तस्थ में प्रायः अन्तस्थ का लोप हो जाता है।

(३) प्रा० भा० आ० भा० – य्य्>हिंदी – ज्; यथा, सं० शय्या>हि० सेज्।

(४) (क) र+अल्पाण अथवा महाप्राण स्पर्श-व्यञ्जन—

(i) प्रा० भा० आ० में कण्ठ्य, तालव्य, अथवा ओष्ठ्य का पूर्ववर्ती र्—यहाँ र् का म० भा० आ० में समीकरण तथा उसके साथ संयुक्त-व्यञ्जन का द्वित्व हो गया था। हिंदी में इनमें से एक ही व्यञ्जन शेष रह गया है।

(ii) प्रा० भा० आ० के र्+दन्त्य अल्पप्राण अथवा महाप्राण व्यञ्जन में भी म० भा० आ० काल में र् का समीकरण एवं दन्त्य-व्यञ्जन का द्वित्व हो गया। हिंदी में इनमें से एक ही व्यञ्जन अवशिष्ट है। मागधी में र् के समीकरण के साथ-साथ दन्त्य-व्यञ्जन का मूर्धन्यीकरण होकर द्वित्व हुआ। अतः पूर्वी-भाषाओं एवं बोलियों में ऐसे स्थान पर ट्, ठ्, र्, रह् वाले रूप में मिलते हैं।

(ख) र्+अनुनासिक—र्ण का म० भा० आ० में ‘ण्ण’ रूप में समीकरण हो गया था। हिंदी में यह ण्ण>न्। इसीप्रकार प्रा० भा० आ० र्म>म० भा० आ० म्म्> हिंदी म्।

(ग) र्य्: म० भा० आ० के प्रारम्भ में यह ‘य्य्’ में परिणत हुआ और तब ‘ज्ज्’ में। हिंदी में यह ‘ज्ज्’>ज्। मागधी में य्य् सुरक्षित भी मिलता है; यथा—अइया<अय्यिआ<आर्यिका।

(घ) –र्ल्–>म० भा० आ० –ल्ल–>हिं० –ल्।

(ङ) –र्व्–>–व्व्>व्।

(च) र्+शिन्-ध्वनि (Sibilant) म० भा० आ० में र् के शिन्-

ध्वनि के साथ समीकरण के परिणाम-स्वरूप, शिन्-ध्वनि का द्वित्व हो गया और हिन्दी में 'स' रूप में चला आया।

(५) (क) ल्+स्पर्श-व्यञ्जन—म० भा० आ० में ल् का समीकरण एवं स्पर्श-व्यञ्जन का द्वित्व हुआ; हिंदी में केवल एक स्पर्श व्यञ्जन शेष रहा।

(ख) प्रा० भा० आ०—ल्म्—>म० भा० आ० म्म—हि० —म्।

(ग) प्रा० भा० आ०—ल्य—>म० भा० आ० —ल्ल्—>हिं० ल्—।

(घ) प्रा० भा० आ०—ल्ल—>म० भा० आ०—ल्ल्—>हिं० ल्।

(ङ) प्रा० भा० आ०—ल्व्—>म० भा० आ०—ल्ल्—>हिं० ल्।

(६) प्रा० भा० आ०—व्य्—>म० भा० आ०—व्व्—,—ब्व्—>हिं०—ब्।

(७) (क) शिन्-ध्वनि + स्पर्श-व्यञ्जन। 'श्च्' 'ष्क्' 'ष्ट्' 'ष्प्' 'स्क' 'स्ख्', 'स्त्' 'स्थ्' म० भा० आ० काल में शब्द के आदि में ह् ध्वनि में और शब्द के मध्य में अल्पप्राण स्पर्श+उसके महाप्राण-व्यञ्जन में परिवर्तित हुए। हिंदी में प्रायः अल्पप्राण-व्यञ्जन ही शेष रहा है; यथा—बाष्प>बप्फ भाप्।

(ख) शिन्-ध्वनि+अनुनासिक—

(i) प्रा० भा० आ०—ष्ण्—>म० भा० आ०—ण्ह्—> हिं० न्ह्।

(ii) प्रा० भा० आ० स्न्>म० भा० आ०—ण्ह् —>हिं० न्।

(iii) प्रा० भा० आ० श्म्, ष्म्, स्म्>म० भा० आ० स्स् तथा म्ह् >हिं० स् तथा ह्।

(ग) शिन्+य्—म० भा० आ० में यह साधारणतया द्वित्व-शिन्-ध्वनि में परिवर्तित हो गए और हिन्दी में केवल एक शिन्-ध्वनि शेष रही।

(घ) शिन्+र्,ल्, व्; म० भा० आ० में यह द्वित्व शिन्-ध्वनि में परिणत हुए। हिन्दी में एक शिन्-ध्वनि (स् के रूप में) शेष रह गई।

(८) ह् + अनुनासिक (ह्न् ह्म्)—म० भा० आ० काल में वर्ण-विपर्यय के परिणामस्वरूप यह ण्ह्, न्ह, म्ह् बन गए। इनमें से साधारणतया अनुनासिक बच रहा है।

(६) विसर्ग + व्यञ्जन म० भा० आ में इनमें से विसर्ग का लोप हो गया है और व्यञ्जन का द्वित्व हो गया। हिंदी में एक-व्यञ्जन अवशिष्ट रहा।

प्रा० भा० आ० भाषा के दो से अधिक वर्णों वाले व्यञ्जन-समूह का म० भा० आ० भाषा में समीकरण द्वारा द्वित्व हुआ और अन्य द्वित्व-व्यञ्जनों के समान उनमें परिवर्तन हुआ।

(ट) हकार का आगम तथा लोप (Aspiration and Deaspiration)

§१३६. शब्द के आदि के अघोष-अल्पप्राण-व्यञ्जन का महाप्राण में परिवर्तित होना म० भा० आ० भा० काल के ध्वनि-तत्व की एक विशेषता है। यथा—

सं० कर्पर->म० भा० आ० खप्पर-; सं० पनस>म० भा० आ० फणस-; सं० कुब्ज->खुज्ज-; सं० कासित>म० भा० आ० खसिय (हे० व० १,१८१) सं० किङ्किणि>म० भा० आ० खिंखिणि—इत्यादि। आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में महाप्राणत्व की यह प्रवृत्ति और अधिक बढ़ती गई।

§१४०. महाप्राणत्व की सभी अवस्थाओं का सन्तोषजनक कारण देना कठिन है। डा० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर के अनुसार कोई स्वर अथवा अल्पप्राण अघोष-स्पर्श व्यञ्जन अपने पड़ोस की महाप्राण-ध्वनि के प्रभाव से महाप्राण में परिणत हुआ।[1] परन्तु खुज्ज<कुब्ज में यह बात नहीं मिलती। यहाँ 'क्' के समीप कोई महाप्राण-ध्वनि न होने पर भी उसका महाप्राण में परिवर्तन हुआ है। ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैकोबी का अनुसरण करते हुए डा० ब्लाख़ का मत है कि व्यञ्जन में महाप्राणत्व आने का सम्बन्ध स् एवं र् के संयोग से है। इस स्थापना के अनुसार म० भा० आ० 'खप्पर' का संस्कृत-पूर्व-रूप * स्कर्पर कल्पित किया गया है।[2] परन्तु भेस्-<वेष- जैसे उदाहरणों में सघोष-अल्पप्राण-व्यञ्जन के महाप्राणत्व का सन्तोष-जनक समाधान इस स्थापना में भी नहीं मिलता। डा० चैटर्जी के अनुसार महा-

---

१. वि० फि० लै० पृ० १८६। २. पिशेल § २०५। बैं० लैं० पृ० ४३८। गु० फो० § ४०।

प्राणत्व का कारण आसपास की महाप्राण-ध्वनियाँ अथवा आदि में स् (र) आदि होने की अपेक्षा अन्य बोलियों के शब्द-रूपों के साथ आर्य-भाषीय-शब्दों के सम्मिश्रण एवं बोलनेवालों के मस्तिष्क में अनुकरणमूलक-ध्वनियों की अस्पष्ट उपस्थिति है।

डा० टर्नर के अनुसार यह महाप्राणत्व वाले शब्द सभी आ० भा० आ० भाषाओं में एक ही रूप में मिलते हैं। हिन्दी में महाप्राणत्व-करण के कतिपय उदाहरण ये हैं—

√ खेल्(ना)<प्रा० भा० आ० √क्रीड्-; खप्पर<कर्पर-; फाँस्< पाश-; भूसा<बुष-; भेस्<वेष- इत्यादि।

हकार अथवा प्राण का लोप (Deaspiration)

§ १४१. मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा-काल में ही प्रा० भा० आ० भा० के कतिपय शब्दों में महाप्राण-व्यञ्जनों में से प्राण-ध्वनि का लोप हो गया था। आधुनिक-आर्य-भाषाओं ने इन व्यञ्जनों को म० भा० आ० भाषा से अल्प-प्राण-व्यञ्जन के रूप में ही ग्रहण किया; हिंदी में इसके कुछ उदाहरण ये हैं—

ऊट्<उष्ट्र-, उस्ट्<उष्ट्र-; ईंट्<इष्ट, इस्ट्<इष्ट- ।

(ल) घोषत्व तथा अघोषत्व (Voicing and Unvoicing)

§ १४२. हकार-ध्वनि अथवा प्राण के लोप के समान ही हिन्दी आदि आ० भा० आ० भाषाओं में अघोष-व्यञ्जन के घोष तथा घोष के अघोष में परिवर्तित होने के उदाहरण भी मिलते हैं। प्रा० भा० आ० भा० के स्वरमध्यग-व्यञ्जनों के पूर्ण-लोप से पूर्व की अवस्था में अघोष-व्यञ्जनों के सघोष होने की प्रक्रिया (शौरसेनी में) मिलती है; यथा—चलति>शौ० प्रा० चलदि। प्राकृतों में से शौरसेनी एवं मागधी में तो स्वरमध्यग-व्यञ्जनों का सोष्म-उच्चारण हुआ किन्तु महाराष्ट्री ने एक क़दम आगे बढ़कर उनका लोप ही कर दिया। इसप्रकार शौरसेनी एवं मागधी प्राकृतें जहाँ व्यञ्जनों के ऊष्म-उच्चारण की अवस्था को द्योतित करती हैं वहाँ महाराष्ट्री उनके लुप्त होने की अवस्था को प्रकट करती है। अघोष के घोष में परिणत होने की प्रक्रिया म० भा० आ० भाषा काल के प्रथम-संधि-युग में आरम्भ हुई और आगे भी चलती रही। व्यंजनों के सोष्म उच्चारण के लिए लिपि में कोई पृथक-चिह्न न होने के कारण व्यंजन को द्वित्व कर यह प्रकट किया जाता था; यथा—'चलदि' में 'द्' का सोष्म उच्चारण प्रकट करने वाला शब्द रूप 'चलद्दि' के रूप में लिखा जाता था।

हिंदी में घोषत्व के कुछ उदाहरण ये हैं—

हिं० सगुन्<सं० शकुन-; साग्<सं० शाक-; कागा<सं० काकः; (अ० त०) भगत्<सं० भक्त—इत्यादि।

(ब) वर्ण-विपर्यय (Metathesis)

§ १४३. प्रा० भा० आ० भा० तथा म० भा० आ० भ० में भी वर्ण-विपर्यय के उदाहरण मिलते हैं। इस प्राचीन वर्ण-विपर्यय से परिणमित-शब्द हिन्दी ने भी ग्रहण किए; यथा—सं० लघुक>म० भा० आ० हलुक्क>हि हल्का; सं० गृह—म० भा० आ० घर->हिं० घर; सं० भगिनि>म० भा० आ० बहिणि>हिं० बहिन्।

यद्यपि साहित्यिक-हिन्दी में वर्ण-विपर्यय के उदाहरण नहीं के बराबर ही मिलते हैं परन्तु बोलचाल की भाषा में अरमूद<अमरूद; पिचास्< पिशाच आदि रूप सुन पड़ते हैं। इसीप्रकार विदेशी शब्दों में भी वर्ण विपर्यय के उदाहरण मिल जाते हैं; यथा-तमगा<तगमा, डेक्स<डेस्क; सिगल< सिग्नल।

(श) ध्वनि-लोप (Haplology)

§ १४४. एक ही प्रकार की दो-ध्वनियों के आस-पास आने पर उच्चारण-सौकर्य के लिए एक का लुप्त हो जाना ध्वनि-लोप (Haplology) कहलाता है। भाषा के प्रत्येक-काल में ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं। हिन्दी में 'नकटा'< 'नाक-कटा' ऐसा ही शब्द है।

(ष) प्रतिध्वनित (Echo-word)

§ १४५. प्रायः सभी आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में, बोलचाल में, प्रतिध्वनित अथवा अनुकरण-मूलक-शब्दों का खूब व्यवहार होता है। हिन्दी भाषी भी इस विषय में किसी से पीछे नहीं हैं। प्रतिध्वनितरूप में मुख्य शब्द के किंचित् अंश को ही दुहराया जाता है। इस अंश का स्वतः कुछ अर्थ नहीं होता, किन्तु मूल-शब्द के साथ यह 'इत्यादि' का अर्थ देता है। कोल, द्रविड़ तथा आ० भा० आ० भाषाओं की यह एक विशेषता है। प्रति-ध्वनित-शब्दों के निर्माण में हिन्दी प्रायः 'व' 'स' 'ध' आदि का व्यवहार करती है, यथा, काम-धाम; काम-वाम या काम-साम, भात-वात, घर-वर इत्यादि।

(स) समीकरण (Assimilation)

§ १४६. हिन्दी में अघोष या घोष अल्पप्राण+महाप्राण-व्यञ्जन के समीकरण में साधारणतया महाप्राण-व्यञ्जन में से प्राण-ध्वनि का लोप हो जाता है, परन्तु सावधानी से उच्चारित होने पर यह सुनाई भी देती है;

२४

यथा, कट्फोड़वा<कठ्-फोड़वा; बग्नख<बाघ-नख। इसीप्रकार जल्दी जल्दी बोलने में 'डाक्-घर' 'डाग्घर' सुनाई पड़ता है। यहाँ अघोष अल्पप्राण 'क्' सघोष अल्पप्राण 'ग्' में परिणत हो गया है।

(इ) विषमीकरण (Dissimilation)

§ १४७. इसके उदाहरण वे शब्द हैं जिनमें दो महाप्राण-वर्णों के संयोग होने पर एक अल्पप्राण हो गया हो, अथवा जिनमें प्रा० भा० आ० अथवा म० भा० आ० महाप्राण-ध्वनि से प्राण-ध्वनि का लोप हुआ है।

हिन्दी-व्यञ्जनों की उत्पत्ति

'क्'

§१४८. (१) आदि क्—

(i) हिं० क्—<म० भा० आ० क्—<प्रा० भा० आ० क्—; यथा,
हिं० कंकड़<म० भा० आ० कक्कर—<सं० कर्कर—; हिं० कंगना<म० भा० आ० कंकणं<प्रा० भा० आ० कङ्कणम्; हिं० कपूर्<म० भा० आ० कप्पूर—<प्रा० भा० आ० कर्पूर—;
हिं० काम<म० भा० आ० कम्म—<प्रा० भा० आ० कर्म—;
हिं० कड़ाई<म० भा० आ० कडाह्<प्रा० भा० आ० कटाह;
हिं० √काँप् (ना) <म० भा० आ० √कंप—<प्रा० भा० आ० √कम्प्—;
हिं० काठ्<म० भा० आ० कट्ठ—<प्रा० भा० आ० काष्ठ—,
हिं० कान्<म० भा० आ० कण्ण—<प्रा० भा० आ० कर्ण—
हिं० कोंपल<म० भा० आ० कुंपल—<प्रा० भा० आ० कुड्मल—;
हिं० कोढ़ी<म० भा० आ० (पा०) कुट्ठिन—, (प्रा०) कुट्ठि <प्रा० भा० आ० कुष्ठिन्;
हिं० कौड़ी<म० भा० आ० कवड्डिआ<प्रा० भा० आ० कपर्दिका।

(ii) हिं० क्—<म० भा० आ० क्—<प्रा० भा० आ० क्र; यथा,
हिं० कोस्<म० भा० आ० कोस्—<प्रा० भा० आ० क्रोश—।

(iii) हिं० क्–<म० भा० आ० क्–<प्रा० भा० आ० क्–; यथा,
हिं० कढ़ी<म० भा० आ० कढिआ<प्रा० भा० आ० कथिता;
हिं० काढ़ा<म० भा० आ० काढ–<प्रा० भा० आ० काथ—।
(iv) हिं० क्–<म० भा० आ० ख्–<प्रा० भा० आ० स्क–; यथा,
हिं० कंधा<म० भा० आ० खन्ध–<प्रा० भा० आ० स्कन्ध—।

(२) स्वर-मध्यग –क्–तथा पदान्त क्–(पदान्त स्वर के लोप से)—
(i) म० भा० आ० –क्–<प्रा० भा० आ० –क्–से; यथा,
हिं० एक्<म० भा० आ० एक्क–<प्रा० भा० एक—।
(ii) म० भा० आ० –क्क्–<प्रा० भा० आ०–क्क् से; यथा,
हिं० चिक्ना<म० भा० आ० चिक्कण–<प्रा० भा० आ० चिक्कण—;
हिं० √भूँक् (ना) <म० भा० आ० √भुक्क–<प्रा० भा० आ० (उत्तरकालीन संस्कृत) √बुक्क्–।
(iii) म० भा० आ० –क्क्–<प्रा० भा० आ०–त्क्–से; यथा,
हिं० √चूक् (ना) <म० भा० आ० √चुक्क–<प्रा० भा० आ० च्युत-कृ।
(iv) म० भा० आ० –क्क्–प्रा० भा० आ० –र्क–से; यथा,
हिं० मकड़ी<म० भा० आ० (पा०) मक्कटको, (प्रा०) मक्कड–, (अप०) मक्कल–<प्रा० भा० आ० (सं० को०) मर्कटक:।
(v) म० भा० आ० –क्क्–<प्रा० भा० आ०–ष्क्–से; यथा,
हिं० चौक्<म० भा० आ० चउक्क–<प्रा० भा० आ० चतुष्क–।
(vi) म० भा० आ० –क्क्–<प्रा० भा० आ० –क्र्–से; यथा,
हिं० नाक्<म० भा० आ० (पा०) नक्का (प्रा०) णक्क–<प्रा० भा० आ० नक्र– (सं० को०)।
हिं० चाक्<म० भा० आ० चक्क–<प्रा० भा० आ० चक्र–।
(vii) म० भा० आ० –क्क्–<प्रा० भा० आ० –क्व्–से; यथा,
हिं० पका (हुआ) <म० भा० आ० पक्क<प्रा० भा० आ० पक्व–।
(viii) म० भा० आ० –क्क्–<प्रा० भा० आ०–क्य्–से; यथा,
हिं० मानिक्<म० भा० आ० माणिक्क–<प्रा० भा० आ० माणिक्य।

(ix) देशी -हक् से; यथा,

हिं० √हाँक् (ना) <देशी √हक्क- ।

(x) फारसी आदि विदेशी-शब्दों के हिंदी तद्भव-रूपों में 'क्' सुरक्षित है; यथा,

'फाटक्', बैठक्, सड़क्, चमक् इत्यादि शब्दों में 'क्' प्रत्यय है ।

ख्

§ १४६ (१) आदि ख—

(i) म० भा० आ० ख्— < प्रा० भा० आ० ख्— से; यथा—

हिं० खजूर्<म० भा० आ० खज्जूर-<प्रा० भा० आ० खर्जूर—;

हिं० खाट् < म० भा० आ० खट्टा < प्रा० भा० आ० खट्वा;

हिं० खैर् < म० भा० आ० (पा०) खदिरो (प्रा०) खइर—< प्रा० भा० आ० खदिर— ।

(ii) म० भा० आ० ख्—< प्रा० भा० आ० क्ष्— से; यथा—

हिं० खीर् < म० भा० आ० खीर—< प्रा० भा० आ० क्षीर— ;

हिं० खार् (यथा, जवाखार् में) < म० भा० आ० खार-< प्रा० भा० आ० क्षार— ;

हिं० खेत् < म० भा० आ० खेत्त—(छेत्त-भी) < प्रा० भा० आ० क्षेत्र— ।

(iii) म० भा० आ० ख— < प्रा० भा० आ० स्क— से; यथा—

हिं० खंभा < म० भा० आ० खम्भ- < प्रा० भा० आ० स्कम्भ— ।

(iv) म० भा० आ० ख्— < प्रा० भा० आ० क्— से; यथा—

हिं० खप्पर्, खपड़ा < म० भा० आ० खप्पर- < प्रा० भा० आ० कर्पर— ।

(२) स्वरमध्यग तथा पदान्त (पदान्त स्वर के लोप से) -ख—

(i) म० भा०आ० —क्ख्— < प्रा० भा० आ० —क्ष्— से; यथा—

हिं० तीखा < म० भा० आ० तिक्ख- < प्रा० भा० आ० तीक्ष्ण,

हिं० पाख् (जैसे 'अँधेरा-पाख्' = कृष्ण-पक्ष) < म० भा० आ० पक्ख— < प्रा० भा० आ० पक्ष— ।

(ii) अ० त० शब्दों में प्रा० भा० आ० -ष्- से; यथा—

हिं० बर्खा < सं० वर्षा;

हिं० भाखन् < सं० भाषण:

हिं० भाखा < सं० भाषा ।

(iii) म० भा० आ० –क्ख्– < प्रा० भा० आ० –ष्क्– से; यथा—

हिं० पोखर् < म० भा० आ० पोक्खर– < प्रा० भा० आ० पुष्कर– ;

हिं० सूखा < म० भा० आ० सुक्ख– < प्रा० भा० आ० शुष्क– ।

(iv) म० भा० आ० –क्ख– < प्रा० भा० आ० –ख्य्– से; यथा—

हिं० बखान् < म० भा० आ० वक्खाण– < प्रा० भा० आ० व्याख्यान– ।

ग्

§ १५०. (१) आदि ग्—

(i) म० भा० आ० ग्– < प्रा० भा० आ० ग्– से; यथा—

गधा < (पा०) गद्रभो, (प्रा०) गद्दह्– < सं० गर्दभ— ;

गला < (पा०) गलो, (प्रा०) गल– < गलः

√गल् (ना) < (पा०) गलति, प्रा० गलइ < * गलति, दे० गालयति (णिजन्त) ;

गहरा < (पा०) गभीरो, (प्रा०) गहिर — < गभीरः ;

गाभिन् < गब्भिणी < गर्भिणी ;

गाल् < गल्ल– < गल्लः ;

√गिन् (ना) < √गण्– (गणेइ) < √गण्– (गणयति) ;

गुच्छा < गुच्छअ < गुच्छः ;

ग्वाला < गोवालअ– < गोपालकः , गोपालः ।

(ii) म० भा० आ० ग्— < प्रा० भा० आ० ग्र्– से; यथा—

√गाँठ् (ना) √गण्ठ– < √ग्रन्थ्— ;

गाँव् < गाम– < ग्रामः ;

गाहक् < सं० ग्राहकः ; गरह् (अ० त०) < सं० ग्रहः ।

(२) स्वरमध्यग तथा पदान्त –ग्—

(i) म० भा० आ० –ग्ग– < प्रा० भा० आ० –ग्र्–,—ग्न्—,—ग्य्—,—द्ग—,—र्ग्—,—ंग्– से; उदाहरण क्रमशः ये हैं—

—ग्र्— ; अगुवा < अग्गुअ— < संभवतः अग्रगुः 'आगे चलने वाला' ;

पगहा < पग्गह्— < प्रग्रह्— ।

—ग्न्— ; आग् < अग्गि— < अग्निः ;

नँगा < नग्ग—, णग्ग— < नग्नः ;

लगा (हुआ) < लग्ग— < लग्नः ।

ग्य् ; सोहाग<*सोहग्ग<सौभाग्य ।

द्ग् ; मूँग्<मुग्ग<मुद्ग ।

र्ग; गागर<गग्गर<गर्गर ।

ल्ग्: फागुन<फग्गुण<फाल्गुन;

बाग् (डोर)<बग्गअ<वल्गा ।

(ii) अघोष 'क्' सघोष 'ग' में परिणत करने से; यथा—

सगुन्<सगुन<शकुन;

सुग्गा<सं० शुक;

लोग्<लोग<लोक;

भगत् (अ० त०)<सं० भक्त ।

(iii) अरबी-फारसी 'ग़' से; यथा—

गरीब्<फा० ग़रीब; ग़लीचा<फा० ग़लीचा; बाग् (बगीचा)< बाग़ ।

(iv) आदि तथा स्वर-मध्यग 'ज्ञ्' ('ज्ञ्ञ्') हिंदी में 'ग्य्' के रूप में उच्चरित होता है । अतः अ०, त० शब्दों में सं० ज्ञान>हिं० ग्यान्, सं० यज्ञ >हिं० यग्यँ अथवा जग्य ।

घ्

§१५१. (१) आदि घ्

(i) म० भा० आ० घ्<प्रा० भा० आ० घ से; यथा—

घाम<घम्म<घर्म;

घोड़ा<घोडअ<घोटक (उत्तरकालीन-संस्कृत);

घी<घिअ<घृत ।

(२) स्वर-मध्यग तथा पदान्त घ्

(i) म० भा० आ० ग्घ्<प्रा० भा० आ० घ्र्, 'द्घ्' से; यथा—

बाघ<बग्घ<व्याघ्र;

√उघाड़् (ना)<√उग्घाड<√उद्√घाटय ।

(ii) 'ग्' के बाद आने वाली 'ह्'-कार ध्वनि के समीकरण से; यथा—

घर्<घर<गृहम्; घीघा<विग्गह्<विग्रह ।

च्

§१५२. (१) आदि च्

(i) म० भा० आ० च्<प्रा० भा० आ० च् से; यथा—

चाँद्<चन्द्<चन्द्र:; चाक्<चक्क<चक्र;

चिक्ना<चिक्कण<चिक्कण;

चीता<चित्तअ<चित्रक;

चोर्<चोर<चौर;

चोंच्<चंचू<चञ्चु ।

(२) स्वरमध्यग तथा पदान्त 'च्'

(i) म० भा० आ० च्च्<प्रा० भा० आ० च या च्च् से; यथा—

काँच्<कच्च्<काच;

ऊँचा<उच्च<उच्च ।

(ii) म० भा० आ० ञ्च्<प्रा० भा० आ० ञ्च् से; यथा—

आँचल्<अञ्चल<अञ्चल;

पाँच्<पञ्च<पञ्च ।

(iii) म० भा० आ० च्च्<प्रा० भा० आ० त्य् से; यथा—

नाच्<नच्च<नृत्य,

साँच्, सच्<सच्च<सत्य ।

(iv) सं० 'स' से; यथा—

लालच्<सं० लालसा ।

(v) म० भा० आ० च्च्<प्रा० भा० आ० र्च् से

कूची<*कुच्चिआ<कूर्चिका ।

छ्

§१५३. (१) आदि छ्—

(i) म० भा० आ० छ्-<प्रा० भा० आ० छ्, से; यथा—

छाता<छत्त<छत्र-;

√ छा (ना)<√छाद<√छाद्-;

छाँह्<छाआ-, छाहा-<छाया;

छेनी<छेअण-<छेदनम् ।

(ii) म० भा० आ० छ्-<प्रा० भा० आ० ष्-; यथा—
छै<छ-, (अप०) छह्<प्रा० भा० आ० षट्
(अवे० ख़्श्वश्, भारो०*क्स्वट् या* क्स्वट्)
छत्तीस्<छत्तीसं<षट्त्रिंशत् ।

(iii) म० भा० आ० छ्-<प्रा० भा० आ० क्ष्-से; यथा—
छुरी<छुरिआ<क्षुरिका;
छार्<छार-<क्षारः ।

(iv) म० भा० आ० छ्-<प्रा० भा० आ० श्—से; यथा,
छकड़ा<छक्कड़-<शकट ।

(२) स्वरमध्यग या पदान्त 'छ'—

(i) म० भा० आ० च्छ-<प्रा० भा० आ०-च्छ-से; यथा—
कछुवा<कच्छभ-, कच्छव-<कच्छपः;
√पूछ (ना)<पुच्छ-√पुच्छ-√पृच्छ ।

(ii) सं० श्च्-के-च्छ्-में परिवर्तन द्वारा; यथा—
बिच्छू<(पा०) विच्छिको, (प्रा०) विच्छिअ-, विच्छुअ-<
वृश्चिकः ।

(iii) म० भा० आ०-च्छ-<प्रा० भा० आ०-त्स-से; यथा—
बछड़ा<वच्छडअ-<वत्स ।

(iv) म० भा० आ०-च्छ<प्रा० भा० आ०-श्र्-से; यथा—
मूँछ, मोछ<म्हच्छु<श्मश्रु ।

ज्

§१५४. (१) आदि ज्-

(i) म० भा० आ० ज्-<प्रा० भा० आ० ज्- से; यथा—
जाँघ्<जंघा<जङ्घा;
√जन् (ना) 'पैदा करना' <√जण-<√जन्-;
जामुन<जम्बुल-<जम्बुलः;
√जाग् (ना)<√जग्ग (जग्गइ)<√जागृ-(जागर्ति);
जायफल<(पा०) जातिपुप्फम्, (प्रा०)* जाइफल-<जातिफल;
जीभ<जिब्भा<जिह्वा ।

(ii) म० भा० आ० ज्-<प्रा० भा० आ० ज्य-ज्व् से; यथा—
जेठ्<जेट्ठ<ज्येष्ठ-;
जोत् 'उजाला'<सं० ज्योतिः;
√जला(ना)<(पा०) जलेति, (प्रा०) जलावण-'आग लगाना'
<√ज्वाल्-(ज्वालयति)।

(iii) म० भा० आ०-ज्-<प्रा० भा० आ०-द्य्-से; यथा—
जुआ<(पा०) जूतं (प्रा०) जूअं<द्यूतम्।

(iv) म० भा० आ०-ज्-<प्रा० भा० आ०-य्-से; यथा—
जुआ<जुअं<युगम्;
जूँ<जूआ<यूका;
जोबन्<जोव्वण-<यौवन-;
√जूझ् (ना)<√जुज्झ-<√युध् (युध्यते)।

(२) मध्य तथा अन्त्य 'ज्' की व्युत्पत्ति—

(i) म० भा० आ० ज् प्रा० भा० आ० ज्; यथा—
हिं० भौजाई<म० भा० आ० (देशी) भाउज्जा<सं० भ्रातृ-जाया;
√सजा (ना)<म० भा० आ०√सज्ज (सज्जेइ)<सं०√सज्जय।

(ii) म० भा० आ० ज्ज्<प्रा० भा० आ० ज्ज् से; यथा—
हिं० काजल् <म० भा० आ० कज्जल<प्रा० भा० आ० कज्जल;
हिं० लाज< म० भा० आ० लज्जा<प्रा० भा० आ० लज्जा;
हिं० साज्>म० भा० आ० सज्ज<प्रा० भा० आ० सज्जा।

(iii) म० भा० आ० ज्ज्<प्रा० भा० आ० ज्व् से; यथा—
उजला<म० भा० आ० उज्जल<प्रा० भा० आ० उज्ज्वल।

(iv) म० भा० आ० ज्ज्<प्रा० भा० आ० ज्य् से; यथा—
राज्<रज्ज<राज्य;
बनिज<बणिज्ज<वाणिज्य।

(v) म० भा० आ० ज्ज्<प्रा० भा० आ० द्य् से; यथा —
आज्<अज्ज<अद्य; अनाज्<सं० अन्नाद्य;
बाजा<वज्ज<वाद्य।

(vi) म० भा० आ० ञ्ज्<प्रा० भा० आ० ञ्ज् से; यथा—
पिंजरा<पञ्जर<पञ्जर।

(vii) म० भा० आ० ज्ज्<प्रा० भा० आ० —य्य् से; यथा—

सेज्<सेज्ज<शय्या ।

(viii) म० भा० आ० ज्ज्<प्रा० भा० आ० र्ज् से; यथा—

खजूर<खज्जूर<खर्जूर ।

(ix) म० भा० आ० ज्ज्<प्रा० भा० आ० र्य् से; यथा—

(काम) काज्< कज्ज<कार्य ।

(x) हिन्दी अ० त० शब्दों में ज्<सं० य् से; यथा—

संजोग<संयोग; संजम्<संयम् ।

झ्

§१५५. प्रा० भा० आ० भाषा में 'झ्' अत्यन्त अप्रधान-ध्वनि है, परन्तु म० भा० आ० भाषा में इसको प्रधानता प्राप्त हो गई और वहाँ अनेक शब्दों में यह विद्यमान है। संभवतः इसका कारण आर्य-भाषा पर अनार्य-भाषाओं का प्रभाव है। अधिकांश अनुकरणात्मक-शब्दों में यह ध्वनि मिलती है। अनेक शब्दों में 'झ्' की व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।

हिंदी में आदि झ् अधिकांश में म० भा० आ० 'झ' को द्योतित करता है। प्रा० भा० आ० भाषा में इन आदि झ् वाले शब्दों के पूर्व-रूप नहीं मिलते या जो मिलते भी हैं वे उत्तरकालीन-संस्कृत में प्राकृत-प्रभाव के कारण। कतिपय उदाहरण ये हैं—

झक्कड़, झंखड<म० भा० आ० (अप०) झखड—; झाड़ा<म० भा० आ० झाड; झट् (पट्); प्रा० झडत्ति 'अचानक', उत्तर-कालीन संस्कृत झटिति)+ झंडा (सं० ध्वज-दण्ड का सम्मिश्रण प्राकृत* में झण्ड); झंकार (सं० झणत्कारः); झन्झनाना (म० भा० आ० झणज्झणइ; झंझणक्कइ सं० झणझणायते), इत्यादि ।

आभ्यन्तर या अन्त्य 'झ'

म० भा० आ० झ्<प्रा० भा० आ० ध्य् से; यथा—

ओझा<उवज्झाअ<उपाध्याय;

साँझ्<सञ्झ<सन्ध्या;

बाँझ्<बञ्झ<बन्ध्या;

√बूझ्(ना)∠बुज्झ<∠बुध्य;

+ट० ने० डि० पृ० २२७ ।

√समझ्(ना) < √समुज्झ < सम् √बुध्-य

√जूझ् (ना) < √जुज्झ < √युध्य।

त

§१५६. आदि त्

(i) म० भा० आ० त् < प्रा० भा० आ० त् से; यथा—

तेल < म० भा० आ० तेल्ल < सं० तैल;

तीता < तित्त- < तिक्त-;

ताँबा < तम्ब-तम्म- < ताम्र-;

तमोली < तम्बोलिअ < ताम्बूलिक।

(ii) म० भा० आ० त्- < प्रा० भा० आ० त्र-; यथा-

तेरह् < म० भा० आ० तेरस्, तेरह्- < प्रा० भा० आ० त्रयोदश-;

तीस् < म० भा० आ० (पा०) तिंस-, (प्रा०) तीसइ, तीसा < सं० त्रिंश-;

√तोड़् (ना) < √तोड- < √त्रोट्य-।

स्वरमध्यग एवं पदान्त 'त्'

(i) म० भा० आ० -त्त्- < प्रा० भा० आ० -त्र-से; यथा—

खेत् < खेत्त- < क्षेत्र-;

छाता < छत्तअ < छत्रक- ('छत्र' में स्वार्थे 'क' प्रत्यय);

चीता < चित्तअ < चित्रक;

बेंत < वेत्त-; *वेन्त- > वेत्र-;

रावत् < राअ-उत्त- < राज-पुत्र-।

(ii) म० भा० आ०-त्त्- < प्रा० भा० आ०-र्त्-से; यथा—

बाती, बत्ती < वत्तिआ-(अ) < वर्तिका-;

बात् < बत्ता, वत्त < वार्ता।

(iii) म० भा० आ० त्त् < प्रा० भा० आ०-क्त्-से; यथा—

पाँत् < पंति, < पङ्क्ति; भात् < भत्त- < भक्त-;

मोती < मोत्तिअ < मौक्तिक।

(iv) म० भा० आ०-त्त्- < प्रा० भा० आ०-त्त्- से; यथा—

मत् (वाला) < मत्त- < मत्त-;

(स्वराघात के अभाव में म० भा० आ० मत्त हिंदी में मात् न बन कर मत् ही रह गया ।), (मद) माता<मत्तअ<मत्तक-;
पीतल<पित्तल<पित्तल- ।

(v) म० भा० आ० -त्त्-<प्रा० भा० आ० -त्-से; यथा—
सोत्ता<सोत्तिअ<स्रोत (+स्वार्थे-'क')
पुती (हुई) पुत्तिअ, पोत्तिआ<प्रोत (+'इका' स्त्री प्रत्यय);

(vi) म० भा० आ० -त्त्-<प्रा० भा० आ०-प्त्- से; यथा—
सात्<सत्त<सप्त-;
नाती<नत्तिअ<नप्तृ-+(स्वार्थे 'क')।

(vii) म० भा० आ० -त्त्-<प्रा० भा० आ० -क्त्र्' से, यथा—
(हल्की)जोत्<जोत्त-<योक्त्र- ।

§१५७. थ्

आदि थ्-

(i) म० भा० आ० थ्-<प्रा० भा० आ० स्त्-,स्थ्- से; यथा—
थन्<थण-<स्तन-;
थाली<थल्लिआ, थाली<स्थालिका, स्थाली;
थोड़ा<थोडअ-<स्तोक (प्रा० थोअ-<सं० स्तोक+'ड' प्रत्यय);
थान् (यथा, कालीथान् इत्यादि स्थानवाची शब्दों में),
<थाण-ठाण-<स्थान- ।

(ii) अनेक-शब्दों में थ् की व्युत्पत्ति का पता नहीं लगता। कदाचित् ये शब्द देशी हैं; यथा—
थप्पड़; (कपड़े का) थान्; थूनी; थूथन; थूक ।

कुछ अनुकार-ध्वनिज-शब्दों में भी थ्- मिलता है; यथा—
थर्थर्, थिरकना, थर्थराना, इत्यादि ।

स्वरमध्यग एवं पदान्त थ्

(i) म० भा० आ० त्थ्-<प्रा० भा० आ० -स्त्-,-स्थ्- से; यथा—
पोथी<पोत्थिअ-<पुस्तिका;
माथा<मत्थअ-<मस्तक-;
हाथ्<हत्थ-<हस्त- ।

(ii) म० भा० आ०-त्थ्-<प्रा० भा० आ० -र्थ्-
चौथ्<चउत्थ-<चतुर्थ-;

साथ्-<सत्थ-<सार्थ।

(iii) म० भा० आ०—न्थ—या त्थ्—<प्रा० भा० आ०—न्थ्—से; यथा—

मथ्नी<मत्थणिआ, मन्थणिआ<मन्थनिका।

(iv) म० भा० आ०—त्थ्—<प्रा० भा० आ०—त्थ्—से; यथा—

कुलथ्—कुलथी 'एक दाल का नाम'<म० भा० आ० कुलत्थ—<प्रा० भा० आ० कुलत्थ—;

कैथ्<कइत्थ—<कपित्थ—।

द्

§१५८. आदि द्—

(i) म० भा० आ० द्—<प्रा० भा० आ० द्—से; यथा—

दाँत्<दन्त—<दन्त—;

दही<दहि—<दधि—;

दूध्<दुद्ध—<दुग्ध—।

(ii) म० भा० आ० द्—प्रा०भा० आ० द्र्—से; यथा—

दाम्<दम्म—<द्रम्म-'एक सिक्का';

दोना<दोण—<द्रोण—।

(iii) म० भा० आ० द्—<प्रा० भा० आ० द्व्—से; यथा—

दो<दो-<द्वौ;

दूना,<दुउणो<द्विगुणः।

स्वरमध्यग एवं पदान्त द्—

(i) म० भा० आ०—द्द—<प्रा० भा० आ०—द्र—से; यथा—

भादों<भद्दवअ—<भाद्रपद—;

हल्दी<हलिद्दा, हरिद्दा<हरिद्रा;

दाद्<दद्दु<दद्रु।

(ii) म० भा० आ०—द्द्—<प्रा० भा० आ०—र्द्—से; यथा—

चौदह्<चउद्दह—<चतुर्दश—।

(iii) म० भा० आ०—न्द्—<प्रा० भा० आ०—न्द्र—से; यथा—

चाँद्<चन्द—<चन्द्र—।

ध्

§ १५६. आदि ध्—

(i) म० भा० आ० ध्-<प्रा० भा० आ० ध्- से; यथा—
धान्<धण्ण, धन्न—<धान्य—;
धरती<*धरत्तिअ<धरित्री ;
धुआँ<धूम-<धूम— ;
धूल<धूलि-<धूलिः ।

स्वरमध्यग एवं पदान्त ध्—

(i) म० भा० आ०—द्ध्—<प्रा० भा० आ०—ग्ध्—से; यथा—
दूध्<दुद्ध—<दुग्ध— ।

(ii) म० भा० आ०—द्ध्—<प्रा० भा० आ०—ध्र्—से; यथा—
गीध्<गिद्ध—<गृध्र— ।

(iii) म० भा० आ०—द्ध्—<प्रा० भा० आ०—र्ध्—से; यथा—
आधा<अद्धअ—<अर्ध+(स्वार्थे 'क')।

(iv) म० भा० आ० 'द्+ह्' <प्रा० भा० आ० द्+महाप्राण-व्यञ्जन से; यथा—गधा<गद्दह—<गर्दभ— ।

मूर्धन्य (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ढ़् की) व्युत्पत्ति

ट्

§ १६०. आदि ट्-

(i) म० भा० आ० ट्-<प्रा० भा० आ० त्- से; यथा—
टेढा<*टेड्ढ- < तिर्यक+अर्ध-; √ टल् (ना), < √टल-('टलइ')<√तर(तरति) ।

(ii) म० भा० आ० ट्-<प्रा० भा० आ० ट्-
(संभवतः संस्कृत में ये शब्द प्राकृत से लिए गए देशी-शब्द हैं। अतः इस ट् की उत्पत्ति प्रा० ट् से होगी।
टंकार<टङ्कार<टङ्कार; टका<टङ्क-<टङ्क- ।

(iii) म० भा० आ० ट्<प्रा० भा० आ० त्र्-से; यथा—
√टूट् (ना) <√टुट्ट<√त्रुट्

(iv) देशी ट्- से; यथा—

टाँग्; टूक्; टुकड़ा; √टहल् (ना), टोपी; टोटका; टोना; √टाँक् (ना) इत्यादि।

स्वरमध्यग तथा पदान्त 'ट्'—

(i) म० भा० आ० ट्ट्-, सं० ट्ट् , देशी ट्ट् से; यथा—

आटा<म० भा० आ० अट्टअ-<संभवतः अर्त-। अटारी<अट्टालिअ<अट्टालिका; √कूट् (ना) < √कुट्ट् (कुट्टेइ)<√कुट्ट (कुट्टयति)। घाट्<दे० घट्ट-, हाट्<दे० हट्ट-। पेट्<दे० पेट्ट-, पोट्ट-; मोटा<दे० मोट्ट-।

(ii) म० भा० आ० -ट्ट- <प्रा० भा० आ० र्त् से; यथा—

काट् (ना)<√कट्ट-<√कर्त्-; केवट्<केवट्ट-<कैवर्त-।

(iii) म० भा० आ० -ट्ट <प्रा० भा० आ० ट्व् से; यथा—

खाट्<खट्टा, खट्ट-<खट्वा।

(iv) म० भा० आ० -ट्ट'<प्रा० भा० आ० ऋत्त्- से; यथा—

मिट्टी, माटी<मट्टिआ-<मृत्तिका।

(v) म० भा० आ० -ट्ट-<प्रा० भा० आ० -र्त्म्- से; यथा—बाट् 'रास्ता' <वट्ट-<वर्त्म-।

(vi) म० भा० आ० -ट्ट- -एट्-<प्रा० भा० आ० '-ष्ट्-' से; यथा—ईंट् <इएट्, इट्ट-<इाट्ट, इष्ट-।

(vii) म० भा० आ० -ट्ट-<प्रा० भा० आ०-ष्ट्र-से; यथा—ऊँट्<उएट-, उट्ट<उष्ट्र-।

(viii) म० भा० आ० -एट्-<प्रा० भा० आ० -एट्-से; यथा—काँटा< कंटअ-<कएटक-।

(ix) म० भा० आ० -ट्ट-<प्रा० भा० आ० -ट्य्- से; यथा—टूटे< टुट्टइ<त्रुट्यति।

ठ्

§ १६१. आदि ठ्—

(i) म० भा० आ० ठ्- < प्रा० भा० आ० स्त्-, स्थ्- से; यथा—ठग्< ठग-<स्थग-; ठँडा<*ठएडअ-<स्तब्ध (?)

(ii) अनेक देशी-शब्दों में; यथा—

ठेला, ठोकर, ठूँठ्, आदि।

स्वरमध्यग तथा पदान्त -ठ्—

(i) म० भा० आ० -ण्ठ-<प्रा० भा० आ० -ण्ठ्- से; यथा—कंठी<
कण्ठिआ<कण्ठिका;
सोंठ<सुण्ठिअ<शुण्ठिका।

(ii) म० भा० आ० ण्ठ्<प्रा० भा० आ० न्थ् से; यथा—
गाँठ्<गण्ठि<ग्रन्थि।

(iii) म० भा० आ० ट्ठ्<प्रा० भा० आ० 'ष्ठ' ष्ट से; यथा—
अँगूठा<अङ्गुट्ठ<अङ्गुष्ठ;
कोठारी<कोट्ठारिअ<कोष्ठागारिक;
काठ<कट्ठ<काष्ठ;
जेठ्<जेट्ठ<ज्येष्ठ;
मीठा<मिट्ठ<मिष्ट;
ढीठ<ढिट्ठ<धृष्ट।

ड्

§१६२ आदि ड्—

यह विशेषतया देशी-शब्दों में मिलता है। कतिपय-शब्दों में इसकी उत्पत्ति म० भा० आ० ड्<सं० ड् से है। इसके उदाहरण हैं—

डर<म० भा० आ० डर<प्रा० भा० आ० डर;
डोंगी 'नाव' (देशी); डगर् (देशी); डोरी (प्रा० डोर (+'इआ' प्रत्यय) डुग्डुगी; डुग्गी; (देशी), डिब्बा, डायन<डाइणि<डाकिनी; डेरा (देशी)।

स्वरमध्यग एवं पदान्त ड्>ड़्

(i) म० भा० आ० ड्<प्रा० भा० आ० ट् से; यथा—
अखाड़ा<अक्खाडअ<अक्ष-वाट (+क);
घोड़ा<घोडअ<घोटक।

(ii) म० भा० आ० ड्ड्<प्रा० भा० आ० ड्य् से; यथा—
जाड़ा<जड्डा<जाड्य।

(iii) म० भा० आ० (प्राकृत) ड्, ड्ड् से; यथा—
हाड़्<प्रा हड्ड; गोड़्<गोड्ड; पड़े<पडइ।

(iv) म० भा० आ० ड्ड्<प्रा० भा० आ० ड्र् से; यथा—
बड़ा<वड्ड<वड्र (बाद की सं०);

उड़िया<ओडिडअ<औड्रिक।

(v) म० भा० आ० 'ण्ड्<प्रा० भा० आ० ण्ड् से; यथा—

माँड् (चावल का)<मण्ड<मण्ड;

भंडारी<भण्डारिअ<भाण्डागारिक।

(vi) म० भा० आ० ण्ड्<प्रा० भा० आ० न्द् से; यथा—

सँड्सी 'बर्तन पकड़ने की चिमटी'<सण्डासिआ<सन्दंशिका।

(vii) म० भा० आ० ड्<प्रा० भा० आ० ट् से; यथा—

कड़ाही<कडाह<कटाह-।

ढ्, ढ़्

§१६३. आदि ढ्—

(i) अनेक देशी-शब्दों के आदि में ढ् मिलता है; यथा—

ढंग; ढाँचा; ढेला; ढोलक्; ढाल् (ना); ढीला (प्रा० ढिल्ल) √ढक् (ना)<(√प्र० √ढक्क) इत्यादि।

(ii) म० भा० आ० ढ्<प्रा० भा० आ० धृ से; यथा—

ढीठ्<ढिट्ठ<धृष्ट।

स्वरमध्यग एवं पदान्त 'ढ्', 'ढ़्'

(i) म० भा० आ० ड्ढ्<प्रा० भा० आ० र्ध् से; यथा—

डेढ़<(पा०) दिवड्ढ, (प्रा०) दियड्ढ<सं० द्वि-अर्द्ध;

बढ़ई<वड्ढकिअ<वर्धकिन्।

(ii) म० भा० आ० ढ्-<प्रा० भा० आ०-ठ्-से; यथा—

√पढ़(ना)<√पढ-(पढइ)<√पठ्—।

(iii) म० भा० आ०-ड्ढ्-<प्रा० भा० आ०-'ऋद्ध्-से; यथा—

बूढ़ा<बुड्ढ<वृद्ध।

ओष्ठ्य (प्, फ्, ब्, म्)

प्

§१६४ आदि प्

(i) म० भा० आ० प्-<प्रा० भा० आ० प्-से; यथा—

पान्<पण्ण-<पर्ण;

पाँच्<पञ्च-<पञ्च;

√पढ़(ना)<√पढ-<√पठ्;

पूत्<पुत्त-<पुत्र;

पानी<पाणिअ<पानीय।

(ii) म० भा० आ० प-<प्रा० भा० आ० प्र-से; यथा—

पगहा<पग्गह-<प्रग्रह;

√पसर् (ना)<√पसर-<प्र-√सर्;

पहर्<पहर-<प्रहर;

√पैठ् (ना)<√पइट्ठ-<प्र-विष्ट।

स्वरमध्यग तथा पदान्त प्—

(i) म० भा० आ०-प्प्-<प्रा० भा० आ०-त्प्-से; यथा—

उपजे<√उप्पज्जइ<उत्पद्यते।

(ii) म० भा० आ०-प्प्-<प्रा० भा० आ०-प्प्-से; यथा—

पीपल्<पिप्पल-<पिप्पल।

(iii) म० भा० आ०-म्प्-<प्रा० भा० आ०-म्प्-से; यथा—

√काँप् (ना)<√कम्प-<√कम्प्।

(iv) म० भा० आ० —प्प्—<प्रा० भा० आ०—त्म्—से; यथा—

अप्ना < अप्पण—< आत्मन्— ।

(v) म० भा० आ० —प्प्— < प्रा० भा० आ०—र्प्—से; यथा—

कपूर् < कप्पूर— < कर्पूर—;

साँप्< सप्प —<सर्प —;

खपड़ा < खप्पर— < खर्पर — ।

फ्

§ १६५. आदि फ—

(i) म० भा० आ० फ्— < प्रा० भा० आ० फ्— से; यथा—

फागुन् < फग्गुण— < फाल्गुन—।

(ii) म० भा० आ० फ्— < प्रा० भा० आ० स्फ्—से; यथा—

फुर्ती (मिला० प्रा० फुरइ < सं० स्फुरति);

√फोड़् (ना) <√फोड— < √स्फोटय—

(iii) प्रा० भा० आ० प्—के महाप्राणकरण से; यथा—

फर्सा < फरसु— < परशु—।

(iv) प्रा० भा० आ० स्प्—से; यथा—

फाँस, √फाँस् (ना)<प्रा० भा० आ० स्पाश—, स्पाशयति ।

ब्

§ १६६. आदि ब्—

(i) म० भा० आ० ब्— < प्रा० भा० आ० ब्— से; यथा—

बहिरा < बहिर— < बधिर—;

बूँद् < बुन्द— <बिन्दु ।

(ii) म० भा० आ० ब्— < प्रा० भा० आ० ब्र्— से; यथा—

बाम्हन् < बम्हण— <ब्राह्मण—।

(iii) म० भा० आ० ब्<प्रा० भा० आ० द्व्—से; यथा—

बारह्<बारस, बारह्<द्वादश;

बाइस्<बाइस<द्वाविंश ।

(iv) म० भा० आ० ब्<प्रा० भा० आ० व्—से; यथा—

बहू<बहु<वधू;

बीस<वीस<विंश ।

(v) म० भा० आ० ब्<प्रा० भा० आ० व्य् से; यथा—

बाघ्<वग्घ<व्याघ्र;

बखान<वक्खाण<व्याख्यान ।

(vi) म० भा० आ० ब्<प्रा० भा० आ० भ् से; यथा—

बहिन्<बहिणि<भगिनी ।

स्वरमध्यग तथा पदान्त ब्

(i) म० भा० आ० व्ब्<प्रा० भा० आ०—ड्व् से; यथा—

छब्बीस<(अप०) छव्वीस<षड्विंशति ।

(ii) म० भा० आ० म्ब्<प्रा० भा० आ० म्ब् से; यथा—

नींबू<निम्बुअ<निम्बुक ।

(iii) म० भा० आ० ब्ब् तथा व्व्<प्रा० भा० आ०—र्ब् तथा र्व् से; यथा—

दुब्ला<दुब्बल<दुर्बल;

दूब<दुब्बा<दूर्वा ।

(iv) म० भा० आ० म्ब्<प्रा० भा० आ० म्र् से; यथा—

ताँबा<तम्ब<ताम्र

भ्

§१६७. आदि भ

(i) म० भा० आ० भ्<प्रा० भा० आ० भ् से; यथा—
भीख्<भिक्खा<भिक्षा;
भात्<भत्त<भक्त;
भादौं<भद्दवअ<भाद्रपद ।

(ii) म० भा० आ० भ्<प्रा० भा० आ० भ्य् से; यथा—
भीतर्<भिन्तर<अभ्यन्तर;
√भीग् (ना)<√भिञ्ज, भिञ्ज<√अभ्यञ्ज् ।

(iii) म० भा० आ० भ्<प्रा० भा० आ० भ्र् से; यथा—
भाई<भाइ<भ्रातृ;
भौंरा<भवँर<भ्रमर ।

(iv) प्रा० भा० आ० के म् से, जिसके आगे ह् हो; यथा—
भैंस्<प्रा० महिस<महिष ।

(v) अर्ध-तत्सम भेस<सं० वेष में भ्<सं० व् ।

स्वरमध्यग और पदान्त भ्

(i) तत्सम तथा अर्ध-तत्सम-शब्दों में संस्कृत भ् सुरक्षित है; यथा—सुभ्<शुभ, महाभारत इत्यादि ।

(ii) म० भा० आ० व्भ्<प्रा० भा० आ० र्भ् से; यथा—
गाभिन्<गब्भिणि<गर्भिणी ।

(iii) म० भा० आ० व्भ्<प्रा० भा० आ० ह्व् से; यथा—
जीभ्<जिब्भ<जिह्वा ।

हिन्दी के अनुनासिक (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्)

§१६८. देवनागरी-लिपि में पाँचों अनुनासिक प्रचलित हैं । परंतु तद्भव-शब्दों के उच्चारण में केवल ङ्, न्, म् ही सुरक्षित हैं । ण् तत्सम-शब्दों में ही मिलता है, तद्भव-शब्दों में यह न् में परिणत हो गया है । भोजपुरी तथा मैथिली में ण् का उच्चारण ड़ँ की भाँति होता है । इसप्रकार 'बाण' का उच्चारण यहाँ 'बाँड़ँ' जैसा होता है ।

§१६९. ङ् का उच्चारण केवल क-वर्ग के साथ ही होता है और यह उन्हीं शब्दों में सुरक्षित है, जिनमें ङ् का लोप होकर पूर्व-स्वर सानुनासिक नहीं हुआ है; यथा, कङ्काल<सं० कङ्काल; जङ्गल<सं० जङ्गल-; (तत्सम) गङ्गा । परन्तु उँगली<सं० अङ्गुल जैसे शब्दों में ङ् स्वयं लुप्त हो गया है और उससे पूर्व का स्वर सानुनासिक बन गया है ।

§१७०. ञ्—यद्यपि देवनागरी-लिपि में चवर्गीय अनुनासिक ञ् शब्द के मध्य में चवर्गीय-व्यञ्जनों से पूर्व लिखा जाता है, परन्तु इसका उच्चारण न् होता है; यथा, लिखा जाता है चञ्चल, परन्तु उच्चरित होता है चन्चल। हिन्दी की कुछ बोलियों में ञ् जैसी ध्वनि मिलती है, परन्तु वास्तव में यह यँ्—ध्वनि है; यथा, ब्र० नाञ्=नायँ, जाञ्=जायँ।

§१७१. ण—प्रा० भा०आ० भाषा की गंगा के काँठे की सभी भाषाओं एवं बोलियों में तद्भव-शब्दों में ण ध्वनि लुप्त हो गई है और यह न् में परिणत हो गई है। हिन्दी के तद्भव शब्दों में भी यही बात मिलती है; यथा, बाम्हन<सं० ब्राह्मण; नोन<सं० लवण, इत्यादि। तत्सम-शब्दों में भी आभ्यन्तर ण का उच्चारण हिंदी में ण् ही होता है; यथा, यद्यपि लिखा जाता है पण्डित, दण्ड, कण्ठ, परन्तु इनका उच्चारण पन्डित्, दन्ड्, कन्ठ् ही होता है। तत्सम-शब्दों के पदान्त में ण् हिंदी में उच्चरित होता है; यथा, रावण ऋण, हरिण, वरुण, इत्यादि।

§१७२. न्—प्रा० भा० आ० भा० में न् का उच्चारण-स्थान दन्त्य था, परन्तु आजकल इसका उच्चारण वर्त्स्य हो गया है। अनुनासिक-वर्णों में इसका तथा म् का ही प्रयोग सर्वाधिक मिलता है। यह शब्द में कहीं भी आदि-मध्य-अंत में आ सकता है। इसकी उत्पत्ति नीचे दी जाती है—

§१७३. आदि न्—

(i) म० भा० आ० न्, —ण्—<प्रा० भा० आ० न्—से; यथा,
नाव<(पा०) नावा- (प्रा०) णावा-<नावा-;
नाई<(पा०) नहापितो, (प्रा०) ण्हाविअ-, णाविद-<नापित-;
नाच् (ना) <(पा०) नच्चति, (प्रा०) णच्चइ<नृत्यति;
नाती<(पा०) नत्ता, (प्रा०) णात्तिअ-<नप्तृ।

(ii) म० भा० आ० (पा०) ञ-, (प्रा०) ण्-<प्रा० भा० आ० ज्ञ्—से;
यथा,
नाता (रिश्ता) <(पा०) ञाति, (प्रा०) णाइ-<सं० ज्ञातिः;
(लेकिन इसकी उत्पत्ति 'ज्ञाति' रूप से नहीं अपितु * ज्ञातत्व से माननी पड़ेगी, क्योंकि 'ज्ञातित्व' रूप में 'इ' के लोप की समस्या बनी रहेगी।)
नैहर<(प्रा०) णाइहर—, णाइहर-<ज्ञाति-गृह-।

(iii) म० भा० आ० ण्ह्-, न्ह्-<प्रा० भा० आ० स्न्—से; यथा,
√नहा (ना) <(पा०) न्हायति<नहायति (णिजन्त) नहापेति;

(प्रा०) एहाइ, (णिजन्त) एहावेइ<सं० स्नाति, (णिजन्त) स्नापयति;

नेह्<णेह्<स्नेह् ।

§१७४. शब्द के मध्य एवं अन्त में—न्

(i) म० भा० आ० -ण्ण्-<प्रा० भा० आ० -ज्ञ्- से; यथा,

बिन्ती<विण्णत्तिअ<विज्ञप्तिका ।

(ii) म० भा० आ० ण्ण्-<प्रा० भा० आ० र्ण् से; यथा,

कान्<कण्ण—<कर्ण—;

पान्<पण्ण—<पर्ण—।

(iii) म० भा० आ० -ण्-<प्रा० भा० आ० -ण्- से; यथा,

√गिन् (ना) <√गण—<√गण्—;

कङ्गन्<कङ्गण-<कङ्कण-,

(तत्सम) पन्डित<सं० पण्डित ।

(iv) म० भा० आ० ण्<प्रा० भा० आ० न् से; यथा,

पानी<पाणिअ<पानीय;

थन्<थण—<स्तन— ।

(v) म० भा० आ—ञ्<प्रा० भा० आ० ञ् से; यथा—

पन्जा<पञ्जअ<पञ्जक—;

(तत्सम) चन्चल<सं० चञ्चल—।

(vi) म० भा० आ०—ण्ण्—<प्रा० भा० आ०—ज्ञ् से; यथा—

अनाज्<*अण्णज्ज<अन्नाद्य ।

(vii) म० भा० आ० ण्ण्<प्रा० भा० आ० न्य से; यथा—

धान्<धण्ण<धान्य—।

(viii) कतिपय शब्दों में हिंदी न्<म० भा० आ० ल्<प्रा० भा० आ० ल् से; यथा—

नोन्<लोण<लवण

§ १७५. न्ह् की उत्पत्ति म० भा० आ० ण्ह्<प्रा० भा० आ०—ष्ण्—या—ह् से हुई है; यथा,

कान्ह्<कण्ह्<कृष्ण

चिन्ह्<सं० चिह्न ।

§ १७६. म; न् के समान ओष्ठय अनुनासिक म् का भी हिन्दी में खूब

प्रयोग होता है और यह शब्द के आदि, मध्य, अंत सभी स्थानों पर मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति नीचे दी जाती है।

आदि म्

(i) म० भा० आ० म् <प्रा० भा० आ० म् से; यथा—

मुँह<मुँह<मुख;

मूँग<मुग्ग<मुद्ग;

माथा<मत्थअ<मस्तक।

(ii) मा० भा० आ० म् <प्रा० भा० आ० म्र—से; यथा—

मक्खन<मक्खण<म्रक्षण 'लेप'।

(iii) म० भा० आ० म् <प्रा० भा० आ० श्म् से, यथा—

मसान्<मसाण, सुसाण<श्मशान ;

मोंछ<*मुच्छु<श्मश्रु।

§१७७. मध्य तथा अन्त्य—म्—

(i) म० भा० आ० म्म्<प्रा० भा० आ०—म्ब्—से; यथा—

नीम्<णिम्म<निम्ब

जामुन (प्रा०) <जम्बुल%जम्मुण<जम्बुल।

(ii) म० भा० आ०—म्ब्<प्रा० भा० आ०—म्र से; यथा—

आम्<अम्ब<आम्र।

(iii) म० भा० आ० म्म्<प्रा० भा० आ०—र्म्—से; यथा,

काम<कम्म<कर्म—;

चाम्<चम्म्<चर्म—;

घाम्<घम्म<घर्म—।

(iv) हिन्दी म्ह की उत्पत्ति सं० ह्म् से; यथा,

बाम्हन<प्रा० बम्भण<ब्राह्मण।

अर्द्ध-स्वर (Semi-Vowel)—य—व्—

§ १७८. य्; अन्य आ० भा० आ० भाषाओं के समान हिन्दी तद्भव-शब्दों में भी प्रा० भा० आ० भाषा का शब्द के आदि का य्>ज्; यथा—यमुना>जमुना; याचक>जाचक। इसीप्रकार पदान्त अक्षर का य् भी कहीं-कहीं ज् उच्चरित होता है; यथा—सरयू>सरजू। परन्तु समय्, सहाय् आदि में यह परिवर्तन नहीं मिलता। इसीप्रकार मध्य का य् भी प्रायः अपरिवर्तित रहता है; यथा—वयस्, पायस् आदि।

§१७९. व: हिन्दी में अर्ध-स्वर व् का उच्चारण द्वयोष्ठ्य हो गया है। प्रा० भा० आ० भा० के शब्द के आदि का व् हिंदी में ब् में परिणत हो गया है; यथा—सं० वचन>हिं० बचन। तत्सम-शब्दों के मध्य में—व्—अर्धस्वर सुरक्षित है; यथा—स्वर्, ज्वर्, श्वास इत्यादि। अनेक तद्भव-शब्दों में—व्—<प्रा० भा० आ०—म्—यथा—कुँवारा<कुमार—; आँवला<आमलक। म० भा० आ० भा० में प्रा० भा० आ०—म्—>—वँ— और तब—वँ—में से अनुनासिक-ध्वनि निकलकर पूर्वस्वर में मिल गई जिससे—व्—शेष रह गया।

र्, ल्

§१८०. भाषा-विज्ञानियों के अनुसार ऋग्वेद-संहिता में ही कम से कम तीन ऐसी विभाषाएँ मिलती हैं जिनमें भारोपीय र्, ल् का परिवर्तन तीनप्रकार से हुआ था—एक में र् ल् का अंतर स्पष्ट था, दूसरे में ल्>र् और इसके विपरीत तीसरे में र>ल्। उदीच्य-प्रदेश में र् ध्वनि का बहुल प्रयोग होता था और प्राच्य-प्रदेश में ल् का। मध्य-देश में इन दोनों प्रवृत्तियोंका समन्वय हुआ और वहाँ र्, ल् दोनों ध्वनियाँ समानरूप से व्यवहृत हुईं। मध्यदेश की भाषाओं—संस्कृत, शौरसेनी आदि में र् ल दोनों ध्वनियाँ मिलती हैं। मागधी में र्>ल् और मागधी-प्रसूत-भाषाओं—भोजपुरी, मैथिली, मगही, बंगला आदि—ने इस प्रवृत्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त किया, यद्यपि मध्य-देशीय—भाषा के प्रभाव से वहाँ र् ध्वनि भी मिलती है।

मध्य-देशीय-भाषा हिन्दी ने र्, ल् दोनों ध्वनियों को परम्परा से प्राप्त किया है। नीचे र्, ल् की प्राचीन एवं मध्य-भारतीय-आर्य भाषा से व्युत्पत्ति प्रदर्शित की जाती है।

§१८१. आदि र्

(i) म० भा० आ० र् <प्रा० भा० आ० र् से; यथा—

रात्<रत्ति<रात्रि;

रानी<(प०) रञ्जी (प्रा०) राणी<राज्ञी;

रावत<राउत्त<राजपुत्र;

(घोड़े की) रास्<रस्सि<रश्मि:

रीता 'खाली'<रित्तअ<रिक्त+ (स्वार्थे 'क')।

(ii) (तत्सम तथा अर्ध-तत्सम शब्दों में) म० भा० आ र्<प्रा० भा० आ० ऋ से; यथा,

रिन्<रिण<ऋण;
रिसि<सं० ऋषि ।

§१८२. आभ्यन्तर एवं पदान्त-र्—

(i) म० भा० आ० र्<प्रा० भा० आ० र् से; यथा—
गहरा<गहिर<गभीर;
क्यारी<किआरिअ<केदारिका;
गोरा<गोरअ<गौर;
औैर<अउर, अवर<अपर ।

(ii) म० भा० आ० र्<प्रा० भा० आ० ऋ्-से; यथा—
√कर् (ना)<√कर<√कृ;
√मर् (ना)<√मर<√मृ;
घर्<घर<गृह ।

(iii) अर्ध-तत्सम शब्दों में प्रा० भा० आ० के रेफ-संयुक्त-व्यंजन में स्वर-भक्ति के सन्निवेश से; यथा, धरम<धर्म; करम<कर्म ।

(iv) म० भा० आ० (द्वितीय-पर्व) र्<प्रा० भा० आ० न, द्-से (विशेषतया संख्यावाचक शब्दों में); यथा—
बारह्<बारस-बारह्<द्वादश;
सत्तरह्<सत्त-रस, सत्तरह्<सप्तदश ।

ल्

§१८३. आदि ल्—

म० भा० आ० ल्-<प्रा० भा० आ० ल्-से; यथा—
लोहा<लोह्<लोह्—;
लाज्<लज्जा<लज्जा—;
लाख्<लक्ख<लक्ष— ।

§ १८४. आभ्यन्तर एवं पदान्त ल्—

(i) म० भा० आ० ल्<प्रा० भा० आ० ल् से; यथा—
आँवला<आवँलअ, आमलअ<आमलक;
काजल्<कज्जल<कज्जल ।

(ii) म० भ० आ० ड़्<प्रा० भा० आ०-ड्-से; यथा—
सोलह्<सोड़स-,सोड़ह्-(अप) सोलह्<षोडश ।

(iii) म० भा० आ० -ल्ल्-<प्रा० भा० आ०-द्र- से; यथा,
भला<भल्ला<भद्रक- ।

(iv) म० भा० आ० -ल्-< प्रा० भा० आ० -र्- से; यथा—
चालीस्<(अप०) चालीसं<चत्वारिंशत् ।

(v) म० भा० आ० -ल्ल्-< प्रा० भा० आ० -र्ण- से; यथा—
√बोल(ना) <√घोल्ल √<घूर्ण— ।

(vi) म० भा० आ०—ल्ल् √प्रा० भा० आ० -र्य-से; यथा—
पलङ्ग √पल्लङ्ग<पर्यङ्क ।

(vii) म० भा० आ० -ल्ल्-<प्रा० भा० आ० -ल्य्-से; यथा—
मोल्<मोॅल्ल<मूल्य ।

(viii) म० भा० आ०-ल्ल्-< प्रा० भा० आ० -ल्ल्- से; यथा—
भालू<भल्लुअ—<भल्लुक ।

(ix) म० भा० आ० -ल्ल्-<प्रा० भा० आ० -ल्व-से; यथा,
बेल् 'एक फल'<बेल्ल<विल्व ।

(शिन्-ध्वनि Sibilant स्)

§१८५. प्रा० भा० आ० भाषा की शिन्-ध्वनियाँ श्, ष्, स्, म० भा० आ० भाषा काल में केवल एक शिन्-ध्वनि के रूप में बच रही थीं। मध्य-देश की भाषा में यह शिन्-ध्वनि दन्त्य स् थी औरप्राच्य-प्रदेश में तालव्य श्। मध्यदेश की प्रकृतों में स् एवं मागधी में श् ही प्रा० भा० आ० के श्, ष्, स् तीनों का प्रतिनिधित्व करते थे।

हिन्दी के तद्भव-शब्दों में दन्त्य-शिन्-ध्वनि स् ही सुरक्षित है। यद्यपि देवनागरी-लिपि में तीनों ही शिन्-ध्वनियाँ वर्तमान हैं और लिखावट में श्, ष् भी लिखे जाते हैं, परन्तु उच्चारण में ये स् हो जाते हैं। आधुनिक-काल में भाषा में तत्सम-शब्दों के बहुल प्रयोग और संस्कृत-शिक्षा के प्रभाव से शिक्षित-लोगों में तालव्य 'श्' का उच्चारण भी प्रचलित हो गया है, परन्तु मूर्धन्य ष, जो प्राचीन-हिन्दी में भी अन्य आ० भा० आ० भाषाओं एवं बोलियों के समान स् में परिणत हो गया था, तालव्य श् की तरह उच्चरित होता है; यथा ऋषि, षट् आदि का उच्चारण रिशि, शट् की तरह होता है।

§१८६. हिन्दी स्- की उत्पत्ति

(i) म० भा० आ० (शौरसेनी) स्<प्रा० भा० आ० श्, ष्, स् - से; यथा—

आस्<आसा<आशा;
पूस्<पोस<पौष;
सात्<सत्त<सप्त् ।

(ii) म० भा० आ० (पद के आदि में) स् तथा (मध्य में)—स्स्
प्रा० भा० आ० श्, ष्, स् + अर्ध-स्वर अथवा र्श्व , र्ष् आदि समूह;
यथा—

आदि;

साँवला<साँवलअ<श्यामलक;
साला<सालअ<श्यालक;
सावन<सावण<श्रावण;
सेठ्<सेट्ठ -<श्रेष्ठिन्;
सास्<सस्सु<श्वश्रु -;
साईं<सामि, सामि<स्वामी- ।

मध्य;

पास्<पस्स - <पार्श्व-;
रास्<रस्सि-<रश्मि-;
मानुस्<मणुस्स-<मनुष्य;
काँसा<कँस-<कांस्य;
मौसी<माउसिअ<मातृ-ष्वस्- ।

§१८७. **कंठ्य संघर्षी;** घोष तथा अघोष ह् ।

आदि ह्—(घोष)

म० भा० आ० ह्-<प्रा० भा० आ ह्-से; यथा—

हरा<हरिअ<हरित-;
हाथ<हत्थ-<हस्त-;
हल्दी<हलिद्दा, हलद्दा<हरिद्रा;
हाथी<हत्थि-हस्तिन् ।

§१८८. मध्य एवं पदान्त ह् —

(i) म० भा० आ०—ह्-<प्रा० भा० आ०ह्—से; यथा—

लोहा<लोह-<लौह-;
बाँह्<बाहु<बाहु- ।

(ii) म० भा० आ०-ह्-<प्रा० भा० आ०—ख्-,-घ्-,-थ्,-भ्,-ध-से;
यथा—

-ह्-<ख्-; अहेरी<अहेडिअ<आखेटक-;
मुँह<मुह-<मुख-;
-ह्-<घ्-; रहँट्<रहट्ट-<अरघट्ट;
-ह्<-थ्-; √कह (ना) <√कह-<√कथ्-;
-ह्-<-ध-; बहरा <बहिर-<बधिर-;
पतोहू<सं० पुत्र-वधु;
-ह्<-भ-; सोहाग्<सोहग्ग-<सौभाग्य-;
गहरा<गहिर-गभीर- ।

(ii) म० भा० आ० -स्-,-ह्-<प्रा० भा० आ० श्- से; यथा—
सोलह्<सोड़स्-सोड़ह्<षोडश ।

§१८६. हिन्दी में अघोष ह् का उच्चरण कुछ ही तत्सम-शब्दों में मिलता है, यथा- प्रायः, पुनः, इत्यादि ।

आठवाँ-अध्याय

प्रत्यय

स्वदेशी प्रत्यय

§१६०.नीचे हिंदी के तद्भव-प्रत्ययों पर अकारादि-क्रम से विचार किया जाता है। यथासंभव इन प्रत्ययों के इतिहास पर प्रकाश डालने का भी प्रयत्न किया जायेगा।

(१)

§१६१.अ—इसके योग से निष्पन्न शब्द पुंलिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग, दोनों लिङ्गों, में पाए जाते हैं और यह प्रा० भा० आ० भाषा के पुंलिङ्ग 'अः' (स्), स्त्रीलिंग 'आ' एवं नपुंसकलिङ्ग, अम्, तीनों का प्रतिरूप है, अतः हिंदी में इसके योग से निष्पन्न शब्द पुंलिङ्ग भी है और स्त्रीलिङ्ग भी; यथा—

चकोर (सं० <चकोरः;पा० चकोरो, प्रा० चओर); चाँद (<सं० चन्द्रः> म० भा० आ० भा० चंद-); चँवर (<सं० चमरः > म० भा० आ० भा० चमर-); बोल (< म० भा० आ० भा० बोल्ल—(पुं० लि०)।

घर (<सं० गृहम्> म० भा० आ० भा० घरं (न० लि०); भात (<सं० को० भक्तम्> म० भा० आ० भा० भत्त- (न० लि०); चाक (<सं० चक्रम् > म० भा० आ० भा० चक्क (न० लि०); जीभ (<सं० जिह्वा> म० भा० आ० भा० जिब्भा-जिब्भ); जांघ (<सं० जङ्घा> म० भा० आ० भा० जंघा-जंघ-); बात (<सं० वार्ता> म० भा० आ० भा० वात्ता-वत्त); दाढ़ (सं० दंष्ट्रा>म० भा० आ० भा० दाठा)।(स्त्री०लिं०)

हिंदी उच्चारण में पदान्त 'अ' का लोप हो गया है; अतः इस प्रत्यय

---

*डा० टर्नर 'घर' शब्द की उत्पत्ति भारोपीय*ग्वहोरो (G^{w}horo heat, fire, hearth') 'आग, गर्मी, चूल्हा' से मानते हैं। दे० ट० ने० डि० पृ० १५४।

का बोलचाल में बोध नहीं होता, परन्तु लिखने में ये पद अकारांत ही लिखे जाते हैं।

'अ' प्रत्यय के योग से हिंदी में भाववाचक-संज्ञाएँ भी बनती हैं; यथा-चाल, जाँच, समझ, पहुँच, आड़ इत्यादि।

(२)

§१६२. अक्कड़—इसकी उत्पत्ति प्रा०-अक्क+ट> अक्कड> अक्कड़ है। इससे स्वभाव-वाची विशेषण शब्द बनते हैं ; यथा; घुमक्कड़ (√घूमना); पियक्कड़ (√पीना); भुलक्कड़ (√भूलना)।

(३)

§१६३. अता (पु० लि०),—अती (स्त्री० लि०) <सं० अन्त्। इस प्रत्यय के योग से शतृ-अन्त शब्द बनते हैं; यथा—

उड़ता (√उड़ना) पंछी; दौड़ता (<दौड़ना) घोड़ा; बहता पानी; चलता पुर्जा। चलती-फिरती गाड़ी, लौटती डाक, हंसती-गाती लड़की।

'–अती' प्रत्यय से भाववाचक संज्ञाएं भी बनती हैं; यथा—उठती (√उठना); घटती (√घटना); बढ़ती (√बढ़ना); चुकती (हिसाब की चुकती' में √चुकाना); भरती (√भरना); गिनती (√गिनना)।

(४)

–अती,—ती

§१६४. इस प्रत्यय की उत्पत्ति हार्नले ने प्रा०भा०आ० भा०*आप्तिका (णिजन्त प्रत्यय–'आप्'+ति+स्वार्थे-प्रत्यय-'का') से मानी है और डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या इसका संबंध शतृ-प्रत्यय 'अन्त'+भाववाचक–'ई,-इ' से जोड़ते हैं। हार्नले की स्थापना ध्वनि-विकास की दृष्टि से तो अमान्य है ही, उससे वह विशेषणात्मक-अर्थ भी द्योतित नहीं होता, जो इस प्रत्यय से निष्पन्न अनेक शब्दों में मिलता है। डा० चाटुर्ज्या के मत में ऐसी कोई बाधा नहीं है।

उदाहरण—लौटती डाक; हँसती-गाती बाला; चलती चक्की; बहती नाली; उठती उमर (√उठ्-<सं० उत्√स्था); ढलती दोपहरी

(√ढल्<प्रा० ढल (इ)<सं०* ढल (ति); काँपती युवती (√काँप्<सं० √कम्प्)।

इस प्रत्यय से भाववाचक संज्ञाएँ भी बनती हैं; यथा—घट्ती (√घट्<प्रा० √घट्ट (इ); बढ़्ती (√बढ़् (ना) प्रा० वड्ढ <सं०√वर्ध्); हिसाब की चुकती (√चुक् (ना) 'समाप्त होना'<म० भा० आ० चुक्क् प्रा० चुक्कइ); भरती (√भर् (ना) <प्रा०√भर् <सं०√भर्); गिन्ती (√गिन् (ना) <म० भा० आ० √गण्<सं० गण् । कुछ विदेशी शब्दों में भी यह प्रत्यय जोड़ा गया है; यथा—कमती (फा० 'कम'), ज्यादती, इत्यादि ।

यह प्रत्यय प्रायः सभी आ० भा० आ० भाषाओं में मिलता है; यथा—हि० गिन्ती, अस० गणति, उड़ि० गणति, बं० गुन्ति, भो० पु० गिनती, पं० गिणती, सिं० गणती, गुज० गणती, मरा० गणती ।

डा० चाटुर्ज्या का विचार है कि इस प्रत्यय की उत्पत्ति में सं० —ति का प्रभाव रहा है । —ति प्रत्यय से निष्पन्न अनेक संस्कृत शब्द तत्सम अथवा अर्ध-तत्सम रूप में आ० भा० आ० भा० में वर्तमान थे; यथा—युक्ति ('जुगति' अ० त०); भक्ति (भगति अ० त०), मति, गति, इत्यादि । इन शब्दों के प्रभाव से इस प्रत्यय का प्रचलन हुआ होगा । अरबी-फारसी से गृहीत '—अत्' प्रत्ययान्त तथा ई प्रत्यय युक्त अनेक शब्दों ने भी इस प्रत्यय से निष्पन्न शब्दावली की संख्या बढ़ाई है; यथा—वकालत<वकालती; अदालत्<अदालती ।[1]

(५)

—अन्, —न

§ १९५. इस प्रत्यय की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० —अन् से है और इससे साकार-रूप (Concrete-from) वाले भाववाचक-क्रियामूलक-विशेष्यपद (Abstract Verbal Noun) बनते हैं; यथा—

चलन् 'रिवाज्' (√चल् (ना)<म० भा० आ०√चल्—<सं० √चल्, चर्);

ऐंठन् (√ऐंठ् (ना)<सं० आ-√वेष्ट्); जलन् (√जल् (ना) <म० भा० आ०√जल्—<सं० ज्वल्); झाड़न् (√झाड़ (ना) ।

अन्य आ० भा० आ० भा० में भी यह प्रत्यय मिलता है; यथा—

---

1 बैं० लैं० पृ० ६२५-२६

सं० चलन्, भो० पु० चलन्; पं० जलन्, गुज० जलण्, मरा० जलण्

—न के योग से कुछ भाव-वाचक संज्ञाएँ बनती हैं; यथा—लेन्-देन् (√ले (ना)<प्रा० लहइ, पा० लभति<सं० लभते; संभवतः संस्कृत, ददाति >पा० देति, प्रा० देइ के सादृश्य पर √'लह्'>√ले—हो गया); इसीप्रकार खान्-पान्, इत्यादि।

(६)

अन्त्

§ १६६. इस प्रत्यय की उत्पत्ति संस्कृत-अन्त् (शतृ) से है; परन्तु हिन्दी में इसके अर्थ में कुछ परिवर्तन हो गया है।

इसके उदाहरण कुछ ही मिलते हैं, यथा—

मन 'गढ़न्त्', तोता 'रटन्त्', इत्यादि।

(७)

ना

§ १६७. यह प्रत्यय —'अन्,—न' के विस्तार हैं और इनमें 'आ' के योग से निष्पन्न हुए हैं। इसीलिए अनेक शब्दों के दोनों प्रत्ययांत रूप मिलते हैं; यथा—ढक्कन्, ढक्ना (√ढक् (ना) <प्रा० √ढक्क्); बिछावन् (अव०)—बिछौना (√बिछा (ना), मिलाइए पालि 'विच्छादनम्'; 'छिपाना', सं० 'विच्छादयति' खोलता है, उघाड़ता है); 'ओढ़ना' ओढ़ने का वस्त्र (√ओढ़् (ना)<म० भा० आ० √ ओड्ढ)।

अन् प्रत्यय के समान यह भी अन्य भा० आ० भा० में विद्यमान है; यथा—

सं० ढाकना, भो० पु० ढकना, पं० ढक्णा, असं० 'बजना' बाजा।

(८)

नी

§ १६८. यह भी —अन्, —न् प्रत्यय के विस्तार हैं तथा इनसे निष्पन्न-शब्द, वस्तु का लघु-रूप प्रकट करते हैं। अतः इससे बनने वाले शब्द स्त्री-लिंग होते हैं; यथा—

ढक्नी (छोटा ढक्कन्); छावनी (सं० छादनिका), ओढ़्नी (ओढ़ने का छोटा या हल्का वस्त्र), चट्नी (√चाट् (ना), मथनी या

मथानी (सं० मन्थनिका); छल्नी, सुमर्नी-सुमिर्नी 'माला' (√सुमिर् (ना) सं० √स्मर –); छेनी (सं० छेदनिका)।

—न् के समान यह भी प्रायः सभी आ० भा० आ भाषाओं में प्रचलित है; यथा—

अस० साउनि 'छावनी'; बं० छावनी; भो० पु०, छावनी; गुज०, पं० छावणी।

इस प्रत्यय के योग से कुछ भाववाचक संज्ञाएं भी बनती हैं; यथा—कर्नी, चांद्नी, इत्यादि।

(६)

—आ

§ १६६. इस प्रत्यय की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा०—आक से हुई है। वैदिक 'युष्माक' 'तुम्हारा', 'अस्माक' 'हमारा' (इन शब्दों के अङ्ग Base 'युष्म' 'अस्म' हैं)। 'पवाक' 'पवित्रकारी अग्नि', 'जल्पाक' 'बकवादी', 'भिक्षाक' 'भिखारी', इत्यादि शब्दों में यह प्रत्यय मिलता है।

इसका विकास-क्रम यह है—

प्रा० भा० आ०—आक>म० भा० आ०—आअ>आ० भा० आ०—आ।

यह प्रत्यय भिन्न-भिन्न अर्थ प्रकट करता है; निश्चय, गुरुत्व, लघुत्व एवं सम्बन्ध के अतिरिक्त इसका स्वार्थे प्रयोग भी होता है; यथा—

निश्चय—बक्रा (सं० बर्कर—);

गुरुत्व—ऊँचा (सं० उच्चैस्); घड़ा; लकड़ा (छोटा-रूप 'लकड़ी'), हंडा इत्यादि।

लघुत्व—नीचा (सं० नीचैस्);

संबन्ध—ठेला 'गाड़ी' (<ठेल् (ना)); मेला √<मिल्ना,); तीता (सं० तिक्त–) भड़–भूँजा (<भूँज्० (ना)),।

स्वार्थे—कौआ (<काउ (+आ)<काओ<काको<सं० काकः); पत्ता (<पत्त (+आ) <सं० पत्र—); सुआ (सं० शुक—); कुँआ (सं० कूप—)।

असमिया, बंगला, भो० पु० आदि प्राच्य—प्रदेश की आ० भा० आ० भाषाओं में यह प्रत्यय स्वार्थे सप्राण है; यथा—

२६

असo—कणा 'काना' हरिणा 'हिरन्'; बंगला—पाता 'पत्ता', बाघा 'बाघ्' थाला 'थाली'; भो० पु०—चोरवा 'चोर्', हर्ना 'हिरन्', बबुआ, फगुआ, इत्यादि ।

(१०)

—आ

§ २००. इसके योग से कर्मवाच्य-कृदन्त, (Passive Participle) तथा क्रियाजात-विशेष्यपद बनते हैं । इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा०—त, –इत >म० भा० आ० भा०—अ: –इअ+स्वार्थे—आ से हुई है । निम्न-उदाहरणों से यह विकास-क्रम स्पष्ट हो जायगा—

हि० गया <म० भा० आ० भा० गअ+—आ<सं० गत:;

हि० किया<किया+आ<किअ+-आ<सं० कृत: ।

अन्य उदाहरण—

कर्मवाच्य-कृदन्त—प्यासा (सं० पिपासित:), भूखा (सं० बुभुक्षित:) ।

क्रियाजात-विशेष्य—झगड़ा (√झगड़् (ना); झटका (√झटक (ना) फेरा (√फेर् (ना)), घेरा (√घेर (ना)), तोड़ा (√तोड़ (ना), जोड़ा (√जोड़् (ना)) ।

आ० भा० आ० भा० के विकास के साथ म० भा० आ०—इआ का —इ—लुप्त हो गया । बंगला, असमिया, बिहारी, पंजाबी, राजस्थानी इत्यादि में-इ-लुप्त हो गया है; यथा—

सं० चलित–, चलितक–>शौर प्रा० चलिद–, चलिदअ, (कर्ता का० ए० व० चलिदो, चलिदओ)>शौर० अप० चलिउ, चलि-अउ>व्र० भा० चल्यु, चल्यउ, पु० हि० चल्या, पं० चलिआ, चालिआ> आ० हि० चला, बुंदेली—कन्नौजी 'चलो' पं० चल्ल्या ।†

(११)

—आइ

§२०१. इस प्रत्यय के योग से संज्ञा एवं विशेषण-पदों से भाववाचक संज्ञा-पद तथा क्रियाजात-विशेष्यपद निष्पन्न होते हैं ।

---

†चाटुर्ज्या—बै० § लै० ४०१

डा० चाटुर्ज्या ने इस प्रत्यय की उत्पत्ति निम्नप्रकार से बताई है—प्रा० भा० आ० भा० णिजन्त – आप् + – इका > – आविआ, – आविअ, – आवी° > – आई, – आइ । डा० बानीकान्त काकती ने क्रियाजात-विशेष्यपदों के लिए तो डा० चाटुर्ज्या के मत का समर्थन किया है, परन्तु भाव-वाचक संज्ञापद वाले – आई (बं०, असं० – आइ) की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० – ताति > म० भा० आ० भा० – *ताइ > आ० भा० आ० भा० – आइ, – आई मानी है।

– ताति प्रत्यय केवल वैदिक-भाषा में मिलता है, लौकिक संस्कृत में इसके कोई उदाहरण नहीं मिलते। वैदिक उदाहरण ये हैं—

अरिष्टताति 'अक्षतता', ज्येष्ठताति 'ज्येष्ठता', देवताति 'देवत्व' वसुताति 'धनिकता', सर्वताति 'सम्पूर्णता', दक्षताति 'दक्षता, निपुणता' इत्यादि। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैदिक-भाषा में – ताति प्रत्यय का प्रयोग संज्ञा अथवा विशेषण-पदों से भाववाचक-संज्ञा-पद बनाने में किया जाता था।

हिंदी में – आई प्रत्ययान्त क्रियाजात-विशेष्य-पद; यथा—कमाई (√कमाना, प्रा० कम्मावइ < सं० *कर्मापयति 'कर्म + आप् (णिजन्त)); खिलाई (√खिला (ना)); गढ़ाई (गढ़ना); चराई (√चर् (ना)); जँचाई (√जाँच् (ना), सं० √याच् 'मांगना' * याचापिका); लड़ाई (√लड़् (ना); पढ़ाई (√पढ़् (ना)), < म० भा० आ० √पढ़् – < सं० √पठ् –); जुताई (√जोत (ना), सं० योक्त्र * योक्त्रापिका); धुनाई (√ धुन् (ना), सं० √ध्मान); सिलाई (√ सिल् (ना)); पैराई (√पैर् (ना); सं० √पैल्); हँकाई (हांक (ना); प्रा० हक्क्); पिटाई (√पीट् (ना), प्रा० √पिट्ट); चढ़ाई (√चढ़ (ना)); उतराई (√उतरना, सं० उत् – √तर् 'उत्तरति' < प्रा० उत्तरइ; जड़ाई (√जड़ (ना); धुलाई (√धुला (ना)); मुँह – दिखाई (√दिखा (ना)); लिखाई (√लिखाना); पिलाई (√ पिला (ना)।

भाववाचक-संज्ञापद—

मिठाई ('मीठा' से), भलाई ('भला' से), बुराई ('बुरा' से), बड़ाई ('बड़ा' से), सचाई ('सच्' से), सफाई (फा० 'साफ़' से), मंहगाई ('मंहगा', पा० प्रा० महग्घ – < सं० महार्घ –), पंडिताई ('पंडित' से), बम्हनाई ('बाम्हन' से) इत्यादि।

(१२)

—आऊ

§२०२. इससे क्रियामूलक-विशेषण बनते हैं और इससे निष्पन्न-शब्द योग्यता अथवा स्वभाव द्योतित करते हैं।

इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० 'णिच्' – आप् – + उक (क्रियामूलक-विशेषण प्रत्यय) से है। प्रा० भा० आ० भा० में इसके उदाहरण ये हैं—

वादुक 'वाचाल', नाशुक 'नाशकारी', उपक्रामुक 'उन्नतिशील', वेदुक 'जाननेवाला', भावुक (√भू 'होना'), हारुक (√हृ 'हरण करना'), दंशुक (√दंश् 'काटना'), वर्षुक (√वृष् 'बरसना') शिक्षुक (√शिक्ष् 'सिखाना'), भिक्षुक (√भिक्ष् 'मांगना'), घातुक (√हन् 'मारना') इत्यादि।

हिंदी में – आऊ के उदाहरण ये हैं—

योग्यतार्थक—बिकाऊ (√बिक् (ना), सं० वि०√क्री – 'विक्रीयते' 'बेचा जाता है', प्रा० विक्केइ विक्कइ 'बेचता है'), काम – चलाऊ (√चल् (ना), सं० √चल्) टिकाऊ (√टिक् (ना)); परन्तु जड़ाऊ ('जड़ा हुआ') गहना' में यह प्रत्यय भूतकालिक-कृदन्त के अर्थ में है।

स्वभाव या गुणवाची—'उड़ाऊ 'फजूल-खर्चो' (√उड़ा (ना)), खाऊ (√खा (ना)।

बंगला, नेपाली आदि कुछ आ० भा० आ० भाषाओं में इससे क्रिया-मूलक-संज्ञापद भी बनते हैं; यथा – बं० छाड़ाउ 'छुटकारा', घाबराउ 'घबराहट'; ने० 'अराउ' 'आदेश'

(१३)

§ २०३. —आक, – आका

इन प्रत्ययों से गुणवाचक-विशेषण-पद सिद्ध होते हैं।

इनकी व्युत्पत्ति हार्नले ने सं० – 'आपक' – से बताई है; यथा—हिं० उड़ाका < उडडाअक < मा० उड्डावक < सं० उड्डापक-परन्तु डा० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति प्रा० – अक्क या – आक्क से मानते हैं।

उदाहरण— पैराक, तैराक पैर् (ना), तैर् (ना)), लड़ाका (√लड़ (ना)) इत्यादि। चालाक (फा० से गृहीत) शब्द भी इसी समूह के अन्तर्गत है।

—आका प्रत्यय से अनुरणनात्मक (Onomatopoetic) शब्दों के भी भाववाचक रूप बनते हैं; यथा—

धड़ाका ('धड़्-धड़्' की ध्वनि), सड़ाका ('सड़्-सड़् की आवाज), पटाका (पट्-पट् ध्वनि)।

(१४)

—आटा

§२०४. इससे ध्वन्यात्मक-शब्दों के भाववाचकरूप सिद्ध होते हैं। यथा—सन्नाटा ('सन')

(१५)

—आड़ी

§२०५. यह प्रत्यय—आरी < सं०-कारी का ही अन्य रूप है और र्>ड् के कारण बना है।

उदाहरण—खिलाड़ी (√ खेल् (ना));

अनाड़ी (<प्रा० अरणाअ – 'मूर्ख' + आरी-ड़ी)।

प्रायः सभी आ० भा० आ० भाषाओं में यह मिलता है। यथा—हिं० अनाड़ी, बं० आनाड़ि, पं०, सि० अनाड़ी, गुज० अनाडी (–र् > –ड्) मरा० अडाणी (वर्ण-व्यत्यय)।

(१६)

—आन्

§२०६. इस प्रत्यय की सहायता से, प्रेरणार्थक-क्रियाओं से, क्रिया-मूलक-विशेष्य-पद बनते हैं।

इस प्रत्यय की उत्पत्ति णिच् (प्रेरणार्थक) + आपन, – आपनक > – आवरा, – आवणअ > – आउव > – आण > – आन् है।

उदाहरण—मिलान् (√मिलाना); उड़ान् (√उड़ाना); उठान (√उठाना, सं० उत्-स्था); लगान् (√लगाना)

(१७)

—आप्

§२०७. इससे क्रियाजात-विशेष्य-पद (भाववाचक) सिद्ध होते हैं; यथा—

मिलाप (√मिल्ना, सं० मिलति, प्रा० मिलइ; उड़ि० मिळाप भो० पु० मिलाप्, पं० मिलाप, गुज० मेळाप्)

इसकी व्युत्पत्ति टर्नर आदि ने प्रा० भा० आ० भा० – त्व > – त्प >

प्य> (प) + य बताई है; परन्तु सं० 'आत्मन्' शब्द से इसकी उत्पत्ति इस-प्रकार मानी जा सकती है—

आत्मन्>अप्प या आप्प>आप> – आप्।

(१८)

—आर

§२०८. इस प्रत्यय से कर्तृ-वाचक-संज्ञा-पद सिद्ध होते हैं; यथा—

चमार (< चम्म-आर < चर्मकार);

सुनार-सोनार (< सुण्ण-आर; सोण्ण-आर. < स्वर्णकार);

गँवार (< ग्राम-कार); कुम्हार (कुम्भ-कार); कहार (<स्कन्ध-कार);+ लोहार लुहार (<लौहकार);गोहार; ज्योनार।

इसकी व्युत्पत्ति सं० – कार>म० भा० आ० भा० – आर> आ० भा० – आर्। इस प्रत्यय से निष्पन्न शब्द सभी आ० भा० आ० भाषाओं में मिलते हैं; यथा – हि० चमार्, असं० समार् 'चूने का काम करने वाला', बं० चामार्, उ० चमार् 'टोकरी बनाने वाला', बिहा० 'चमार्', पं० चमार्-चमिआर; सिं० चमारु; गुज० चमार्; मरा० चाम्हार्; सिंघा० सोम्मारु, काश्मी० चम्; आर्।

(१९)

– आरा

§२०९. इस प्रत्यय से भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं, यथा – निबटारा-निपटारा) √निपटाना-निबट्ना)<* निर्वर्त-कर-(?)।

मि० – सं० निर्वर्तते 'लौटता है, सम्पन्न होता है, समाप्त होता है', पा० निब्बत्तेति 'सम्पन्न करता है'; प्रा० निव्वत्तेइ-निव्वट्टेइ)।

इसकी उत्पत्ति सं० – कार > म० भा० आ० भा० – आर (+आ) से है।

(२०)

– आपा

§२१०. इसके योग से संज्ञा अथवा विशेषण-पदों के भाववाचक रूप सिद्ध होते हैं; यथा—

+ इसका विकास स्कन्धकार > कन्धहार > कन्धार होना चाहिये था, परन्तु सुनार, लुहार कुम्हार आदि के प्रभाव से इसका कहार रूप बना।

पुजापा (पूजा), अपनापा ('अपना') ।

यह प्रत्यय-आप् प्रत्यय का बढ़ाया हुआ (गुरुत्व) रूप है ।

(२१)

—आर

§ २११. इस प्रत्यय की उत्पत्ति सं० 'आगार' (संग्रहालय, खजाना) से है ।

उदाहरण—भंडार् (सं० भाण्डागार–, प्रा० भंडाआर–भंडार–); कुठार–कोठार् (सं० कोष्ठागार) ।

यह प्रत्यय प्रायः सभी आ० भा० आ० भाषाओं में है—हि० भंडार, बं० भांड़ार् , उड़ि० भंडार् , गुज० भंडार् , मरा० भांडार् ।

असमिया में 'र्' के स्थान में 'ल्' हो गया है—'भंराल्' ।

(२२)

—आरी

§ २१२. इस प्रत्यय से भी कर्तृवाचक-संज्ञा-पद निष्पन्न होते हैं; यथा—

भिखारी < भिक्ख – आरिअ < भिक्षा–कारिक (डा० टर्नर इसकी व्युत्पत्ति < प्रा० भिक्खायर–, भिच्छअर < – पा० भिक्ख-चरिया < सं० भिक्षाचरः से बताते हैं[1]) ।

पुजारी (पूजा–कारिक); जुआरी (प्रा० जुआरिअ, सं० द्यूतकार–) इसकी उत्पत्ति सं० – कारिक > कारि अ > आरिअ > आरी है । प्रायः सभी आ० भा० आ० भाषाओं में इससे सिद्ध शब्द मिलते हैं, यथा—

हि० जुआरी, अस० जुवारी, बं० जुयारि, उड़ि० जुआरि, भो० पु० जुआरी, पं० जुआरी, सिं० जुआरी ।

(२३)

—आरी

§ २१३. इससे व्यवसाय-सूचक शब्द बनते हैं । यथा—

भंडारी (सं० भाण्डागारिक, पा० भण्डागारिको, प्रा० भंडागारिअ; कुठारी (सं० कोष्टागारिक) कोठारी ।

इसकी व्युत्पत्ति सं० आगारिक से है । प्रायः सभी आ० भा० आ० भाषाओं में यह प्रत्यय मिलता है; यथा—

---

1 ने० डि० पृ० ४७६ ।

हिं० भंडारी, बं० भँड़ारी, उड़ि० भण्डारि, बिहा० भँड़ारी, पं० भंडारी, गुज० भंडारी, मरा० भांडारी।
असमिया—'भँरालि'।

(२४)

—आल् या आर्

§ २१४. इस प्रत्यय से गुणवाचक-पद सिद्ध होते हैं; यथा—
छिनाल्-छिनार् (< छिएण + आल, प्रा० छिएणा—, सं० को० छिन्ना—'वेश्या'; प्रा० छिएणाल—'व्यभिचारी' पु० लिं०; छिएणालिआ, 'वेश्या')।
इस प्रत्यय की उत्पत्ति सं०—आल (यथा; वाचाल) से है।

(२५)

—आल् ,—आला

§ २१५. इससे स्थान-वाचक-पद सिद्ध होते हैं; यथा—ससुराल (सं०श्वसुरालय) इसकी उत्पत्ति सं० आलय 'घर' से है।

(२६)

—आली

§ २१६. इससे समूहवाची-संज्ञा-पद निष्पन्न होते हैं; यथा—दिवाली (< सं० दीपावलि-) इसकी उत्पत्ति सं० अवली 'पंक्ति' शब्द से है।

(२७)

—आलू

§ २१७. इससे स्वभाव-सूचक विशेषण-पद सिद्ध होते हैं; यथा—झगड़ालू (√झगड़ना);
इसका सम्बन्ध सं०—आलु प्रत्यय से है, जिससे श्रद्धालु, दयालु, ईर्ष्यालु, शयालु—,स्वप्नालु, क्रो-धालु, इत्यादि शब्द निष्पन्न होते हैं।

(२८)

—आव्–आवा

§ २१८. इससे भाववाचक-संज्ञाएँ सिद्ध होती हैं; यथा—चढ़ाव् (√चढ़ना, प्रा० चडइ); जमाव (√जमना); झुकाव (√झुकना); बचाव (√बचना); लगाव (√लगना); घुमाव (√घूमना); बहाव (√बहना); छिड़काव (√छिड़कना)।
—आवा इसका गुरु-रूप है। उदाहरण—भुलावा (√भुलाना);

बुलावा (√बुलाना), पहिरावा (√पहिरना); बढ़ावा (√बढ़ाना सं० वर्धापक> वड्ढावअ<बढ़ावा)।

इस प्रत्यय की उत्पत्ति णिच् (प्रेरणार्थक)—आप्+अ+क से हुई है।

(२६)

—आवट्

§२१६. इससे भाववाचक-संज्ञापद निष्पन्न होते हैं—यथा, सजावट् (√सजना); लिखावट (√लिखना); रुकावट् (√रुकना); लगावट् (√लगना); मिलावट् (√मिलना); थकावट (√थकना); छिपावट (√छिपना); बनावट (√बनना)।

इसकी उत्पत्ति सं०—आप् +वृत्ति से है।

हिन्दी के प्रभाव से यह प्रत्यय भो० पु० आदि कुछ अन्य आ० भा० आ० भाषाओं में भी मिलता है।

(३०)

—आवना

§२२०. इससे विशेषण-पद सिद्ध होते हैं; यथा—

सुहावना (√सुहाना; सं०√शोभ्—प्रा०√सोह); लुभावना (√लुभाना); डरावना (√डराना)।

इसकी उत्पत्ति सं०—आप्+न्+आ (गुरु-रूप) से है।

(३१)

—आस्

§२२१. इस प्रत्यय से, क्रिया से, भाववाचक-संज्ञा बनती है; यथा—

ऊँघास् (ऊँघना) प्यास् (√पीना,) रुँआसा् (√रोना)।

हगास् (√हगना); मुतास (√मूतना)।

इसकी उत्पत्ति सं० आप+वश से है।

(३२)

—आहट्

§२२२. इस प्रत्यय से क्रिया-मूलक-विशेष्य-पद (भाव-वाचक) सिद्ध होते हैं; यथा खनखनाहट् (< खनखनाना);

गड़गड़ाहट् (√गड़गड़ाना); गुर्राहट् (√गुर्राना);

घबराहट् (√घबराना); चिल्लाहट (√चिल्लाना);

जगमगाहट (√जगमगाना); झनझनाहट (√झनझनाना;

भनभनाहट (√भनभनाना)

इसकी उत्पत्ति टर्नर ने प्रा० भा० आ० भाषा घा>हा,—आहा+आवट् से अनुमान की है।+

हिन्दी से यह प्रत्यय भो० पु० में-आहटि रूप में पहुँचा; यथा—चिल्लाहटि, घबराहटि, खनखनाहटि, इत्यादि।

(३३)

-- इन-आइन्

§२२३. इन प्रत्ययों से स्त्रीलिङ्ग-रूप बनते हैं। यथा—

बरेठिन (बरेठा);

पंडिताइन (पंडित)।

(३४)

—इया

§२२४. इस प्रत्यय से कर्तृवाचक-संज्ञापद, गुणवाचक-विशेषणपद, देशवासीवाचकपद, संज्ञाओं के लघु-रूप तथा कुछ वस्त्र-वाचक पद भी निष्पन्न होते हैं; यथा—

कर्तृवाचक—धुनिया (√धुनना), जड़िया (√जड़ना)

गुणवाचक विशेषण-बढ़िया (<प्रा०वड्ढिअ+(आ)०पा० वड्ढितो <सं० वर्धितः; √बढ़ना, सं०√वध<म० भा० आ० भा० वद्ध-वड्ढ,

घटिया (घटना, प्रा० घट्टइ)।

देशवासी-वाचक--कनौजिया ('कन्नौज' का); कलकतिया ('कलकत्ता' का)-भोजपुरिया ('भोजपुर' का)।

लघु-रूप--(डिबिया-डिब्बा), लुटिया (लोटा), चुटिया (चोटी),

—पुड़िया (पूड़ा), फुड़िया (फोड़ा)।

वस्त्रवाचक—अंगिया (अंग), जंघिया (जाँघ)।

इस प्रत्यय की उत्पत्ति सं० इक<म० भा० आ० भा० इअ+आ से है।

लघु-रूप बनाने वाले—इया<सं०—इका (स्त्री लिङ्ग प्रत्यय)।

गुणवाचक-विशेषण वाला—इया√सं० इत—।

+नै० डि० पृ० ३६।

(३५)

उआ—

§२२५. इस प्रत्यय से अनेक संज्ञा एवं विशेषण-पद सिद्ध होते हैं; यथा—

खरुआ (सं०√क्षारक-'क्षार'>'खार' से);

बन्धुआ 'बन्धा हुआ' (√बधना);

मॅडुआ (मण्डूक);

गेरुआ (गैरिक), टहलुआ।

यह प्रत्यय सं०-उक>प्रा० उअ का दीर्घ रूप है।

(३६)

—ऊ

§२२६. इस प्रत्यय से क्रियाओं से, कर्तृवाचक-संज्ञा पद तथा करणवाचक, संज्ञा से विशेषण तथा प्यार के रूप अथवा छोटी जातियों के नाम बनते हैं—

क्रिया से—

कर्तृवाचक—खाऊ (√खाना, सं०√खाद्+उक);

—रट्टू (√रटना), चालू (√चलना)।

करणवाचक—झाड़ू (झाड़ना)।

संज्ञा से—

विशेषण—ढालू (ढाल), पेटू (पेट), बाज़ारू (बाजार)।

प्यार का रूप—बच्चू (बच्चा), लल्लू (लल्ला)।

छोटी जातियों के नाम—कल्लू, झगड़ू आदि।

इसकी उत्पत्ति सं०—उक> भा० आ० भा० उअ से हुई है।

(३७)

ई—

§२२७. यह प्रत्यय आ० भा० आ० भाषा का सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रत्यय है। इससे क्रियाओं से, भाववाचक तथा करणवाचक संज्ञाएँ, संज्ञापदों से विशेषण, लघुता वाचक, व्यापारवाचक तथा भाववाचक-संज्ञाएँ और संख्यावाचक-विशेषणों से समुदायवाचक तथा भाववाचक-संज्ञाएँ बनती हैं; यथा—

क्रियाओं से—

(१) भाववाचक—हँसी (√हंसना); बोली (√बोलना), धमकी (√धमकाना)—भरी (√भरना), घुड़की (√घुड़कना)।

(२) कारणवाचक—रेती (√रेतना); चिमटी (√चिमटना); फांसी (√फांसना)।

संज्ञापदों से—

(३) विशेषण—भारी (भार), ऊनी (ऊन), देशी (देश); गुलाबी (गुलाब), मारवाड़ी (मारवाड़), बंगाली (बंगाल)।

(४) लघुत्व—टोकरी (टोकरा), रस्सी (रस्सा), डोरी (डोरा)।

(५) व्यापारवाचक—तेली, माली, धोबी।

(६) भाववाचक—गृहस्थी, बुद्धिमानी, सावधानी, गरीबी, नेकी, खेती

विशेषणों से—

(७) समुदायवाचक—बीसी (बीस), बत्तसी, पचीसी।

(८) भाववाचक—चोरी (चोर), डाक्टरी, दलाली, महाजनी।

इस प्रत्यय का सम्बन्ध सं०इक-इका से है; बाद में फारसी के विशेषणीय तथा सम्बन्धवाची—ई प्रत्यय ने भी इसे संपुष्ट किया है।

(३८)

—ईला

§२२८. इस प्रत्यय से विशेषण-पद सिद्ध होते हैं; यथा—

पथरीला (पत्थर); जोशीला (जोश, फा०);
रंगीला (रंग); छबीला (छवि);
पहिला; लजीला;
फुर्तीला; रसीला;
रेतीला; खर्चीली ('ख़र्च' अरबी);
सजीला; चमकीला (चमक);

इसकी उत्पत्ति सं०—इल—>प्रा० इल्ल+(आ) से है।

सं० 'इल' से विशेषण-पद निष्पन्न होते हैं; यथा—फेनिल ('फेन' से)। म० भा० आ० भा० में इस प्रत्यय के भूतकालिक-कृदन्तीय-विशेषण सिद्ध किये जाने लगे; यथा—अ० भा० आ० पुच्छिल्ल 'पूछा गया', प्रा० लोहिल्ल 'लुब्ध हुआ'।

रेतीला (रेत, सं० को० रेत्रम् 'सुगन्धित चूर्ण')

(३९)

—एला

§२२९. इस प्रत्यय से संज्ञा एवं विशेषण-पद सिद्ध होते हैं—यथा—

बघेला (बाघ);

अधेला (आधा);

अकेला (एक);

सौतेला (सौत)।

इसकी उत्पत्ति सं० स्वार्थे तथा विशेषणीय प्रत्यय—इल>प्रा० इल्ल> —एल (+आ) से है।

(४०)

—ऐल,—ऐला

§२३०. इससे गुणवाचक-विशेषण निष्पन्न होते हैं; यथा—

दँतैल (दांत);

खपरैल (खपरा);

दुधैल (दूध);

रखैल (रखना);

बनैला (बन)।

(४१)

—एल

§२३१. इससे संज्ञा एव विशेषण-पद सिद्ध होते हैं; यथा—

फुलेल (फूल);

नकेल (नाक)।

इसकी उत्पत्ति सं० —इल>प्रा० —इल्ल> —एल है।

(४२)

—एली

§२३२. इससे संज्ञा तथा विशेषण-पद सिद्ध होते हैं; यथा—

हथेली (हाथ)

इसकी उत्पत्ति भी सं० —इल>प्रा० —इल्ल> —एल (+ई) से है।

(४३)

—एरा

§२३३. इससे कर्तृवाचक, व्यापार सूचक तथा भाववाचक संज्ञा-पद निष्पन्न होते हैं; यथा—

कर्तृवाचक—

लुटेरा (√लूटना, सं० √लुण्ठ्>प्रा० √लुठ्—प्रा० √लुट्ट्—लुड्)।

ठठेरा (<*ठट्ठकर+, प्रा० ठटार–);
कसेरा (<सं० कर्म-कर–); चितेरा (<चित्रकर)।

भाववाचक—

बसेरा (सं० √वस>म० भा० आ० भा० √वस्)।
इसकी उत्पत्ति सं०––अ–कर–>–अ–अर>–एर (+आ) से है।

(४४)

–एरा

§२३४. इससे गुणवाचक विशेषण-पद निष्पन्न होते हैं; यथा—

घनेरा ('घना', सं० घनतरः);
बहुतेरा ('बहुत'<प्रा० बहुत्त–<सं० बहुत्व–);
अँधेरा (सं० अन्ध-तर–)।
इसकी उत्पत्ति सं०–अ–तर–>–अ–अर>–एर (+आ) से है।

(४५)

–एरा

§२३५ इससे संज्ञाओं के एवं सम्बन्ध-सूचक रूप सिद्ध होते हैं; यथा—

सम्बन्ध सूचक—

ममेरा; (मामा का पुत्र; यथा 'ममेरा भाई');
चचेरा; (चचा का पुत्र; यथा 'चचेरा भाई');
फुफेरा; (फूफा का पुत्र; यथा 'फुफेरा भाई')'

इसकी उत्पत्ति सं० कार्यक>केरअ–केर>एर–(+आ)।

(४६)

–क्, –अक्, –इक्, –उक्

§ २३६. इस प्रत्यय से, धातु से, संज्ञापद बनते हैं; यथा,

फाटक् (√फाड़ना, सं० स्फाटयति, प्रा० फड्डइ); अटक् (सं० आर्त-क प्रा० अट्ट-क, मि० बं० आटक्); बैठक् (√बैठना<म० भा० आ० भा० √बइट्ठ<सं० उप-विष्ट–); सड़क्, झलक्, फूँक् (सं०

---

*ट० ने० हि० पृ० २४६, पं० १३।

फूत्कार); जाँचक् (सं० याचक-), धड़क्, धमक्, चमक्, चौंक (<म० भा० आ० भा० चउक्क<सं० चतुष्क)।

म० भा० आ० भाषा में इस प्रत्यय का रूप—अक्क होगा; यथा, झलक्क: उवइट्ठक (हि० बैठक), इत्यादि। प्राकृत-वैयाकरणों के निर्देश का अनुगमन करने से प्रतीत होता है कि आ० भा० आ० भाषा के—अक् तथा म० भा० आ० भाषा के-अक्क का सम्बन्ध प्रा० भा० आ० भाषा के क्रिया-मूलक-विशेषण (Participle)-अं (न्) त+कृत (<√कृ) से है; यथा, हि० चमक्<म० भा० आ० चमक्क-चमक्कअ-चमक्किअ<सं० चमत्कृत।

जे० ब्लाख के अनुसार इसका कुछ संबंध संस्कृत-विशेषण तथा स्वार्थे -'क्य' से है। इसके अतिरिक्त ब्लाख ने द्रविड़-भाषाओं में अति प्रचलित -क्क्,-क् तथा -ग् प्रत्ययों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। द्रविड़-भाषाओं में धातु से क्रियामूलक-विशेष्य (Verbal Noun) बनाने में ये प्रत्यय सहायक होते हैं; यथा 'नड्' चलना>नडक्के, 'चलकर' √इरु; 'होना'> 'इरुक्के' 'होकर'।

ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी उत्पत्ति कृत तथा √कृ के अन्य रूपों से हुई है। इस पर संस्कृत के-अक प्रत्यय का भी प्रभाव प्रतीत होता है। यही—अक, म० भा० आ० भाषा -अक्क में परिणत हो गया है। सम्भव है कि म० भा० आ० भाषा काल में द्रविड़ भाषाओं के-क्क्, -क्, -ग् प्रत्यय भी उत्तर-भारत में प्रचलित रहे हों और प्रा० अक्क पर इनका प्रभाव पड़ा हो।

स्वर-संगति (Vowel Harmony) के कारण -'अक् का' -'इक्' एवं 'उक्' में भी परिवर्तन हो जाता है; -क् अथवा -अक् का -अका अथवा -का के रूप में विस्तार मिलता है। यह विशेषणीय तथा स्वार्थे-प्रत्यय है; यथा,

फट्का 'रूई धुनने का औज़ार'; भप्का 'अर्क खींचने का यंत्र' ('भाप' से); धच्का 'गाड़ी के चलने से धक्का'; छिल्का (√छीलना)।

-अकी (=-अक्+ई) से स्वार्थे-संज्ञाओं के लघुतावाचकरूप बनते हैं; यथा, बैठकी (बैठक); खिड़की; फिर्की; डुब्की।

-अक् का दीर्घ-रूप -आक् निम्न-शब्दों में मिलता है—तड़ाक्,फड़ाक, सटाक्, इत्यादि।

—क् प्रत्यय तथा इसके विविध-विस्तार सभी आ० भा० आ० भाषाओं में प्रचुर-संख्या में मिलते हैं; यथा,

हि० चमक, असा० समक्, बं० चमक्, उड़ि० चमक, भो० पु० चमक्, पं० चमक्, सि० चमक, गु० चमक्, मरा० चमक्

(४७)

-जा, -जी

§२३७—जा, -जी—इस प्रत्यय के योग से कुछ सम्बन्ध-वाचक शब्द बनते हैं; यथा,

भानजा (सं० भागिनेय-, पा० भागिनेय्यो, प्रा० भाइणेअ-भाइणेज्ज- भाइणिज्ज-);

भानजी (सं० भागिनेया);

भतीजा (सं० भ्रातृयः, प्रा० भत्तिज्ज);

भतीजी—(सं० भ्रातृया);

इस प्रत्यय की उत्पत्ति सं० 'जात' 'उत्पन्न' से है।

(४८)

§२३८. जा–इससे कुछ संज्ञा-पद बनते हैं; यथा,

खाजा (<प्रा० खज्जय-<सं० खाद्य-)।

इसकी उत्पत्ति सं० -य>ज (+आ)

(४९)

—ट

§ २३९. आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में यह प्रत्यय विविध विस्तार-युक्त रूपों में मिलता है तथा किसीप्रकार के सादृश्य, सम्बन्ध अथवा प्रकृत-शब्द में विकार का बोध कराता है तथा व्यवसाय या स्वभाव का अर्थ भी प्रकट करता है, परन्तु अधिकांश में यह प्रत्यय स्वार्थे प्रयुक्त होता है।

इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० वर्त ($\sqrt{}$वृत्)> म० भा० आ० भा० वट्ट से मानी गई है। इसके विविध-विस्तारों पर नीचे विचार किया जाता है—

—ट् (ट) <म० भा० आ० भा० वट्ट < सं० वर्त।

इसके योग से भाववाचक अथवा सरूप-वस्तु बोधक (concrete) संज्ञाएँ बनती हैं; यथा—झपट् (सं० झम्प्); प्रा०$\sqrt{}$झम्प्; दपट्); लपट् 'डाँट-डपट्' में (बं० दापट); लपट; उचाट्।

—टा (= —ट् + आ) — इसके योग से संज्ञा एवं विशेषण-पद सिद्ध होते हैं; यथा — झप्टा (√झपट्ना), चिम्टा, चिप्टा-चप्टा + (√चिप् — दबाना, फैलाना, म० भा० आ० भा० चिविट्अ' सं० चिपिटक।

— टी (= — ट + ई (स्त्रीलिंग-प्रत्यय) — यथा — चिम्टी, चिप्टी-चप्टी

— ट् — कुछ शब्दों में यह प्रत्यय सं० 'पट्ट' शब्द का प्रतिरूप है; यथा — लँगोट् (सं० लिंग, * लंग-पट्ट)।

— टी (= — ट + ई (स्त्री-प्रत्यय — यह ऊपर के प्रत्यय का लघुता-वाचक रूप है; यथा — लँगोटी (* सं० लङ्ग + पट्टिका)

(५०)

§२४०. — ड़ — ड़ा — यह प्रत्यय आ० भा० आ० भाषाओं में स्वभाव, व्यापार तथा सम्बन्ध प्रकट करता है; यथा —

खिलवाड़ ('खेल'), गंजड़-भंगड़, भंगेड़ी, गँजेड़ी इत्यादि।

— ड़ की उत्पत्ति सं० √वृत् से प्रतीत होता है। 'वृता' शब्द ऋग्वेद में मिलता है और यह कार्य, परिश्रम तथा गति का बोधक है। प्राकृत में इससे वट > वड्ड > वड़ शब्द बनते हैं। सं — इक > ई के विस्तार से — ड़ी (— ड़ + ई) प्रत्यय बनेगा; यथा—

अगाड़ी (< सं० अग्र-वाट); पिछाड़ी, इत्यादि।

(५१)

— ड़ा

§२४१. — संस्कृत तथा प्राकृत — 'वाट' ('बाड़ा, घेरा' से इसकी उत्पत्ति हुई है। यह वट < सं० वृत (√वृ) से आया है। यथा—

अखाड़ा (सं० अक्ष-वाट, म० भा० आ० * अक्खवाड़ > अक्खाड)।

(५२)

— ड़, — ड़ा, — ड़ी

§२४२. — ड़, — ड़ा, — ड़ी — यह स्वार्थे प्रत्यय है। इसकी उत्पत्ति प्राकृत — ड — से हुई है। म० भा० आ० भाषाओं में इसका प्रचुर प्रयोग मिलता है; यथा—

बच्छ-ड़ (सं० वत्स), दिअह-डा (सं० दिवस), गोर-डी (सं० गौरी

+ बैं० लैं: पृ० ६८५ §४३६।

हि॰ गोरी)। हेमचन्द्र के उदाहरणों में इस प्रत्यय का खूब प्रयोग मिलता है; यथा—

'जे महुँ दिण्णा दिअहडा' (जो मुझको दिए दिन),

'हिअइ खुडुक्कइ गोरडी' (हिए में खुटकती है गोरी)।

इसीप्रकार दुक्ख-डा (हि॰ दुखड़ा) इत्यादि है। जान पड़ता है कि म॰ भा॰ आ॰ भाषा-काल में यह प्रत्यय उत्तर-भारत की बोलियों में बहुत प्रचलित था। आ॰ भा॰ आ॰ भाषाओं में — ड़ < — ड से बने अनेक संज्ञापद प्रचलित हैं, किन्तु राजस्थानी में यह विशेषरूप से प्रयुक्त हुआ है।

म॰ भा॰ आ॰ भा॰—ड की उत्पत्ति प्रा॰ भा॰ आ॰ भा॰ अथवा प्राकृत—ट (या 'र्', 'ऋ' से सम्पृक्त अथवा असम्पृक्त—न्) से हुई है।—ट प्रत्यय से बने अनेक शब्द संस्कृत में मिलते हैं, किन्तु ये प्रायः बाद की संस्कृत के हैं। हाँ, 'मर्कट' शब्द अवश्य बौद्ध-युग से पूर्व का है (भाषा-विज्ञानी इसकी उत्पत्ति द्रविड़-भाषा से मानते हैं)। इसीप्रकार पर्कट। कुक्कुट लकुट आदि शब्द भी संस्कृत में वर्तमान हैं। वैदिक-भाषा में-ट प्रत्यय का अभाव है। अनार्य-भाषाओं (द्रविड़, कोल आदि) का भी इस पर प्रभाव विदित नहीं होता, क्योंकि वहाँ भी यह प्रत्यय नहीं है। ऐसी अवस्था में इस अत्यधिक प्रचलित प्रत्यय की उत्पत्ति संस्कृत से ही माननी पड़ेगी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस — ड < — ट की उत्पत्ति सं॰ — त से हुई है। — त कर्मवाच्य — कृदन्तीय (Passive Participle) प्रत्यय है जो तद्धित-प्रत्यय के रूप में, संज्ञा तथा विशेषण-पदों में, लगता है; यथा — एक — त, द्वि- त, त्रि- त, मुहू — र्त, रज-त, पर्व- त इत्यादि। स्वतः मूर्धन्यीकरण (Spontaneous Nasalization) के वश सम्भवतः बोलचाल की भाषा में यह — त, — ट में परिणत हो गया होगा। इसप्रकार सं॰ विभीतक>* विभी — ट — क> प्रा॰ बहेडअ>आ॰ भा॰ आ॰ भाषा बहेड़ा; सं॰ आम्रा — त—क>* आम्रा — ट — क>प्रा॰ अम्बाडअ>आ॰ भा॰ आ॰ भा॰ आमड़ा* शृङ्गातक>सं॰ प्रा॰ शृङ्गा-ट-क>सिंगाड़ा।

ऐसा जान पड़ता है कि कथ्य-आर्यभाषा में — त> — ट> — ड प्रत्यय सदैव लोकप्रिय रहे और समय की प्रगति से जब संस्कृत — प्रत्ययों में ध्वन्यात्मक

ह्विटनी 'संस्कृत ग्रामर' §११७६ तथा §१२४९, मैकडोनेल, वैदिक-ग्रामर' §२०३।

परिवर्तन होने लगा तब आगे चलकर ड- प्रत्यय बहु प्रचलित हो गया। प्राकृत तथा अपभ्रंश-काल में-ड को-ट में परिणत कर संस्कृतरूप देना भी, इस प्रत्यय की लोक-प्रियता का परिचायक है।

हिंदी में-ड़-ड़ा,-ड़ी के उदाहरण--

अंधड़ 'आँधी', चमड़ा (सं० चर्म-), झगड़ा, मुखड़ा (मुख)।
दुःखड़ा (दुःख), बछड़ा (वत्स), टुकड़ा (टूक); लँगड़ा, चिउड़ा (सं० चिपिटक<प्रा० चिविड़अ 'कुटा हुआ, फैला हुआ'); पँखड़ी (पँख), टँगड़ी (टाँग), अँतड़ी (आँत)।

(५३)

§२४३. —ता

—ता—इससे भाववाचक-संज्ञाएँ बनती हैं; यथा- ममता (सं० ममत्व); समता आदि।

इसक उत्पत्ति सं- त्व से है।

(५४)

त

§ २४४. त—इस प्रत्यय से भाववाचक-संज्ञा-पद बनते हैं; यथा--

चाहत (चाह), रंगत (रंग), मिल्लत (मिल), हजामत (हज्जाम), इत्यादि।

इसकी उत्पत्ति सं० त्व >म० भा० आ० भा०—त्त से हुई है। बाद में अरबी-फारसी प्रत्यत—त ने भी इसको संपुष्ट किया।

(५५)

ता

§२४५—ता—इससे संज्ञा-शब्द में विकार का बोध होता है; यथा—

रायता ('राई का बना' सं० राजिक [—अन्त])।

इसको उत्पत्ति सं०—अन्त से हुई है।

(५६)

ता,—ती

—ता,—ती—इसके योग से धातुओं के वर्तमानकालिक-कृदन्त रूप बनते हैं; यथा देखता-देखती (√देखना), जाता-जाती (√ जाना)।

—ता उत्पत्ति सं०—अत् से है तथा—ती इसका स्त्री-लिङ्ग का रूप है—(अत्+ई)।

(५७)

था, –थी

§२४६. था,–थी—यह प्रत्यय संख्यावाचक 'चार' के साथ क्रम-वाचक अर्थ प्रकट करता है; यथा—

'चौथा (सं० चतुर्थ->म० भा० आ० चउत्थ) । इसकी उत्पत्ति सं० –थ (+आ) से है ।

—यही संस्कृत प्रत्यय 'षष्' (हि० छै०) के साथ लगने पर—ठ हो जाता है और हिंदी में इसका विस्तार कर ठा बना लिया जाता है; यथा—

छठा (सं० षष्ठ->म० भा० आ० छट्ठ—।

—थी, –ठी, इस प्रत्यय के स्त्रीलिङ्ग रूप है, चौथी, छठी ।

(५८)

§ २४७. —नी, –इनी, –अन्

–नी, –इनी, –अन्—ये स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय हैं और सभी आ० भा० आ० भाषाओं में मिलते हैं । इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में डा० चाटुर्ज्या ने बैं० लै० §४४५ में पूर्णतया विचार किया है । देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि ये संस्कृत -नी-तथा-आनी प्रत्ययों के अवशिष्ट हैं; किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है । व्यावहारिकरूप में -नी,-आनी प्रत्ययों से निष्पन्न कोई भी शब्द आधुनिक भारतीय-आर्य-भाषाओं में नहीं आए हैं । सं० सपत्नी शब्द हिंदी आदि आ०भा० आ० भाषाओं में 'सौत' बन गया है । इसीप्रकार ध्वनि-परिवर्तन के कारण प्रा० भा० आ० भा० के ये स्त्री-प्रत्यय आ० भा० आ० भाषाओं में अनुभव नहीं होते ।

वास्तव में संस्कृत का गुणवाची-प्रत्यय-इन, जिसका स्त्रीलिङ्ग कर्ताकारक एकवचन का रूप-इनी हो जाता है, आ० भा० आ० भाषाओं में अनेक स्त्रीलिङ्ग-प्रत्ययों का मूल है । आगे चलकर लोग इस बात को भूल गए कि यह स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय है और पुल्लिङ्ग संज्ञापदों के साथ भी इसका प्रयोग होने लगा । जब यह अकारान्त पुल्लिङ्ग-संज्ञापदों के साथ-साथ प्रयुक्त होने लगा तब-इ-का लोप हो गया और वह -अ-नी में परिवर्तित हो गया । इसप्रकार आ० भा० आ० भाषाओं में- इनी,-अनी इत्यादि प्रत्यय अस्तित्व में आए, किन्तु-ई की अपेक्षा इनका प्रयोग कम ही हुआ है ।

(५९)

—पन्

§ २४८ पन् इस प्रत्यय के योग से अवस्था-सूचक भाववाचक संज्ञाएँ

बनती हैं; यथा—बचपन् (बच्चा); पागलपन् ('पागल्'); बड़प्पन् ('बड़ा'); छुटपन् ('छोटा'); कालापन ('काला'); लड़कपन् ('लड़का'), इत्यादि ।

इस प्रत्यय की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भाषा—त्वन से है ।—त्वन प्रत्यय से निष्पन्न शब्द, वैदिक-भाषा में और मुख्यतः ऋग्वेद-संहिता में मिलते हैं और भाववाचक नपुंसकलिङ्ग हैं; यथा—मर्त्यत्वन (मर्त्यत्व); महित्वन (महत्व); सखित्वन (मित्रत्व); इत्यादि ।—त्वन से बने शब्दों के—त्व प्रत्यययुक्त रूप भी मिलते हैं । अतः—त्व एवं—त्वन समान प्रत्यय थे । म० भा० आ० भाषा-काल में त्व>प्प से आ० भा० आ० भाषा का-पन् प्रत्यय अस्तित्व में आया है । म० भा० आ० भाषा-काल के प्रथम-पर्व में त्व>-प्प दक्षिण-पश्चिम-प्रदेश में प्रारम्भ हुआ और वहाँ से यह प्रवृत्ति सर्वत्र फैली ।

(६०)

पा

§२४६. पा-इस प्रत्यय से भी अवस्था सूचक भाववाचकसंज्ञाएं बनती हैं; यथा-बुढ़ापा (म० भा० आ० भा० बुड्ढप्प<सं० वृद्धत्व); मुटापा—(मोटापन), अपनापा (अपनापन), इत्यादि ।

इस प्रत्यय की उत्पत्ति भी प्रा० भा० आ० भा० त्व>म० भा० आ० भा० प्प से है ।

(६१)

री,—रू

§२५०. री,-रू—आ० भा० आ० भा० में य- प्रत्यय स्वार्थेरूप में प्रयुक्त होते हैं । पूर्वी-भाषाओं में – रू के अधिक उदाहरण मिलते हैं, अन्यत्र री के; यथा—

कोठरी (कोठा<म० भा० आ० कोट्ठ< सं० कोष्ठ); गठरी (गाँठ); छतरी (छाता), इत्यादि ।

गोरू * (गो-रूप), गभरू (सं० * गर्भ-रूप), इत्यादि ।

इनकी उत्पत्ति सं० रूप शब्द से मानी गई है ।

(६२)

ला,—ली

§२५१. ला, ली—'ला' प्रत्यय से गुणवाचक-विशेषण-पद बनते हैं; यथा-अगला (<अप० अग्गलउ<सं० अग्र-ल); मँझला ('माँझ'< म० भा० आ० मज्झ<सं० मध्य+ल (-आ); धुँधला ('धुंधु'< सं० धूम + अन्ध), इत्यादि ।

'ला' प्रत्यय संस्कृत के विशेषण-प्रत्यय 'ल' का विस्तार है। ली-ल+स्त्री-प्रत्यय 'ई'—इससे कुछ शब्दों के लघु-रूप बनते हैं; यथा—खुजली ('खाज' से); टिकली ('टीका' से); डफली ('डफ, से)।

(६३)

–ल्

§२५२. –ल्–इस प्रत्यय से कुछ संज्ञा एवं विशेषण-पद बनते हैं; यथा—

घायल ('घाव-युक्त'); पायल ('पाँव का आभूषण) इसका सम्बन्ध सं० –ल प्रत्यय से है।

(६४)

–वाँ

§२५३. –वाँ—इस प्रत्यय से कुछ विशेषण-पद सिद्ध होते हैं; यथा—

कटवाँ (√काटना), चुनवाँ (√चुनना), ढलवाँ (√ढालना)।

इसका सम्बन्ध सं० –व (न्) त प्रत्यय से विहित होता है।

(६५)

–वाँ

§२५४. –वाँ—इससे क्रमवाची-संख्याएँ बनती हैं; यथा—

पाँच्वाँ (पाँच्<सं० पञ्च+[म–]); छट्वाँ ('छै'<सं० षट्); सातवाँ (सात्<सत्त<सप्त-[म]; आठवाँ ('आठ्'<अट्ठ<अष्ट-[म-])।

इसकी व्युत्पत्ति सं० म>म० भा० आ० –वँ> –वँ+आ है।

(६६)

–वाल्

§२५५. –वाल—यह प्रत्यय कुछ जाति-बोधक शब्दों में मिलता है, जिनका नामकरण किसी स्थान के नाम पर हुआ है; यथा—

प्रयागवाल्, गयावाल्, काशीवाल् पल्ली (पाली) वाल् इत्यादि।

इसकी उत्पत्ति सं० 'पाल' (रक्षक) शब्द से बताई जाती है। कोतवाल (=कोट्ट-पाल) शब्द भी इसीप्रकार का जान पड़ता है, परन्तु यह शब्द भारतीय-भाषाओं में फ़ारसी से आया है।

(६७)

वाला

§ २५६. वाला इस प्रत्यय से कुछ संज्ञापद बनते हैं; यथा—

गाड़ीवाला, टोपीवाला, हाथीवाला, पहरावाला, इत्यादि।

इसकी उत्पत्ति सं० पाल-क—से हुई है।

(६८)

स्

§ २५७. स यह प्रत्यय समानता तथा सरूपतावाची है। हार्नले ने इसकी उत्पत्ति 'सदृश' शब्द से बतलाई है (गौडियन ग्रामर §२६२), किन्तु डा० चाटुर्ज्या ने इसकी व्युत्पत्ति श से मानी है जो प्रा० भा० आ० भा० लोम-श ('लोम-युक्त') कपि-श ('कपि सदृश वर्ण वाला), युव-श ('युवक-सदृश) आदि शब्दों में वर्त्तमान है (बें० लैं० §४५०)। हिन्दी में इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं—

आपस् (*सं० आत्म-श); घमस् (*घर्म-श); उमस् (ऊष्म-श)।

(६९)

सर, सरा

§ २५८. सरा इससे कुछ संख्याओं के क्रमवाचक रूप बनते हैं; यथा—

दूसरा ('दो'), तीसरा ('तीन')।

हार्नल ने इसकी उत्पत्ति भूतकालिक-कर्मवाच्य-कृदन्तीय 'सृतः' से की है (गौ० ग्रा० §३७१), किन्तु डा० चाटुर्ज्या के अनुसार इसकी उत्पत्ति सं० सर <√सृ 'रेंगना' से हुई है।

(७०)

हर्

§ २५९. हर्—इस प्रत्यय से कुछ स्थानवाचक संज्ञापद सिद्ध होते हैं; यथा—

खँडहर; नैहर, पीहर, इत्यादि।

इसकी उत्पत्ति प्रा० ह+सं० र (यथा, मधु-र) से जान पड़ती है।

(७१)

हरा

§ २६०. हरा—इससे गुणवाचक विशेषण-पद सिद्ध होते हैं; यथा—

इकहरा ('एक' से), दुहरा ('दो' से), तिहरा, चौहरा,

सुनहरा ('सोना' से), रूपहरा ('रूपा' <सं० रूप्य) इत्यादि।

इसकी उत्पत्ति सं० हार 'विभाग' से बतलाई जाती है।

(७२)

हारा

§ २६१. हारा

इस प्रत्यय से कर्तृवाचक-संज्ञा-पद सिद्ध होते हैं; यथा,

लकड़हारा; पनहारा इत्यादि

इसकी उत्पत्ति सं० हारक 'ले जाने वाला'>हारअ>हार-हारा से हुई है।

विदेशी-प्रत्यय

(१)

आना

§ २६२ इस प्रत्यय की उत्पत्ति फा० आनः से हुई है। इससे निम्न-लिखित-शब्द बनते हैं—

'बबुआना' 'बड़े लोगों का सा'; घराना 'वंश, ख़ान्दान' ('घर' से), जुर्माना, नजराना 'भेंट', सालाना 'वार्षिक' ('साल' से)।

(२)

खाना

§ २६३. यह स्थानवाची-प्रत्यय है। इसकी उत्पत्ति फा० ख़ानः से हुई है। इससे ये शब्द बनते हैं—

छापाखाना 'प्रेस'; दवाखाना 'औषधालय'; डाक्खाना।

(३)

ख़ोर्

§ २६४. इस प्रत्यय की उत्पत्ति फा०—ख़ोर से हुई है, जिसका अर्थ है 'खाने वाला'। इससे निम्न-प्रकार के शब्द बनते हैं—

घुस्ख़ोर्-घूसखोर् 'घूस खाने वाला'; हरामख़ोर्;

चुगुलखोर् 'चुगली करने वाला'; गमख़ोर् 'क्षमाशील'।

(४)

गर्

§ २६५. इस प्रत्यय की उत्पत्ति फा० गर् से हुई है। यह व्यवसाय-सूचक प्रत्यय है; यथा—

कारीगर; जादूगर; सौदागर; कलईगर, इत्यादि।

(५)

गिरी

§२६६. इस प्रत्यय का मूल फा०—गरी है; यथा—बाबूगिरी, कुलीगिरी।

(६)

—चा

§२६७. इस प्रत्यय का मूल तुर्की—चा है और आ० भा० आ० भाषाओं में यह फारसी से होते हुए आया है; यथा—
बगीचा, गलीचा 'कालीन', चम्चा, डेग्चा-देग्चा।

(७)

—ची

§२६८. यह प्रत्यय भी मूलतः तुर्की का है और फारसी से होते हुए आ० भा० आ० भा० में आया है। तुर्की में इसके जी-ची रूप होते हैं और फारसी में केवल—चो। हिन्दी में इसके उदाहरण हैं—
तबल्-चो 'तबला बजाने वाला', मसाल्-ची 'मशाल दिखाने वाला।

(८)

दान-दानी

§२६९. इस प्रत्यय का मूल फा०—दान या-दानी है। यथा—
कलम्दान्, उगलदान, पीकदान्, धूपदानी।

(९)

दार्

§२७०. इस प्रत्यय का मूल फा० दार्* है। इसके उदाहरण ये हैं—
ईमान्दार्, इज्ज़तदार्, दुकान्दार्, चौकीदार्, जमींदार्, समझ्दार।

(१०)

—नवीस्

§२७१. इसका मूल फा० 'नवीस्' है; जिसका अर्थ है 'लेखक'; यथा—
नकल्नवीस् 'नकल लिखने वाला', अर्जीनवीस् अर्जी लिखने वाला, इत्यादि।

(११)

बन्द-बन्दी

§२७२. इस प्रत्यय का मूल फा०-बन्द् है; यथा

चक्बन्दी 'खेतों को एक चक् में लाना'; 'हद्बन्दी' 'सीमा बाँधना'; कमरबन्द 'कमर बाँधने की पेटी'; बिस्तरबन्द 'बिस्तर बाँधने की रस्सी।

(१२)

बाज्

§२७३. इस प्रत्यय का मूल फा० बाज् है जिसका अर्थ है 'करने वाला' इसके उदाहरण ये हैं—

धोखाबाज, दगाबाज, मुकद्माबाज् कबूतरबाज्, नकल्बाज्। इसमें ई प्रत्यय जोड़कर भाववाचक-संज्ञाएँ बनती हैं; यथा, धोखाबाजी जुआबाजी, नकल्बाजी, इत्यादि।

(१३)

वान्

§२७४. इस प्रत्यय का मूल फा० वान् है। इससे कर्तृवाचक संज्ञाएँ बनती हैं; यथा

कोच्वान्, दरवान्, गाड़ीवान्, इक्कावान्।

(ख) (i) उपसर्ग—स्वदेशी

§ २७५. हिन्दी में थोड़े से तद्भव एवं तत्सम उपसर्गों का व्यवहार होता है। यहाँ ये दिए जाते हैं—

(१)

अ–, अन्–

§ २७६. ये संस्कृत के तत्सम उपसर्ग हैं और अभाव सूचित करने के लिए प्रयुक्त होते हैं; यथा–अबोध, अजान्, अबेर, अन्–गिनत् अन्मोल।

(२)

अति–

§२७७. यह भी संस्कृत-तत्सम उपसर्ग है। उदाहरण ये हैं—

अति-काल 'देर', अति-अन्त, अति अधिक।

(३)

अव्—

§२७८. सं० अव्, हिन्दी के अवगुन् इत्यादि शब्दों में मिलता है।

(४)

कु—

§२७९. यह भी संस्कृत तत्सम उपसर्ग है। उदाहरण ये हैं—

कुचाल,कुचैला, कुनजर, कुकाठ्, (लकड़ी)।

(५)

दु—, दुर्

§२८०. संस्कृत दुर्>हि० दु—, यथा, दुबला<सं० दुर्बल-, दुलार, इत्यादि। तत्सम-शब्दों में दुर् रूप मिलता है; यथा—दुर्बुद्धि।

(६)

नि—

§२८१. सं० निर्>हि० नि—, यथा—निरोग, निहंग, निधड़क्। तत्सम-शब्दों में निर् मिलता है; यथा-निर्दय, निर्बल्।

(७)

सु—,स—

§२८२. सं० सु हिन्दी में सु तथा स, दोनों, रूपों में मिलता है; यथा-सुफल, सुजान, सपूत्।

(ii) उपसर्ग—विदेशी

(१)

कम्—

§२८३. इसका मूल फारसी कम-है; यथा—

कमजोर, कम्-उमर्, कम-असल।

(२)

खुस्—

§२८४. इसका मूल फारसी खुश—है। यथा—

खुसामद, खुस्बू, खुस्दिल्।

(३)

गैर—

§२८५. इसका मूल फारसी ग़ैर- है; यथा—

गैर-आबाद, गैर-हाज़िर, गैर्-जगह् ।

(४)

दर्-

§२८६. इसका मूल फारसी दर- 'भीतर है; यथा-

दर्बार्, दर्कार्, दर्-असल् ।

(५)

ना

§२८७. इसका मूल फारसी ना- है; यथा—

नाबालिग, नालायक, नापसन्द ।

(६)

ला

§२८८. इसका मूल फारसी ला- है; यथा—

लापता, लावारिस्, लाचार् ।

(७)

फी-

§२८९. इसका मूल फारसी-अरबी फी० 'प्रत्येक' है । उदाहरण यह है—

फी-मकान, फी-आदमी, फी- रुपया ।

(८)

बद्

§२९०. इसका मूल फारसी बद्- 'बुरा' है; यथा—

बद्नाम्, बद्चलन्, बद्ज़ात् ।

(९)

बे

§२९१. इसका मूल फारसी बे- 'बिना' है; यथा—

बेधड़क्, बेचैन, बेजान् ।

(१०)

हर्

§२६२. इसका मूल फारसी हर्- 'प्रत्येक' है; यथा—

हर-रोज, हरबार, हर घड़ी।

§२६३. अंग्रेजी के हेड-(Head), हाफ्-(Half) तथा सब्- (Sub) उपसर्ग भी कई शब्दों में मिलते हैं; यथा—

हेड्पंडित, हाफ्-कमीज, सब-डिप्टी।

नवाँ अध्याय

संज्ञा के रूप

§२६४. प्राचीन-भारतीय-आर्य भाषा में संज्ञा-रूपों की दुरूहता एवं विविधता म० भा० आ० भाषा एवं संक्रान्ति-काल में किस प्रकार समाप्त होती गई, इसका परिचय पिछले अध्यायों में दिया जा चुका है। आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं का उदय सरलीकरण एवं एकरूपता की प्रवृत्तियों के परिणाम-स्वरूप हुआ। अतः प्रा० भा० आ० के शब्द-रूपों की जटिल पद्धति से मुक्त आ० भा० आ० भाषाओं ने भिन्न-भिन्न लिङ्ग वचन एवं कारक-रूपों को प्रकट करने के लिए, अपभ्रंश-काल से प्रचलित नवीन-प्रणाली का विकास किया। नीचे संज्ञा-रूपों के विभिन्न-तत्वों पर विस्तार से विचार किया जाता है।

प्रातिपदिक

§२६५. म० भा० आ० भाषा-काल के अंत तक व्यञ्जनान्त-प्रातिपदिक समाप्त हो गए थे और भाषा में केवल स्वरांत-प्रातिपदिक ही रह गए थे। संक्रान्ति-काल में भी यही स्थिति रही। परन्तु आ० भा० आ० भाषाओं में पदान्त ह्रस्व-स्वरों के लोप की प्रवृत्ति चल पड़ी। इससे पुनः व्यञ्जनान्त-प्रातिपदिक दिखाई देने लगे। हिन्दी में प्रातिपदिक स्वरांत भी हैं और व्यञ्जनान्त भी। अन्त्य-स्वर अधिकतर निम्न-लिखित मिलते हैं—

आ—लड़का, घोड़ा, कपड़ा, राजा, प्रजा, इत्यादि।

इ—विधि, मुक्ति, शक्ति इत्यादि। इकारान्त तत्सम-शब्द ही मिलते हैं।

ई—लड़की, रानी, कहानी, माली, दही, काई, कसाई।

उ—भानु, बाहु, इत्यादि तत्सम-शब्दों में।

ऊ—आलू, भालू, बालू, चाकू, डाकू, इत्यादि।

ए—चौबे, दुबे, पाँडे, इत्यादि

अन्त्य-व्यञ्जन साधारणतः निम्नलिखित हैं—

क्—नाक्, चाबुक्, चमक्, इत्यादि।

ख्—राख्, पंख्, बैसाख् अदरख्, आँख्, ईख्—ऊख्।

ग्—साग्, मूँग्, रोग्, आग्, उमंग्, काग्।

घ्—बाघ्, जाँघ्, ऊँघ् ।
च्—आँच्, नाच् ।
छ्—छाँछ् ।
ज्—राज्, अनाज्, जहाज् ।
झ्—साँझ्; बाँझ ।
ट्—नट्, घाट्, भाट्, पेट्, अखरोट्, अमावट्, ईंट्, ऊँट् ।
ठ्—ओंठ्, काठ्, सेठ् ।
ड्—साँड्, राँड् ।
ढ्—
ड़्—अन्धड़्, पतझड़् कूबड़् ।
ढ़्—डेढ़्, असाढ़्, कोढ़्, बाढ़ ।
त्—आदत्, खेत्, रेत्, आँत्, आढ़त्, कहावत्, महावत् ।
थ्—हाथ्, साथ ।
द्—स्वाद्, नाँद् ।
ध्—काँध्, बाँध्, सोंध् (सं० सुगन्ध) ।
न्—कान्, आँगन्, उबटन्, छाजन् ।
न्ह—कान्ह् ।
प्—साँप्, नाप्, छाप् ।
फ्—बरफ्, सौंफ् ।
ब्—अरब्, खरब्, गरब् ।
भ्—लाभ्, लोभ्, गरभ् ।
म्—काम्, नाम्, आम्, बादाम् ।
र्—हार्; खुर्, अंगार्, अगर्, अमचुर्, कंकर्, कहार ।
ल्—बेल्, मेल्, छाल्, आँचल्, ओखल् कुदाल्, कोंपल् ।
व्—नाव्, घाव्, बचाव्, आँव् ।
स्—बाँस्, साँस्, आलस् आस्, ओस्, उसास् ।
ह—राह्, छाँह्, बाँह्, उछाह्, कलह् ।

लिङ्ग—

§२९६. प्रकृति में वस्तुतः पुरुष, स्त्री, तथा नपुंसक ये तीन वर्ग मिलते हैं । अनेक भाषाओं में प्राकृतिक-अवस्था का अनुसरण कर नामवाचक-शब्दों को इन्हीं तीन वर्गों अथवा श्रेणियों में विभक्त किया जाता है, तथा पुरुष जातीय

वस्तुवाचक शब्दों को पुल्लिङ्ग, स्त्रीजातीय वस्तुवाचक शब्दों को स्त्रीलिङ्ग, तथा नपुंसकजातीय-वस्तुवाचक शब्दों को नपुंसकलिङ्ग से अभिहित किया जाता है। अनेक भाषाओं में विशेष प्रत्ययों तथा विभक्तियों द्वारा नाम-शब्दों का लिङ्ग-पार्थक्य प्रदर्शित किया जाता है।

प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा (संस्कृत) में प्रत्ययों के आधार पर लिङ्ग-विधान किया गया था। म० भा० आ० भाषाओं तक में लिङ्ग-विधान प्राकृतिक-अवस्था का द्योतक न होकर व्याकरणिक ही रहा। परन्तु शब्द-रूपों में एकरूपता लाने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप अपभ्रंश में भी नपुंसकलिङ्ग लुप्त-प्राय हो चला था। नपुंसकलिङ्ग-शब्दों के रूप पुंलिङ्ग-शब्दों के समान बनने लगे, जिससे नपुंसकलिङ्ग का पुंलिङ्ग से पार्थक्य मिट-सा गया। हिंदी में नपुंसकलिङ्ग सर्वथा समाप्त हो गया। आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में से मराठी, गुजराती में ही नपुंसकलिङ्ग बच रहा है।। हिंदी में लिङ्ग के केवल दो ही भेद रह गए, पुंलिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग और यह लिङ्ग-भेद भी व्याकरणिक ही है।

यद्यपि हिंदी में नपुंसकलिङ्ग नहीं है, परन्तु प्रकृत्यनुसारी पुंलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग का थोड़ा-सा भेद कर्मकारक के परसर्ग 'को' प्रयोग में अवश्य दिखाई देता है। साधारणतया कर्मकारक के परसर्ग 'को' का अप्राणिवाचक शब्दों के साथ प्रयोग नहीं किया जाता। हिंदी के वाग्व्यवहार के अनुसार 'धोबी को बुलाओ', 'गाय को खोल दो', तो कहते हैं, परन्तु 'कपड़ों को लाओ', 'घास को काटो' न कहकर 'कपड़े लाओ' 'घास काटो' ही कहा जाता है।

पुलिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग तद्भव-शब्दों का लिङ्ग, हिंदी में साधारणतया वही है जो संस्कृत या प्राकृत-अपभ्रंश में है। परन्तु प्रा० भा० आ० भाषा के प्रत्यय हिंदी तक आते-आते इतने घिस गये हैं कि उनके मूल-रूप को पहिचान लेना जन-साधारण के लिये दुष्कर-कार्य है। अतः अहिंदी प्रदेश के लोगों को हिंदी-शब्दों का लिङ्ग-निर्णय करने में बहुत अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है और जन-साधारण की यह धारणा हो गई है कि हिंदी का लिङ्ग-विधान सर्वथा अनियमित है। परन्तु भा० आ० भाषा के विकास-क्रम को ध्यान में रखने पर हिंदी-के लिङ्ग-विधान की सरलतया व्याख्या की जा सकती है।

हिंदी में नपुंसक-लिङ्ग का लोप हो जाने के कारण प्रा० भा० आ० भा० के नपुंसक-लिङ्ग शब्द पुलिङ्ग अथवा स्त्रीलिङ्ग में अन्तर्भूत हो गए हैं। इसके कारण भी हिंदी-शब्दों का लिङ्ग-विधान बहुत कुछ दुर्बोध हो गया है। इसके अतिरिक्त हिंदी में प्रा० भा० आ० भा० से गृहीत अनेक शब्दों का लिङ्ग, संस्कृत

से भिन्न है; यथा—सं० 'अग्नि' पुलिङ्ग है, किन्तु हिन्दी में इसका तद्भव-रूप 'आग्' स्त्रीलिङ्ग है। सं० 'देवता' शब्द स्त्रीलिङ्ग है, परन्तु यही शब्द हिंदी में पुलिङ्ग है। इस लिङ्ग-व्यत्यय का कारण है एकरूपता की प्रवृत्ति और हिंदी के अन्य शब्दों के साथ सादृय।

स्त्री-प्रत्यय

§२६७. हिन्दी में मुख्यतः निम्नलिखित स्त्री-प्रत्ययों का व्यवहार होता है—
–ई, –इया (२) –इन्, –नी, (३)—आनी। नीचे इन पर विचार किया जाता है।

(१) –ई, –इया—स्त्रीलिङ्ग-रूप बनाने के लिए इन प्रत्ययों का सर्वाधिक व्यवहार होता है। मूलतः वस्तुओं के लघु-रूप प्रकट करने के लिये इन प्रत्ययों का व्यवहार होता था; यथा—पोथा – पोथी, चिड़ा – चिड़िया; घड़ा – घड़ी, इत्यादि। स्त्रीत्व के साथ कोमलता, लघुता के भावों का घनिष्ठ संबंध होने के कारण ये प्रत्यय स्त्री-प्रत्यय बन गये। इनकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० –इका > –इआ, इअ से है।

(२) –इन्-नी –इन् प्रत्यय का प्रयोग प्रायः व्यवसाय-वाचक शब्दों के स्त्रीलिङ्ग – रूप बनाने में किया जाता है; यथा—

धोबिन्, नाइन्, चमारिन्, सुनारिन् इत्यादि और-नी प्रत्यय प्रायः पशुओं के स्त्रीलिंगरूप बनाने में प्रयुक्त होता है—यथा, शेर्नी, मोरनी, बाघ्नी इत्यादि। इनकी व्युत्पत्ति सं० –नी,-इनी प्रत्ययों से है।

(३) –आनी –इस प्रत्यय की व्युत्पत्ति सं० – आनी से है औरर यह मुख्यतः संस्कृत से लिए गए तत्सम-शब्दों में प्रयुक्त होता है—यथा—पण्डितानी, इन्द्राणी इत्यादि। परन्तु कुछ विदेशी-शब्दों के साथ भी यह जोड़ा जाता है; यथा—फा० मेह्तर् से हिं० मेह्तरानी।

वचन

§२६८. प्रा० भा० आ० भा० में तीन वचन थे—एक वचन, द्वि-वचन और बहुवचन। म० भा० आ० भा० काल के प्रारम्भ में ही द्वि-वचन लुप्त हो गया और उसको प्रकट करने के लिए शब्द के बहुवचनरूप के साथ 'द्वि' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। अशोक के अभिलेखों में 'दुवे मजुला' (दो मोर) इत्यादि प्रयोग मिलते हैं। इसप्रकार आ० भा० आ० भाषाओं को उत्तराधिकार में केवल दो ही वचन मिले—एक-वचन तथा बहु-वचन। हिन्दी

की एक विशेष शैली उर्दू में 'वालिदैन', 'कुतुबैन', 'करीकैन' जैसे अरबी के द्वि-वचन रूपों का भी प्रयोग मिलता है; परन्तु यह हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध है। इसीलिए संस्कृत-गर्भित हिन्दी में संस्कृत के द्विवचन रूपों का प्रयोग नहीं मिलता।

ध्वनि-विकास के फल-स्वरूप प्रा० भा० आ० भाषा के बहुवचन-प्रत्यय आ० भा० आ० भाषाओं में पूर्णतया सुरक्षित न रहे। उनके क्रमिक ह्रास एवं लोप का इतिहास पिछले अध्यायों में यथास्थान दिया गया है। आ० भा० आ० भाषाओं के प्रारम्भिक-काल तक प्रा० भा० आ० भा० का पुल्लिंग प्रथमा-बहुवचन का प्रत्यय आः, अपभ्रंश की पदान्त-ह्रस्व-स्वर-लोप की प्रवृत्ति के कारण समाप्त हो गया; यथा, सं० पुत्र—ए० व० पुत्रः>अप० पुत्त> हिं पूत; ब० व० पुत्राः>अप० पुत्तु>पूत। परन्तु स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसक-लिङ्ग के प्रथमा बहु-वचन के प्रत्यय पश्चिमी आ० भा० आ० भाषाओं (मराठी, गुजराती, राजस्थानी, सिंधी, लँहदी, पंजाबी, पश्चिमी-हिंदी) में थोड़े-बहुत सुरक्षित रहे, यद्यपि बहुत-कुछ उलट-फेर के साथ; यथा, सं० मालाः ('माला' स्त्रीलिङ्ग-शब्द का ब० व०) >म० भा० आ० मालाओ, माळाओ>मरा० माळा (इसके ए० व० के रूप क्रमशः सं० माला>म० भा० आ० माला, माळा>मरा० माळ हैं); सं० सूत्राणि ('सूत्र' न० लिं० का ब० व०) >मरा० सुतें; सं० पितरः ('पितृ'>सिं० 'पिउ' शब्द का ब० व०)>सिं० पिउर, सं० वार्ताः ('वार्ता' स्त्रीलिङ्ग शब्द का ब० व०) >हिं० वातें (हिन्दी का ब० व० -एं> सं० न० लिं०, -आनि) इत्यादि।* कर्म, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण बहु वचन के प्रत्यय भी आ० भा० आ० भाषा-काल के पूर्व ही लुप्त हो गए थे। अतः हिन्दी आदि आ० भा० आ० भा० को ब० व० के केवल तीन ही रूप म० भा० आ० भाषा से प्राप्त हुए—कर्ता ब० व०, करण-कारक बहुवचन तथा सम्बन्ध कारक बहु-वचन के रूप। करण तथा सम्बन्ध कारक ब० व० रूपों का उपयोग हिन्दी आदि आ० भा० आ० भाषाओं ने अन्य कारकों का बहुवचन-रूप प्रकट करने के लिए भी किया।

करण-कारक ब० व० प्रत्यय का प्रयोग पश्चिमी हिन्दी में 'आकारान्त' पुल्लिङ्ग-शब्दों के कर्ता-कारक ब० व० के लिए किया गया; यथा, घोड़े दौड़ते हैं—इस वाक्य में घोड़े<म० भा० आ० घोड़ेहि, घोड़हि, अप० घोड़ही<

---

* चैटर्जी वै० लैं० ४८४, पृ० ७२३।

प्रा० भा० आ० * घोटेभिः। पूर्वी-हिन्दी में सम्बन्ध-कारक ब० व० का रूप भी कर्ता ब० व० में प्रयुक्त होता है, यथा, घोड़वन=प्रा० भा० आ० घोटकानाम्। परन्तु पछांही-हिन्दी, मराठी, सिन्धी, पंजाबी इत्यादि पश्चिमी आ० भा० आ० भाषाओं में सम्बन्ध-कारक ब० व० का रूप कर्ता ब० व० के लिए प्रयुक्त नहीं होता।

सम्बन्ध-कारक-ब० व०-रूप का व्यवहार कर्ता-कारक ब० व० के अतिरिक्त अन्य सभी कारकों के ब० व० में किया जाता है; यथा, हिं० घोड़ों, पं० घोड़ाँ; राज० घोड़ाँ=सं० घोटकानाम्। पूर्वी-भाषाओं भोजपुरी, मैथिली, मगही, बंगला इत्यादि का ब० व० प्रत्यय -ण, -न<प्रा० भा० आ० भा० -आनाम् से आया है। पूर्वी-हिन्दी, बिहारी, बंगला इत्यादि का ब० व० प्रत्यय -न्ह, -न्हि (यथा; घरन्ह, घरन्हि) प्रा० भा० आ० करण-कारक ब० व० प्रत्यय -भिः>म० भा० आ० -हि तथा प्रा० भा० आ० सम्बन्ध-कारक ब० व० प्रत्यय -आनाम्>-न् का सम्मिश्रण माना जाता है।

§२६६. इसप्रकार हिन्दी में एक वचन प्रकट करने के लिए निम्नलिखित प्रत्ययों का प्रयोग होता है—

१. कर्ता-कारक एक वचन में शब्द का प्रातिपदिक-रूप ही व्यवहृत होता है। संस्कृत में कर्ता-कारक एकवचन का प्रत्यय -स् (:) शौरसेनी-प्राकृत में -'ओ' में और तत्पश्चात् अपभ्रंश में -'उ' में परिवर्तित होता हुआ, पदान्त-स्वर-लोप की प्रवृत्ति के प्रभाव से हिंदी में लुप्त हो गया। अतः कर्ता-कारक एकवचन में शब्द का प्रातिपदिक रूप ही शेष रहा।

२. पुल्लिङ्ग तद्भव 'आ' कारान्त शब्दों के विकारी-कारकों के एक वचन में पदान्त '-आ' का लोप कर '-ए' प्रत्यय लगता है; यथा; लड़के (को, से, के लिए इत्यादि)। अन्य शब्दों में विकारी-कारकों के एक वचन में भी प्रातिपदिक रूप ही रहता है; यथा, घर् (को, से, के लिए, का, में), लड़की (को, से इत्यादि)।

म० भा० आ० भाषा-काल में सम्बन्ध-कारक-प्रत्यय-स्य> -ह् तथा अधिकरण-कारक-प्रत्यय-स्मिन्>-हिं का उपयोग, कर्म, सम्प्रदान, अपादान-कारकों के एकवचन में भी किया जाने लगा था। -अको>-अओ अन्त वाले शब्दों में -हि, -हिं जोड़े जाने पर, 'ह्' के लोप से -अइ शेष रहा और पश्चिमी-हिन्दी में यही -ए में परिणत होकर विकारी-कारकों के एकवचन के प्रत्यय के

रूप में गृहीत हुआ। 'घर्' जैसे अन्य शब्दों में '-हि' प्रत्यय सर्वथा लोप होकर विकारी-कारकों में भी प्रातिपदिक-रूप ही रह गया।

(३) पुल्लिङ्ग-तद्भव-आकारान्त शब्दों के कर्ता-बहुवचन का रूप भी अन्त्यस्वर 'आ' का लोपकर,—'ए' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। अन्य पुल्लिङ्ग, शब्दों के कर्ता-एकवचन तथा बहुवचन के रूप समान होते हैं; यथा—लड़का; ब० व० लड़के, घोड़ा; ब० व० घोड़े इत्यादि; घर; ब० व० घर; भाई; ब० व० भाई; राजा; ब० व० राजा।

इस कर्ता-कारक ब० व० प्रत्यय ए की उत्पत्ति संदिग्ध है। हार्नले का मत है कि विकारी-एकवचन का रूप ही कर्ता-बहुवचन में भी प्रयुक्त हुआ है। परन्तु डा० चाटुर्ज्या इसको प्रा० भा० आ० करण-कारक ब० व० प्रत्यय-एभिः> म० भा० आ०-अहि,-अही>अइ>ए मानते हैं।

(४) 'इ,-ई' कारान्त स्त्रीलिङ्ग-शब्दों के कर्ता-बहुवचन में आँ प्रत्यय तथा अन्य स्त्रीलिङ्ग-शब्दों के कर्ता-बहुवचन में एँ प्रत्यय लगता है। इ-कारान्त (तत्सम) तथा ई-कारान्त शब्दों में-आँ से पूर्व-य् का सन्निवेश होता है और-ई कारान्त शब्दों में ई>-इ; यथा—लड़की-ब० व० लड़कियाँ; तिथि-ब० व० तिथियाँ; बात्-ब० व० बातें; वस्तु-वस्तुएँ इत्यादि।

आँ, एँ<सं० नपुंसकलिङ्ग बहुवचन-प्रत्यय-आनि। सं०-आनि> म० भा० आ० आइँ>हिं० एँ; सं०-आनि>म० भा० आ०-आँ>हिं०-आँ।

(५) सभी शब्दों के विकारी-कारकों के बहुवचन में-ओं प्रत्यय लगता है। इससे पूर्व अन्त्य 'आ' का लोप हो जाता है; यथा-घोड़ा—ब० व० घोड़ों (को, से, के लिए, का, पर); अन्त्य-ई>इ तथा ओं से, पूर्व-य् का सन्निवेश किया जाता है; यथा-लड़की-ब० व० लड़कियों; तिथि-ब० व० तिथियों।

ओं<म० भा० आ०-आनं,-आणं+हु (>अउं>ओं) <सं०-आनाम्।

बहुवचन-ज्ञापक शब्दावली

§३००. ऊपर के रूपों के अतिरिक्त कुछ शब्दों की सहायता से भी बहुवचन प्रकट किया जाता है। यह शब्द प्रायः समूह का बोध कराते हैं। ऐसे शब्दों का योग होने पर कारक-परसर्ग संज्ञा-पद के साथ न लगकर इन्हीं शब्दों के बाद लगते हैं। ऐसे कुछ शब्द ये हैं—लोग, सब, गण, वृन्द इत्यादि। इसके उदाहरण ये हैं—राजा लोग, कवि लोगों को, तारा गणों के साथ, इत्यादि।

कारक—

§३०१. भारोपीय-भाषा में संज्ञाओं का सम्बन्ध 'उपसर्गों' (Preposition) द्वारा प्रकट किया जाता था। अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी इत्यादि, योरोप की भाषाओं तथा फ़ारसी में भी उपसर्गों की सहायता से कारक प्रकट किये जाते हैं, और सामी-परिवार की भाषा 'अरबी' तक में उपसर्गों का उपयोग इस कार्य के लिये होता है। परन्तु प्रा० भा० आ० भाषा-काल से ही उपसर्ग क्रियाओं के साथ जुड़ने लगे और संज्ञाओं के कारक-सम्बन्ध नियमित करने का इनका कार्य समाप्त हो चला तथा शब्दों के प्रातिपदिक-रूप में विभक्ति-प्रत्यय लगाकर भिन्न-भिन्न कारक-रूप निष्पन्न किए जाने लगे। प्रा० भा० आ० भाषा में आठ कारक थे और प्रत्येक कारक का एकवचन द्विवचन एवं बहुवचन का रूप अलग-अलग विभक्ति-प्रत्ययों के योग से बनता था। इसप्रकार प्रत्येक शब्द के चौबीस रूप होते थे। इसका कुछ परिचय हम प्रा० भा० आ० के प्रसङ्ग में दे आए हैं।

म० भा० आ० भाषा-काल में, शब्दों के कारक-रूपों में, भी, समीकरण की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई। इसके फल-स्वरूप प्रा० भा० आ० भा० के शब्द रूपों की बहुलता घटने लगी। एक ही विभक्तियुक्त शब्द-रूप से दो-दो तीन-तीन कारकों का काम लिया जाने लगा। अब प्रा० भा० आ० भाषा के चौबीस-चौबीस शब्द-रूपों के स्थान पर केवल पांच-छै रूप ही शेष रह गये और अपभ्रंश-काल में तो शब्द-रूपों के अनुसार कारकों के केवल तीन ही वर्ग बच रहे।

कारक-रूपों की अल्पता एवं ध्वनि-परिवर्तन के कारण विभक्ति-प्रत्ययों के मूल-रूप की अस्पष्टता अपभ्रंश-काल तक इतनी बढ़ गई थी कि कारक प्रकट करने के लिये सहायक-शब्दों का प्रयोग आवश्यक हो गया। पहले सम्बन्ध-कारक में सहायक-शब्दों का उपयोग किया जाने लगा और धीरे-धीरे अन्य कारकों के लिये भी इसका प्रयोग चल पड़ा। इसप्रकार **'रामस्य'** (<सं० रामस्य 'राम का' का विभक्ति-प्रत्यय 'स्य' ही सम्बन्ध-कारक प्रकट करने के लिये पर्याप्त न समझा गया और इसके साथ **'केर'** (<सं० कार्यक) जैसे 'सहायक-शब्द' का प्रयोग किया गया।

आ० भा० आ० भाषाओं में विभक्ति-प्रत्ययों में और भी कमी होगई। केवल कर्ता-बहुवचन, करण-कारक, सम्बन्ध ब० व० और अधिकरण ए० व०

के विभक्ति-प्रत्यय, ही जिस किसी रूप में बच पाये। ये विभक्ति-प्रत्यय भी सभी आ० भा० आ० भाषा में समानरूप से नहीं बच पाये। हिन्दी में करण-कारक ब० व० तथा सम्बन्ध-कारक ब० व० के रूपों से कर्ता ब० व० का काम लिया गया; यथा, हि० घोड़े <अप० घोड़ही <प्रा० भा० आ० घोटेभिः; पूर्वी हिं० घोड़बन <सं० घोटकानाम्। अधिकरण-एकवचन के रूप से विकारी-कारकों के एकवचन के रूप निष्पन्न हुए; यथा—हि० घोड़े (को, के लिये आदि) में ए < सं०-स्मिन् और सम्बन्ध-ब० व० के रूप से सबल-प्रातिपदिकों (Strong Bases) के विकारी ब० – व० के रूप बनाये गये; यथा—हि० – घोड़ों (को, से आदि) < सं० घोटकानाम्। व्यञ्जनान्त-प्रातिपदिकों में तो सविभक्तिक-रूप और भी कम रह गये हैं। यथा—'पूत्' < सं० पुत्रः शब्द का केवल विकारी – कारक ब० व० का रूप 'पूतों' < सं० पुत्राणाम् ही सविभक्तिक है; बात् < सं० वार्ता शब्द का कर्ता – ब० व० बातें तथा विकारी – ब० व० बातों इन दो ही रूप में विभक्ति-प्रत्ययों का चिह्न रह गया है। अन्य आ० भा० आ० भाषाओं में प्रा० आ० भा० के दूसरे ही सविभक्तिक रूप बच रहे हैं। मराठी में कर्ता – ब० व० का सविभक्तिकरूप सुरक्षित है। यथा—**कमलें** < अप० कमलइं < सं० कमलानि ('कमल' शब्द का ब० व०) और विकारी-कारकों के ए० व, ब० व० के रूप क्रमशः प्रा० भा० आ० भा० की सम्प्रदान-कारक ए० व० तथा सम्बन्ध-कारक ब० व० की विभक्तियों के ध्वनि-परिवर्तनों द्वारा अवशिष्ट रूपों के योग से बने हैं। यथा—ईंट < सं०—इष्ट। (हिं० ईंट)—विकारी कारक ए० व० ईंटे <म० भा० आ० इट्टाए < प्रा० भा० आ० इष्टायै (सम्प्र० ए० व०) विकारी कारक – ब० व० इटाँ इष्टानाम् (हिं० 'ईंटों')। इसीप्रकार सिंधी, पंजाबी, गुजराती इत्यादि में भी होता है। पश्चिमी आ० भा० आ० भाषाओं में, स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग शब्दों के कर्ता ब० व० के रूप में प्रा० भा० आ० भा० के कर्ता ब० व० की विभक्ति का चिह्न मिल जाता है।

इसप्रकार आ० भा० आ० भाषाओं में सविभक्तिक-रूपों की—अल्पता एवं अस्पष्टता अपभ्रंश-काल से भी अधिक बढ़ गई। अतः अपभ्रंश-काल में 'सहायक-शब्दों' द्वारा कारक प्रकट करने की प्रवृत्ति आ० भा० आ० भा० में बहुत बढ़ गई और ये 'सहायक-शब्द' भी ध्वनि – परिवर्तनों के परिणाम-स्वरूप घिस घिसाकर इस रूप में मिलते हैं कि उनके मूलरूप का सहसा पता नहीं लगता। इन 'सहायक-शब्दों' को 'परसर्ग' संज्ञा दी गई है। विभिन्न आ० भा० आ० भाषाओं में भिन्न-भिन्न परसर्गों का उपयोग किया जाता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आ० भा० आ० भाषाओं में शब्दों का सम्बन्ध दो प्रकार से प्रकट किया जाता है—(१) प्रा० भा० आ० -भाषा के अवशिष्ट विभक्ति-प्रत्ययों के योग से। हम देख चुके हैं कि इन विभक्ति—प्रत्ययों की संख्या आ० भा० आ० भाषाओं में तीन-चार ही है और केवल उनके ही योग से काम नहीं चलता। हिन्दी में प्रयोग होने वाले विभक्ति-प्रत्ययों का विवेचन पीछे 'वचन' के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। हिन्दी में केवल कर्ता-कारक का रूप ही विभक्ति रहित अथवा सविभक्तिक-रूप में अपने आप से कारक सम्बन्ध प्रकट करने में समर्थ होता है; यथा—घोड़ा दौड़ता है, उसका पूत कुल का उजियाला है, घोड़े दौड़ते हैं, उसके सभी पूत सुगुणी हैं इत्यादि। (२) शब्दों के सविभक्तिक अथवा अविभक्तिक-रूपों के साथ परसर्गों की सहायता से। नीचे हिन्दी के परसर्गों पर विस्तार से विचार किया जाता है।

हिन्दी के परसर्ग

§ ०२. हिन्दी में, आठ कारकों में से, कर्ता के कर्तरि प्रयोग एवं सम्बोधन में कोई परसर्ग नहीं लगता। अन्य कारकों में निम्नलिखित परसर्गों का व्यवहार किया जाता है—

कर्ता कर्मणि एवं भावे प्रयोग में 'ने'; कर्म-सम्प्रदान में को तथा सम्प्रदान में 'के लिए' भी; करण-अपादान में 'से', सम्बन्ध में 'का, के, की' तथा अधिकरण में 'में, पर' का प्रयोग होता है। नीचे प्रत्येक परसर्ग की व्युत्पत्ति पर विचार किया जाता है।

ने

§३०३. इस परसर्ग का व्यवहार संज्ञा-पद के कर्मणि तथा भावे प्रयोग में होता है; यथा—

कर्मणि–प्रयोग – मैंने एक राजा देखा; मैंने दो राजा देखे।

भावे–प्रयोग—मैंने एक राजा को देखा, मैंने दो राजाओं को देखा।

'ने' परसर्ग का व्यवहार खड़ी-बोली-हिंदी-की एक प्रमुख विशेषता है। पूर्वी-हिन्दी में इसका व्यवहार नहीं होता। पश्चिमी-हिंदी की कतिपय अन्य विभाषाओं में तथा पंजाबी, गुजराती आदि कुछ पश्चिमी आ० भा० आ० भाषाओं में भी 'ने' का प्रयोग परसर्ग के रूप में होता है। बुंदेली-कनौजी में 'नें' तथा 'नें'

कर्ता-कारक के परसर्ग हैं। पंजाबी में भी यह कर्ता-कारक का बोधक है। परन्तु गुजराती में 'ने' कर्म तथा सम्प्रदान-कारक का परसर्ग है।

§३०४. 'ने' परसर्ग की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कर्मणि तथा भावे-प्रयोग में इसका व्यवहार देखकर ट्रंप इत्यादि कुछ विद्वान् इसका सम्बन्ध प्रा० भा० आ० भाषा को करण-कारक एक वचन की विभक्ति-एन से जोड़ते हैं और वर्ण-व्यत्यय से – एन का 'ने' में परिणत होना मानते हैं। परन्तु विचार करने पर जान पड़ता है कि इस मत की स्थापना ठोस प्रमाणों के आधार पर नहीं की गई है। इस मत के विरुद्ध निम्नलिखित तथ्य हैं—

(i) 'ने' विभक्ति-प्रत्यय नहीं है, अपितु 'को, में, पर' इत्यादि के समान एक परसर्ग है। अतः इसकी व्युत्पत्ति किसी स्वतन्त्र-शब्द से ही ढूँढनी ठीक होगी, न कि विभक्ति-प्रत्यय-एन से।

(ii) एन>ने अन्य विभक्तियों की हिंदी में परिणति देखते हुए असाधारण परिवर्तन है, क्योंकि प्रा० भा० आ० भाषा की अन्य विभक्तियों ने तो आ० भा० आ० भाषा में, लघु-रूप बनाने की प्रवृत्ति ही प्रदर्शित की है; यथा— बातें, रातें इत्यादि में –एं<आनि; घोड़ों, लड़कों इत्यादि में – ओं< – आनाम्। इन परिवर्तनों में तो 'न्' की परिणति अनुस्वार में हुई है, वर्ण-व्यत्यय द्वारा उसका दीर्घ-रूप नहीं बनाया गया; फिर – एन>ने में 'न्' का दीर्घ-रूप हो गया होगा, यह बहुत स्पष्ट एवं दृढ़ प्रमाणों के बिना स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(iii) 'ने' का प्रयोग अधिक प्राचीन भी नहीं है। यदि यह –एन> ने होता तो पुरानी-हिन्दी अथवा उसकी जननी पश्चिमी-अपभ्रंश में इसका कोई न कोई उदाहरण अवश्य मिलता। परन्तु ऐसे किसी उदाहरण का न मिलना 'ने' की नवीनता घोषित करता है।

(iv) पुराने लेखकों ने कितने ही ऐसे स्थानों पर, सर्वनाम के कर्ता-कारक में, केवल विकारी-रूप का ही प्रयोग किया है, जहाँ खड़ी-बोली हिंदी के स्वभावानुसार उसके साथ 'ने' का प्रयोग आवश्यक होता। अतः यदि 'ने' कोई विभक्ति प्रत्यय था भी तो पुरानी-हिंदी के काल तक वह लुप्त हो चुका था।

अन्य विद्वानों ने 'ने' का संबंध सं० लग्य (√लग् का भूतकालिक कृदन्त-कर्तृवाच्य) से जोड़ा है और निम्नलिखित परिवर्तन-क्रम बताया है—

सं० लग्य>प्रा० लग्गिओ>हिं० लगि लइ ले ने*। इस मत के

*कैलॉग—'ए ग्रामर आव दि हिंदी लैंगवेज; पृ० १३२।

समर्थकों का कहना है कि गुजराती में 'ने' कर्म-सम्प्रदान कारक का परसर्ग है और करण-कारक में भी सम्प्रदान के प्रयोग की प्रवृत्ति गुजराती में मिलती है। हिंदी का परसर्ग 'ने' वास्तव में करण-कारक का ही परसर्ग है। अतः गुजराती और हिंदी 'ने' परसर्ग की व्युत्पत्ति एक ही मानी जानी चाहिए। यह दोनों भाषाएँ हैं भी पश्चिमी-अपभ्रंश-प्रसूत। तब इस परसर्ग का मूलरूप क्या रहा होगा—इस प्रश्न का उत्तर इस मत के स्थापकों एवं पोषकों को नेपाली के सम्प्रदान-कारक के 'लाइ' तथा करण-कारक के 'ले' परसर्गों में मिला और हिंदी गुजराती ने तथा नेपाली ले को एक ही मूल-शब्द की उपज मानकर उन्होंने इन परसर्गों का संबंध सं० लग्य से जोड़ा।

डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या तथा डा० सुकुमार सेन 'ने' की व्युत्पत्ति सं० कर्ण शब्द से मानते हैं। उनका विचार है कि 'ने' अनुसर्ग का प्राचीन-रूप कने था। यह कने शब्द आज भी कनौजी में 'समीप' के अर्थ में प्रयुक्त होता है; यथा—मेरे कने आओ 'मेरे पास आओ'। सं० कर्ण>म० भा० आ० कन्न, और अपभ्रंश में इसका अधिकरण का रूप कन्नहि बनता है, जिसमें 'क' तथा, ह्' के लोप से 'नइ' और गुण द्वारा 'ने' रूप निष्पन्न हुआ। संस्कृत में 'कर्ण' शब्द का अर्थ 'कान' होता है और यह सामीप्य का भी बोधक है। अतः हिंदी में यह संज्ञा एवं क्रिया के बीच संबंध जोड़ने में प्रयुक्त हुआ।

को

§३०५. यह परसर्ग कर्म एवं सम्प्रदान कारक का बोधक है। हिंदी की बोलियों में कर्म-सम्प्रदान के परसर्ग ये हैं—कन्नौजी 'को', ब्रज 'कौं', अवधी 'क', रिवांई 'केहे', मारवाड़ी 'नें', मेवाड़ी 'ऐ', कुमाउनी 'कणि' गढ़वाली 'सणि', नेपा० 'लाइ'।

इनमें से 'क' से प्रारम्भ होने वालों की व्युत्पत्ति हार्नले* तथा बीम्स‡ ने सं० कक्षे ('कक्ष' का अधिकरण ए० व०) से मानी है। 'कक्ष' का अर्थ है 'बगल, कांख'। कक्ष>काख का कर्मकारक एक वचन में काखं रूप बनेगा और उसमें ख>ह् तथा उसके भी लोप से कांहं, कंहं, कौं, को, क यह सभी रूप निष्पन्न होंगे।

---

* बीम्स-कम्पे ग्रा० भा० ४८। २§हार्नले—गौ० ला० ग्रा० §३७६।
‡कैलॉग हि० ग्रा० §१६७।

मारवाड़ी 'नै' तथा नेपाली 'लाइ' की व्युत्पत्ति 'लगि' (<√लग्) से हुई है। मारवाड़ी में ल>न के और भी उदाहरण मिलते हैं; यथा—लानत (अरबी) >मार० नानत; लन्दन (अँग्रेजी) >मार० नन्दन। मेवाड़ी ऐ< मार नै।

कुमाउनी, कणि< सं० कर्णे; गढ़वाली, सणि<सं० सङ्गे।

से

§३०६. यह परसर्ग करण एवं अपादान दोनों कारकों में व्यवहृत होता है। इसकी उत्पत्ति के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। बीम्स के अनुसार से<सम् और हार्नेली के अनुसार से का संबंध प्रा० संतो, सुंतो तथा सं० √अस् से है। कैलॉग ने इसकी उत्पत्ति सं० सङ्गे से मानी है; परन्तु से का मूलरूप सम-एन है, जिससे इसकी उत्पत्ति निम्न प्रकार से हुई है—

सम-एन>सएँ, सइँ>सें>से।

ब्रजभाषा के सों की उत्पत्ति सम् से हुई है।

के लिए

§३०७. सम्प्रदान-कारक में 'को' के अतिरिक्त 'के लिए' का भी व्यवहार होता है। इस परसर्ग में के<कए<कृते। लिए की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। संभवतः इसका संबंध सं० लग्ने>प्रा० लग्गे से है।

का, के की

§३०८. सम्बन्ध-कारक पुल्लिङ्ग एकवचन में 'का', बहुवचन में 'के' तथा स्त्रीलिंग एक वचन–बहुवचन में 'की' परसर्गों का व्यवहार होता है। सम्बन्ध- कारक के इन परसर्गों का सं० √कृ-धातु से संबंध है। का की उत्पत्ति सं० कृतः से इसप्रकार है—सं० कृत—>म० भा० आ० कअ-> हिं० का।

'के'–'का' का विकारी-रूप है और 'की' स्त्री-प्रत्यय 'ई' युक्त रूप।

में, पर

§३०९. अधिकरण-कारक में इन परसर्गों का व्यवहार होता है। 'में' की उत्पत्ति स० मध्य से इसप्रकार हुई—

मध्ये>म० भा० आ० मज्झे>पुरा० हि० माँहि>में।

पर् की व्युत्पत्ति सं० परे>अप० परि से है।

परसर्गीय-शब्दावली

§ ३१०. ऊपर जिन परसर्गों पर विचार किया गया है, वे मूलतः स्वतन्त्र-

शब्द होते हुए भी ध्वनि-परिवर्तनों द्वारा घिस-घिसाकर अपनी स्वतन्त्र-सत्ता खो चुके हैं, परन्तु आ० भा० आ० भाषाओं में अनेक क्रियावाचक-विशेषण-पद (Participles) आज भी परसर्गों के समान कारक-संबंध व्यक्त करते हुए भी अपनी स्वतन्त्र-सत्ता बनाए हुए हैं। हिंदी के ऐसे कुछ मुख्य-शब्द नीचे दिए जाते हैं।

(१) आगे—यह अधिकरण-कारक का परसर्ग है और संबंध-कारक के परसर्ग 'का' के विकारी रूप 'के' सहित व्यवहृत होता है; यथा—गाड़ी के आगे, इस शहर के आगे, इत्यादि। इसकी व्युत्पत्ति सं० अग्रे >म० भा० आ० अग्गे से हुई है।

(२) उपर पर—ये भी अधिकरण के अर्थ में संबंध-कारक के साथ अथवा संज्ञापद के साथ प्रयुक्त होते हैं; यथा—मेज के ऊपर, हथेली पर। इनकी उत्पत्ति सं० उपरि>म० भा० आ० उप्परि से हुई है।

(३) ओर्—यह प्रायः संबंध कारक के साथ अधिकरण के अर्थ में प्रयुक्त होता है; यथा—

नगर की ओर, हमारी ओर, उसकी ओर, तथा उस ओर भी। इसी अर्थ में फारसी 'तरफ़' शब्द का भी व्यवहार होता है।

(४) कारण—यह संबंध-कारक के साथ करण-कारक के अर्थ में प्रयुक्त होता है; यथा—उसके कारण, तुम्हारे कारण।

(५) खातिर, वास्ते—यह अरबी से लिए गए शब्द हैं और संबंध-कारक के साथ सम्प्रदान के अर्थ में व्यवहृत होते हैं; यथा—मेरे खातिर या वास्ते इत्यादि।

(६) नीचे—यह संबंध-कारक के साथ अधिकरण अर्थ में प्रयुक्त होता है। नीचे<सं० नीचैः।

(७) पीछे—यह भी संबंध-कारक के साथ अधिकरण के अर्थ में प्रयुक्त होता है; यथा उसके पीछे, इत्यादि।

यह शब्द सं० पृष्ठ तथा पश्चा के संयोग से सिद्ध हुआ है।

(८) पास्—यह संबंध-कारक के साथ प्रयुक्त होकर अधिकरण-कारक सिद्ध करता है; यथा—हमारे पास्। इसकी उत्पत्ति सं० पार्श्व से हुई है।

(९) बाहर्—यह भी संबंध-कारक के साथ अधिकरण का अर्थ देता है—यथा-कमरे के बाहर्।

(१०) बिना—इससे कर्म-कारक सम्पन्न होता है; यथा—राम बिना

मेरी सूनी अयोध्या। कभी-कभी संबंध कारक के साथ भी इसका प्रयोग होता है; यथा–तुम्हारे विना।

यह सं॰ विना का अर्ध-तत्सम-रूप है।

(११) बीच्—यह अधिकरण-कारक सम्पन्न करता है और प्रायः संबंध कारक के साथ प्रयुक्त होता है; यथा—शहर् के बीच्, विद्वानों के बीच्।

(१२) भीतर्—यह भी संबंध के साथ अधिकरण में व्यवहृत होता है; यथा, घर के भीतर। भीतर<भितर<अभ्यन्तर।

(१३) मारे—इसका अर्थ है 'कारण से'। यह $\sqrt{}$मृ के प्रेरणार्थक-रूप 'मार्' का अधिकरण का रूप है और संबंध-कारक के साथ प्रयुक्त होता है, यथा—डर के मारे।

(१४) सङ्ग, समेत, साथ—ये शब्द संबंध-कारक के साथ प्रयुक्त होकर सम्पर्क द्योतित करते हैं; यथा—लड़कों के संग् या साथ, इनसबके समेत, इत्यादि।

दसवाँ अध्याय

विशेषण

रूप-विकार

§३११. प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा में विशेषण-पदों के रूपों में भी अपने विशेष्य-पदों के अनुसार परिवर्तन होता था और मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा-काल में भी यह प्रणाली बहुत कुछ सुरक्षित रही। संक्रान्ति-कालीन-भाषा में भी हमें इसके पर्याप्त उदाहरण मिल जाते हैं। बारहवीं शताब्दि के पूर्वार्ध (१११४-११५५) में रचित दामोदर पण्डित के 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणम्' की कोसली-भाषा में भी स्त्रीलिङ्ग विशेष्य-पदों के साथ विशेषणों में स्त्रीलिङ्ग-प्रत्यय तथा विशेष्य-पदों के तिर्यक्-रूपों के साथ विशेषणों में तिर्यक-प्रत्यय (सामान्यतः-एँ) का प्रयोग मिलता है; यथा-पराई वथुँ 'दूसरों की वस्तुएँ', अंधारि राति 'अंधेरी रातें' सूखें काठें 'सूखी लकड़ी पर', 'गुड़ें खरडी हथोली,' 'गुड़ में सनी हथेली', इत्यादि। परन्तु आ० भा० आ० भाषा की अधिकांश शाखाओं में यह प्रणाली समाप्त हो चुकी है या अत्यल्प अंश में ही अवशिष्ट है। दामोदर पण्डित की जिस कोसली भाषा से ऊपर उदाहरण दिए गए हैं, उसी की उत्तराधिकारिणी अवधी में विशेषण-पदों के रूपों में विकार की परम्परा समाप्तप्राय है। पछाँही हिन्दी ने प्रा० भा० आ० भाषा की इस परम्परा को बहुत कुछ सुरक्षित रखा है। आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में आज की साहित्यिक-हिन्दी की यह एक प्रमुख विशेषता है।

§३१२. हिन्दी के तद्भव-आकारान्त विशेषण-पदों में विशेष्य पद के लिङ्ग वचन एवं कारक के अनुसार निम्नलिखित विकार होते हैं।

(i) पुल्लिङ्ग-विशेष्य-पद के साथ आकारांत विशेषण-पद कर्ताकारक एक वचन में अपने सामान्य-रूप में रहता है। उसमें कोई विकार नहीं होता।

(ii) परन्तु कर्ता-बहुवचन एवं विकारी कारकों के दोनों वचनों में आकारान्त-विशेषण-पद का पदान्त आ>-ए; यथा, अच्छे लड़के सच बोलते हैं' अच्छे लड़के को, लड़कों को सभी प्यार करते हैं, अच्छे लड़के से-लड़कों

से कौन प्रसन्न न होगा ? अच्छे लड़के से लड़कों के लिए ही ये पुस्तकें लिखी गई हैं, अच्छे लड़के-लड़कों का सर्वत्र स्वागत होता है, इत्यादि ।

(iii) स्त्रीलिङ्ग-विशेष्य-पद के साथ सभी वचनों एवं कारकों में आकारांत-विशेषण-पद का पदान्त—आ>ई, यथा; काली घोड़ी-घोड़ियाँ घोड़ियों ।

(iv) जिन विशेषण-पदों का पदान्त-स्वर 'आँ' होता है, उनमें ऊपर की (ii) तथा (iii) की स्थितियों में क्रमशः-आँ—एँ तथा-आँ—ईं; यथा बायाँ>बाएँ हाथ-को, से में, का, में, बाईं हथेली को, हथेलियों, के से, की में, आदि ।

आकारांत-विशेषणों के अतिरिक्त अन्य विशेषण-पदों में रूप-विकार नहीं होते ।

तुलनात्मक-श्रेणियाँ

§३१३. प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा के तुलनात्मक-श्रेणियों के प्रत्यय तर् एवं तम् किसी भी आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषा के तद्भव-रूपों में सुरक्षित नहीं' हैं । हिन्दी में भी तुलना का भाव (Comparison) प्रकट करने के लिए विशेषणों का कोई विशेष-रूप नहीं है । तुलनीय-संज्ञा अथवा सर्वनाम-पद के पश्चात् 'से' परसर्ग लगाकर तुलना का भाव प्रकट किया जाता है; यथा यह किताब उससे अच्छी है; ये आम शहद से मीठे हैं; राम मोहन से गोरा है । कभी-कभी इन संज्ञा अथवा सर्वनाम-पद के 'से' युक्त रूप के साथ 'और अधिक, ज्यादा', इत्यादि शब्द भी जोड़ दिए जाते हैं; यथा वह राम से अधिक सुन्दर है, इत्यादि ।

§३१४. तमवन्त विशेषण (Superlative) का भाव विशेषण-पद के पूर्व 'सब से' 'सब में' 'सबसे बढ़कर', इत्यादि अपादान अथवा अधिकरण परसर्ग युक्त पद जोड़कर प्रकट किया जाता है; यथा, मोहन सबसे अथवा सबमें बुद्धिमान है, वह अपनी कक्षा में सबसे बढ़कर या अधिक मेहनती भी है, इत्यादि ।

§३१५. समानता अथवा सादृश्य का भाव प्रकट करने के लिए संज्ञा-अथवा सर्वनाम-पदों के साथ 'सरीखा, जैसा, सा' आदि पद जोड़े जाते हैं और इन पदों में भी आकारान्त-विशेषण-पदों के समान रूप-विकार होते हैं; यथा-सीता सरीखी स्त्रियाँ, राम जैसे चरित्रवान पुरुष, इत्यादि ।

इन पदों की व्युत्पत्ति इसप्रकार है—हि० सरीखा<म० भा० आ०

सरीच्छ<प्रा० भा० आ० सदृशः जैसा< जइस<यादृशः सा<सञ्चं <सम- ।

§ ३१६. अतिशयता (Intensity) या आधिक्य (Excess) का भाव प्रकट करने के लिए विशेषण-पद के साथ 'सा' का प्रयोग होता है, और इसमें भी आकारांत-विशेषण-पद के विकार होते हैं; यथा - बहुत से आम, अच्छी सी किताब इत्यादि। यह सा<म० भा० आ० स<प्रा० भा० आ० शस् (यथा 'बहुशः' में) से आया है।

सर्वनामीय-विशेषणों का उल्लेख सर्वनामों के साथ किया गया है।

संख्या-वाचक-विशेषण

§३१७. हिन्दी के संख्या-वाचक-विशेषणों-पदों का निम्न-लिखित वर्गीकरण किया जाता है--

(१) गणनात्मक (२) क्रमात्मक (३) गुणात्मक (४) समूहवाचक (५) भिन्नात्मक (६) समानुपातीय तथा (७) ऋणात्मक। नीचे क्रमशः इनके ऐतिहासिक-विकास एवं व्युत्पत्ति पर विचार किया जाता है।

(१) गणनात्मक संख्यावाचक-विशेषण

§३१८. नीचे हिन्दी के गणनात्मक-संख्यावाचक-विशेषण, व्युत्पत्ति सहित दिए जाते हैं। पहिले हिन्दी का रूप तब म० भा० आ० और तब प्रा० भा० आ० का रूप दिया गया है।

(१) एक (पं०, इक्क)<एक्क<एक(पं०, इक्क)

(२) दो (अ०-बं०-बि-उड़ि० दुइ, गुज० बे, मरा० दोन)<प्रा० द्वे, (अशो० शाह०, दुवि व दुवे।

(३) तीन्<तिण्णि<त्रीणि

(४) चार्<चउरो, चत्तारो, चत्तारि<चत्वारि

(५) पाँच्<पञ्च<पञ्च

(६) छः<छह्<षट् (षष्)

(७) सात्<सत्त<सप्त

(८) आठ<अट्ठ<अष्ट

(९) नौ<नउ, नअ, णअ<नव

(१०) दस्<दस, दह, डह, <दश

(११) ग्यारह् <एआरह <एकादश
(१२) बारह् <बारह, बारस <द्वादश
(१३) तेरह् <तेरह, तेरस <त्रयोदश
(१४) चौदह् <चउद्दह <चतुर्दश
(१५) पन्द्रह् <पण्णरह <पञ्चदश
(१६) सोलह् <सोलह <षोडश
(१७) सत्रह् <सत्तरह <सप्तदश
(१८) अठारह् <अट्ठारह <अष्टादश
(१९) उन्नीस <उनवीसइ <ऊनविंशति
(२०) बीस् <बीसअ, बीसइ <विंशति
(२१) इक्कीस् <एक्कबीसअ <एकविंशति
(२२) बाइस् <बावीसं <द्वाविंशति
(२३) तेइस् <तेवीसं <त्रयोविंशति
(२४) चौबीस् <चउव्वीसं <चतुर्विंशति
(२५) पचीस् <पञ्चवीसं <पञ्चविंशति
(२६) छब्बीस् <छव्वीसं <षड्विंशति
(२७) सत्ताइस् <सत्तवीसा <सप्तविंशति
(२८) अट्ठाईस् <अट्ठावीसा <अष्टाविंशति
(२९) उन्तीस् <अउणवीसा, एकूणवीसा <ऊनत्रिंशत्
(३०) तीस् <तीसअ <त्रिंशत्
(३१) इकत्तीस् <*एक्कतीसअ <एकत्रिंशत्
(३२) बत्तीस् <बत्तीसा <द्वात्रिंशत्
(३३) तैंतीस् <तेत्तीसा <त्रयस्त्रिंशत्
(३४) चौंतीस् <चोतीसं <चतुस्त्रिंशत्
(३५) पैंतीस् <पञ्चतीसं, पणतीसं <पञ्चत्रिंशत्
(३६) छत्तीस् <छत्तीसं <षट्त्रिंशत्
(३७) सैंतीस् <सत्ततीसं <सप्तत्रिंशत्
(३८) अड़तीस् <अट्ठतीसा <अष्टात्रिंशत्
(३९) उन्तालीस्, उन्तालीस् <ऊनचत्वारिंशत्
(४०) चालीस् <चत्तालीसा <चत्वारिंशत्
(४१) इकतालीस् <एक्क-चत्तालीसा <एकचत्वारिंशत्

(४२) बयलीस <बायालीसं<द्वि — चत्वारिंशत्
(४३) तितालीस <तेआलीसा< त्रि- ,,
(४४) चवालीस <चोवालीसा<चतुश् ,,
(४५) पैंतालीस <पञ्चचत्तालीसा<पञ्च ,,
(४६) छियालीस <*छच्चत्तालीसा<षट् ,,
(४७) सैंतालीस <*सत्तालीसा<सप्त ,,
(४८) अड़तालीस <अट्ठअत्तालीसं<अष्ट ,,
(४९) उन्चास <ऊणपंचास, ऊणपंचासा<ऊन-पञ्चाशत्
(५०) पचास <पण्णासा, पंचासा<पञ्चाशत्
(५१) इक्यावन्<एक्कावण्णं<एक-पञ्चाशत्
(५२) बावन्<बावण्णं<द्वि- ,,
(५३) त्रेप्पन् तिरपन्<तेवण्ण,*त्रिप्पण्ण<त्रि- ,,
(५४) चौवन्<*चउप्पण्ण<चतुः- ,,
(५५) पच्पन्<पंचावण्ण<पञ्च- ,,
(५६) छप्पन्<*छप्पण्ण<षट् पञ्चाशत्
(५७) सत्तावन् <*सत्तावण्णं<सप्त ,,
(५८) अट्ठावन्<*अट्ठवण्णं<अष्ट ,,
(५९) उनसठ्<एगूणसट्ठिं, अउणट्ठिं<ऊनषष्ठि
(६०) साठ्<सट्ठि;<षष्टि
(६१) इकसठ्<*एकसट्ठि<एक षष्ठि
(६२) बासठ्<*बासट्ठि<द्वा ,,
(६३) त्रेसठ्<*तेसट्ठि, तिरसट्ठि<त्रि- ,,
(६४) चौंसठ्<*चउंसट्ठि<चतुः ,,
(६५) पैंसठ्<पञ्चसट्ठि<पञ्च ,,
(६६) छियासठ्< षट् ,,
(६७) सड़सठ्<सत्तसट्ठि<सप्त ,,
(६८) अड़सठ्<अट्ठसट्ठि<अष्ट ,,
(६९) उन्हत्तर<एगूणसत्तरिं<ऊन-सप्तति
(७०) सत्तर्<सत्तरि< सप्तति
(७१) इकहत्तर्<*एकसत्तरि,*एकहत्तरि<एक सप्तति
(७२) बहत्तर्<बिसत्तरिं,बावत्तरिं <द्वि० ,,

(७३) तिहत्तर्<तेवत्तरिं<त्रि ,,
(७४) चौहत्तर्<चउहत्तरिं<चतुर् ,,
(७५) पिचहत्तर्<पञ्चहत्तरि पञ्चत्तरि<पञ्च ,,
(७६) छियत्तर्<छावत्तरि<षट् ,,
(७७) सतत्तर<सत्तहत्तरिं<सप्त ,,
(७८) अठहत्तर्<अट्ठहत्तरिं<अष्ट ,,
(७९) उनास्सी<*उणासी<एकोनाशीति
(८०) अस्सी<असीइ<अशीति
(८१) इक्यासी<एक्कासीइं<एकाशीति
(८२) बयासी<बासीइं<द्वयशीति
(८३) तिरासी<तेसीइ<त्र्यशीति
(८४) चौरासी<चउरासीइ<चतुरशीति
(८५) पचासी<पच्चासीइं<पञ्चाशीति
(८६) छियासी<छड़सीइं<षड्शीति
(८७) सतासी<सत्तासीइं<सप्ताशीति
(८८) अठासी<अट्ठासि<अष्टाशीति
(८९) नवासी<एगूणनउइं<नवाशीति, एकोननवति
(९०) नब्बे<नउए, नव्वए<नवति
(९१) इक्यान्बे<एक्काणउइं<एक ,,
(९२) बान्बे<बाणउइं<द्वि ,,
(९३) तिरान्बे<तेणउइं<त्रि ,,
(९४) चौरान्बे<चउणउइं<चतुर् ,,
(९५) पचान्बे<पञ्चाणउइं<पञ्च ,,
(९६) छियान्बे<छएणउइं<षण्णवति
(९७) सत्तान्बे<सत्तानउए<सप्त-नवति
(९८) अठान्बे < <अष्टा ,,
(९९) निन्यान्बे< <नव ,,
(१००) सौ<सउ, सव, सअ<शत
(१०००) हजार<सहस्र, दश-शत्
(दस् सौ)
लाख् <लक्ख<लक्ष

(१००,००,०००) करोड़ <कोडि, कोड <कोटि
(१००,००, ००,०००) अरब् <अर्बुद
(१००,००,००,००,०००) खरब् <खर्व

§३१६. आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषा की सभी शाखाओं में, गणनात्मक सख्यावाचक-विशेषण-पदों की अत्यधिक समानता, भाषा-विज्ञानियों के सम्मुख एक जटिल समस्या है। इन विशेषण-पदों में भारतीय-आर्य-भाषा के विभिन्न-प्रादेशिक-ध्वनि-परिवर्तन नहीं हुए हैं। यदि ऐसा हुआ होता तो अन्य शब्द-रूपों के समान इनके रूपों में भी पर्याप्त भिन्नता परिलक्षित होती। इस समानता का कारण डा० सुनीति कुमार चैटर्जी के अनुसार इन विशेषण-पदों का मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा की किसी विशेष बोली से सभी आ० भा० आ० भाषाओं में एक ही रूप में ग्रहण किया जाना हो सकता है। डा० चैटर्जी का विचार है कि मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के प्रथम-पर्व में मध्य-देश की भाषा पाली से इन संख्यावाचक-विशेषण-पदों का अत्यधिक सादृश्य यह स्पष्ट घोषित करता है कि पाली के इन रूपों का समस्त देश में प्रचार हो गया था और इन्होंने स्थानीय-रूपों को दबा दिया था, यद्यपि किसी-किसी संख्यावाचक-विशेषण के स्थानीय-रूप भी मिल जाते हैं; यथा—पंजाबी वीह् (हिं० बीस्) सिंधी- बए गु० बे, बं० दुइ (हिं० दो)। परन्तु ये स्थानीय-रूप अत्यल्प-संख्या में बचे हैं। पाली में भी द्वादश का रूप-परिवर्तन पालि की प्रकृति के अनुसार दुवादस या द्वादस होना चाहिए और यह रूप पाली में मिलता भी है। परन्तु इसके साथ ही पाली में द्वादश>बारस रूप भी मिलता है, जो संभवतः किसी अन्य बोली से पाली में चला आया होगा। पूर्व-पीठिका में पाली के प्रसंग में लिखा जा चुका है कि साहित्यिक-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर पाली में प्राच्य, उत्तर-पश्चिम एवं दक्षिण-पश्चिम की बोलियों के रूप भी आ गए थे। इसप्रकार जान पड़ता है कि गणनात्मक-संख्यावाचक-विशेषण-पदों के रूप में भिन्न-भिन्न बोलियों के ध्वनि-तत्वों का सम्मिश्रण भी हुआ और मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा-काल में यह सर्वत्र एक ही रूप में गृहीत हुए। विभिन्न आ० भा० आ० भाषाओं के गणनात्मक-संख्यावाचक-विशेषण-पदों में स्>ह्, इत्यादि परिवर्तनों की (यथा-पंजाबी-वीह्, चालीह्, बाह्ठ, परन्तु हिन्दी, बीस, चालीस, बासठ्) से विदित होता है कि पाली से इन संख्या-वाचक-विशेषण पदों को ग्रहण करने के पश्चात् उत्तर-पश्चिम की भाषा में स्>ह् परिवर्तन हुआ और तब यह परिवर्तन अन्य प्रादेशिक-भाषाओं में भी विभिन्न-अंशों में गृहीत हुआ।

§३२०. नीचे डा० चैटर्जी+के आधार पर हिन्दी के गणनात्मक संख्यावाचक-विशेषणों के मुख्य-मुख्य परिवर्तनों पर विचार किया जाता है।

(१) एक् –ध्वनि-परिवर्तन की सामान्य-प्रवृत्ति के अनुसार म० भा० आ० में प्रा० भा० आ० का प्रतिरूप एअ होना चाहिए था। परन्तु इस सामान्य प्रवृत्ति का उल्लंघन कर एक् शब्द व्यञ्जन-ध्वनि 'क्' को सुरक्षित रख सका; यह इसके प्रयोगाधिक्य का ही प्रभाव समझना चाहिए। अन्य संख्यावाचक शब्दों के साथ संयुक्त होने पर एक् का हिन्दी में 'इक्' रूप हो जाता है; यथा इक्कीस इकत्तीस, इक्तालीस, इक्कावन, इक्सठ इकहत्तर, इत्यादि। इस परिवर्तन का कारण विवृताक्षर में स्वराघात की निर्बलता है। परन्तु ग्यारह् में 'क्'>'ग्' परिवर्तन की असामान्य-स्थिति प्रदर्शित करता है। संभवतः इस पर प्रा० भा० आ० एक>अर्ध-मागधी एग का प्रभाव पड़ा है।

(२) दो—इसकी उत्पत्ति म० भा० आ० दो<प्रा० भा० आ० द्वौ से है। अन्य संख्याओं के साथ संयुक्त होने पर दो का बा अथवा ब में परिवर्तन हो जाता है; यथा बारह्, बाइस, बत्तीस, बयालीस, बावन, इत्यादि। इस परिवर्तन में बा, ब<प्रा० भा० आ० द्वा। यह परिवर्तन दक्षिण-पश्चिम में प्रारम्भ होकर अन्य क्षेत्रों में गृहीत हुआ।

अन्य शब्दों के साथ समस्त होने पर दो>दु; यथा दुहरा, दुमुंहा, दुतल्ला, दुपाया, इत्यादि। परन्तु दोपहर् इत्यादि शब्दों में यह परिवर्तन नहीं मिलता।

(३) तीन—इसकी व्युत्पत्ति म० भा० आ० तिण्णि < प्रा० भा० आ० त्रीणि से है। नपुंसक-लिङ्ग का यह रूप म० भा० आ० भाषाकाल के प्रारम्भ से ही तीनों-लिङ्गों में व्यवहृत होने लगा था। अशोक के कालसी एवं धौली-जौगड अभिलेखों में 'तिन्नि, तिनि (कालसी) पानानि, प्रयोग मिलता है, जब कि गिरनार-अभिलेख में त्री, (त्री) प्राणा और शाहबाज़गढ़ी में त्र-(यो) प्रण रूप मिलते हैं।

म० भा० आ० तिण्णि रूप की व्युत्पत्ति सीधे त्रीणि से न होकर बीच के रूप * तीर्णि से हुई जान पड़ती है, क्योंकि ध्वनि-परिवर्तन की सामान्य-दिशा का अनुसरण करते हुए त्रीणि का म० भा० आ० में तीणि अथवा (मागधी) टीणि रूप बनाना चाहिये था। अनुमानित * तीर्णी में संयुक्त-व्यञ्जन

+ बैं० लैं० §५१३-५३३

के समीकरण तथा परिणामतः पूर्व-दीर्घ स्वर का ह्रस्व करने से तिरिण रूप निष्पन्न हुआ; यही परिवर्तन का सामान्यतः प्राप्त-रूप है। मागधी में त्रि > टि आज भी हिन्दी 'टिकठी' (फांसी का खंभा) शब्द (<त्रि-काष्ठिका) में उपलब्ध है।

अन्य संख्या-वाचक शब्दों के साथ संयोग होने पर तीन् का ते (यथा-तेरह् < त्रयोदश; तेइस् < त्रयोविंश), तैं (यथा-तैंतीस्, पैंतीस),ति (यथा, तितालीस्), अथवा तिर् (तिर्पन) रूप हो जाता है। यह रूप त्रयः अथवा त्रि से व्युत्पन्न हैं।

समस्त-पदों में स्वर-सङ्गति के फल-स्वरूप ते > ति; यथा-तिहाई < त्रिभागिक; तिपाई < त्रिपादिका इत्यादि।

(४) चार् – इसकी उत्पत्ति पुरानी-हिंदी-च्यारि < म० भा० आ० (प्रा०) चत्तारि, अप० चारि<प्रा० भा० आ० चत्वारि से हुई है। त्रीणि के समान नपुंसक-लिङ्ग, रूप चत्वारि भी अन्य लिङ्गों में प्रयुक्त होने लगा होगा। अशोक के कालसी अभिलेख में पुल्लिङ्ग में भी चत्तालि रूप प्रयुक्त हुआ है। परन्तु (प्रा०) चत्तारि > अप० चारि में 'त्त्' के लोप का स्पष्ट कारण नहीं दीखता। संभवतः समस्त-पदों के साथ चतुः—>चउ—के सादृश्य पर यहाँ भी त्त् का लोप हुआ।

अन्य संख्या-वाचक-शब्दों के साथ संयोग होने पर इसका रूप चौ, चौं < चउ– < चतुः—होता है; यथा—चौबीस, चौंतीस, इत्यादि। समस्त-पदों में चौ अथवा चार् का प्रयोग होता है; यथा—चौपाया, चौराहा, चार्पाई।

(५) पाँच – इसकी व्युत्पत्ति म० भा० आ० पञ्च < प्रा० भा० आ० पञ्च से है। संख्यावाचक-शब्दों के साथ संयुक्त होने पर इसका रूप पन् वन् या अन् (यथा-पन्द्रह्, इक्कावन्, चौवन्, छप्पन्) या पैं (यथा-पैंतीस्, पैंतालीस्) हो जाता है। इन रूपों की उत्पत्ति क्रमशः म० भा० आ० पण्ण, पञ्च से है। पँचमेल इत्यादि समस्त-पदों में पाँच > पँच् स्वराघात के निर्बल पड़ने के कारण है।

(६) छः,छै – म० भा० आ० में इसका रूप 'छ' मिलता है। परन्तु हिन्दी में सोलह् < षोडश इत्यादि रूपों में ष् > स् देखकर, यह समझना कठिन है कि 'छः' में ष > छ् कैसे हो गया। डा० चाटुर्ज्या ने इसकी व्याख्या के लिए प्रा० भा० आ० के * क्षश * क्षक् रूपों की कल्पना की है। क्ष् > छ् परिवर्तन की सामान्य-स्थिति से मेल खा जाता है। संख्या-वाचक शब्दों के साथ

संयुक्त होने पर इसका छ (यथा-छत्तीस, छब्बीस्) या छिया (यथा—छियासठ्; छियालीस्) रूप होता है।

(७) सात्—इसकी उत्पत्ति म० भा० आ० सत्त<प्रा० भा० आ० सप्त से स्पष्ट है। अन्य संख्यावाचक-शब्दों के साथ संयुक्त होने पर इसके सत्त या सत् (यथा—सत्ताइस सतावन्), सैं (यथा, सैंतीस) तथा सड़् (यथा, सड़सठ्) रूप होते हैं। सैं<सइं स्वर-संगति के कारण जान पड़ता है और पैंतीस के सादृश्य पर इसमें अनुनासिकता का समावेश हुआ है। सड़् में परिवर्तन का असामान्य रूप मिलता है। संभवतः यह छड़सठ के सादृश्य पर हुआ है।

(८) आठ्—इसकी व्युत्पत्ति म० भा० आ० अट्ठ<प्रा० भा० आ० अष्ट से स्पष्ट है। अन्य संख्यावाचक-शब्दों के साथ मिलने पर इसके अठ, अट्ठ, या अठा रूप होते हैं; यथा-अठहत्तर, अट्ठाईस, अठास्सी। अड़तीस् इत्यादि रूपों में अठ>अड़् असाधारण परिवर्तन है।

(९) नौ—इसका सम्बन्ध म० भा० आ० नउ, नअ<प्रा० भा० आ० नव से स्पष्ट है। संयुक्त-संख्यावाचक-शब्दों में नौ का व्यवहार न कर, प्रा० भा० आ० ऊन>उन् का प्रयोग होता है; यथा, उन्नीस<ऊनविंशत्।

(१०) दस्—इसकी उत्पत्ति म० भा० आ० दस<प्रा० भा० आ० दश से स्पष्ट है। संयुक्त-संख्या-वाचक शब्दों में दह, रह, लह् रूप मिलते हैं; यथा-चौदह् बारह, सोलह्।

(११) बीस—प्रा० भा० आ० विंशति>(पाली)-वीसति, वीसइ, वीसई; (पाली) वीसा-बीस, बीस। बीस की उत्पत्ति त्रिंशत् के सादृश्य पर विंशत् से हुई प्रतीत होती है। अन्य संख्यावाचक-शब्दों के साथ संयुक्त होने पर बीस या ईस रूप मिलते हैं; यथा-चौबीस, बाइस, पच्चीस्, उन्नीस्।

बीस के लिए हिंदी में 'कोड़ी' शब्द भी प्रयुक्त होता है। यह शब्द संभवतः कोल-प्रभाव से हिन्दी में आया है, क्योंकि बीस् को इकाई मानकर गिनने की प्रथा कोल-भाषाओं में सुप्रतिष्ठित है।

(१२) तीस्—इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० आ० त्रिंशत् से स्पष्ट है। अन्य संख्यावाचक-शब्दों के साथ संयोग होने पर भी इसका यही रूप रहता है; यथा-इकत्तीस, बत्तीस, इत्यादि।

(१३) चालीस्—इसकी उत्पत्ति म० भा० आ० चत्तालीस<प्रा० भा०

आ० चत्वारिंशत् से है। र्>ल् से विदित होता है कि चतालीस रूप, प्राच्य-प्रदेश से, अन्य-क्षेत्रों में गृहीत हुआ।

अन्य संख्यावाचक-शब्दों के साथ संयुक्त होने पर इसके तालीस, बालीस् या यालीस रूप होते हैं; यथा-इक्तालीस, बयालीस्, तितालीस् चवालीस।

(१४) पचास—प्रा० भा० आ० पञ्चाशत् से इसकी व्युत्पत्ति स्पष्ट है। अन्य संख्याओं के साथ मिलने पर इसके पन, वन, रूप मिलते हैं जो म० भा० आ० पंण, पन्न से व्युत्पन्न हैं; यथा-तिरपन, चौवन् बावन् इत्यादि। उन्चास् में प का लोप भी मिलता है।

(१५) साठ—इसकी उत्पत्ति म० भा० आ० सट्ठि<प्रा० भा आ० षष्टि—से स्पष्ट है। संयुक्त-संख्यावाचक-शब्दों में स्वराघात के प्रभाव से इसका रूप सठ् हो गया है; यथा-इकसठ, बासठ् आदि।

(१६) सत्तर्—प्रा० भा० आ० सप्तति के पाली में सत्तति, सत्तरि, दोनों, प्रतिरूप मिलते हैं। त्> र् परिवर्तन का क्रम त्> ट्>ड्> र् रहा होगा और संभवतः ड्> र् परिवर्तन सप्तदश>सत्तरह् से प्रभावित हुआ होगा। हिंदी में द्वित्व-व्यञ्जन 'त्त्' की अवस्थिति पंजाबी प्रभाव का सूचक है। संयुक्त-संख्या-वाचक शब्दों में साधारणतया सत्तर्>हत्तर्; यथा—इकहत्तर, बहत्तर, परन्तु सतत्तर अठत्तर में 'ह' भी लुप्त हो गया है।

(१७) अस्सी—इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० अशीति से स्पष्ट है। संयुक्त-संख्याओं में इसका रूप आसी या यासी है, जो हिंदी के ध्वनि-विकास के अनुकूल है; यथा-इकासी, बयासी। 'अस्सी' में द्वित्व-व्यञ्जन पंजाबी प्रभाव के कारण विद्यमान है।

(१८) नब्बे—प्रा० भा० आ० नवति से इसकी व्युत्पत्ति हुई है। द्वित्व-व्यञ्जन 'ब्ब' में भी पंजाबी प्रभाव अभिलक्षित है। संयुक्त-संख्याओं में यह नवे हो जाता है; यथा-इक्यानबे, बानबे, इत्यादि।

(१९) सौ—इसकी उत्पत्ति सउ<सव, सअ<शत-से हुई है। संयुक्त-संख्यावाचक-शब्दों में भी यही रूप सुरक्षित है; यथा—दो सौ, पाँचसौ, आदि। सैकड़ा शब्द में सै'<सइ, सय, सअ।

(२०) हज़ार—यह शब्द फारसी से हिंदी में आया है।

(२१) लाख—इसकी व्युत्पत्ति म० भा० आ० लक्ख<प्रा० भा० आ० लक्ष से स्पष्ट है। समस्त पदों में लाख>लख्; यथा-लखपती।

(२१) करोड़—यह शब्द संभवतः सं० कोटि>कोडि, कोड को संस्कृत-रूप देने की प्रवृत्ति के कारण बन गया है। संस्कृत से अनभिज्ञ लोगों के मुख से भोर्जन, श्राप जैसे अशुद्ध रूप आज भी इस प्रवृत्ति के निर्देशक हैं।

(२३) अरब शब्द सं० अर्बुद से व्युत्पन्न हुआ है और खरब, सं० खर्व का अ० त० रूप है।

(२) क्रम-वाचक या क्रमात्मक-संख्यावाचक-विशेषण

§३२१. हिन्दी में प्रारम्भ के चार क्रमात्मक-संख्यावाचक-विशेषण-पदों के रूप एक दूसरे से कुछ भिन्न हैं। यह व्युत्पत्ति-सहित नीचे दिए जाते हैं—

पहला<(अप०) पहिल-, पढ़िल्ल- (पढ्म + इल्ल) <सं० प्रथम-।

दूसरा, तीसरा } इनकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है। हार्नले ने—सरा की उत्पत्ति सं० सृत-से मानी है। इसप्रकार इन रूपों की उत्पत्ति सं० द्विस्सृत, त्रिस्सृत-से होगी।

चौथा<चउत्थ<चतूर्थ-।

§३२२. शेष क्रम-वाचक संख्याओं के आगे -वाँ प्रत्यय लगता है। छह् के छठवाँ एवं छठाँ, दोनों, रूप होते हैं। छठाँ की व्युत्पत्ति सं० षष्ट-से है। -वाँ<-वँ (+आ) <-मः (यथा सं० पञ्चमः इत्यादि)।

§३२३. क्रमात्मक-संख्यावाचक-विशेषणों में भी विशेष्य के अनुरूप आकारान्त-विशेषण-पदों के से रूप-विकार होते हैं; यथा, पाँचवाँ लड़का, पाँचवीं लड़की, पाँचवें लड़के-लड़कों को, इत्यादि।

(३) गुणात्मक-संख्यावाचक-विशेषण (Denominatives)

§३२४. हिन्दी में गुणात्मक-संख्यावाचक-विशेषणों के रूप में या तो बार (<सं० वारम्) शब्द प्रयुक्त होता है; यथा, दो बार सात (=चौदह) इत्यादि अथवा दूनी दूना, तिया, चौका आदि शब्दों (विशेषतया पहाड़े में) का व्यवहार किया जाता है। पहाड़े में प्रयुक्त गुणात्मक-संख्यावाचक-विशेषण-पद निम्नलिखित हैं—

(१) इकं, या एकं; यथा एक इकं या एकं, एक (<सं० एकम्)।

(२) दूना, दूनी; यथा, दो दूना चार (<सं० द्विगुणः)।

(३) तिया; यथा, तीन तिया नौ (<सं० तृतीयक—)।

(४) चौका; यथा, चार चौका सोलह (<सं० चतुष्क-(+क-))।

(५) पञ्जा; या पचे यथा, पाँच् पञ्जा या पचे पचीस (<सं० पञ्चक-)

(६) छका; यथा, छह छका छत्तीस (<सं० षट्क (+क))

(७) सत्ता, या सते; यथा, सात् सत्ता या सते उन्चास (<सं०सप्तक-)।

(८) अट्ठा, या अट्ठे; यथा, आठ अट्ठा या अट्ठे चौंसठ् (<सं० अष्टक-)।

(९) नौं नवा; यथा, नौ नवाँ इकासी (<सं० नवम-)।

(१०) दहाम्; यथा, दस् दहाम् सौ (<सं०दशम-, प्रा० दसन-)।

दूना, तिया इत्यादि शब्द तिर्यक-रूप में भी व्यवहृत होते हैं; यथा, दो दूने चार, तीन तिये नौ इत्यादि।

(४) समूह-वाचक-संख्याएँ (Collective-Numerals)

§३२५. हिन्दी में साधारणतया निम्नलिखित—शब्दों का प्रयोग समूह-वाचक-संख्याओं को प्रकट करने के लिए होता है—

जोड़ा, जोड़ी<उत्तरकालीन सं० युट (मिला० सं० युटक-)।

गंडा 'चार का समूह'<मुण्डा एवं संथाली शब्द गंडा।

चौक् 'चार का समूह'<म० भा० आ० चउक्क<चतुष्क-।

पञ्जा 'पांच का समूह'<पञ्चअ-<पञ्चक-।

कोड़ी 'बीस का समूह'।

सैकड़ा 'सौ का समूह'<सं० शत-कृत-।

लखा, लक्खा; (यथा, नौलखा हार) <सं० लक्ष (+कः)।

इनके अतिरिक्त गणनात्मक-संख्यावाचक-विशेषणों में -आ अथवा -ई प्रत्यय के योग से भी समूह का अर्थ प्रकट होता है; यथा, बीसा, चालीसा, बत्तीसी, हजारा, सतसई, इत्यादि।

§३२६. इक्का, दुग्गा, तिग्गा, चौका, पञ्जा, छक्का, सत्ता, अट्ठा, नहला, दहला शब्द ताश के पत्तों के नाम के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनकी व्युत्पत्ति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इनमें द्वित्व-व्यञ्जनों की स्थिति से अनुमान किया जाता है कि कदाचित् ये पंजाबी से आए हैं।

(६) समानुपाती-संख्यावाचक-विशेषण
(Proportional Numerals)

§३२७. साधारणतया संख्याओं में 'गुना' (<सं० गुण (+क), प्रा० गुणअ) शब्द के योग से समानुपाती-संख्या-वाचक-पद बनाए जाते हैं। इनके योग से गणनात्मक-संख्यावाचक-शब्द के रूप में थोड़ा परिवर्तन हो जाता है; यथा—दुगुना-दुगूना-दूना (=दो+गुना), तिगूना—तिगुना, चौगुना पंचगुना आदि।—'गुना' के स्थान पर कुछ संख्या वाचक-शब्दों में 'हरा'

भी जोड़ा जाता है। इस 'ह्रा' की उत्पत्ति सं० ह्र 'भाग' से बताई जाती है।

(६) भिन्नात्मक-संख्यावाचक-विशेषण

(Fractional Numerals)

§३२८. हिन्दी की भिन्नात्मक-संख्याएँ नीचे व्युत्पत्ति सहित दी जाती हैं। सभी आ० भा० आ० भाषाओं में ये वर्तमान हैं।

$\frac{१}{४}$ पौवा, पाव<म० भा० आ० पाउआ (पाउ+उका), पाअ< सं० पाद

$\frac{३}{४}$ पौन्, पौना<पाउण<पादोन;

$\frac{१}{३}$ तिहाई<तिहाइअ<त्रिभागिक;

$\frac{१}{२}$ अद्धा, आधा<अद्धअ<अर्द्धक;

१$\frac{१}{२}$ डेढ़, ड्योढ़ा<डि-अड्ढ (अ)<द्वि-अर्द्ध (क);

२$\frac{१}{२}$ ढाई, अढ़ाई<अड्ढइअ<अर्द्ध-तृतीय (क);

१$\frac{१}{४}$ सवा<सवाअ<सपाद;

(तिर्यकरूप)

+$\frac{१}{२}$ साढ़े<सड्ढ<सार्द्ध।

(७) ऋणात्मक-संख्यावाचक-विशेषण

§३२९. हिन्दी में ऋणात्मक संख्या 'कम्' (<फा० कम) के योग से बनती हैं; यथा—एक कम् सौ (=निन्यान्वे)। प्रायः अशिक्षित-लोगों के व्यवहार में इसप्रकार के पद-समूहों का प्रयोग मिलता है।

(८) प्रत्येकवाची-संख्यावाचक-विशेषण

§३३०. प्रत्येक-वाची-संख्याएँ किसी गणनात्मक-संख्यावाचक शब्द को दुहराने से प्रकट की जाती है: यथा, एक-एक, सौ-सौ इत्यादि।

(९) निश्चित-संख्यावाचक-विशेषण

§३३१. निश्चित-भाव प्रकट करने के लिए गणनात्मक-संख्यावाचक शब्दों में ओ प्रत्यय लगाया जाता है; यथा, दोनों ('तीनों' के सादृश्य पर यहाँ 'नों' लगाया गया है) तीनों, चारों पांचों, इत्यादि।

(१०) अनिश्चित-संख्यावाचक-विशेषण

§३३२. अनिश्चय का भाव प्रकट करने के लिए दस्, बीस्, तीस्, सैकड़ा, हजार आदि दस् को गुणित संख्या-वाचक-शब्द में ओ प्रत्यय लगाया जाता है; यथा, दसों, बीसों, पचासों, सैकड़ों, हजारों इत्यादि।

§२३३. अनिश्चय का भाव प्रकट करने लिए संख्याओं के साथ 'एक' शब्द लगाने की भी प्रथा है; यथा पांच एक, सात एक, दस एक। 'एक' के साथ 'आध्' जोड़कर बना हुआ 'एकाध्' शब्द भी अनिश्चय का भाव प्रकट करता है। इसीप्रकार दो संख्या-वाचक शब्दों के योग से भी अनिश्चय व्यक्त किया जाता है; यथा, दस-पांच, दस-बीस्, बीस्-तीस्, दस्-ग्यारह, दो-चार, पांच-सात्, इत्यादि।

ग्यारहवाँ अध्याय

सर्वनाम

§३३४. वैदिक तथा लौकिक (पाणिनीय) संस्कृत के सर्वनाम के रूपों का बहुत-कुछ स्थिरीकरण हो चुका था। हिन्दी-सर्वनामों की उत्पत्ति इन्हीं से हुई; किन्तु प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक-भाषाओं तक आते-आते इनमें पर्याप्त परिवर्तन हो गया। कई आधुनिक-आर्य-भाषाओं में, सर्वनामों के, विकल्प से, अनेक रूप मिलते हैं, किन्तु उन सभी को कतिपय मूलरूपों के अन्तर्गत लाया जा सकता है।

संज्ञापदों की भाँति ही, समय की प्रगति के साथ-साथ, सर्वनामों के विकारी-रूपों का भी लोप होता गया और उनके स्थान पर सम्बन्ध और अधिकरण कारकों के रूपों का व्यवहार होने लगा। संस्कृत में उत्तम तथा मध्यम पुरुष के सर्वनामों में वस्तुतः लिङ्ग भेद न था, किन्तु अन्यपुरुष के सर्वनाम में लिङ्ग का विचार किया जाता था। आधुनिक-आर्य-भाषाओं में प्रायः इसका भी लोप हो गया। आधुनिक आर्य-भाषाओं के सम्बन्धकारक के रूप वस्तुतः विशेषण हैं, क्योंकि लिङ्ग तथा वचन में वे विशेष्य के अनुसार होते हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी ये रूप विशेषण ही थे और हिन्दी में इनका यह रूप आज भी अक्षुण्ण है। यथा—हिन्दी—मेरा बैल, मेरी गाय।

सर्वनाम के कई भेद हैं; यथा—

(१) व्यक्तिवाचक या पुरुषवाचक (Personal)।
(२) उल्लेख-सूचक (Demonstrative)।
(क) प्रत्यक्ष-उल्लेख-सूचक (Near Demonstrative)।
(ख) परोक्ष या दूरत्वउल्लेखसूचक (Remote Demonstrative)।
(३) साकल्य-वाचक (Inclusive)।
(४) सम्बन्ध-वाचक (Relative)।
(५) पारस्परिक-सम्बन्धवाचक (Co-relative)।
(६) प्रश्न-सूचक (Interrogative)।

(७) अनिश्चय-सूचक (Indefinite) ।
(८) आत्मवाचक (Reflexive) ।
(९) पारस्परिक (Reciprocal) ।

पुरुषवाचकसर्वनाम

§ ३३५. इस सर्वनाम के, हिन्दी के, केवल उत्तम तथा मध्यमपुरुष के रूप मिलते हैं । अन्यपुरुष में परोक्ष वा दूरत्व-उल्लेखसूचक सर्वनाम के रूप ही प्रयुक्त होते हैं ।

[क] उत्तमपुरुष

हिन्दी में इसके निम्नलिखित रूप हैं :—

	ए० व०	ब० व०
अविकारी	मैं	हम
कर्म	मुझे	हमें (हम+को)
तिर्यक या विकारी	मुझ	हम
सम्बन्ध (पु०)	मेरा	हमारा
,, (स्त्री० लि०)	मेरी	हमारी

व्युत्पत्ति—हिन्दी मैं की उत्पत्ति सं० मया+एन से हुई है । प्राकृत के करण कारक में मया>मए । अपभ्रंश में इसके मैं तथा मइँ रूप मिलते हैं । अपभ्रंश तथा हिन्दी के अनुनासिक का कारण वस्तुतः एन है । (बै० लैं० § ५३६) । यह अनुनासिक, पंजाबी मैं गु० मैं तथा भो० पु० में, अव० मैं, सिं० तथा उ० मुँ, प्रा० मरा० म्याँ एवँ आ० मरा० मीं में वर्तमान है । बं० तथा अस० में मुइ तथा मइ रूपों में, यद्यपि अनुनासिक का लिखित-रूपों में प्रयोग नहीं होता तथापि उच्चारण में वहाँ भी अनुनासिक वर्तमान है ।

संस्कृत वयम् के स्थान पर वैदिक अस्मे से हम की उत्पत्ति निम्न-लिखित रूप में हुई—

अस्म->*अम्ह>*ह्म्म>हम ।

बं० आमि की उत्पत्ति भी अस्मे>आम्हे>आम्हि होते हुए हुई है, किन्तु चर्यापदों के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन-बँगला में ही यह बहुवचन से एक वचन हो गया था । असमिया में आमि आज भी बहु-बचन-बोधक ही है ।

व्रजभाखा में उत्तमपुरुष, एक वचन का एक रूप 'हौं' भी मिलता है। इसकी उत्पत्ति अहम् से निम्नलिखित रूप में हुई है —

अहम्>अहकं>*हअं>*हवं>हौं।

मुझ तथा म० पु० तुझ् की उत्पत्ति क्रमशः सं० मह्यम् तथा तुभ्यम् से निम्नलिखितरूप में हुई है —

मह्यम्>मा० भा० आ० मज्झ>मुझ ['म' में उकार का आगम तुझ् के सादृश्य पर हुआ।]

तुभ्यम्>म० भा० आ० तुज्झ>तुझ।

प्रो० लासेन ने ह्य>ज्झ के लिए सं० √लिह् - प्रा० लिज्झ उदाहरण उपस्थित किया है।

'हम' की व्युत्पत्ति ऊपर दी जा चुकी है, 'हमें' में- एं का आगमन वस्तुतः सं० एन से हुआ है।

'मेरा' की उत्पत्ति 'मम-केर' से निम्नलिखितरूप में हुई है—

मम-केर (<कार्य)>ममेर>मेर-आ>मेरा।

इसीप्रकार हमारा की उत्पत्ति *अस्म-कर से निम्नलिखितरूप में हुई है—

अस्मकर>हमारा।

अवधी तथा भोजपुरी मोर की उत्पत्ति*मम-कर से हुई है—

*ममकर>*मोअर>मोर।

मेरी हमारी में ई वस्तुतः स्त्री-प्रत्यय है।

§३३६. [ख] मध्यमपुरुष

हिन्दी में इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	ए० व०	ब० व०
अविकारी	तू	तुम
कर्म	तुझे	तुम्हें
तिर्यक या विकारी	तुझ्	तुम्ह्, तुम्
सम्ब० (पुं०)	तेरा	तुम्हारा
(स्त्री० लिं०)	तेरी	तुम्हारी

व्युत्पत्ति— तू की उत्पत्ति वैदिक तु (जैसा कि तु-अम् में मिलता है) तथा त्वम् = प्रा० तू, से हुई है। सं० युष्मे का रूप प्रा० में तुम्हें हो गया

तथा युष्म का रूप प्रा० में तुम्ह बन गया। इसी से तुम् भी बना। इन रूपों में 'तू' के प्रभाव से सं० यु->तु-। तुम्ह की व्युत्पत्ति तुभ्यम् से पहले दी जा चुकी है। तेरा की उत्पत्ति तव-केर (<कार्य) से हुई। तुम्हारा की उत्पत्ति तुम्ह<युष्म+केर (<कार्य) से हुई। तेरी तथा तुम्हारी में स्त्री-लिङ्ग प्रत्यय-ई है।

§ ३३७. प्रत्यक्ष-उल्लेखसूचकसर्वनाम

हिन्दी में इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	ए० व०	ब० व०
अविकारी	यह्	ये
तिर्यक्	इस	इन्ह्

व्युत्पत्ति—यह् की उत्पत्ति सं० एषः से निम्नलिखित रूप में हुई है—

एषः>पा० एस प्रा० एसो>अप० एहो>यह्। बहुवचन 'ये' की उत्पत्ति सं० एते से निम्नलिखित रूप में हुई है—

एते>प्रा० एए, एये (य-श्रुति से)>अप० एह>ये।

तिर्यक इस् की उत्पत्ति एतस्य से निम्नलिखित रूप में हुई है—

एतस्य>पा० एतस्य>प्रा० एअस्स> इस्।

इन्ह् की व्युत्पत्ति इसप्रकार है—

* एताषाम्>सं० एतेषाम्>* एतानाम्>* एआण>* एएह्>* एन्ह्>इन्ह्।

§ ३३८. परोक्ष वा दूरत्वउल्लेखसूचक

हिन्दी में इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	ए० व०	ब० व०
अविकारी	वह	वे
तिर्यक	उस्	उन्ह्

व्युत्पत्ति—वह की व्युत्पत्ति सं० अदस् शब्द के रूप, 'असौ' (प्र० ए० व०) से निम्नलिखितरूप में हुई है—

सं० असौ > पा० असु, प्रा० असो > अहो; ओह, वह।

'वे' का पूर्व-रूप अपभ्रंश में 'ओइ' मिलता है; यथा—जइ पुच्छहु घर वड्डएं तो वड्डा घर 'ओइ' (हे० च० पद ४५) 'यदि तुम बड़े घर को पूछते हो तो बड़े घर वे हैं'। अविकारी ए० व० के रूप 'वह्' में करण-कारक ब० व०

की विभक्ति सं० एभिः > अप० अहि > – अइ > हिं० – ए जोड़कर 'वे' रूप निष्पन्न हुआ प्रतीत होता है।

'उस्' की उत्पत्ति सं० 'अमुष्य से निम्नलिखितरूप में हुई—

सं० अमुष्य > पा० अमुस्स, प्रा० * अउस्स > हिं० उस्।

'उन्ह्' की व्युत्पत्ति इसप्रकार है—

सं० अमुष्याम् > * अमूनाम् > * अउणं > * उण्ह्, उन्ह्।

डा० चाटुर्ज्या ने इन रूपों की उत्पत्ति संस्कृत सर्वनाम अव–से मानी है।[1] यह अव – वेद में केवल एक स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन-फारसी में भी इस अव – के कुछ रूप मिलते हैं। परन्तु भा० आ० भा० में इसके केवल एक अति-प्राचीन उदाहरण को देखकर यह कहना कठिन ही है कि आ० भा० आ० भाषाओं तक में इसके रूप जीवित रहे होंगे। डा० टर्नर ने भी अव –से इन सर्वनाम-रूपों की व्युत्पत्ति को असंभावित बताया है।[2]

साकल्य-वाचक

उभय, सकल तथा सब शब्द इसके अन्तर्गत आते हैं। इनमें हिन्दी में सर्वाधिक प्रचलित शब्द सब ही है। बँगला में उभय तथा सकल का प्रयोग भी प्रचलित है। सकल शब्द का प्रयोग पुराने पदों में मिलता है; यथा–

सकल पदारथ यहि जग माहीं।

सब की उत्पत्ति संस्कृत सर्व से निम्नलिखित रूप में हुई है–

सर्व> पा० सब्बो, प्रा० सब्ब> सब।

सम्बन्ध-वाचक

हिन्दी में इसके निम्नलिखित-रूप हैं—

	ए० व०	ब० व०
अविकारी	जो	जो
तिर्यक	जिस्	जिन्, जिन्ह्।

व्युत्पत्ति–जो की उत्पत्ति सं० यः, यो से निम्नलिखितरूप में हुई है—

यः, यो> पा० यो अशो० प्रा० यो, ये> प्रा० जो>जो। भो० पु०, मै०, म० तथा ब० में यह सर्वनाम जे रूप में वर्तमान है। असमिया में यह जि (ज़ि) रूप में मिलता है। इसकी उत्पत्ति य-कः से निम्नलिखित रूप में हुई है–

---

१ बैं० लैं० § ५७२। २ ट० नें० डि० पृ० ४२।

य-कः> मा० प्रा० यके>जए>जै>जे। असमिया के जि [ज़ि] का मूल, वस्तुतः संस्कृत का यः है।

तिर्यक रूप जिस् की उत्पत्ति सं० यस्य से निम्नलिखितरूप में हुई है—

यस्य> पा० यस्स प्रा० जस्स> हिं० जिस्। जिन्, जिन्ह की उत्पत्ति, जाणं=येषां से हुई है। इस पर करण के पुराने बहुवचन के रूप येभिः>जेहि का भी प्रभाव है।

अवधी तथा बिहारी-बोलियों में, सम्बन्धवाचक-सर्वनाम के, जौन्, जवन् रूप भी मिलते हैं। ये कौन्, कवन् से मिलते-जुलते हैं। जौन, जवन् की उत्पत्ति यः+पुनः से निम्नलिखितरूप में हुई है—

यः+पुनः>जपुण>जउण>जौन, जवन्।

§३४१ पारस्परिक-सम्बन्ध-वाचक

हिन्दी में इसके निम्नलिखितरूप हैं—

	ए० व०	ब० व०
अविकारी	सो	सो
तिर्यक	तिस्	तिन्-तिन्ह

व्युत्पत्ति—टर्नर के अनुसार सो की उत्पत्ति सं० सो-(-स'-उ) से हुई है। (दे०, ने० डि०, पृ०६२२) यह सो प्राचीन तथा मध्ययुग के बँगला के वैष्णव-पदों में वर्तमान है। तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' में सोई (=वही) जोर देकर उच्चारण के कारण है तथा इसकी व्युत्पत्ति सः+एव है। 'सो' की उत्पत्ति डा० चाटुर्ज्या निम्नलिखित-रूप में मानते हैं।

प्रा० भा० आ० सः* सकः ('सः' का विस्तृत-रूप)>शौ० प्रा०*सको सगो*<सओ सउ<सो।

तिर्यक-रूप तिस् की उत्पति संस्कृत तस्य से निम्नलिखितरूप में हुई है—

सं० तस्य<पा० तस्स, प्रा० तस्स>हिं० तिस् [हिन्दी तिस् में 'इ' का आगम वस्तुतः जिस् के सादृश्य पर हुआ।

बहुवचन रूप तिन्, तिन्ह की उत्पत्ति, सं० तेषां से निम्नलिखित-रूप में हुई है—

सं० तेषां>*तानां (आकारान्त पुल्लिंग के षष्टी विभक्ति प्रत्यय-नां के योग से)>म० भा० आ० ताणां-ताणं>तिन्-तिन्ह् (तिन्ह् पर करण-कारक बहुवचन तेभिः>तेहिं-तेहि का भी प्रभाव पड़ा है)।

भो० पु० में पारस्परिक-सम्बन्ध-वाचक-रूप से, ते, तौन्, तवन् हैं। 'से' की व्युत्पत्ति डा० चाटुर्ज्या के अनुसार प्रा० भा० आ० 'सः' से इसप्रकार हुई है—

प्रा० भा० आ० सः,* सकः>अर्ध-मागधी, मागधी-*सके, शके>सगे शगे>सए, शए>सइ, शइ>से (=शे; असं० में-श-> -स होकर 'से' रूप बना है)।

'ते' की उत्पत्ति 'सकः'>से के आदर्श पर 'तत्+कः' से प्रतीत होती है; अप० तेहं (<सं० तेषां) से भी इसकी उत्पत्ति संभव है।

तौन, तवन् की उत्पत्ति, 'कौन्', 'कवन' के समान 'तत्' से हुई है।

§ ३४२. प्रश्न-सूचक

हिन्दी में इसके निम्नलिखित-रूप हैं—

	ए० व०	ब० व०
अविकारी	कौन्	कौन्
तिर्यक	किस्	किन्

व्युत्पत्ति—कौन् की उत्पत्ति कः-पुनः से निम्नलिखित-रूप में हुई है—

कः-पुनः>*कपुण>कवुण>कउण>कौण>कौन्। बोलियों में यह कौन्, कवन् रूप में मिलता है। इस कवन की व्युत्पत्ति भी कः-पुणः ही है। बंगला तथा भो० पु० में, अविकारी-रूप, के मिलता है। इसकी उत्पत्ति निम्न-लिखित-रूप में हुई है :—

*ककः>कके>कगे>कए>कै>के।

तिर्यक, किस् की उत्पत्ति सं० कस्य से निम्नलिखित-रूप में हुई है—

कस्य>म० भा० आ० कस्स, किस्स>किस्।

बहुवचन के रूप किन् की उत्पत्ति केषाम् , काणं से हुई है। यह काणं बाद में काण में परिवर्तित हो गया, किन्तु पालि किस्स<कस्य तथा किण के प्रभाव से यह किण हो गया और इसीसे किन् रूप सिद्ध हुआ। इस किन् में ही करण की विभक्ति -ह्,-हि जोड़कर बोलियों के किन्ह् , किन्हि रूप सम्पन्न हुए। इस सम्बन्ध में बँगला का आदरसूचक-प्रश्नवाचक-सर्वनाम किनि द्रष्टव्य है।

§ ३४३ अनिश्चय-सूचक

हिन्दी में इसके निम्नलिखित-रूप हैं—

	ए० व०	ब० व०
अविकारी	कोई	कोई
तिर्यक	किसी	किन्ही

व्युत्पत्ति—कोई की उत्पत्ति कः अपि, कोऽपि से निम्नलिखित-रूप में हुई है—

कः-अपि, कोऽपि>कोऽवि>कोइ कोई।

मै० में इसके केओ, भो० पु० में केऊ, म० में केऊ, बं० में केहो, केह, केउ, असं० में केओ, केआ, कोंओ तथा उ० में केइ रूप मिलते हैं। केउ, केऊ तथा केओ रूपों की उत्पत्ति, कः अपि से निम्नलिखित-रूप में हुई है—

कः अपि>मा० प्रा०* कोऽपि>*केऽवि>*केऽव>*केव>के उ, केऊ तथा केहु, केहू। अन्तिम दो-रूप वस्तुतः हु अव्यय की सहायता से सम्पन्न हुए हैं। उड़िया का केइ रूप*केऽवि से प्रसूत है।

तिर्यक-रूप किसी की उत्पत्ति कस्यापि से निम्नलिखित-रूप में हुई है—

कस्यापि>म० भा० आ० कस्स-वि>कस्सइ>हि० किसी, ने० कसै।

ब० व० रूप किन्ही की उत्पत्ति केषामपि से निम्नलिखित-रूप में हुई है—

केषामपि>*कानामपि>म० भा० आ० काणंपि, काणंवि,>काण-इ>किन्ही [किन्ही वस्तुतः करण-विभक्ति-भिः>हि के संयोग तथा पालि किस्स के प्रभाव से सिद्ध हुआ है।]

हिन्दी में निर्जीव-पदार्थ के लिए अनिश्चय-सूचक-सर्वनाम कुछ् का व्यवहार होता है। मै०, भो० पु०, अव०, बं०, तथा असं० में यह किछु तथा उ० में यह किछि रूप में वर्तमान है। किछु की उत्पत्ति संस्कृत किंचिद् से हुई है। अशोक के मध्य तथा पूर्वी-शिलालेखों में किछि तथा पश्चिमी-शिलालेखों में किंछि रूप मिलते हैं। किछु में 'उ' वस्तुतः 'हु' अव्यय के कारण है। हिन्दी के कुछ रूप में 'छु' में 'उ' या तो स्थान-परिवर्तन कर गया है अथवा स्वर-संगति से किछु रूप से कुछ हो गया है।

§ ३४४. आत्म-सूचक

हिन्दी में आत्मसूचक अथवा निजवाचक ('स्वयं' के अर्थ) में आप् का प्रयोग होता । आदर-प्रदर्शन तथा कभी-कभी अन्यपुरुष के रूप में भी आप प्रयुक्त होता है। इसकी उत्पत्ति संस्कृत आत्मन् शब्द से हुई है। आत्मन् शब्द के प्राकृत में दो रूप, अत्त तथा अप्प मिलते हैं। ये दोनों असमिया में आता, पिता एवँ आप्, पितामह अर्थ में वर्तमान हैं। चर्यापदों में, कर्ता में, अपा, करण में अपणे एवं कर्म तथा सम्बन्ध में अपणा रूप मिलते हैं। (बै० लैं० § ५६१)। इस अप्प से ही हिन्दी आप की उत्पत्ति हुई है।

भो० पु० आपन् बं० आपनि, असo आपोन् का सम्बन्ध वस्तुतः प्रा० * अप्पणअअ<सं० आत्मानक से है।

§ ३४५. पारस्परिक

पारस्परिक-सर्वनाम के रूप में हिन्दी में 'आप' तथा 'स्वयं', इन दो, शब्दों का प्रायः प्रयोग होता है। आप की व्युत्पत्ति ऊपर दी जा चुकी है। स्वयं तत्सम शब्द है। बँगला तथा भो० पु० में 'निज' शब्द का भी प्रयोग होता है।

§ ३४६. सर्वनाम-जात-विशेषण

हिंदी में मुख्य सर्वनाम-जात-विशेषण निम्नलिखित हैं—

(क) परिमाण-वाचक (१) इत्‌ना, इत्ता (कनौ० इतनो, ब्र० इतनौ, इतौ, मार० इतरो, गढ़० इतना, इथगा, ने० यति, अव० एतना, एतिक, भो० अतेक म०, मै० एत्तेक, अस० एतेक्, उड़ि० ऐते, बं० एते)।

हिन्दी 'इत्‌ना, इत्ता' की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० इयत्तक–से निम्नलिखित-परिवर्तन-क्रम से हुई है—

प्रा० भा० आ० इयत्तक->म० भा० आ० एत्तिअ, एत्तअ>हिं० इत्ता, इत्‌ना (-'ना' को बीम्स ने लघुतावाचक-प्रत्यय माना है; परन्तु यह अपना अर्थ खो चुका है)।

अन्य विभाषाओं तथा भाषाओं के रूपों की व्युत्पत्ति भी सं० इयत्त् या इयत्तक से इसीप्रकार हुई है। अव०, भो० पु०, म०, मै०-अस० के रूपों में इयत्तक -का-क प्रत्यय सुरक्षित है। मार० इतरो में-रो<प्रा० भा० आ०-र (लघुता-वाचक प्रत्यय)। ने० यति में सर्वनाम-अङ्ग 'यो' का प्रभाव है।

(२) उतना-उत्ता, (कनौ० उतनो, ब्र० उतनौ, मार० उतरो, गढ़० उत्‌ना,-उथ्‌गा-उति (संख्या-वाचक), ने० उति*, अव० ओतना,–ओतिक, भो० पु० आतेक्– ओतिना, म० ओत्तेक- ओतना, मैं० ओतना)

इन रूपों की व्युत्पत्ति भी इतना आदि के समान सर्वनाम-अङ्ग 'ज-' में-त्तक>-त्तिअ, –त्तअ>—ता,—तना (—'ना' प्रत्यय लगाकर) आदि लगाकर हुई है।

(३) जितना-जित्ता (कनौ० जितनो, ब्र० जितनौ, मार० जतरो, गढ़० जतना-जथ्गा-जति, ने० जति, अव० जेतना-जेतिक, भो० पु० जतेक-जतिना, म० जेत्तेक-जेतना, मै० जेतना, अस० जेतेक, उड़ि० जेते, बं० जेतेक।

इन रूपों की व्युत्पत्ति भी 'इतना' आदि के समान म० भा० आ० जेत्तिअ- से हुई है।

(४) कितना-कित्ता, (कनौ० कितनो, ब्र० कितनौ, मार० कतरो, गढ़० कतना-कथ्गा कति, ने० कति, अव० केतना केतिक, भो० पु० कतेक-कतिना, म० केतक-केतना, मै० केतना कतेक, अस० केतेक, बं०, उड़ि० केते)।

इनकी उत्पत्ति 'इतना' आदि के समान प्रा० भा० आ० कियत्तक-> म० भा० आ० केत्तिअ से हुई है।

(५) तितना-तित्ता (कनौ० तितनो, ब्र० तितनौ, मार० ततरो गढ़० ततना-तथ्गा-तति, ने० तति अव० तेतना-तेतिक, भो० ततेक-ततिना, म० तेत्तेक, तेतना मै० तेतना, अस० तेतेक, बं० उड़ि० तेते-सेते)।

इनकी व्युत्पत्ति भी 'इतना' आदि के समान सर्वनाम अङ्ग 'ति–' से हुई है।

(ख) गुणवाचक—(१) ऐसा (कनौ० ऐसो, ब्र० ऐसौ, मार० इस्यो-ऐरो, गढ़० इनो-यनो, ने० असो, अव० अस-यस, भो०, पु०, म० अइसन, मै० ऐसन)।

इन रूपों की उत्पत्ति सं० एतादृश (गढ़० इनो, सं० ईदृश) से निम्नलिखित-रूप में हुई—

सं० एतादृश> म० भा० आ० एदिस-एइस>आ० भा० आ० ऐस (+ स्वार्थे – आ 'ऐसा), अइस (+—'न' 'अइसन'-ऐसन')।

(२) वैसा (कनौ० वैसो, ब्र० वैसौ, मार० उस्यो-वैरो, गढ़० उनो-वनो, ने० उसो, अव० ओस, भो० पु०, म० ओइसन, मै० वैसन-ओसन)।

इनकी उत्पत्ति 'ऐसा' आदि के समान प्रा० भा० आ० * श्रोतादृश से हुई है।

(३) जैसा (कनौ० जैसो, ब्र० जैसौ, मार० जिस्यो-जेरो, गढ़० जनो, ने० जसो, अव० जस, भो० पु०, म० जइसन, मै० जैसन)।

इनकी व्युत्पत्ति 'ऐसा' के समान प्रा० भा० आ० यादृश से हुई है।

(४) कैसा (कनौ० कैसो, ब्र० कैसौ, मार० किस्यो-कैरो, गढ़० कनो, ने० कसो, अव० कस, भो० पु०, म० —कइसन, मै० कैसन)।

इनकी उत्पत्ति 'ऐसा' आदि के सदृश सं० 'कीदृश' से हुई है।

(५) तैसा (कनौ० तैसो, ब्र० तैसौ, मार० तिस्यो—तैरो, गढ़० तनो, ने० तसो, अव० तस, भो० पु०, म० तइसन, मै० तैसन)।

इनकी उत्पत्ति भी 'ऐसा' आदि के समान सं० तादृश से हुई है।

बारहवाँ अध्याय

समास

§३४७. धातु तथा प्रत्यय के योग से शब्द बनते हैं और जब एक से अधिक शब्द मिलकर वृहत् शब्द की सृष्टि करते हैं, तब उसे समास कहते हैं। इसप्रकार के समासजात-शब्द को समस्तपद भी कहते हैं। जब समस्तपद में उसके सम्मिलित-शब्दों का विच्छेद किया जाता है तब उसे विग्रह की संज्ञा दी जाती है। समस्तपद में विभक्तियों का लोप हो जाता है, किन्तु विग्रह में लुप्त-विभक्तियों को प्रकट करना पड़ता है। कभी-कभी समास-बद्ध होने पर भी विभक्ति का लोप नहीं होता। ऐसी अवस्था में 'अलुक् समास' होता है, जैसे, बँगला का घोड़ारगाड़ी, घोड़ा गाड़ी; मामारबाड़ी, मामा का घर, आदि।

समास भारोपीय-भाषा की एक विशेषता है और यह हिन्दी में भी वर्तमान है। यहाँ डा० चटर्जी के बङ्गला-व्याकरण के आधार पर हिन्दी-समास के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि अन्य आधुनिक-आर्य-भाषाओं की भाँति ही हिन्दी में भी सबप्रकार के शब्दों के संयोग से समस्तपद बनते हैं। इन शब्दों के अन्तर्गत प्राकृतज, देशी, तत्सम अर्द्धतत्सम तथा विदेशी, आदि, सभी शब्द आते हैं।

मोटेतौर पर समास के निम्नलिखित तीन-विभाग किये जा सकते हैं—

(१) संयोग-मूलक या द्वन्द्व-समास—इसप्रकार के समास में समस्यमान-पद-समूह द्वारा दो या उससे अधिक पदार्थ (वस्तु या भाव) का संयोग प्रकाशित होता है। इनमें संयोगी-पद स्वतन्त्र होते हैं, एक दूसरे के अधीन नहीं होते।

(२) व्याख्यान-मूलक या आश्रय-मूलक समास—इसप्रकार के समास में प्रथम-शब्द द्वितीय-शब्द को सीमाबद्ध कर देता है अथवा विशेषण-रूप में होता है।

व्याख्यान-मूलक-समास के निम्नलिखित-भेद हैं—

[क] तत्पुरुष—उपपद, अलुक्तत्पुरुष, नञ्तत्पुरुष, प्रादि-समास, नित्य समास, अव्ययीभाव, सुप्-सुपा।

[ख] कर्मधारय—रूपक, उपमित, उपमान, मध्यपद-लोपी।

[ग] द्विगु

(३) वर्णनामूलक-समास—इसप्रकार के समास में समस्यमानपद मिलकर जो अर्थ प्रकाशित करते हैं, उसके द्वारा किसी अन्य-पदार्थ का बोध होता है।

वर्णनामूलक-समास को बहुब्रीहि नाम से अभिहित किया जाता है। इसके चार भेद हैं—व्यधिकरण-बहुब्रीहि, समानाधिकरण-बहुब्रीहि, व्यतिहार-बहुब्रीहि तथा मध्य-पद-लोपी बहुब्रीहि।

§२४८. संयोगमूलकसमास

[क] द्वन्द्व-समास

द्वन्द्व शब्द का अर्थ है, जोड़ा। इसमें समस्यमान-पद अपने रूप में ही विद्यमान रहते हैं। 'औ,' 'और' 'एवं,' 'तथा' संयोजक-अव्ययों के द्वारा ही उनका विग्रह सम्पन्न होता है। समस्यमान-पदों में जो रूप अथवा उच्चारण में अपेक्षाकृत छोटा होता है, वही प्रायः पहले आता है, किन्तु इस नियम में कभी-कभी व्यत्यय भी हो जाता है और गौरव-बोधक-शब्द बड़ा होने पर भी पहले आ जाता है।

(१) द्वन्द्व-समास के उदाहरण—

माँ-बाप; भाई-बाप; भाई-बहन; माँ-बहन; माँ बेटी, बेटा-बेटी; लड़का-लड़की; ससुर-दामाद; सास-पतोहू; बेटा-पतोहू; बेटी-रोटी; रोटी-बेटी; अंधा-काना; काना-अंधा; नाऊ-धोबी; गाय-बैल; दिन-रात; रात-दिन; लोहा-लक्कड़; माँस-मछली; साँझ-सबेरा; दही-भात; दूध-दही, दाल-भात; खट्टा-मीठा; अच्छा-बुरा; खेती-बारी; आज्-कल्; नून्-तेल्; नमक्-तेल्; मक्खी-मच्छर्।

देव-द्विज; गो-ब्राह्मण; गुरु-पुरोहित; माता-पिता; पिता-माता; दास-दासी; राजा-प्रजा; लाभालाभ; दान-दुःखी; शत्रुमित्र, गण्य-मान्य; इष्ट-मित्र; सूर्य-चन्द्र; राहु-केतु; पुत्र-कलत्र।

राजा-वजीर, लाभ-नुकसान, हाट-बजार, वकील-बैरिस्टर, वकील-मुख्तार, थाना-पुलिस, रेल-स्टीमर, जज-मजिस्ट्रेट, डाक्टर-वैद्य, पीर-पैगम्बर, हिसाब-किताब, नफा-नुकसान।

२. कतिपय द्वन्द्व समास के रूप संस्कृत से आए हैं। ये संस्कृत-व्याकरण के नियम का अनुसरण करते हैं। यथा—मातापिता<मातृपितृ; इसीप्रकार पितापुत्र<पितृपुत्र।

३. निम्नलिखित समस्त-पदों में, दो से अधिक पदों का समास हुआ है; यथा—हाथ-पैर-नाक-कान; नून-तेल-लकड़ी; जीरा-मिर्च-धनियाँ, हाथी-घोड़ा-पालकी, आदि।

ख. अलुक् द्वन्द्व—

बंगला, भोजपुरी आदि मागधी-भाषाओं में अलुक-द्वन्द्व के कई उदाहरण मिलते हैं; यथा—हाटे-बाटे (बाज़ार में-रास्ते में), दूधे-भाते (दूध में-भात में); किन्तु अलुक्-द्वन्द्व का हिन्दी में प्रायः अभाव है। हाँ आगे-पीछे में अवश्य यह समास वर्तमान है।

ग. इत्यादि अर्थवाची द्वन्द्व-समास—

सहचर-शब्दों के साथ समास द्वारा अनुरूप-वस्तुओं के भाव-प्रकाशन के लिये एक प्रकार का द्वन्द्व-समास आधुनिक-आर्य-भाषाओं में मिलता है। हिन्दी में इसके निम्नलिखित-उदाहरण हैं; यथा—

१. (एकार्थक) सहचर-शब्द-सहित-समास—कामकाज; धरपकड़; जीवजन्तु; भूलचूक।

२. अनुचर-शब्द-सहित-समास—चोरी-चमारी; आस-पास; माल मसाला; अस्त्र-शस्त्र; दयामया।

३. प्रतिचर-शब्द-सहित-समास—दिन-रात; राजा-मन्त्री; हिन्दू-मुसलमान; राजा-प्रजा; राजा-रानी; जाड़ा-घाम; पाप-पुण्य; क्रय-विक्रय, आदि।

४. विकार-शब्द-सहित-समास—जला-जुला (जलाकर); फूँक-फाँक; खा-खू; ठाक ठाक; घूस-घास।

५. अनुकार या ध्वन्यात्मक-शब्द-सहित-समास—तेल-तेल (तेल इत्यादि); घोड़ा-ओड़ा; थाली-ओली इत्यादि।

घ. समार्थक-द्वन्द्व—

कई द्वन्द्व-समास के समस्त-पदों में दो-विभिन्न-भाषाओं के शब्दों के संयोग उपलब्ध होते हैं। ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक होते हैं। यथा—हाट-बजार; कागज-पत्र; डाक्टर-वैद्य; राजा-बादशाह; ठठा-मसखरा, इत्यादि।

२. व्याख्यान-मूलक या आश्रयमूलक-समास—

इसके अन्तर्गत समासों को निम्नलिखित तीन-वर्गों में विभक्त किया जाता है—

(क) तत्पुरुष
(ख) कर्मधारय
(ग) द्विगु

(क) तत्पुरुष

तत्पुरुष में परस्पर-अन्वित दो-पद होते हैं। ये दोनों विशेष्य होते हैं जिनमें प्रथम द्वितीय-पद के अर्थ को सीमित करता है। प्रथम-पद का अन्वय द्वितीय-पद के साथ कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध तथा अधिकरण रूप में होता है। इसमें द्वितीय-पद का अर्थ ही प्रधान होता है।

तत्पुरुष का अर्थ है उसका सम्बन्धी-पुरुष। यह समस्त-पद के प्रतीक अथवा नामस्वरूप प्रयुक्त होता है। हिन्दी में भी द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी-तत्पुरुष मिलते हैं। उदाहरण क्रमशः ये हैं।

(i) कर्म-वाचक—द्वितीया तत्पुरुष—इसके उदाहरण हिन्दी में बहुलता से मिलते हैं; यथा—चिड़ीमार, कठफोड़वा, लकड़सुंघा माखन-चोर, इत्यादि।

(ii) करण-वाचक—तृतीया—तत्पुरुष—यथा—आगजला; तुलसी-कृत-रामायण।

(iii) उद्देश्यवाचक—चतुर्थी-तत्पुरुष—मालगोदाम; डाक-महसूल

(vi) अपादानवाचक—पञ्चमी-तत्पुरुष—देशनिकाला, इत्यादि।

(v) सम्बन्धवाचक—षष्ठी-तत्पुरुष—राम-कथा, हाथघड़ी, दही-बड़ा, घुड़साल, पनचक्की, इत्यादि।

(vi) स्थान-काल वाचक—सप्तमी-तत्पुरुष—घुड़सवार, आनन्द-मगन

(ख) कर्मधारय

§३५०. इस समास में प्रथम-पद विशेषणरूप में आता है, किन्तु द्वितीय पद का अर्थ बलवान होता है। कर्मधारय का अर्थ है कर्म अथवा वृत्ति धारण करने वाला। यह विशेषण-विशेष्य, विशेष्य-विशेषण, विशेषण-विशेषण तथा विशेष्य-विशेष्य पदों द्वारा सम्पन्न होता है।

(१) साधारण कर्मधारय समास को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(i) जहां पूर्व पद विशेषण हो; यथा-कच्चा-केला, सीस-महल; महा-रानी, हरा-घास।

(ii) जहाँ उत्तरपद विशेषण हो; यथा - घनश्याम।

(iii) जहां दोनों पद विशेष्य हों; यथा—लाल-पीला; खट्टा-मीठा।

(iv) जहां दोनों पद विशेष्य हों; यथा—मौलवी-साहब, राजा बहादुर।

(v) अवधारण-पूर्वपद—जिस कर्मधारय-समास में प्रथम-पद के अर्थ के सम्बन्ध में अवधारण हो अर्थात् जहाँ अर्थ के प्रति विशेष बल दिया जाए, वहाँ अवधारण-पूर्वपद कर्मधारय होता है; यथा—

काल-सर्प (जो सर्प काल रूप होकर आया हो)।

(vi) जहाँ प्रथम पद सर्वनाम, उपसर्ग या संख्यावाचक हो; यथा—स्वदेशी, कपूत, दुतल्ला, गैर-हाजिर।

(२) मध्यपद-लोपी-कर्मधारय—जहाँ कर्मधारय-समास के विग्रह वाक्य में मध्यस्थित-व्याख्यान-मूलक-पद का लोप हो जाता है; यथा—दूध-मिला-भात्>दूध-भात्, इत्यादि।

(३) उपमान-कर्मधारय,—जहाँ उपमान गुणवाचक शब्द हो और उपमेय में वही गुण विद्यमान हो; यथा-घनश्याम।

(४) रूपक-कर्मधारय—जहाँ समस्त-पद उपमान-उपमेय का अभिन्नत्व प्रदर्शित करें; यथा-चन्द्र-मुख।

(५) उपमित-कर्मधारय—जहाँ उपमान-उपमेय के बीच सादृश्य स्पष्ट न हो; यथा—मुख-चन्द्र, नर-सिंह।

(ग) द्विगु

§ ६५१. जहाँ प्रथम-पद संख्यावाचक होता है तथा समस्त-पद द्वारा संयोग अथवा समष्टि का बोध होता है, वहाँ द्विगु-समास होता है; यथा—चौमुहानी, चौराहा, नवरतन।

वर्णनामूलक अथवा बहुव्रीहि-समास

§ ६५२. इस समास में कोई भी पद प्रधान नहीं होता और इसके समस्तपद द्वारा किसी अन्य ही पदार्थ का बोध होता है। इसके विग्रह में जो, जिसके, जिसका आदि शब्दों का व्यवहार होता है। इसके निम्नलिखितभेद हैं—

(i) व्यधिकरण-बहुव्रीहि - जिसमें पूर्वपद विशेषण न हो; यथा—शूलपाणि, वज्रदेह।

(ii) समानाधिकरण-बहुव्रीहि—जिसमें पूर्वपद विशेषण एवं उत्तर-पद विशेष्य हो; यथा— पीताम्बर, लम्बोदर।

(iii) व्यतिहार-बहुव्रीहि—जिसमें परस्पर सापेक्ष-क्रिया को प्रकट करने के लिए एक ही शब्द की पुनरुक्ति की गई हो; यथा—
मुक्का-मुक्की, घूँसा-घूँसी।

(v) मध्यपदलोपी बहुव्रीहि—जहाँ विग्रह वाक्य में आगतपद लुप्त हो, यथा—डेढ़-गजा, (डेढ़ गज लम्बाई हो जिसकी) दु-कुटा।

अव्ययी भाव-समास

§३५३. इसका प्रथम-पद साधारणतः अव्यय होता है; यथा—हर-रोज दिन-भर।

अनेक-स्थलों में शब्द को द्वित्व कर वीप्सा अर्थात् पौनःपुन्य का भाव भी इसके द्वारा प्रकट होता है; यथा—चलते-चलते, हँसते-हँसते।

तेरहवाँ अध्याय

क्रिया-पद

§३५४. प्रा० भा० आ० भाषा में क्रिया-पदों के विविध-रूपों का परिचय पूर्व-पीठिका में दिया जा चुका है। संस्कृत-धातुएँ वैयाकरणों द्वारा विकरणों की भिन्नता के अनुसार दश गणों में बाँटी गई हैं। प्रत्येक-गण की धातुओं के रूप एक दूसरे से कुछ न कुछ भिन्न-प्रकार से बनते थे। प्रत्येक-धातु के तीन-वचनों, तीन पुरुषों, विभिन्न-कालों एवं प्रकारों में भिन्न-भिन्न रूप होते थे। इनके अतिरिक्त धातुओं से अनेकप्रकार के कृदन्तरूप बनते थे। इसप्रकार एक-एक धातु के सैकड़ोंरूप बनते थे, जिससे प्रा० भा० आ० भा० की धातु-प्रक्रिया रूप-बहुला एवं दुरूह हो गई थी।

मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा काल के प्रारम्भ से ही इस जटिल धातु-प्रक्रिया को सरल करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। सरलीकरण की इस प्रवृत्ति के फल स्वरूप विभिन्न-गणों की धातुओं के रूपों में समानता आने लगी जिससे धीरे-धीरे गण-विभाग घटते-घटते अपभ्रंश-काल तक समाप्त ही हो गया और सभी-धातुओं के रूप प्रायः भ्वादिगण के समान बनने लगे। आत्मनेपद-परस्मैपद के भेद को भी दूर किया गया; द्विवचन समाप्त हो गया और कालों एवं प्रकारों के विभिन्न-रूपों की संख्या भी घटा दी गई। इसप्रकार अपभ्रंश-काल तक भारतीय-आर्य-भाषा की धातु-प्रक्रिया प्राचीन-काल की अपेक्षा बहुत अधिक सरल हो गई।

सरलीकरण की यह प्रवृत्ति आर्यों एवं भारत में आर्यों के भी पहिले से बसी हुई आर्येतर-जातियों के सम्पर्क का परिणाम थी, क्योंकि आर्यों के लिए भले ही धातु प्रक्रिया की जटिलता अभ्यास-वशात् सरल रही हो, परन्तु आर्य-भाषा के नौसिखियों के लिए तो यह सरल नहीं थी। अतः उनके मुख में शब्दों एवं धातुओं का रूप-व्यत्यय होना स्वाभाविक ही था और यही व्यत्यय आगे चल कर आर्य-भाषा की धातु-रूप-प्रणाली को सरल बनाने का कारण बना। आर्येतर-जातियों के सम्पर्क से धातु-रूपों में सरलता ही नहीं आई, कुछ नई प्रवृत्तियाँ भी चल पड़ीं। तिङन्त-रूपों के स्थान पर कृदन्त-रूपों के व्यवहार की प्रवृत्ति म० भा० आ० भाषा में अधिक पाई जाती है। इसमें सरलता अधिक थी। थोड़े से

धातु-रूपों से ही सभी कालों एवं प्रकारों का अर्थ-द्योतन कराने के लिए नए-नए उपाय काम में लाए गए। संयुक्त-क्रियाओं का प्रयोग इसीकाल में प्रारम्भ हो गया था। इसप्रकार क्रिया-पद-प्रक्रिया संश्लेषावस्था से विश्लेषावस्था की ओर अग्रसर हो गई।

भारतीय-आर्य-भाषा के मध्य एवं आधुनिक-काल के, बीच के, संक्रान्ति-काल में क्रिया-पद-प्रक्रिया विश्लेषावस्था की ओर पर्याप्तरूप में अग्रसर हो चुकी थी। संयुक्त-क्रियाओं का व्यवहार बढ़ता जा रहा था। आधुनिक भारतीय-आर्य-भाषाओं ने क्रिया-पद-प्रक्रिया को और भी सरल कर दिया। प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा के बहुत थोड़े तिङन्त-रूप आ० भा० आ० भाषाओं में अवशिष्ट हैं। कृदन्त-रूपों को ही अधिकांश में इन्होंने अपनाया है और संयुक्त-क्रियाओं का प्रयोग यहाँ बहुत बढ़ गया है। नीचे हिन्दी की धातु प्रक्रिया के विविध-अङ्गों पर विस्तार से विचार किया जाता है। डा० ग्रियर्सन, हार्नले, डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने आ० भा० आ० भाषा की क्रियाओं पर पूर्णतया विचार किया है। डा० चाटुर्ज्या के विवेचन के आधार पर नीचे हिन्दी-क्रियापदों के विविध-तत्वों को स्पष्ट किया गया है।

डा० चाटुर्ज्या के वर्गीकरण का अनुसरण करते हुए हिंदी की धातुओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. सिद्ध-धातुएँ (Primary Roots)—वह धातुएँ जो मूल-रूप में सुरक्षित हैं; यथा, कर् (ना), काँप् (ना), गूँज् (ना), घिस् (ना) इत्यादि।

२. साधित-धातुएँ (Secondary Roots)—वह धातुएँ जो मूल-धातु में किसी प्रत्यय के योग से बनी हैं; यथा, कराना-करवाना (√कर्+आ, -वा प्रेरणार्थक-प्रत्यय); बैठाना (√बैठ् +आ), लिखाना (√लिख्+आ), इत्यादि।

इन दोनों भेदों को निम्न-लिखित शीर्षकों में बाँटा जा सकता है—

१. सिद्ध-धातुयें

—(१) संस्कृत से आई हुई तद्भव सिद्ध-धातुएँ
(क) साधारण-धातुएँ (ख) उपसर्ग-युक्त धातुएँ
—(२) संस्कृत णिजन्त से आई हुई सिद्ध-धातुएँ
—(३) संस्कृत से पुनः व्यवहृत तत्सम एवं अर्ध-तत्सम सिद्ध-धातुएँ
—(४) संदिग्ध-व्युत्पत्ति वाली देशी-धातुएँ

२. साधित धातुयें
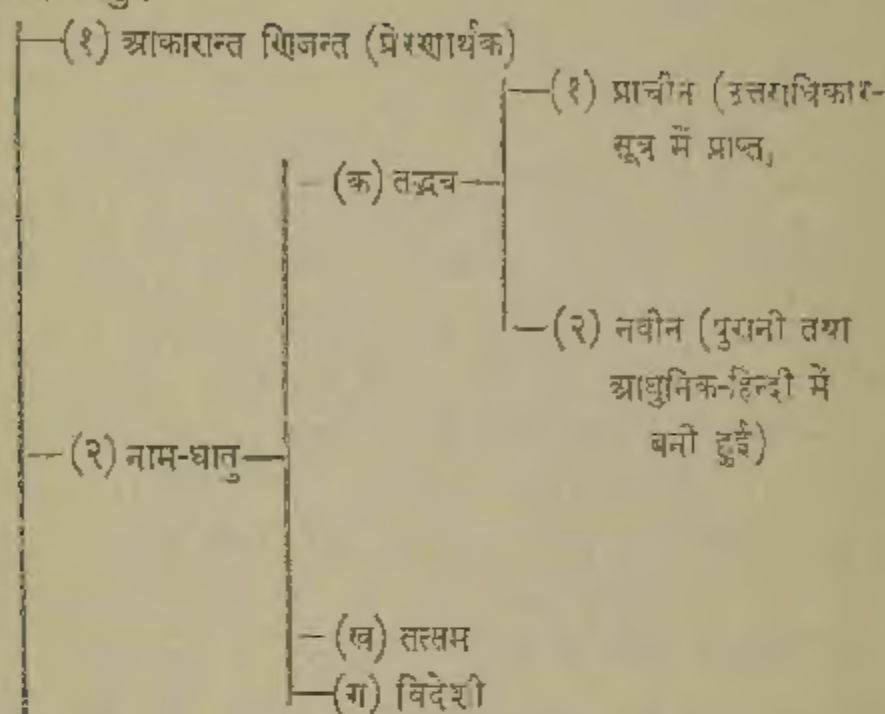
नीचे प्रत्येक शीर्षक पर विचार किया जाता है—

§ ३५५. १. सिद्ध-धातुएँ—

(१) प्रा० भा० आ० भा० से आई हुई तद्भव-सिद्ध-धातुएँ—इनमें कुछ धातुएँ ऐसी भी हैं, जो पहिले-पहल म० भा० आ० काल में दिखाई देने वाली धातुओं का तद्भव-रूप हैं। हार्नले[1] के अनुसार हिन्दी में तद्भव-सिद्ध-धातुओं की संख्या ३६३ है। इन तद्भव-धातुओं में कुछ ऐसी भी हैं, जिनमें संस्कृत-गणों के बिकरण वर्तमान हैं।

§३५६. (क) साधारण-धातुएँ—हिन्दी की कतिपय प्रसिद्ध-साधारण-धातुएँ उदाहरणस्वरूप नीचे दी जाती हैं—

√कर् (ना) (<सं०√कृ-); √काँप् (ना) (<सं० √कम्प्-; कम्पते >म० भा० आ० कम्पइ; मिला० पं० कम्बदा 'काँप्ता');√काढ़ (ना) (<म०

---

१ हार्नले 'हिंदी रूट्स'-ज० ऑ० ए० सो० बे० १८८०, भा० १।

भा० आ० कड्ढ — प्रा० भा० आ० भा० से इसकी व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है); √काद् (ना) (<म० भा० आ०√कड्ढ-<प्रा० भा० आ० √कृन्-);√कूट् (ना) (<म० भा० आ०√कुट्ट-); √कूद् (ना) (<म० भा० आ०√कुद्द-<प्रा० भा० आ०√कूर्द्-); √कह् (ना) (<म० भा०आ०√कह्-(कहेइ)<प्रा० भा० आ० √कथ्-अय् (विकरण) कथयति); √खा (ना) (<म० भा० आ० √खाअ-<प्रा० भा० आ० √खाद्); √गिन् (ना) (<प्रा० भा० आ० √गण्-); √गल (ना) (<म० भा० आ० √गल्-<प्रा० भा० आ०* √गल्-, मिला० सं० गालयति 'गलाता है'); √गूँथ् (ना) (<म० भा० आ०*√गुन्थ्—, मिला० प्रा० गुन्थण-(संज्ञा)<प्रा० भा० आ० √गुम्फ्—तथा√ग्रन्थ्—के संयोग से); √गूँज्- (ना) (<सं० √गुञ्ज्-); √घिस् (ना) (<प्रा० भा० आ० √घृष्-); √घट् (ना) 'होना' (<प्रा० भा० आ० √घट् 'होना'); √घट् (ना) (<म० भा० आ० √घट्ट-'गिरना', प्रा० भा० आ० से इसकी व्युत्पत्ति अस्पष्ट है; जे० ब्लॉख ने इसको सं० 'घृष्टः' 'घिसा हुआ' से सम्बद्ध किया है); √चू (ना) (<म० भा० आ० चुअ-, संभवतः सं० 'च्युतः 'गिरा हुआ' से इसका सम्बन्ध है; इस सम्बन्ध में सं० √च्यव्>म० भा० आ० √चअ-भी द्रष्टव्य है); √चुन (ना) (<म० भा० आ० √चिण,-चुण-चिणइ, चुणई<प्रा० भा० आ० चिनोति √चि-); √चढ़् (ना) (प्रा० चड्डै ? हे० च० ४-२११); √चर् (ना) (<म० भा० आ० √चर-<प्रा० भा० आ० √चर्-); √चल् (ना) (<म० भा० आ० √चल-<प्रा० भा० आ० √चल्-चर्-); √चख् (ना) (<म० भा० आ० √चक्ख-<प्रा० भा० आ०* √चक्ष्, मिला० सं० चक्षणम्* 'प्यास बढ़ाने के लिए स्वादिष्ट-वस्तु खाना);+ √चूक (ना) (<म० भा० आ० √चुक्क—हे० च० ४-१७७); √छू (ना) म० भा आ० √छुव-<प्रा० भा० आ०√छुप्-); √छेद् (ना) संभवतः सं० √छिद्- 'छिन्दति' तथा "छेदः' के संयोग से)*√जप् (ना) (सं√जप्-); √जाग् (ना) (<म० भा० आ० √जग्ग-<प्रा० भा० आ०√जागृ-); √जान् (ना) (<म० भा० आ०√जाण-'जाणेइ' <प्रा० भा० आ०√ज्ञा 'जानाति'; √जीत् (ना) (सं०√जि-, भूतकालिक-कृदन्त 'जित' जीता हुआ); √जी (ना) <म० भा० आ०√जीअ-<प्रा० भा० आ०√जीव-)

---

*ट० ने० डि० पृ० १७१ ।

+ट० ने० डि० पृ० २०१

√जोत् (ना) (सं० योक्त्रम् 'जुआ' से निर्मित 'योक्त्रयति 'जोतता है' रूप, प्रा० जोत्त-); √टूट् (ना) (<म० भा० आ०√टुट्ट् <प्रा० भा० आ० √त्रुट्-); √टाल् (ना) (संस्कृत में इस धातु का प्रयोग बहुत बाद में मिलता है, तथा वहाँ भी इसके बहुत कम रूप मिलते हैं); टाँक् (ना) म० भा० आ० टङ्क-<सं० टङ्कः 'मुद्रा' से निर्मित); ठग् (ना) (हार्नले के अनुसारसं०√स्थग्-से); √डूब् (ना) (<म० भा० आ० बुड्ड <डूब्-(वर्ण-विपर्यय)>√डूब्-);√डँस् (ना), डस् (ना) म० भा० आ० डँस् डस हे० च० १-२१८, सं०+दश्-दशति'); √डर् (ना) <प्रा० डर-हे० च० ४-१९८);√ढाँक् (ना), ढँक् (ना) (प्रा०√ढक्क-हे० च० ४-२१, डा० चाटुर्ज्या इसका सम्बन्ध सं०√स्थग् से जोड़ते हैं, परन्तु उन्हें इसमें सन्देह है।); √ढूँढ् (ना) <म० भा० आ०√ढुँढ);√ताक् (ना) (सं० √तर्क्- 'तर्कयति,' सम्भवतः नाम-धातु); √थक् (ना) का सम्बन्ध सम्भवतः सं० स्थग् से है, मिला० स्थगित+ 'रोका हुआ, बन्द किया हुआ'); देख् (ना) (<म० भा० आ०√देक्ख <प्रा० भा० आ० 'प्रेक्षते' तथा 'द्रक्ष्यते', देखेगा, अद्राक्षीत 'देखा' इत्यादि रूपों के 'द्' के संयोग से); √दे (ना) (<म० भा० आ०√दे प्रा० भा० आ० √दा-); √नाच् (ना) म० भा० आ० नच्च-<प्रा० भा० आ०√नृत्, 'नृत्यति');√नहा (ना) (सं०√स्ना-<√न्हा->√नहा-मिला०- सं० स्नापित-> नहापित); √पीना, (प्रा० भा० आ०√पा, 'पिबति'); √पूछ् (ना) (<म० भा० आ० √पुच्छ्-),<प्रा० भा० आ०पृच्छ्; पढ़् (ना)<(सं०√पठ्); पीट् (ना)<(प्रा० पिट्टइ); √फूल् (ना)<(प्रा० फुल्लइ-हे० च० ४-३८७);√बढ् (ना) (<म० भा० आ०√बड्ढ-<प्रा० भा० आ०√वर्ध-);√बाँट् (ना) (<म० भा० आ०√बँट-<सं० √वण्ट); √बाँध (ना) (<म० भा० आ०√बन्ध-< प्रा० भा० आ०√बन्ध्-'बध्नाति बन्धति'); √बोल् (ना)<(प्रा०√बोल्ल-हे० च० ४-२); √बो (ना) <(सं० √ वप्-); √भर् (ना) (<म० भा० आ०√ भर-<प्रा० भा० आ०√ भृ-); √भूल (ना) (प्रा० 'भुल्लइ' हे० च० ४-१७७), √माँज् (ना) (<म० भा० आ०√मज्ज-(हे० च० ४-१०१<प्रा० भा० आ० √ मृज्-);√मल् (ना) (<म० भा० आ०√मल्-<प्रा० भा० आ०√मर्द्-);√मिल् (ना) (<म० भा० आ०√मिल-<प्रा भा आ √मिल्-);√ रख् (ना)

+टॅ० ने० डि० पृ० २०१।

(<म० भा० आ० √रक्ख<प्रा भा० आ०√ रक्ष् -); √ रच् (ना) (<म० भा० आ० √रच-<प्रा० भा० आ०√रच् -); √ले (ना) (प्रा० 'लेइ' हे० च० ४-२३८); √लूट् (ना)<(प्रा०√लुंठ); √ सुन् (ना) (<म० भा० आ० √सुण-√प्रा० भा० आ० √श्रु- 'शृणोति'); √ सह् (ना)<(प्रा० सहइ), √हट् (ना)<(भू० का० कृदन्त-भ्रष्ट->भट्ट->हट्ट->हट्-);√हार् (ना) (<म० भा० आ०√हार-, सं० हारयति 'खोता है')।

§३५७ (ख) उपसर्ग-संयुक्त-धातुएँ—

√उपज् (ना)<(प्रा० उप्पज्जइ<सं० उत्-पद्यते); उजड़् (ना) (मिला० प्रा० उज्जाडेइ< ।* उज्जाटयति 'उखाड़ता है'=उत्;+√जट्; उग (ना) (< सं० उत्-√गम्); √उतर् (ना)<सं० उत्-√तृ-, प्रा० उत्तरइ); √निरख् (ना)<(√सं० निर् -√ ईक्ष् 'देखना'); परख् (ना)<(√सं० परि-√ईक्ष्); √निहार् (ना)<(सं० नि- √भाल्, प्रा० 'निहालेइ' (-ल्>-र्); √निबाह् (ना) (<प्रा० नि- √वह्-प्रा० भा० आ० नि-√वह् 'ले जाना'); √पैठ् ना; (प्रा० पइट्ठइ, <सं० प्र-विष्ट- (भू० का० कृदन्त);√बैठ् (ना)<(प्रा० उवइट्ठ-सं० उप-विष्ट-);√पोंछ(ना)<(सं० प्र-√उञ्छ् -); √पसर् (ना)<सं० प्र √सृ); √ पहिर् (ना)<सं० परि-√धा-, प्रा० परिहरइ);√ पखार (ना)<(सं० प्र-√क्षाल्-);√पा (ना)<(सं० प्र-√आप् 'प्राप्नोति' पाता है); √बेच् (ना)<(सं० वि-√क्री-, प्रा० वेच्चइ); √भीग् (ना)<(सं० अभि-√अञ्ज् -);√सँभल् (ना) (सं० सम्-√भाल् -);√सौंप (ना)<(सं० सम्-√अर्प-)।

§३५८. हिन्दी की तद्भव-सिद्ध-धातुएँ, संस्कृत से, म० भा० आ० भाषा-काल के ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक परिवर्तनों द्वारा रूप बदलती हुई आई हैं। जैसा पहिले कहा जा चुका है कि म० भा० आ० भाषा-काल में प्रा० भा० आ० भा० का धातुओं का गणों में वर्गीकरण समाप्त हो चुका था और अपभ्रंश-काल तक सभी धातुएँ प्रथम-गण (भ्वादिगण) के समान हो गई थीं। अतः म० भा० आ० भाषा में प्रा० भा० आ० भाषा के गणों के विकरण समाप्त हो गए थे। परन्तु म० भा० आ० भाषा में संस्कृत की अनेक धातुओं के विकरण-युक्त रूप, धातुरूप में गृहीत हुए और ये हिन्दी में भी उसीरूप में चले आए। इसीलिए हिन्दी की कतिपय-धातुओं में प्रा० भा० आ० भा० के विभिन्न-गणों के विकरणों के चिह्न मिल जाते हैं। ऐसी कुछ धातुएँ उदाहरण-स्वरूप नीचे दी जाती हैं—

(१)—य – विकरण-युक्त—√नाच् (ना)<(सं० नृत्-य-ति, प्रा० नच्चइ, – त्य>च्च); √जूझ् (ना)<(सं० युध्-य-ति, प्रा० जुज्झइ,–ध्य>-ज्झ); √बूझ् (ना)<(सं० बुध्-य-ते, प्रा० बुज्झइ, – ध्य>-ज्झ); √समझ् (ना)<(सं० सम्-बुध्–य-ते, प्रा० सम्बुज्झइ)।

(२)—नो-विकरण-युक्त—√चुन् (ना)<(सं०√चि –, 'चि-नो-ति', म० भा० आ० चिणइ, चुणइ); √सुन्० (ना)<(सं०√श्रु–, 'शृ-णो-ति', म० भा० आ० सुणइ);√धुन् (ना)<(सं० धु-नो-ति)।

(३)—ना–विकरण-युक्त—√जान(ना)<(सं०√ज्ञा–'जा-ना-ति')।

(४)—न्–का मध्यागम (Infix)—√बाँध् (ना) (सं० बन्ध, बध्-) √रुँध् (ना) (सं० रुन्ध्-,√रुध्-)।

(५)—च्छ-विकरण-युक्त—(भारो०–*स्कोऒ); संस्कृत-वैय्याकरणों ने इस विकरण का उल्लेख नहीं किया है; परन्तु निम्नलिखित-धातुओं में यह स्पष्टतया वर्तमान है—√पहुँच (ना)<(भारो०*प्रो-भु-स्के-ति>*प्रभुच्छति >*पहुँच्छइ, पहुँच्चइ);√पूछ (ना)<(सं० पृ-च्छ-ति)।

§३५६. ध्वन्यात्मक तथा औपम्य–सम्बन्धी परिवर्तनों के अतिरिक्त, म० भा० आ० भाषा की धातुओं में अन्यप्रकार के परिवर्तन भी परिलक्षित होते हैं। उदाहरणस्वरूप म० भा० आ० भा० की कर्तृनिष्ठ-धातुओं की व्युत्पत्ति, संस्कृत के कर्तृवाच्य के रूपों से न होकर कर्म-वाच्य के रूपों से है और इनमें से अनेक वर्तमान-काल के रूप न होकर भविष्यत्-काल के हैं। संस्कृत णिजन्त से भी म० भा० आ० तथा आ० भा० आ० भाषाओं की अनेक साधारण-सिद्ध-धातुएँ आई हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि संस्कृत-कर्म-वाच्य के रूप जब कर्तृ-वाच्य में लिए गए, तो उनके अर्थ में भी थोड़ा-बहुत परिवर्तन हो गया। उदाहरण ये हैं—

(i) सं० कर्म-वाच्य>म० भा० आ० कर्तृवाच्य>आ० भा० आ० कर्तृ-वाच्य; यथा—सं० अभ्यज्यते 'नहलाया अथवा लेपन किया जाता है'>म० भा० आ० 'अब्भंगइ' 'स्वयं को लेपन करता है'> हि० भीगे बोलियों में 'भीजे' 'भीगता है'; सं० तप्यते 'तपाया जाता है>', म० भा० आ० तप्पइ 'स्वयं को तपाता है'>हिं० तपे 'तप्ता है, गरम होता है'।

(ii) सं० भविष्यत्-काल>म० भा० आ० तथा आ०भा०आ० वर्तमान-काल; यथा—सं० आ-कक्ष्यति (√कृष् –)> म० भा० आ० आकच्छइ >आअच्छइ, आयंच्छइ, आयंचइ>हिं० एंचे (√एँच्-ना)।

§३६०. (२) संस्कृत-णिजन्त से आई हुई सिद्ध-धातुएँ—संस्कृत की कुछ णिजन्त-धातुएँ हिन्दी में सिद्ध-धातुओं के रूप में चली आई हैं। इनमें से 'प्रेरणा' का अर्थ लुप्त हो गया है और ये अन्य-सकर्मक क्रियाओं के समान व्यवहृत होती हैं। इनके संस्कृत के सिद्ध-रूप हिंदी में अकर्मक-क्रिया के रूप में हैं। प्रेरणार्थक-रूप बनाने के लिए पुनः 'आ' या 'वा' लगाना पड़ता है; यथा—√मर् (ना)—(अकर्मक) 'जो पैदा होता है, वह अवश्य मरता है'<(सं० √मृ–),√मार् (ना)<(सं० मारयति, 'णिजन्त')-सकर्मक, 'वह साँप को लाठी से मारता है'; इसका हिंदी में प्रेरणार्थक-रूप√मरवाना' होगा। हिंदी में इसप्रकार की कतिपय धातुएँ नीचे दी जाती हैं—

√उखाड़् (ना)<(सं० 'उत्-खाटयति'); √छा (ना) 'ढकना'<(सं० छादयति); √छेद् (ना)<(सं० छेदयति);√जला (ना)<(सं० ज्वालयति); √तार् (ना)<(सं० 'तारयति'); √तपा (ना)<(सं० तापयति); √नहा (ना)<(सं० स्नापयति); √पसार (ना)<(सं० प्रसारयति); √मार् (ना)<(सं० मारयति); √ हार् (ना)<(सं० हारयति)।

§३६१. (३) (i) संस्कृत से पुनः व्यवहृत तत्सम तथा अर्ध-तत्सम-धातुएँ—अपभ्रंश से निकलकर जब हिन्दी का स्वतन्त्र विकास प्रारम्भ हुआ, तब उत्तर-भारत में धार्मिक तथा सांस्कृतिक-आन्दोलन चल रहा था जिसके प्रभाव से संस्कृत-साहित्य के अध्ययन की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। धार्मिक-सम्प्रदायों के आचार्य संस्कृत-शास्त्रों के ऊहापोह में लग्न थे और धर्म-प्रचारकों की संस्कृत-तत्सम-बहुल भाषा का जन-भाष पर भी प्रभाव पड़ रहा था। बोल-चाल की भाषा में भी संस्कृत के अनेक शब्द तत्सम तथा अर्ध-तत्सम रूप में आने लगे। इन शब्दों के साथ-साथ अनेक क्रियापद भी आए। यथा—अरप (<√अर्प-) अर्पित करना; अरज् (<√अर्ज-), अर्जन करना; गरज् (<√गर्ज-); गर्जन करना, गरजना; बद् (<√वद्), कहना; तज् (<√त्यज्), छोड़ना; बरज् (<√वर्ज); सोभ् (<√शोभ-), सुन्दर बनाना; सेव् (<√सेव-), सेवा करना; दुह् (<√दुह-), दूध दूहना; रच् (<√रच-), रचना करना, बनाना)।

(ii) हिन्दी में ऐसी अनेक धातुएँ हैं जिनकी उत्पत्ति संस्कृत से नहीं प्रतीत होती; यथा—√टोह् (ना); √टोक् (ना);√ठोक् (ना); √ठेल (ना); √डपट् (ना); √ढाँक् (ना); √पटक् (ना); √फड़क (ना); √ बटोर

(ना); √ भेंट् (ना); √लोट् (ना); √ लड़् (ना); √ सान् (ना); 'मिलाना' गूंधना (यथा; 'आटा सान्ना)', इत्यादि।

§३६२. २. साधित-धातुएँ

(१) णिजन्त (प्रेरणार्थक)—सिद्ध-धातुओं के प्रसङ्ग में लिखा जा चुका है कि संस्कृत की णिजन्त-धातुओं से प्राकृत-काल में प्रेरणा का अर्थ लुप्त होने लगा था, और संभवतः इनका प्रयोग (Reflexive) अर्थ में चल पड़ा था। हिंदी तक आते-आते ये 'प्रेरणा' के अर्थ को छोड़कर सकर्मक-धातुएँ बन गईं; यथा—सं० √मृ-'मरना' धातु के प्रेरणार्थक-रूप 'मारयति' से व्युत्पन्न हिंदी-रूप √मार् (ना) में प्रेरणा का अर्थ नहीं रह गया है, अपितु यह सकर्मक-धातु है। इसप्रकार प्रा० भा० आ० भा० की णिजन्त-प्रक्रिया खो देने पर हिंदी ने निम्न-लिखित प्रक्रिया अपनाई—

§३६३. (क) मूल-धातु में –वा– के योग से; यथा-√कर्वा (ना); (√कर् ना); √गढ़्वा (ना); (√गढ़् (ना); √चढ़्वा (ना); (√चढ़् (ना), इत्यादि।

णिजन्त-रूप बनाने में एकाक्षरीय (Monosyllabic) दीर्घ-स्वर-युक्त-धातुओं का दीर्घ-स्वर, ह्रस्व में बदल जाता है ('ऐ', 'औ' को छोड़कर), और ऐसी स्वरांत-धातुओं में धातु एवं-वा-के मध्य-ल्-का आगम होता है। उदाहरण क्रमशः ये हैं—

√घूम् (ना)—√घुम्वा (ना); √जाग् (ना)—√जग्वा (ना);
परन्तु—√तैर् (ना)—√तैर्वा (ना); √दौड़् (ना)—√दौड़्वा (ना);
√पी (ना)—√पिल्वा (ना); √सो (ना)—√ सुल्वा (ना)।

§३६३. (ख) वा–प्रत्यय की उत्पत्ति द्विगुणित-णिच्-प्रत्यय–आप्+आप्–>–आवाप–>–वा– है। संस्कृत में–आप प्रत्यय आकारान्त धातुओं में लगता था; यथा–√स्ना-''स्नापयति', √दा–, 'दापयति'। परन्तु प्राकृत-काल में यह अन्य धातुओं में भी जुड़ने लगा। संस्कृत का दूसरा प्रेरणार्थक प्रत्यय-आय-था; यथा√कृ–, 'कारयति'; √हृ–, 'हारयति'–। आय–प्राकृत में–ए–में परिणत हुआ, परन्तु अधिक प्रयोग–आप्–>प्रा–आव्–का हुआ और आ० भा० आ० भाषाओं में प्रेरणार्थकरूप बनाने के लिए यह (यथा-भो० पु० में√बइठ 'बैठना'–√ बइठाव्) अथवा इसका

द्विगुणित रूप – वाव् – अथवा – वा-गृहीत हुआ। भो० पु० में--वाव् के योग से भी णिजन्त-रूप बनते हैं। असमिया में भी—ओवा--, – उवा--के रूप में द्विगुणित-णिच् प्रत्यय वर्तमान है।

§३६४. हिंदी प्रेरणार्थक-रूप में--ल्--की उत्पत्ति के विषय में कैलॉग[1] का विचार है कि संस्कृत में√पा धातु के साथ--आप्—के स्थान पर—आल् जोड़ कर√पालय् णिजन्त-रूप बनता है; संभवतः प्राकृत ने इस प्रणाली का अधिक उपयोग किया हो और हिंदी में प्रेरणार्थक-प्रत्यय के साथ यह भी स्वरांत-धातुओं में गृहीत हुआ हो। यथा—

√पिल्वा (ना) (√पी (ना)) के सादृश्य पर √ खा (ना) से√ खिल्वा (ना) रूप बन गया।

प्रायः सभी सिद्ध तथा नाम-धातुओं के प्रेरणार्थक रूप बनते हैं।

§३६५. (२) नामधातु—संज्ञापद तथा क्रियामूलक-विशेषण (Participial Adjective) जब क्रिया-पद बनाने के लिए धातु रूप में प्रयुक्त होते हैं, तब उन्हें नाम-धातु कहते हैं। नाम-धातु बनाने की प्रथा अत्यन्त-प्राचीन है। प्रा० भा० आ० भा० में भी यह वर्तमान है तथा इसकी सिद्ध-धातुओं में अनेक मूलतः नामधातु हैं। प्रा० भा० आ० भा० की अनेक नाम-धातुएँ आ० भा० आ० भाषाओं को उत्तराधिकार में प्राप्त हुई हैं।

§३६६. म० भा० आ० भाषा-काल में संस्कृत के भूतकालिक-कृदन्त रूपों से भी अनेक नाम-धातुएँ निष्पन्न हुईं। इसप्रकार नाम-धातुओं की संख्या में वृद्धि हुई। इसप्रकार के उदाहरण ये हैं—सं० उपविष्ट (भू० का० कृ०) से प्रा० 'बइट्ठइ' (हि० √बैठ (ना)); सं० कृष्ट-से प्रा० 'कड्ढइ' (हिं० √काढ़्-ना) क्रिया-रूप बने। परन्तु ऐसे अधिकांश-क्रियापद आ० भा० आ० भाषाओं में सिद्ध-धातुओं जैसे प्रतीत होते हैं; यथा-प्रा० पिट्टइ (सं० पिष्ट-'पीसा हुआ')>हिं० √पीट् (ना)।

§३६७. आ० भा० आ० भाषा-काल में भी-आ लगाकर अनेक नाम धातुओं का निर्माण हुआ है। यह-आ प्रत्यय<प्रा० भा० आ०—आय। आ० भा० आ० भा० का णिच् (प्रेरणार्थक) प्रत्यय-आ<√<प्रा० भा० आ०-आप् के साथ रूप-सादृश्य होने के कारण नाम-धातु-प्रत्यय एवं प्रेरणार्थक-प्रत्यय में कोई अंतर नहीं रह गया है।

---

१ कैलॉग—'ए ग्रामर ऑव दि हिंदी लैंग्वेज' §६०३, पृ० २५०।

§३६८. अनेक विदेशी-संज्ञा तथा विशेषण-शब्दों में आ जोड़कर हिंदी में नाम-धातुएँ बना ली गई हैं; यथा-फा० गर्म (मिला० सं० घर्म-, हि० घाम, अवे० गरॅम, लै० फोर्मस्, ग्री० थर्मस, अं० वार्म्) से √गर्मा (ना) 'क्रुद्ध होना'; फा० शर्म से √शर्मा (ना) 'लज्जा करना', इत्यादि।

§३६९. संस्कृत के कतिपय-संज्ञा तथा विशेषण-पदों के तत्सम या अर्ध-तत्सम रूप से भी हिंदी में नाम-धातुएँ बनी हैं; यथा-√अकुला (ना)<(सं० आकुल-); √अलाप् (ना) (सं० 'आलाप'-); √लुभा (ना)<(सं० लोभ-), इत्यादि।

नीचे, हिंदी की कतिपय नाम-धातुएँ, उदाहरण-स्वरूप दी जाती हैं—

√उग् (ना)<(सं० उद्गत-, प्रा* उग्गअअ); √खो (ना)<(सं० क्षय-, म० भा० आ०* खव, √खअअ; गाड़ (ना)<(सं० गर्त, देशी-गड्ढ); √घोल् (ना)<(सं० घूर्ण-, देशी-घोल्ल-घोल); √गँठिया (ना), गाँठ् (ना) <(सं० ग्रन्थि-); √चुरा (ना)<(सं० चौर-); √चीन्ह् (ना)<(सं० चिह्न) 'पहिचानना'; √छीन् (ना)<(सं० छिन्न-); √जोत् (ना)<(सं० युक्त-, प्रा० जुत्त); √जम् (ना)<(सं० जन्म); √झगड़् (ना)<(म० भा० आ० झगड़*झगड्ड); √ताक् (ना)<(सं० तर्क- 'तर्कयति, म० भा० आ० तक्क); √थाम् (ना)<(सं० स्तम्भ, म० भा० आ० थंभ); √हथिया (ना)<(सं० हस्त-, म० भा० आ० हत्थ); √दुखा (ना)<(सं दुःख, म० भा० आ० दुक्ख); √पक् (ना) (सं० पक्व, म० भा० आ० पक्क); √पतिआ (ना) (<प्रा० पत्तिअ<सं० प्रत्यय; म० भा० आ० पच्चय; पच्चअ; प्राकृत का पत्तिअ शब्द प्राचीन काल में ही संस्कृत से उधार लिया हुआ प्रतीत होता है 'विश्वास करना'; √पैठ् (ना)<(सं० प्रविष्ट प्रा० पइट्ठ); √पीट् (ना)<(सं० पिष्ट, म० भा० आ० पिट्ट-); √फाँस् (ना), फंस् (ना)<(सं० पाश-, प्रा० फंस); √बौरा (ना)<(सं० वातुल-, प्रा० बाउल) 'पागल होना'; √बतिआ (ना)<(सं० वार्ता, म० भा० आ० वत्ता, वत्त); √बखान् (ना)<(सं० व्याख्यान-, प्र० वक्खाण); √माँग् (ना)<(सं० मार्ग- मार्गयति 'खोजता है', म० भा० मग्गइ); √मूत् (ना) (सं० मूत्र-, प्रा० मुत्त); √लतिया (ना)<(म० भा० आ० लत्ता, लत्त), √सूख् (ना)<(सं० शुष्क->प्रा० सुक्ख)।

§३७०. (३) मिश्रित अथवा संयुक्त एवं प्रत्यय-युक्त धातुएँ—

मिश्रित अथवा संयुक्त-धातुएँ या तो धातुओं के योग से अथवा किसी

धातु से पूर्व कोई संज्ञा, क्रियाजात-विशेष्य अथवा कृदन्त-पद जोड़कर बनती हैं। पहिले प्रकार की धातुओं के आ० भा० आ० भाषाओं में विरले ही उदाहरण मिलते हैं। हिंदी-व्याकरणों में संयुक्त-धातुओं के नाम से अभिहित-पदों में दूसरी श्रेणी के (धातुओं से पूर्व कृदन्त, क्रिया-जात-विशेष्य अथवा संज्ञा-पद जोड़कर बने हुए) ही उदाहरण मिलते हैं; यथा—'बाँट देना'; कह सकना, 'जान लेना', जाने देना, उठ बैठना, कर जाना', इत्यादि।

§३७१. सिद्ध-अथवा नाम-धातु में, किसी प्रत्यय के योग से प्रत्यय युक्त धातुएँ निष्पन्न हुई हैं। इसप्रकार की धातुएँ सभी आ० भा० आ० भाषाओं में मिलती हैं। मूल अथवा नाम-धातु से इनके अर्थ में कुछ अंतर भी आ जाता है। हिंदी में इसप्रकार की कतिपय-धातुएँ नीचे दी जाती हैं—

(i) क् (सं०√कृ-) प्रत्यय-युक्त—√अटक् (ना)<(पा० अट्टो, प्रा० अट्ट< सं० आर्त+√कृ-); चूक् (ना)<(म० भा० आ० *चुक्क-<सं० च्युत-+√कृ (?) ;√छिटक् (ना), छिड़क् (ना)<(*छिट्ट< सं० छित्र-); √झपक् (ना) (*झप्प-'आकस्मिक तथा निरन्तर क्रिया'); √टपक् (ना), (मिला० ने० टप्कनु<म० भा० आ०* टप्प-<* त्रप्प-(<तर्प ?));√थूक् (ना)<(सं० थूत्-√कृ-);√ धमक् (ना); √पिचक् (ना); √फूँक् (ना) < (<सं० स्फुत् या फूत√कृ-); √बहक् (ना) (<बह-√कृ-);√भड़क् (ना); √रोक् (ना) (√रुध्-√कृ-)।

(ii) -ट्<सं० वृ√ (म० भा० आ० वट्ट) प्रत्यय-युक्त—√घिसट (ना); (सं० घर्ष-+वृत्त); √चिपट् (ना)<(प्रा० *चिप्प-+वट्ट्, √झपट् (ना)< (सं० झम्प-वृत्त); √डपट् (ना) < (सं० दर्प-+वृत्त) ।

(iii) -ड् <म० भा० आ०—ड-युक्त-√पकड़ (ना) म० भा० आ०* पक्क- ड-); √झगड़् (ना)<(म० भा० आ० झग-ड-);√हुँकार (ना); हाँक् (ना) < (म० भा० आ० हक्क-ड-; मिला० ने० हकानु तथा हाँक्नु<सं० को० √हक्कार—'बुलाना', प्रा० हक्कारेइ तथा सं० को० हक्कयति 'चिल्लाता है', प्रा० हक्कइ 'हाँकता है, चिल्लाता है');[1] √पिछड़् (ना), √पछाड़् (ना) <

---

1 ट० ने० डि० पृ० ६२८ तथा ६३४।

(सं० पश्चात्>प्रा० पच्छा+इ्—)।

(iv) र-युक्त-√ठहर (ना) (मिला० ने० ठहर्नु<प्रा० भा० आ० *स्तभिर्–दे० सं० स्तभित: 'स्थिर किया हुआ', 'स्तभायति'-स्थिर करता है,);[1] √पुकार (ना)<(प्रा० पुक्कारेइ पुक्करेइ,पोक्कारेइ, पोक्करेइ)।

(v)-ल-युक्त—√टहल् (ना), मिला० ने० टहल्नु<*टहल्ल, यह सं० अखति 'जाता है' का विस्तृत-रूप है);[2] √फुसला (ना) (मिला० गुज० फोसलाव्वुँ, मरा० फुसलाविणे, उ० फुसलाइबा, ने० फुसल्याउनु, ग० फुसलौणो)।

§ ३७२. (४) ध्वन्यात्मक अथवा अनुकार-ध्वनिज-धातुएँ—इस-प्रकार की धातुएँ भी नामधातुओं के अन्तर्गत आती हैं। इन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है—(i) मुख्य-अनुकरणात्मक तथा (ii) द्वित्व-अनुकरणात्मक। मुख्य-अनुकरणात्मक-धातुएँ भी दो प्रकार की हैं— साधारण तथा द्वित्व।

अनुकरणात्मक-धातुएँ वैदिक तथा संस्कृत में भी मिलती हैं, किन्तु उनकी संख्या अत्यल्प है। म० भा० आ० भाषा-काल में इनकी संख्या बहुत बढ़ गई। म० भा० आ० में इसप्रकार की कुछ धातुएँ ये हैं—तडफडइ (हे० चं० ४-३६६) 'तड़फड़ाना'; 'थरथरइ 'काँपना'; धमधमइ 'धम-धम-ध्वनि करना'; फुरफुरायदि (मृच्छकटिक)। प्रा० भा० आ० भा० में ध्वन्यात्मक-धातुओं की संख्या अत्यल्प होने के कारण प्राकृत- वैय्याकरणों ने म० भा० आ० भाषा की ऐसी धातुओं को देशी के अन्तर्गत रखा है। फिर भी कतिपय अनु-करणात्मक-शब्द संस्कृत में वर्तमान हैं; यथा, झङ्कार–,गुञ्जन-,कूजन–; इनसे प्राकृत के-'झंकारेइ', 'गुंजइ', 'कूजइ'-क्रियापदों की निष्पत्ति हुई है। संस्कृत में द्वित्व-अनुकरणात्मक क्रियापदों के कुछ उदाहरण ये हैं-खटखटायते मडमडायते, फरफरायते, इत्यादि।

§ ३७३. प्रायः सभी आ० भा० आ० भाषाओं में अनुकरणात्मक-धातुएँ वर्तमान हैं। नीचे हिन्दी की कतिपय अनुकरणात्मक-धातुएँ दी जाती हैं—

(i) मुख्य–अनुकरणात्मक–धातुएँ; (क) साधारण—√टप् (ना) 'कूद कर पार करना';√फूँक् (ना)<(प्रा० फुक्कइ, सं० फूत्करोति;√छींक (ना)

---

1 ने० डि० पृ० २४१। 2 ट० ने० डि० पृ० २६०।

(प्रा० छिक्कन्त–, मिला० सं० को० छिक्का–) (ख) द्वित्व–√कट्कटा (ना); √खट्खटा (ना); √खन्खना (ना); √झन्झना (ना)।

आधुनिक-हिन्दी-कवियों के साहित्य में, संस्कृत-शब्दों एवं धातुओं के तत्समरूप, पर्याप्त-मात्रा में मिलते हैं। इसप्रकार संस्कृत की अनेक-धातुएँ तद्भव-रूप के साथ-साथ तत्सम तथा अर्ध-तत्समरूप में भी हिन्दी में आ गई हैं। ऐसी कुछ धातुएँ उदाहरण स्वरूप नीचे दी जाती हैं—

√गर्ज् (ना)<(तत्सम सं० √गर्ज्); √गरज् (ना) (अर्ध-तत्सम), √त्याग् (ना); √तज् (ना) 'छोड़ना' (सं० √त्यज्—); √बरज् (ना) 'रोकना' (सं० √वर्ज्); √भज् (ना) सं० √भज्; √सुमिर् (ना) (सं० √स्मर्); √रच् (ना) सं० √रच्)।

§३७४. (४) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली धातुएँ—हिंदी में अनेक धातुएँ ऐसी हैं कि न तो प्रा० भा० आ० भा० की किसी धातु से उनकी व्युत्पत्ति सिद्ध होती है और न वह साधित-धातुएँ (Secondary Roots) ही प्रतीत होती हैं। प्राकृत-वैयाकरणों ने ऐसी धातुओं को 'देशी' नाम दिया था। परन्तु वर्तमान-काल में, जब कि संसार भर की भाषाओं से भाषा-विज्ञान के पण्डितों का परिचय हो चुका है, आ० भा० आ० भा० की ऐसी सभी धातुओं को 'देशी' नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनमें अनेक धातुएँ किसी विदेशी-भाषा की धातु से रूप एवं अर्थ में सादृश्य रखती हैं। उदाहरण के लिये हिन्दी की √कूद् (ना) धातु ले लें। यद्यपि संस्कृत-कोषों में एक धातु √कूर्द् भी है और उससे √कूद् (ना) का सम्बन्ध स्पष्ट है, परन्तु √कूर्द् धातु संस्कृत में बहुत बाद में अपनाई गई जान पड़ती है और बहुत संभव है कि तत्कालीन कथ्य-भाषा (प्राकृत) से संस्कृत ने इसको ग्रहण किया हो। तमिळ-भाषा में √कूद् की सरूप एवं समानार्थक-धातु मिलती है*। इससे क्या यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यह धातु आ० भा० आ० भा० में तमिळ से ली गई? इसप्रकार की हिन्दी की कतिपय धातुएँ ये हैं—

√अँट् (ना) 'समान'; √उठँग् (ना) 'पड़ना, सोना'; √चिहुँक् (ना); √चौंक् (ना); √छोड़् (ना); √जुड़् (ना); √झाँक् (ना); √झाड़् (ना); √झोंक् (ना); √टाँग् (ना), इत्यादि।

(ii) पुनरुक्त-अनुकरणात्मक-धातुएँ—(क) पूर्णपुनरुक्त √टन्टना

*बै० लै० § ६२१, पृ० ८७८।

(ना); √धुकधुकाना। (ख) अपूर्ण-पुनरुक्त—जिनमें एक-ध्वनिज-शब्द का अन्य धातु से संयोग अथवा संमिश्रण होता है; यथा—√हड़्बड़ा (ना); √सकपका (ना), इत्यादि।

§३७५. हिन्दी की धातुएँ तथा क्रिया-विशेष्यपद (Roots and Verbal Nouns)

यद्यपि धातुएँ वैयाकरणों की सृष्टि हैं तथापि संश्लेषात्मक-भाषाओं (Synthetic languages) में अशिक्षित-लोगों में भी धातु भाव वर्तमान रहता है। बोलते समय उनको इसका आभास अवश्य होता रहता है कि जो वाक्य वह बोल रहे हैं, उनमें अमुक क्रियापद हैं और ये अमुक धातुओं से निष्पन्न हुए हैं। परन्तु कभी-कभी अत्यन्त-संश्लेषात्मक-भाषाओं तक में धातुएँ विशेष्य-पदों के रूप में व्यवहृत होती हैं; यथा—सं० दृश्, भुज्, भू, पृच्छ आदि शब्द-संज्ञा तथा क्रिया, दोनों रूपों में प्रयुक्त होते हैं। इसका कारण यह है कि शब्दों के मूल-रूप धातुएँ ही होती हैं। संस्कृत में शब्दों के रूप चलाते समय उनमें विभक्ति-प्रत्ययों का जोड़ना आवश्यक होता है। परन्तु ध्वन्यात्मक-परिवर्तन के कारण, बाद में, कर्ता के एकवचन में प्रायः शब्द के मूल-रूप ही रह गए। आधुनिक-भारोपीय-भाषाओं, अँग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, हिंदी, बँगला आदि में, यह परिवर्तन हुआ है। इसप्रकार के धातु-संज्ञा-पदों के अनेकरूप हिंदी में वर्तमान हैं। ये पद या तो अकेले अथवा समानार्थक धातु-पदों के साथ जोड़कर प्रयोग में लाए जाते हैं और प्रायः कर्ता अथवा कर्म-कारक में होते हैं। इनके कुछ उदाहरण ये हैं—

काट-छाँट हार्‌जीत, धर्‌पकड़्; डाँट्-डपट्, इत्यादि।

क्रिया-विशेष्य-पदों का प्रयोग संयुक्त-क्रियाओं की रचना में होता है। आगे यथास्थान इनपर विचार किया जाएगा।

§३७६. अकर्मक तथा सकर्मक क्रियाएँ (Transitive and Intransitive Verb)

हिंदी की क्रियाएँ या तो अकर्मक (Intransitive) होती हैं या सकर्मक (Transitive)। प्रायः सिद्ध-धातुएं (Primary Roots) अकर्मक होती हैं; किन्तु अनेक साधित-धातुएँ (Secondary Roots) भी अकर्मक हैं; यथा—

√चल् (ना), √बैठ् (ना), √नाच् (ना), √खेल् (ना), √कूद्

(ना), √हँस् (ना), इत्यादि। इसीप्रकार कुछ नाम-धातुएँ भी अकर्मक हैं, यथा-√रूठ् (ना)< (सं० रुष्ट, प्रा० रुट्ठ से निष्पन्न); √डग् (ना) इत्यादि।

§ २७७. सिद्ध-अकर्मक-धातुओं को सकर्मक में परिवर्तित करने के लिए या तो (१) णिच्-(प्रेरणार्थक) प्रत्यय-आप्>-आव्>-आ जोड़ दिया जाता है, अथवा मूल-अकर्मक-धातु के ह्रस्व-स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। उदाहरण क्रमशः ये हैं—

√कट् (ना), (अकर्मक), √काट् (ना) (सकर्मक); √मर् (ना), मार् (ना)। ह्रस्व-स्वर वाली ये अकर्मक-धातुएँ, वस्तुतः आ० भा० आ० भाषाओं में प्राचीन णिजन्त-क्रियापदों के दीर्घ-स्वर को, ह्रस्व में परिणत कर बनाई गई हैं।[1]

§ २७८. सकर्मक-क्रिया वस्तुतः कर्म-युक्त होती है। अन्य आ० भा० आ० भाषाओं के समान हिंदी में भी केवल अप्राणि-वाचक संज्ञा-पद ही कर्म-कारक में प्रयुक्त होते हैं, अर्थात् इनके बाद ही सम्प्रदान का परसर्ग 'को' नहीं आता। यथा-'आम चुनो', 'भात खाओ', 'लाठी दो', इत्यादि। जब प्राणिवाचक-संज्ञापद कर्म-कारक में प्रयुक्त होते हैं तथा वे निश्चयात्मक-अर्थ का बोध कराते हैं, तब उनके साथ सम्प्रदान-कारक के परसर्ग 'को' का व्यवहार किया जाता है; यथा-'घोड़े को ले चलो'। परन्तु जब वे साधारण-रूप में प्रयुक्त होते हैं तथा अनिश्चयात्मक-अर्थ के बोधक होते हैं, तब अप्राणिवाचक संज्ञापदों के समान ही उनका व्यवहार होता है और उस दशा में परसर्ग 'को' का प्रयोग नहीं होता; यथा-'वह घोड़ा दौड़ा रहा है।'

सम्प्रदान-कारक के परसर्ग 'को' का कर्म-कारक में प्रयोग वस्तुतः आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं की एक विशेषता है। सकर्मक-क्रियाओं के भूत अथवा अतीत-काल में कर्मणि-प्रयोग-उसने रोटी खाई के स्थान पर भावे-प्रयोग-उसने रोटी को खाया'-के कारण भी इस परसर्ग का प्रयोग आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में प्रचलित हुआ। वास्तव में सम्प्रदान के परसर्ग का कर्म में इसलिए भी प्रयोग बढ़ा कि कर्म की विभक्ति का लोप हो जाने के कारण

---

१ दे० 'ओरियन्टल कान्फ्रेंस' कलकत्ता सन् १९२२ की प्रोसीडिंग्स पृ० ४६२ में टर्नर का लेख 'द लॉस् ऑव वावेल-आल्टर्नेशन इन इण्डो-एरियन।'

उसका निश्चय करना कठिन हो गया तथा कृदन्तीय-रूप भी उसे प्रकट करने में असमर्थ रहा।

धातु-रूप-प्रणाली

§३७९. हिन्दी की प्रायः सभी धातुओं के रूप एक ही प्रकार से निष्पन्न होते हैं। केवल पाँच धातुएँ ऐसी हैं जिनके आज्ञार्थक-प्रकार के आदर-सूचक-रूप तथा भूतकालिक-कृदन्त तथा उससे बनने वाले कालों के रूप कुछ भिन्न होते हैं। इनमें भी भिन्नता केवल इतनी ही है कि उपर्युक्त-रूपों में धातु का रूप कुछ परिवर्तित है। ये धातुएँ निम्नलिखित हैं—

√हो (ना), √कर (ना), दे (ना),√ले (ना), तथा√जा (ना)। आदर-सूचक-आज्ञार्थक-प्रकार एवं भूतकालिक-कृदन्त में इन धातुओं के रूप क्रमशः√हु-(यथा- हुआ हुए),√कि-(यथा- किया),√दि-(यथा-दिया), √लि) (यथा-लिया) तथा√ग-(यथा-गया) हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त धातुओं में अन्य कोई असमानता नहीं है।

§३८०. धातुओं के रूप, लिङ्ग, वचन, पुरुष, प्रकार, वाच्य एवं काल-भेद से भिन्न होते हैं। धातु-रूपों में लिङ्ग-भेद हिंदी की एक विशेषता है। इसका कारण कृदन्त-रूपों का अपनाना है। संस्कृत में भी कृदन्त-रूपों में लिङ्ग-भेद होता है; यथा-स गतः 'वह गया' 'सा गता' 'वह गई'। हिन्दी ने जब कृदन्त-रूप अपनाए तो इसमें लिङ्ग-भेद की प्रणाली भी स्वतः चली आई। यही कारण है कि हिन्दी-धातु-रूपों में लिङ्ग-भेद होता है। हिन्दी में द्वि-वचन समाप्त हो जाने से केवल एक वचन, बहुवचन में ही धातु-रूप बनते हैं तथा प्रथम पुरुष, मध्यम-पुरुष एवं उत्तम-पुरुष में धातुओं के रूपों*में भिन्नता होती है। प्रत्यय-संयोगी-भविष्यत् एवं आज्ञार्थक में प्रत्ययों की भिन्नता से पुरुष-भेद व्यक्त होता है। साधारण या नित्य अतीत एवं कारणात्मक-अतीत में प्रत्ययों की भिन्नता से पुरुष-भेद प्रकट नहीं किया जाता। अन्य-रूपों में पुरुष-भेद सहायक-क्रियाओं में रूप-भिन्नता द्वारा प्रकट होता है।

प्रकार (Mood)

§३८१. हिन्दी में केवल तीन प्रकार हैं—निर्देशक (Indicative), आज्ञा (Imperative) एवं घटनान्तरापेक्षित अथवा संयोजक प्रकार (Subj-

*पुल्लिङ्ग एकवचन के रूपों में आ, बहुवचन में-ए; स्त्रीलिंग एक वचन में—ई तथा बहुवचन में—ईं' प्रत्यय मिलते हैं।

unctive)। इनमें से केवल आज्ञा के रूप, हिन्दी को, प्रा० भा० आ० भाषा से परम्परया प्राप्त हुए हैं। अन्य-प्रकारों के रूप बनाने में हिन्दी ने नई पद्धति अपनाई है।

§३८२. हिंदी के आज्ञार्थक-प्रकार के रूप, प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा के वर्तमान-निर्देशक-प्रकार (Present Indicative) तथा अनुज्ञा अथवा आज्ञार्थक प्रकार (Imperative) के रूपों के सम्मिश्रण हैं। सम्मिश्रण का अर्थ यह है कि हिन्दी का आज्ञार्थक मध्यम-पुरुष एक वचन का रूप, प्रा० भा० आ० भा० के आज्ञार्थक- म० पु० ए० व० से प्राप्त हुआ है तथा अन्य पुरुषों एवं वचनों के रूप, प्रा० भा० आ० भा० के वर्तमान-निर्देशक-प्रकार के रूपों से आए हैं। नीचे हिन्दी के आज्ञार्थक-प्रकार के रूपों की व्युत्पत्ति दी जाती है। इससे ऊपर का कथन स्पष्ट हो जाएगा।

उत्त० पु० ए० व० (मैं) चलूँ< म० भा० आ० (अप०) चलउँ < प्रा० भ० आ० चलामि(वर्तमान-निर्देशक-उ० पु० ए० व० का रूप)। परन्तु प्रा० भा० आ०—इ> (अप०)–उँ का कारण स्पष्ट नहीं है। बीम्स ने[1] इसका कारण उ० पु० एक वचन एवं ब० व० के रूपों का व्यत्यय बताया है। इसप्रकार सं० चलामः (उ० पु० ब० व०)>(प्रा०) चलामु, (अप०) चलउँ >हिं० चलूँ (ए० व०) और सं० चलामि>चलाइँ > हिं चलें (ब० ब०)।

ब० ब०, (हम) चलें, (अप०) चलउँ, स० चलामः। इसकी व्याख्या ऊपर दी गई है।

मध्य० पु० ए० व०, (तू) चल < म० भा० आ० चल < प्रा० भा० आ० चल—(वर्तमान-आज्ञार्थक प्रकार-म० पु० ए० व०)।

ब० व०, (तुम) चलो < चलह्, चलहु, चलउ < चलथ (वर्तमान निर्देश-म० पु० ब० ब०)।

अन्य पु० ए० ब०, (वह) चले< चलदि, चलइ <चलति (वर्त० निर्दे० अ० पु०)।

ब० व०, (वे) चलें< चलइँ चलहिं< चलन्ति (वर्त० निर्दे० अ० पु० ब० व०)।

§३८३. हिन्दी में आदर-सूचक आज्ञार्थक-प्रकार के रूप मध्यम-पुरुष बहु वचन में मिलते हैं; यथा—(आप) कीजिए, दीजिए, इत्यादि। इनकी

---

1 बीम्स-कम्पे० ग्रा० भा० २ § २३।

उत्पत्ति प्रा० भा० आ० के—या विधि-लिङ्ग (यथा- कुर्यात्, दद्यात्) से है। यह प्रा० भा० आ०-या प्रथम, म० भा० आ० काल में—एज्य तथा बाद में -एज्ज--इज्ज में परिवर्तित हो गया और इसके साथ निर्देशक-प्रकार के प्रत्ययों-मि,-सि-ति>-इ मिल गया। इसप्रकार म० भा० आ० में किज्जइ, दिज्जइ, आदि रूप बने जिनसे हिन्दी के कीजिए, दीजिए इत्यादि आदर-सूचक रूपों की उत्पत्ति हुई।

§३८४. घटनान्तरापेक्षित अथवा संयोजक-प्रकार (Subjunctive Mood) का वैदिक-भाषा में बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। परन्तु इसके रूप लौकिक-संस्कृत में भी न आ सके। हिन्दी में इसप्रकार का भाव वर्तमान-कालिक-कृदन्त तथा 'जो' 'यदि' शब्दों के योग से प्रकट किया जाता है; यथा—जो मैं ऐसा जानता। इसप्रकार का भाव प्रकट करने के लिए अपभ्रंश में भी 'जइ' संयोजक का प्रयोग मिलता है; यथा—'सेर इक्क जइ पाविइ घित्ता' 'यदि एक सेर घी पाता' (प्राकृत पैङ्गल, पृ० २११)।

निर्देशक-प्रकार की रूप-रचना का विचार आगे 'काल-रचना' के प्रसङ्ग में किया गया है।

वाच्य

§३८५. प्रा० भा० आ० भाषा में कर्म-वाच्य संश्लेषात्मक-रूप से (अर्थात् धातु में प्रत्ययों के संयोग से) प्रकट किया जाता था। परन्तु आ० भा० आ० भाषाओं में कर्म-वाच्य के रूप विश्लेषात्मक-ढंग से बनाए जाते हैं। संस्कृत में धातु के साथ – य-जोड़कर कर्म-वाच्य का रूप बनाया जाता था। मध्य० भा० आ० भा के प्रथम-पर्व में -य> – इय-इय्य-ईय तथा द्वितीय पर्व में--इज्ज बन गया। कतिपय आ० भा० आ० भाषाओं में यह--इज्ज> इज् (सिंधी), -ईज् (मारवाड़ी)-इय (नेपाली),--ई (पंजाबी) रूप में सुरक्षित है; यथा सिंधी-दिजे 'दिए जाने दो' मारवाड़ी--पढीजे, नेपाली--पढिये, पं० पढिए। हिंदी में 'चाहिए' में ही यह प्रत्यय मिलता है। अन्यत्र इसका लोप हो गया है।

§३८६. हिन्दी में कर्म-वाच्य के रूप भूत-कालिक-कृदन्त के साथ 'जाना'-क्रिया के रूपों के संयोग से बनते हैं; यथा-मारा जाता है; मारा गया इत्यादि। उद्देश्य के लिङ्ग एवं वचन के अनुसार भूत-कालिक-कृदन्त के रूप में परिवर्तन कर दिया जाता है। इसप्रकार पुल्लिङ्ग बहुवचन में आकारांत कृदन्त का आ >ए तथा स्त्रीलिङ्ग में>-ई।

§३८७. हिन्दी के 'राम ने पुस्तक पढ़ी' जैसे रूपों में संस्कृत का

कर्मणिप्रयोग सुरक्षित है और इसप्रकार हिन्दी की सकर्मक-धातुओं के भूत-निर्देशक-रूप संस्कृत के कर्म-वाच्य से सम्बद्ध हैं।

काल-रचना

§३८८. हिन्दी की काल-रचना-प्रणाली प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा की पद्धति से बहुत दूर चली गई है। प्रा० भा० आ० भाषा में भूत-काल में धातु के तीन रूप होते थे, लङ, लिट् एवं लुङ् लकार में। इनके उदाहरण क्रमशः ये हैं—(सं) अगच्छत्, (सं) जगाम, (सं) अगमत्। मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा-काल से ये तीनों रूप छोड़े जाने लगे और धातु के भूत-कालिक-कृदन्त रूप से भूत-काल प्रकट किया जाने लगा। इसप्रकार प्राकृत ने प्रा० भा० आ० भाषा के इन तीनों रूपों के बदले कृदन्तीय-रूप (सं) गतः, अपनाया। यह गतः >म० भा० आ० गअ, गय>हि गया। इसीप्रकार संस्कृत का वर्तमान-कालिक-कृदन्त रूप हिंदी में गृहीत हुआ; यथा— सं० चलन्त (√चल्+शतृ-प्रत्यय-अन्त)>हिन्दी चलता। इन कृदन्तीय-रूपों के अतिरिक्त प्रा० भा० आ० भा० के वर्तमान-निर्देशक-प्रकार के रूप भी हिन्दी में चले आए; यथा—सं० चलति>म० भा० आ० चलइ>हिन्दी चले। प्रा० भा० आ० भाषा से प्राप्त ये तीन रूप (एक तिङन्त एवं दो कृदन्त) हिन्दी-धातुओं के विविध-रूपों के आधार हैं और इनमें सहायक-क्रियाओं के योग से हिन्दी की काल-रचना-प्रणाली का निर्माण हुआ है।

§३८९. रचना-प्रणाली के आधार पर हिन्दी कालों का विभाजन निम्न-लिखित-प्रकार से किया जा सकता है—

(१) सरल या मौलिक-काल (Simple tenses)—जिनमें धातु का तिङन्त अथवा कृदन्त-रूप बिना किसी सहायक-क्रिया की सहायता के प्रयुक्त होता है। तिङन्त-भेद से यह भी दो प्रकार का हुआ—

(क) तिङन्त—

(i) मूलात्मक-काल (१) वर्तमान इच्छार्थक (२) वर्तमान, आज्ञार्थक (तू) चल
(Radical Tense); यथा-(मैं) चलूँ, (तुम) चलो, (वह) चले।

(ii) प्रत्यय एवं कृदन्त संयोगी-भविष्यत्—यथा-(मैं) चलूँगा, (तुम) चलोगे, (वह) चलेगा।

(ख) कृदन्तीय-काल (Participial Tense)—

(i) साधारण या नित्य-अतीत (Simple Past); यथा—
(मैं) चला, (तुम) चले, (वह) चला।

(ii) कारणात्मक-अतीत (Past Conjunctive); यथा—
(मैं) चलता, (तुम) चलते, (वह) चलता।

(iii) भविष्यत्-आज्ञार्थक; यथा—(तुम) चलना।

§३६०. मिश्र या यौगिककाल-समूह—(Compound Tenses) इसमें धातु के कृदन्त-रूप के साथ कोई सहायक-क्रिया प्रयुक्त होती है। इस काल-समूह के दो भेद किए जाते हैं (अ) घटमान-काल-समूह (Progressive Tenses) तथा (आ) पुराघटित-काल-समूह (Perfect Tenses)।

§३६१. (अ) घटमान-काल-समूह में वर्तमान-कालिक-कृदन्त के साथ सहायक-क्रिया प्रयुक्त होती है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित-काल आयेंगे—

(१) घटमान-वर्तमान (Present Progressive)-यथा-(मैं) चलता हूँ; (तुम) चलते हो; (वह) चलता है।

(२) घटमान-भूत (Past Progressive); यथा-(मैं) चलता था; (तुम) चलते थे, (वह) चलता था।

(३) घटमान-भविष्यत् (Future Progress)-यथा-(मैं) चलता हूँगा, (तुम) चलते होगे, (वह) चलता होगा।

(४) घटमान-सम्भाव्य-वर्तमान (Present Progressive conjunctive)-यथा-(मैं) चलता होऊँ, (तुम) चलते (होवो), (वह), चलता (होवे)।

(५) घटमान-सम्भाव्य-अतीत-(Past Progressive conjunctive) यथा-(मैं) चलता होता, (तुम) चलते होते, (वह) चलता होता।

§ ३६२. (आ) पुराघटित-काल-समूह—इसमें भूत-कालिक-कृदन्त के साथ सहायक-क्रिया प्रयुक्त होती है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित-काल हैं—

(१) पुराघटित-वर्तमान (Present Perfect)-यथा-(मैं) चला हूँ, (तुम) चले हो, (वह) चला है।

(२) पुराघटित-भूत (Past Perfect)-यथा-(मैं) चला था, (तुम) चले थे, (वह) चला था।

(३) पुराघटित-भविष्यत् (Future Perfect)-यथा-(मैं) चला हूँगा, (तुम) चले होगे, (वह) चला होगा।

(४) पुराघटित-सम्भाव्य-वर्तमान—(Present Perfect Conju-

nctive); यथा-(मैं) चला होऊँ, (तुम) चले होवो, (वह) चला होवे-हो।

(५) पुराघटित-सम्भाव्य-भूत Past Perfect Conjunctive) यथा-(मैं) चला होता, (तुम) चले होते, (वह) चला होता।

नीचे प्रत्येक-काल पर विस्तार से विचार किया जाता है—

§३६३. सरल या मौलिक-काल (Radical Tense)—

(क) तिङन्त—

(i) मूलात्मक-काल (वर्तमान इच्छार्थक) के हिन्दी में निम्नलिखित-रूप बनते हैं—

उत्तम-पुरुष-एक वचन-(मैं) चलूँ, ब० व० (हम), चलें
मध्यम पुरुष-एक ,, (तू) चले ब० व० (तुम) चलो
अन्य पुरुष- ,, (वह) चले ब० व० (वे) चलें

इन रूपों की व्युत्पत्ति प्र० भा० आ० भाषा के वर्तमान-निर्देशक से हुई है। नीचे दिए हुए तुलनात्मक कोष्ठक से इनकी व्युत्पत्ति स्पष्ट हो जाएगी।

प्रा० भा० आ०	मध्य भा० आ०	हिन्दी
एक वचन		
चलामि	चलामि, चलम्हि (अप०) चलउँ	चलूँ
चलसि	चलहि	चले
चलति	चलदि, चलइ	चले
बहुवचन		
चलाम :	चलम, चलम्हो चलम्ह अप० चलहुँ	चलें
चलथ	चलह, (अप०) चलहुँ	चलो
चलन्ति	चलेन्ति (अप०) चलहिं	चलें

ऊपर के रूपों को ध्यान से देखने पर विदित होगा कि हिन्दी के रूप अपभ्रंश से आए हैं परन्तु उत्तम-पुरुष-बहुवचन के अपभ्रंश-रूप चलहुँ तथा प्रा० भा० आ० चलाम : रूपों से चलें की व्युत्पत्ति नहीं मानी जा सकती और अपभ्रंश में उत्तम-पुरुष एक वचन चलउँ की व्युत्पत्ति भी प्रा० भा० आ० चलामि>प्रा० चलामि, चलम्हि में संभव नहीं है। इसप्रकार हिन्दी के उत्तम-पुरुष के रूपों की व्युत्पत्ति, संदिग्ध है। बीम्स का विचार है कि इस

पुरुष के एक वचन एव बहुवचन रूपों में व्यत्यय के कारण हिन्दी के रूप प्रा० भा० श्रा० भा० के रूपां से भिन्न हो गए हैं। इसप्रकार हिन्दी के उत्तम-पुरुष एक वचन की व्युत्पत्ति प्रा० भा० श्रा० उत्तम-पुरुष, ब० व० के रूप से निम्न-लिखित-प्रकार से संभव हुई होगी—

प्रा० भा० श्रा० चलामः > प्रा० चलामु, *चलाउँ, (अप०) चलउँ >हिन्दी, चलूँ। इसीतरह हिन्दी उत्तम-पुरुष ब० व० के रूप चलें की व्युत्पत्ति प्रा० भा० श्रा० चलामि>म० भा० श्रा० *चलाइँ से हुई होगी।

प्रा० भा० श्रा० के वर्तमान-निर्देशक से प्राप्त रूपों का प्रयोग अपभ्रंश में वर्तमान-संभावनार्थ (Present Conjunctive) के अर्थ में हुआ है; यथा—'जइ आवइ तो आणिअइ (हेम० ८-४) 'यदि वह आए तो उसे लाया जाय'। हिन्दी में भी इन रूपों का प्रयोग इस अर्थ में होता है; यथा—यदि 'वह चले' इत्यादि।

§३६४. (२) वर्तमान-आज्ञार्थक में वर्तमान-इच्छार्थक रूप ही प्रयुक्त होते हैं, केवल मध्यम-पुरुष, एक वचन में, (तू) चले के स्थान पर (तू) चल् रूप व्यवहृत होता है।

वर्तमान-आज्ञार्थक के रूपों की प्रा० भा० श्रा० तथा म० भा० श्रा० के रूपों से तुलना नीचे दी जाती है—

प्रा० भा० श्रा०	म० भा० श्रा०	हिन्दी
एक वचन		
चलामि	चलामु	चलूँ
चल	चल	चल्
चलतु	चलदु, चलउ	चले
बहुवचन		
चलाम	चलामो	चलें
चलत	चलह	चलो
चलन्तु	चलंतु	चलें

ऊपर के रूपों को देखने से विदित होता है कि हिंदी के केवल मध्यम पुरुष एकवचन के रूप (तू) चल् की ही व्युत्पत्ति प्रा० भा० श्रा० भा० के आज्ञार्थक-रूप 'चल' से संभव है। अन्य-रूपों की व्युत्पत्ति प्रा० भा० श्रा० के आज्ञार्थक-रूपों से न होकर वर्तमान, निर्देशक के रूपों से हुई जान पड़ता है।

हिंदी में आज्ञार्थक का आदर-सूचक-रूप केवल मध्यम पुरुष ब० व०

में मिलता है; यथा—चलिए, दीजिए, इत्यादि। इनकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० के आशीर्लिङ् के –या– (यथा—दद्यात्, कुर्यात्) से निम्न-लिखित-प्रकार से मानी जाती है—

–या>म० भा० आ० इय्य; इज्ज>हिं० –इय, इए, ईजिए।

§३६५. (ii) प्रत्यय-संयोगी-भविष्यत् के हिंदी में निम्नलिखित-रूप मिलते हैं—

उत्तम-पुरुष ए० व०	(मैं)	जाऊँगा	ब० व०	(हम)	जाएँगे
मध्यम-पुरुष ,,	(तू)	जाएगा	ब० व०	(तुम)	जाओगे
अन्य-पुरुष ,,	(वह)	जाएगा	ब० व०	(वे)	जाएँगे

§३६६. प्राचीन-भारतीय-आर्य भाषा में एक भविष्यत् काल के रूप –इष्य अथवा –स्य विकरण के योग से निष्पन्न होते थे; यथा √चल्, चलिष्यति; √पठ्, पठिष्यति, इत्यादि। यह इष्य अथवा स्य>म० भा० आ० इस्स अथवा स्स>आ० भा० आ० इह या ह्। इस विकरण-युक्त-भविष्य के रूप, खड़ीबोली-हिंदी में नहीं आ पाए, परन्तु ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुंदेली, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी-हिन्दी तथा मागधी-प्रसूत-भाषाओं में विद्यमान हैं। खड़ी-बोली-हिंदी में जब ये न आ पाए तो प्रा० भा० आ० भा० के वर्तमान-निर्देशक के रूपों ने यहाँ भी स्थान पाया। पीछे लिखा जा चुका है कि प्रा० भा० आ० भाषा के वर्तमान-निर्देशक के रूपों से हिन्दी के वर्तमान-इच्छार्थक, आज्ञार्थक एवं संभावनार्थक-रूपों की उत्पत्ति हुई है। इससे स्पष्टतया विदित होता है कि प्रा० भा० आ० भाषा के वर्तमान-निर्देशक के रूपों का मूल-भाव धुँधला पड़ गया था, जिससे उनका उपयोग अनेक कालों के रूप बनाने में किया जाने लगा। प्रा० भा० आ० भाषा के वर्तमान निर्देशक के रूपों में √गम् धातु के भूत-कालिक-कृदन्त का रूप गत>म० भा० आ० गओ, गअ हिंदी गा जोड़ कर खड़ीबोली हिंदी में जाऊँगा, जाओगे, इत्यादि—भविष्यत् के रूप निष्पन्न हुए।

§३६७. हिंदी में भविष्यत्-आज्ञार्थक (Future Imperative) का केवल एक मौलिक-रूप (तुम) चलना मिलता है। यह स्पष्ट है कि धातु के असमापिका (Infinitive) रूप से इसका निर्माण हुआ है।

(ख) मौलिक कृदन्तीय-काल (Radical Participial Tenses)

§३६८. (i) साधारण या नित्य-अतीत (Simple Past) के हिंदी में निम्नलिखित-रूप होते हैं—

उत्तम-पुरुष ए० व०	(मैं)	चला	ब० व०	(हम)	चले
मध्यम-पुरुष ,,	(तू)	चला	,,	(तुम)	चले
अन्य-पुरुष ,,	(वह)	चला	,,	(वे)	चले

'चला' की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भाषा के भूतकालिक-कृदन्त-रूप चलितः>म० भा० आ० चलिदो, चलिओ, चलिअ से हुई है। बहुवचन में अ(>ए।

§३६६. (ii) कारणात्मक-अतीत (Past Conjunctive) के रूपों (चल्ता, चल्ते) की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भाषा के वर्तमान-कालिक-कृदन्त-रूपों से इसप्रकार हुई है—

प्रा० भा० आ० चलन्त् (√चल्+-अन्त 'शतृ-प्रत्यय)>म० भा० आ० चलंतो, चलंत>हिन्दी चल्ता। बहुवचन में आ>ए के कारण चलते रूप बना।

२. मिश्र या यौगिक-काल-समूह (Compound Tenses)

§ ४००. जैसा पहिले लिखा जा चुका है, मिश्र या यौगिक-काल-समूह के रूप सहायक-क्रिया के रूपों के योग से निष्पन्न होते हैं। अतः पहिले सहायक-क्रियाओं के रूपों पर विचार करना आवश्यक है।

§ ४०१. हिन्दी में मुख्यतया √हो (ना) <सं० √भू- का सहायक-क्रिया के रूप में प्रयोग होता है। परन्तु वर्तमान एवं भूत में क्रमशः प्रा० भा० आ० √अस्- 'होना' तथा √स्था-से उत्पन्न रूपों का प्रयोग होता है। विभिन्न-कालों में, सहायक-क्रिया के रूप, व्युत्पत्ति-सहित नीचे दिए जाते हैं।

वर्तमान

ए० व०—उ० पु० (मैं) हूँ, म० पु० (तू) है, अ० पु० (वह) है।
ब० व०— ,, (हम) हैं ,, (तुम) हो, ,, (वे) हैं।

हूँ < म० भा० आ० अम्हि < प्रा० भा० आ० अस्मि (√अस्-)।

है < म० भा० आ० अहि, अत्थि < प्रा० भा० आ० अस्ति।

इसीप्रकार अन्य रूपों की व्युत्पत्ति भी √अस्- से कल्पना की गई है।

§ ४०२. भूत

ए० व०—उ० पु० (मैं) था, म० पु० (तू) था, अ० पु० (वह) था।
ब० व०— ,, (हम) थे, ,, (तुम) थे, ,, (वे) थे।

कतिपय लोगों ने था कि व्युत्पत्ति इसप्रकार दी है—

था< म० भा० आ० थाइ, थियो<प्रा० भा० आ० स्थित किन्तु इसकी

ठीक व्युत्पत्ति इसप्रकार है—सन्त के स्थान पर असन्त>अह्न्त>ह्न्तौ>हतौ> था।

'थे'—'था' का विकारी रूप है। स्त्री-प्रत्यय लगाकर इसका रूप 'थी' हो जाता है।

§ ४०३. सम्भाव्य-वर्तमान

ए० व०—उ० पु० (मैं) होऊँ, म० पु० (तू) हो, होए, अ० पु० (वह) हो, होए
ब० व०— ,, (हम) हों, ,, (तुम) होवो, ,, (वे) हों, होएं

होऊँ<हुवाउँ, हुवामि < भवामि। इसीप्रकार अन्य-रूपों की व्युत्पत्ति भी प्रा० भा० आ० √भू मानी गई है।

भविष्यत्

ए० व०—उ० पु० (मैं) होऊँगा, हूँगा, म० पु० (तू) होगा, अ० पु० (वह) होगा
ब० व०— ,, (हम) होंगे, ,, (तुम) होगे, अ० पु० (वे होंगे।

सम्भाव्य-वर्तमान के रूपों के साथ सं० गत->म० भा० आ० गअ हि० गा के योग से इन रूपों की सिद्धि हुई है।

§ ४०५. सम्भाव्य-अतीत

ए० व०—उ० पु० (मैं) होता, म० पु० (तू) होता, अ० पु० (वह) होता
ब० व०— ,, (हम) होते, ,, (तुम) होते, ,, (वे) होते

होता<प्रा० होन्तो<सं० भवन्। 'होते' इसका विकारीरूप है।

जैसा पीछे लिखा जा चुका है, धातु के वर्तमान-कालिक-कृदन्त के साथ सहायक-क्रिया के इन रूपों के योग से वर्तमान-काल-समूह तथा भूत-कालिक-कृदन्त-रूप के साथ इनके संयोग से पुराघटित-काल-समूह के रूप निष्पन्न होते हैं। यहाँ इनके रूपों को दुहराना पिष्ठ-पेषण मात्र होगा, क्योंकि सहायक-क्रिया के रूपों एवं कृदन्तीय-रूपों की व्युत्पत्ति दी जा चुकी है।

कृदन्तीय-रूप या क्रियामूलक-विशेषण

(The Participle)

(अ) वर्तमान-कालिक-कृदन्त अथवा वर्तमान-कालिक-क्रियामूलक विशेषण (The Present Participles)

§ ४०६. हिन्दी में वर्तमान-कालिक-कृदन्त ता, ते, (ब० व०) तथा ती (स्त्री-लिङ्ग) प्रत्ययों के योग से निष्पन्न होते हैं; यथा—चलता आदमी, फिरता जोगी, बहता पानी, बहते नाले, उड़ते पंछी, उड़ती चिड़िया, इत्यादि।

इस प्रत्यय की उत्पत्ति संस्कृत एवं प्राकृत के कृदन्तीय-प्रत्यय अन्त् से हुई है।

(आ) कर्म-वाच्य अतीत-कालिक-कृदन्त अथवा अतीत-कालिक-क्रियामूलक-विशेषण (Past Passive Participle)

§४०७. हिन्दी में अतीत-कालिक-कृदन्त के रूप आ (पुल्लिङ्ग) एवं ई (स्त्रीलिङ्ग) प्रत्ययों के योग से बनते हैं; यथा—सुना (हुआ) किस्सा; पढ़ा (हुआ) पाठ; आँखों देखा दृश्य; पैरों चला रास्ता; तारों सजी रात; सुनी-सुनाई बात, इत्यादि।

इस प्रत्यय की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० इत>म० भा० अ० अ+आ (स्वार्थ-प्रत्यय, अथवा < इअ 'स्त्री-प्रत्यय') से हुई है।

इसके कर्म-वाच्य के रूप इसके साथ गया (पुल्लिङ्ग) तथा गई (स्त्रीलिङ्ग) जोड़ने से बनते हैं;यथा—देखा गया, सुना गया, पढ़ी गई, कही गई, आदि।

(इ) असमापिका अथवा पूर्व-कालिक-क्रिया (Infinitive)

§४०८. हिन्दी में इसके रूप धातु के साथ 'कर्' जोड़ने से बनते हैं, यथा— देख् कर्, सुन् कर् , जाकर्, सोकर्, आदि। इस 'कर्' के स्थान में 'के' का प्रयोग भी (विशेषतया, बोलचाल में) होता है; यथा—सुन् के, देख् के, इत्यादि।

उड़िया, असमिया, मैथिली, मगही, भोजपुरी तथा प्राचीन एवं मध्य बँगला एवं हिन्दी में भी, असमापिका अथवा पूर्व-कालिक-क्रिया के रूप, धातु के साथ इ प्रत्यय के योग से बनते हैं और उसके साथ के, करि, किरि (उड़िया) आदि परसर्गों का व्यवहार होता है। इन - इ प्रत्ययान्त-रूपों की उत्पत्ति प्रा० भा० आ०* दृक्ष्य (प्रयोग में 'दृष्ट्वा' रूप मिलता है, परन्तु इससे इन आ० भा० आ० भाषा के रूपों की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। संभवतः 'पश्य' इत्यादि रूपों के सादृश्य पर म० भा० आ० भाषा ने √दृश् इत्यादि धातुओं के भी 'दृक्ष्य' जैसे रूप बना कर अपनाए हों।) > म० भा० आ० देक्खिअ> आ० भा० आ० देखि जैसे परिवर्तन क्रम से हुई है। खड़ीबोली हिंदी में इस इ का लोप हो गया है।

(ई) द्वैत-क्रियापद

§४०९. पौनःपुन्य अथवा कार्य की निरन्तरता का भाव प्रकट करने के लिए हिन्दी में प्रायः क्रियाओं के सतम्यन्त-कृदन्तीय अथवा पूर्व कालिक रूपों का द्वित्व किया जाता है, यथा—उड़ते-उड़ते, सुनते-सुनते, भागते-

भागते। पूर्व-कालिक-क्रिया के द्वित्व में 'कर्' परसर्ग बाद में जोड़ा जाता है; यथा—गा-गा कर, नाच्-नाच् कर, इत्यादि।

इसप्रकार के प्रयोग प्रा० भा० आ० भाषा से लेकर आ० भा० आ० भाषाओं तक मिलते हैं। पाणिनि ने भी 'वीप्सा'* के अर्थ में द्वैत-क्रियापदों का विधान किया है—यथा—भुक्त्वा-भुक्त्वा 'निरन्तर पकाते' हुए।

§ ४१०. हिन्दी आदि आ० भा० आ० भाषाओं में, कई धातु-पद, युग्म-रूप से प्रयुक्त होते हैं। ये दोनों या तो समानार्थक होते हैं अथवा निरन्तरता-बोधक। हिंदी में इनके उदाहरण ये हैं—लिख-पढ़कर; देख्-सुन् कर्; कूद्-फाँद्कर; कूट-पीस्कर इत्यादि।

§ ४११. अन्य आ० भा० आ० भाषाओं की भाँति हिन्दी में भी पारस्परिक क्रिया-विनिमय प्रकट करने के लिए, क्रिया-विशेष्य-पदों के द्विगुणित-रूप प्रयुक्त होते हैं। इसप्रकार के युग्म में पहला पद—'आ'कारान्त तथा दूसरा '—ई'कारान्त कर दिया जाता है; यथा—मारा-मारी; देखा-देखी; काटा-काटी; इसीप्रकार समानार्थक-क्रियाओं के भी युग्म बना दिए जाते हैं; यथा—छीना-झपटी, इत्यादि।

(उ) संयुक्त-क्रियापद (Compound Verbs)

§ ४१२. आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में, क्रिया-पदों के साथ, संज्ञा, क्रियामूलक-विशेष्य अथवा कृदन्तीय-पदों के संयोग के कारण एक विशेषप्रकार का मुहावरेदार प्रयोग बन जाता है। इसप्रकार के संयुक्त-संज्ञापद कर्म या अधिकरण कारक में रखे जाते हैं और दोनों मिलकर एक ही अर्थ का प्रकाशन करते हैं। इन दो-संयुक्त-पदों में से क्रियापद वस्तुतः सहायक-रूप में ही होता है तथा वह संज्ञा एवं क्रियामूलक-विशेषण या विशेष्य (Participle तथा Verbal Nouns) की विशेषता द्योतित करता है। आ० भा० आ० भाषाओं में इसप्रकार के संयुक्त-क्रियाओं के निर्माण से भाषा में एक नवीन-शक्ति तथा स्फूर्त्ति आ गई है। प्राचीन-भाषाओं, जैसे संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि में, क्रिया-पदों में, उपसर्ग लगाकर नवीन-भावों का प्रकाशन होता था। योरप की कई आधुनिक-आर्य-भाषाओं में इनका प्रायः अभाव हो गया। इसकी क्षतिपूर्ति आधुनिक-भारतीय-आर्यभाषाओं में संयुक्त-क्रियाओं के निर्माण से हो गई।

---

*'नित्यवीप्सयोः' (८.१४)।

आधुनिक-भारतीय-आर्यभाषाओं में प्राचीन-काल से ही संयुक्त-क्रियाएँ मिलती हैं। चर्या-पदों से डा० चटर्जी ने अनेक उदाहरण देकर इस बात को सिद्ध किया है। (दे० बैं० लैं० §७७८)।

§ ४१३. हिन्दी में संयुक्त-क्रियाओं को कैलाग के अनुसार[1] निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(१) पूर्वकालिक-कृदन्त-पद युक्त—

(i) भृशार्थक (Intensives), यथा-फेंक देना; फाड़ डालना; गिर् पड़ना; गिरा देना; खा जाना; पी लेना; इत्यादि।

(ii) शक्यता-बोधक (Potentials)—पूर्वकालिक-कृदन्त के साथ √सक् (ना) के योग से निष्पन्न होते हैं; यथा—जा सक्ना; पढ़् सकना; देख् सक्ना, इत्यादि।

(iii) पूर्णता-बोधक (Completives),—√चुक्ना, क्रिया के साथ पूर्वकालिक-कृदन्त-रूप के संयोग से सिद्ध होते हैं; यथा-खा चुक्ना; कर् चुक्ना; लिख् चुक्ना, इत्यादि।

§ ४१४. (२) आकारान्त क्रिया-मूलक-विशेष्य-पद युक्त—

(i) पौनः पुन्यार्थक (Frequentatives)—यह आकारान्त क्रिया-मूलक-विशेष्य-पद के सा √कर् (ना) धातु के योग से बनते हैं; यथा-जाया कर्ना, पढ़ा कर्ना, खेला कर्ना।

(ii) इच्छार्थक (Desiderative)—आकारान्त क्रियामूलक-विशेष्य-पद के साथ √चाह् (ना) धातु के योग से बनते हैं; यथा-घड़ा बजा चाह्ता है, वह बोला चाहता है।

§ ४१५ (३) असमिका-पद युक्त—

(i) आरम्भिकता-बोधक (inceptives)—असमापिका-पद के विकारीरूप के साथ √लग् (ना) धातु के योग से निष्पन्न होते हैं; यथा-खाने लग्ना, चल्ने लगना।

(ii) अनुमति-बोधक (Permissive)—असमापिका-पद के विकारी-रूप के साथ √दे (ना) क्रिया लगाकर बनते हैं; यथा-जाने देना; कर्ने देना; सोने देना ,इत्यादि।

(iii) सामर्थ्य-बोधक (Acquisitives)—असमापिका-पद के विकारी-

---

१ कैलाग-हिंदी-ग्रामर-पृ० २४८।

रूप के साथ √पा (ना) क्रिया लगाकर बनते हैं; यथा—जाने पाना; करने पाना, देने पाना।

(४) § ४१६. वर्तमान-कालिक तथा भूत-कालिक-कृदन्तयुक्त—

(i) निरन्तरता-बोधक (Continuatives)—यह वर्तमान-कालिक-कृदन्त के साथ √रह् (ना) के योग से सम्पन्न होते हैं; यथा—जाता रहना, पढ़ता रहना, गाती रहना, सोती रहना।

(ii) प्रगति-बोधक (Progressives)—ये वर्तमान-कालिक-कृदन्त के साथ √जा (ना) क्रिया के योग से बनते हैं; यथा—आग बढ़ती जाती थी, नदी घटती जाती थी; लड़के पढ़ते जाते थे।

(iii) गत्यर्थक (Statical)—यह वर्तमान-कालिक-कृदन्त के साथ गति-बोधक-धातु के योग से बनते हैं; यथा—वह गाते हुए चलता है।

§ ४१७. (५) विशेष्य अथवा विशेषण-पद-युक्त—

यह विशेष्य अथवा विशेषण-पद के साथ √कर् (ना); √ हो (ना); ले √ (ना), आदि धातुओं के योग से बनते हैं;यथा—भोजन करना, विश्राम करना, सुख देना, मौज लेना।

चौदहवाँ अध्याय

अव्यय

§४१८. संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि में नाम तथा सर्वनाम-शब्दों के परे तद्धित के कतिपय प्रत्यय लगाने से अव्यय बन जाते हैं। प्राचीन-भाषाओं की यह विशेषता आधुनिक-भारतीय-आर्यभाषाओं एवं बोलियों में भी पूर्णतया सुरक्षित है और यहाँ भी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा प्राचीन-अव्ययों से ही अव्यय बनते हैं। सर्वनाम के अन्तर्गत इससे सम्बन्ध रखने वाले अव्ययों पर विचार किया जा चुका है। नीचे अन्य-अव्ययों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

कालवाचक-अव्यय

§४१९. (क) संज्ञापदों से निर्मित—

क्षण (सं० क्षण); समय (सं० समय); घड़ी क्षण, समय सं० घटिका, पा० घटिका, प्रा० घड़िआ); फुर्ती, शीघ्र, (सं० स्फूर्ति); सायत, समय (दे० भो० प्र० अव० साइति < फा० अ० साअत); वखत, समय (फा०-अ० वक़्त)।

§४२० (ख) अव्यय-पदों से निर्मित—

आगे, सामने, बाद (सं० अग्रे, पा० प्रा० अग्गे); आज (सं० अद्य, पा०, प्रा० अज्ज); कल (सं० कल्यम्, कल्ये, पा० कल्लं, प्रातः, प्रा० कल्लं, कल्हिं, बीतने वाला कल); तुरन्त (सं० तुरते वर्तमान-कालिक-कृदन्त; तुरत त्वरते पा० तुरति प्रा० तुरें, तुवरन्त-< त्वरन्त); नित (सं० नित्यम्); बार-बार (सं० बारंबारम्); अब, अभी (डा० चटर्जी के अनुसार – ब-<व्व-, इसप्रकार सं० एवम् > प्रा० एव्वं); कब, जब, तब, की उत्पत्ति क्रमशः सार्वनामिक-अङ्ग (Pronominal base) क-+ब, ज-+ब तथा त-+ब से हुई है।-ब की व्युत्पत्ति अब के सम्बन्ध में ऊपर दी जा चुकी है।

§४२१. जब सर्वनाम-सम्बन्धी-अव्यय दुहराये जाते हैं तथा अन्य-अव्ययों के संयुक्त किये जाते हैं तो उनका अर्थ, परिवर्तित हो जाता है; यथा—जब-जब; इसके साथ तब-तब प्रयुक्त होता है। इसीप्रकार जहाँ-जहाँ, तहाँ-तहाँ, कभी-कभी तथा कहीं-कहीं अव्ययपद सिद्ध होते हैं।

§४२२. अनिश्चतता का भाव प्रकट करने के लिए कभी-कभी सम्बन्ध वाची-अव्यय का अनिश्चयवाचक-अव्यय के साथ संयोग कर दिया जाता है; यथा—जब-कभी, जहाँ-कहीं। कभी-कभी दो अव्ययों के बीच अनिश्चितता द्योतित करने के लिए 'न' का प्रयोग किया जाता है; यथा—कभी न कभी; कहीं न कहीं।

स्थानवाचक-अव्यय

§४२३. यहाँ, वहाँ, जहाँ, कहाँ, आदि अव्यय, स्थानवाचक-रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनकी व्युत्पत्ति इसप्रकार है —

यहाँ<सर्वनाम-अङ्ग 'यो+इहा अथवा 'यो'+स्मिन (सप्तमी-विभक्ति) >य-हीं*

वहाँ< सर्वनाम-अङ्ग 'व-+इहा' अथवा–स्मिन्

जहाँ <सर्वनाम-अङ्ग 'ज-+इहा अथवा – स्मिन्

कहाँ <सर्वनाम-अङ्ग 'क+इहा' अथवा – स्मिन्

तहाँ <सर्वनाम-अङ्ग 'त+इहा अथवा – स्मिन

इनके अतिरिक्त, निम्नलिखित-अव्यय भी स्थान-वाचक-रूप में व्यवहृत होते हैं —

अन्यत्र (सं० अन्यत्र); नजदीक (फा० नज़दीक); भीतर (सं० अभ्यन्तर पा० अब्भन्तर या * अभियन्तर; अप० भिन्तर); बाहर (पा० बाहिरो मि०, सं० वहिः, प्रा०, बाहि तथा बाहिरअ); नीचे (सं० नीचैस्), ऊँचे (सं उच्चैस्)

§ ४२४. परिमाण-वाचक-अव्यय

यथा—और (सं० अपर प्रा० अवर); बहुत (प्रा० बहुत्त-, कदाचित् सं० बहुत्वम् पा० बहुत्तं, मि०, सं० बहुः, पा० बहु, बहुको, प्रा० बहुअ); ज्यादा (फा० ज्यादा); कम् (फा० कम); कुल, (कदाचित् सं० कुलम्) से।

§४२५. स्वीकार तथा निषेध-वाचक-अव्यय

सर्व-प्रमुख स्वीकार-वाचक अव्यय 'हाँ' तथा निषेध-वाचक 'न' ना, नहीं तथा 'मत' हैं। 'न, ना' का प्रयोग किसी भी क्रिया के साथ हो जाता है; परन्तु 'मत' का व्यवहार केवल विधि-क्रिया के ही साथ होता है।

---

*ट० ने० डि० पृ० ८१।

इनकी व्युत्पत्ति इसप्रकार है—

न<सं० न ('ना' इसका विस्तृत-रूप है)।

नहीं<म० भा० आ०*न-अहइ (<*असति<सं० अस्ति ।[1]

हाँ<सं० आम् 'हाँ'<पा० आम ।

इनके अतिरिक्त स्वीकार-वाचक-अव्यय के रूप में कई संज्ञा तथा विशेषण-पद प्रयुक्त होते हैं। यथा-अवश्य, निश्चय, आदि। ये तत्सम-शब्द हैं। इनके साथ जरूर<फा० आ० ज़रूर भी व्यवहृत होता है।

§४२६. निम्नलिखित फा०-अ० शब्दों का प्रयोग, अव्यय-रूप में, हिन्दी में होता है। यथा—

जल्द, जल्दी, शायद, हमेशा, अलबत्ता, खासकर, बिल्कुल, यानी, आदि।

§ ४२७. कभी-कभी दो-अव्ययों तथा अव्यय एवँ संज्ञा-पदों के संयोग से सुन्दर अव्यय वाक्यांश बन जाते हैं। यथा–और-कहीं, अन्यत्र; कभी-नहीं, धीरे-धीरे, नहीं- तो, शनैःशनैः, आदि।

§ ४२८. निम्नलिखित-पदों का प्रयोग भी हिन्दी में अव्यय की भाँति होता है। यथा–जान कर, जानते हुए; मिल कर, मिलते हुए; मिहनत कर; खासकर एक-एक-कर, नीचे मुँह कर, आदि।

§४२६. यह उल्लेखनीय बात है कि किसी शब्द पर जोर देने के लिए ई, ही का व्यवहार किया जाता है। इसका अर्थ होता है ठीक वही आदि। कभी-कभी इन्हें उच्च-स्वर से उच्चारण करने से भी जोर आ जाता है। यथा—यही, वही, राम ही, कृष्ण ही आदि।

§४३०. सम्बन्ध-वाचकअव्यय (Conjunctions) को निम्नलिखित दो-भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) समान-वाक्य-संयोजक (Co-ordinating)।

(ख) आश्रित-वाक्य-संयोजक (sub-ordinating)।

§४३१. (क) समान-वाक्य-संयोजक के निम्नलिखित-भेद हैं —

(१) समुच्चय-बोधक—(Cumulative)

(२) प्रतिषेधक—(Adversative)

(३) विभाजक—(Disjunctive)

---

१ चै० बैं० लैं० पृ० १०३६।

(४) अनुधारणात्मक—(Illative या Conclusive)

§४३२. हिन्दी में और, एवं तथा समुच्चय-बोधक-अव्यय हैं। इनमें एवं, तथा तत्सम-शब्द हैं। और की उत्पत्ति संस्कृत अपरम् से निम्नलिखित-रूप में हुई है —

अपरम्> पा० अपरं> प्रा० अवरं> हि० अवर, और।

§४३३. हिन्दी में प्रतिषेधक-संयोजक के रूप में किन्तु, परन्तु, मगर, लेकिन का व्यवहार होता है। इनमें किन्तु, तथा परन्तु तो तत्सम-शब्द हैं, मगर फा० तथा लेकिन फा० अ० से उधार लिए हुए शब्द हैं।

§४३४. हिन्दी में अत्यधिक प्रचलित विभाजक वा, अथवा तथा अरबी-शब्द या हैं। वा और अथवा संस्कृत से तत्सम-रूप में आए हैं।

§४३५. इनके अतिरिक्त निम्नलिखित-शब्दों का प्रयोग भी विभाजक के रूप में होता है—

(अ) निषेध-वाचक-विभाजक—न, इसका प्रयोग प्रत्येक-वाक्य में होता है ; यथा—न मोहन जायेंगे और न सोहन। यह न संस्कृत से आया है।

(आ) कि का प्रयोग भी विभाजक रूप में होता है ; यथा—तुम जाओगे कि नहीं। इस 'कि' की उत्पत्ति सं० किम् पा०, प्रा० कि से हुई है, अथवा फा० कि से यह उधार लिया हुआ शब्द भी हो सकता है।

(इ) चाहे<धातु√चाहना, प्रा० चाहइ< सं० चहते। यथा—चाहे वह आवे चाहे न आवे।

(ई) प्रश्न-वाचक 'क्या' का प्रयोग जब संज्ञापद के साथ होता है तो वह विभाजक हो जाता है; यथा—क्या पुरुष क्या स्त्री ! इस क्या की उत्पत्ति सं० किम् से हुई है।

§४३६. हिन्दी में तो का प्रयोग अनुधारणात्मक-सम्बन्ध-वाचक-अव्यय के रूप में होता है; यथा—वह नहीं आए तो मुझे जाना पड़ा। इस 'तो' की उत्पत्ति सं० ततः से हुई है।

(ख) आश्रित-वाक्य-संयोजक

§४३७. हिन्दी में आश्रित-वाक्य-संयोजक के रूप में 'कि, 'मानो' तथा 'जैसा' का प्रयोग होता है। कि की व्युत्पत्ति ऊपर दी जा चुकी है। मानो की उत्पत्ति सं० मान्यतु से निम्नलिखित-रूप में हुई है सं० मान्यतु>मएणउ> मानो; इसीप्रकार जैसा की उत्पत्ति सं० यादृश से हुई है।

§४३८. मनोभाव-वाचक (अन्तर्भावार्थक)-अव्यय (Interjection)

स्वर विहीन-व्यञ्जन-ध्वनि म् हिंदी तथा अन्य आधुनिक-भाषाओं एवं बोलियों में भाववाचक-रूप में व्यवहृत होती है। उदात्त, अनुदात्त आदि स्वर के अनुसार इस एकाक्षर अव्यय के अर्थ में भी भिन्नता आ जाती है; यथा—

ˊम (उच्चा-रोही-स्वर) = प्रश्न;

ˋम (अवरोही स्वर) = होना;

म' (हठात् समाप्त) = विरक्ति;

ˇम् (अवरोही एवं आरोही = वितर्क;

ॊ म् (निम्न अवरोही) = ठीक है, देख लूँगा।

इसीप्रकार हूँ, हुँ अव्ययों के उदात्तादि-स्वरों के उच्चारण से भी अर्थ में विचित्रता आ जाती है।

(य) सम्मति-ज्ञापक (Assertive) हाँ, अच्छा, वही, जी हाँ आदि इसके अन्तर्गत आयेंगे। इनमें हाँ की उत्पत्ति सं० आम् से तथा अच्छा की उत्पत्ति सं० अच्छ:>पा० अच्छो>प्रा० अच्छअ से हुई है। वही वस्तुतः वह पर जोर देकर बना है। वह की उत्पत्ति सर्वनाम में दी जा चुकी है। जी हाँ में हाँ की व्युत्पत्ति दी जा चुकी है, जी की उत्पत्ति टर्नर के अनुसार सं० जीव से निम्नलिखित रूप में हुई है —

सं० जीव>जीअ>जी [टर्नर, ने० डि०, पृ० २१६]।

(र) असम्मति-ज्ञापक—(Negative) न, ना, नहीं। इनमें 'न' की उत्पत्ति सं० न से हुई है। ना इसीका विस्तृतरूप है और इसीमें जोर देने के लिए 'ही' अव्यय संयुक्त कर दिया गया है।

(ल) अनुमोदन-ज्ञापक (Appreciative)—वाह्, वाह, ओहो, शाबाश। इनमें वाह् तथा शाबाश वस्तुतः फारसी से लिए गए हैं।

(व) घृणा या विरक्ति-व्यञ्जक (Intejections of Disgust)—छी छी, छिः, थू-थू, दुर्-दुर्, राम-राम, इत्यादि। इनमें से छी-छी<प्रा० छा-छी, थू-थू<प्रा० थू<सं० थूत्कार; दुर-दुर<प्रा० दूर<सं० दूरः, एवं धिक् तथा राम् राम् संस्कृत तत्सम-रूप हैं।

(श) भय, यंत्रणा या मनः कष्ट-व्यञ्जक—आह, हाय्, बाप् रे-बाप्, मर गए रे, इत्यादि। आह<सं० आः; हाय्<सं० हा।

(ष) विस्मय-द्योतक (Interjection of Surprise)—हैं, एँ,

ओहो, अरे राम्, अच्छा, बाप् रे बाप्, इत्यादि । हैं, एँ की व्युत्पत्ति सं० अइ से प्रतीत होती है । ओहो में सं० अहो तथा ओः का सम्मिलन हो गया है ।

(घ) करुणा-द्योतक (Interjection of pity), आह्, हाय राम, राम् रे, अरे बाप् रे इत्यादि । इनकी उत्पत्ति ऊपर दी जा चुकी है ।

(स) आह्वान या सम्बोधन-द्योतक (Vocatives) –हे, ए (<प्रा० हे<सं० हे); अरे (<पा० प्रा० अरे<स० अरे); रे (सं० पा० रे), अजी (सभवतः सं० अहो+जीव के संयोग से) इनमें से 'अजी' आदरार्थक तथा अन्य अपने से छोटों के लिए प्रयुक्त होता है ।

(ह) अनुकारसूचक (Onomatopoetics) —इन शब्दों का प्रयोग 'कर्' अथवा अन्य किसी क्रिया के साथ होता है । अनेक अनुकारसूचक-शब्द हिंदी में प्रचलित हैं, यथा—काँव्-काँव्, कू-कू,भू-भू, बड़् बड़्, धप्-धप्, थप्-थप् , इत्यादि ।

———

परिशिष्ट

(१)

संस्कृत, अंग्रेजी, फ़ारसी तथा अरबी व्याकरण सहित हिन्दी-व्याकरण की तुलना

[क] संस्कृत तथा हिन्दी

संस्कृत की भाँति ही हिन्दी के लिए भी देवनागरी-वर्णमाला का प्रयोग होता है। हिन्दी-वर्णमाला में, कतिपय ऐसे वर्णों का प्रयोग होता है जिनके ठीक-ठीक उच्चारण आज हिन्दी से लुप्त हो चुके हैं। उदाहरण-स्वरूप ऋ, ॠ, लृ, लॄ तथा ष हिन्दी वर्णमाला में हैं, किन्तु इन ध्वनियों का आज हिन्दी में उच्चारण नहीं होता। कतिपय संयुक्त-वर्णों का भी शुद्ध उच्चारण हिन्दी में नहीं हो पाता। उदाहरण-स्वरूप क्ष=क्+ष का उच्चारण तो हिन्दी के कतिपय अंचलों में ठीक होता है, किन्तु ज्ञ्=ज्+ञ का उच्चारण ग्यँ की भाँति होता है। इधर संस्कृत-उच्चारण से प्रभावित होकर कुछ लोग इसका उच्चारण [ज्ञ] रूप में करने लगे हैं। संस्कृत के 'ह्म' का उच्चारण भी हिन्दी में म्ह् की भाँति होता है। प्रायः प्राकृत-युग से ही इसका अशुद्ध-उच्चारण प्रचलित हो गया था। यथा—ब्राह्मण=ब्राम्ह्‌ण। इसके अतिरिक्त हिन्दी में कतिपय नूतन-ध्वनियों का भी आगमन हुआ है। हिन्दी के स्वरों तथा व्यञ्जनों के उच्चारण-स्थान के देखने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

सन्धि—उच्चारण की सरलता तथा स्वाभाविकता के लिए ही वस्तुतः सन्धि की व्यवस्था होती है। संस्कृत में सन्धि के स्पष्ट-नियम हैं और शब्द-रूप के निर्माण में इसका पर्याप्त हाथ है किन्तु हिन्दी में इसप्रकार के नियमों का प्रायः अभाव है। हिन्दी के श्वासाघात अथवा स्वराघात-सम्बन्धी-नियम भी प्रायः संस्कृत से भिन्न हैं।

शब्दरूप—संस्कृत में तीन लिंग—पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, तथा नपुंसक लिंग—होते हैं। संस्कृत में प्रत्यय के अनुसार ही लिंग निर्धारित होता है, अर्थ के अनुसार नहीं। इस कारण संस्कृत में प्राणिवाचक, अप्राणिवाचक, पुरुष-वाचक अथवा स्त्री-वाचक शब्दों पर विचार नहीं किया जाता। संस्कृत में

आकारान्त लज्जा, लता शब्द, स्त्रीलिंग हैं किन्तु अकारान्त, वृक्ष, क्रोध, आदि शब्द स्त्रीलिंग नहीं हैं। हिन्दी में केवल दो ही लिंग—पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग—होते हैं। यहाँ प्रत्यय के अनुसार लिंग निर्धारित नहीं होता। ठेठ-हिन्दी में स्त्रीवाचक कई प्रत्यय हैं; यथा—ई, इनि, आदि।

संस्कृत में प्रत्यय के अनुसार ही कारक-रूप भी होते हैं; यथा लता शब्द का षष्ठी एकवचन का रूप लतायाः, मातृ का मातुः, चन्द्र का चन्द्रस्य तथा मनस् शब्द का रूप मनसः होता है। किन्तु हिन्दी में यह कार्य केवल का, की, के परसर्ग से ही सम्पन्न होता है।

संस्कृत में तीन वचन—एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन—होते हैं; हिन्दी में द्विवचन का अभाव है। संस्कृत के बहुवचन के रूप, लिंग तथा विभक्ति के अनुसार होते हैं। यथा पुरुषः—पुरुषाः; फलम्—फलानि; साधू—साधवः; सखा—सखायः, इत्यादि। हिन्दी में इसप्रकार के रूपों का अभाव है। उसमें विशेष्य-पदों में, केवल, बहुवचन के प्रत्ययों को संयुक्त करके ही यह कार्य सम्पन्न होता है।

संस्कृत में सम्बन्ध तथा सम्बोधन को लेकर आठ करक होते हैं; हिन्दी में कारकों की संख्या इतनी नहीं है। हिन्दी में कारकों के रूप अनुसर्ग की सहायता से सम्पन्न होते हैं। वास्तव में यह प्रणाली आधुनिक सभी आर्य-भाषाओं में प्रचलित है और यही आधुनिक-आर्य-भाषाओं को संस्कृत से पृथक करती है।

संस्कृत में विशेष्य के लिंग तथा वचन के अनुसार ही विशेषण के लिंग एवं वचन होते हैं। हिन्दी में विशेषण-पदों में प्रायः परिवर्त्तन नहीं होता; हाँ, कहीं-कहीं संस्कृत के अनुसार इसप्रकार का परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होता है।

सर्वनाम—गौरव के लिए बहुवचन का प्रयोग हिन्दी सर्वनाम के कतिपय-रूपों में दृष्टिगोचर होता है; यथा—इस (सर्वनाम) के स्थान पर इन का प्रयोग। इसीप्रकार उस के स्थान पर उन का प्रयोग। संस्कृत में इस-प्रकार के प्रयोगों का अभाव है।

क्रियापद—हिन्दी में संस्कृत के समान, क्रियापदों में, परस्मै-पद तथा आत्मने-पद नहीं हैं। संस्कृत-धातुओं में काल तथा प्रकार (Moods) के अनुसार विभिन्न-प्रत्ययों तथा विकरणों का प्रयोग होता है। यथा—अस्-धातु में—अस-ति = अस्ति (है); कभी-कभी संस्कृत में धातु के आद्य-व्यंजन अथवा स्वर को द्वित्व करके रूप सम्पन्न होते हैं; यथा हू धातु>जुह, जुहो—जुहो—ति = (होम करता है); दा धातु का द्वित्व करके दद्—ददा-ति =

(देता है), आदि रूप सिद्ध होते हैं; किन्तु भू-धातु का रूप,भव्,भव्+अ+ति=भवति (होता है)। कृ धातु–कृ+नो+ति=कृनोति (होता है); दिव्–धातु का रूप–दिव्+य+ति=दिव्यति (होता है); चुर् धातु का रूप–चोर् +अय+ति=चोरयति (चोरी करता है) आदि होते हैं। इन विकरणों के कारण ही संस्कृत-धातुओं को दश-गणों में विभक्त किया गया है। हिन्दी-धातुओं में इसप्रकार के गणों का अभाव है।

संस्कृत के क्रिया-पदों में तीन वचन—एक, द्वि, तथा बहु,—होते हैं। यथा—पठति, पठतः, पठन्ति। किन्तु हिन्दी में, केवल दो ही, एकवचन तथा बहुवचन होते हैं; यथा—वह पढ़ता है, वे दोनों पढ़ते हैं अथवा वे लोग पढ़ते हैं।

संस्कृत के वैयाकरणों ने काल और प्रकार पर ध्यान रखकर इसके क्रिया-पदों को निम्नलिखित ग्यारह-भागों में विभक्त किया है।—

(१) लट्–साधारण-वर्त्तमान (Indicative present)।
(२) लोट्—अनुज्ञा अथवा वर्त्तमान अनुज्ञा (Imperative present), वैदिक में इसके अतीत के रूप भी मिलते हैं।
(३) लङ्—निर्देशक अथवा सामान्य-अतीत (सम्प्रति होने वाली क्रिया, Imperfect)।
(४) लिङ् अथवा विधिलिङ्—इच्छा-ज्ञापक-वर्त्तमान (Optative present)।
(५) लिट्—धातु के आद्य-व्यञ्जन अथवा स्वर को द्वित्व करके रचित-अतीत-परोक्ष में घटित अतीत का रूप (Indicative perfect, जैसे ददर्श<दृश् धातु=देखा है)।
(क) लिट्—अन्य-धातुओं के सहयोग से निर्मित परोक्ष-अतीत (Periphrastic perfect—दर्शयामास, दर्शयाम्बभूव, दर्शयाञ्चकार)।
(६) लुङ्—निर्देशक-अतीत–जो बहुत पूर्व हो चुका है (Aorist)।
(७) लृट्—निर्देशक-सामान्य-भविष्यत् (Simple Future Indicative)।
(८) लृङ्—संभाव्य (Conditional)।
(९) लुट्—(Future by periphrasis)।
(१०) आशीर्लिङ् अथवा इच्छा-निर्देशक (Benedictive)

(११) लेट्—(Subjunctive)। वैदिक-भाषा के वर्त्तमान तथा अतीत के इसका प्रयोग होता है।

संस्कृत में दो अतीत-काल के रूपों में, क्रिया के पूर्व अकार का आगम होता है। ये हैं लङ् तथा लुङ्। यथा - गम् धातु – अगच्छत् (लङ्); अगमत् (लुङ्); दा धातु—अददत्(लङ्); अदात् (लुङ्)।

हिन्दी में काल-रूपों की रचना इससे सर्वथा-भिन्न ढंग से होती है। इसकी काल-रचना संस्कृत की अपेक्षा अंग्रेजी से समानता रखती है। जैसा कि अन्यत्र दिखाया जा चुका है, इसके काल के दो भेद—मूलात्मक तथा संयुक्त होते हैं।

वाक्य-रीति—हिन्दी में वाक्य-स्थित पदों का अवस्थान-क्रम बहुत कुछ निश्चित है। इसमें प्रारम्भ में कर्त्ता, मध्य में कर्म तथा अंत में क्रिया-पद प्रयुक्त होते हैं; किन्तु संस्कृत में इसप्रकार की सुनिश्चित व्यवस्था नहीं है। यथा—संस्कृत—नरो व्याघ्रं हन्ति, हन्ति नरो व्याघ्रं, नरो हन्ति व्याघ्रं, व्याघ्रं हन्ति नरः, व्याघ्रं नरो हन्ति, हन्ति व्याघ्रं नरः आदि चाहे जिस ढंग से कहा जाय अर्थ में व्यतिक्रम न होगा, किन्तु हिन्दी में इसप्रकार का उलट-फेर संभव नहीं।

शब्दावली—प्राचीन-भाषा होने के कारण संस्कृत स्वावलम्बी-भाषा है। इसके शब्द इसके प्रत्यय तथा धातुओं से ही निर्मित हुए हैं, किन्तु संस्कृत में कतिपय अन्य-भाषा के शब्द भी स्थान पा गए हैं। उदाहरणस्वरूप इसमें अनार्य भाषा से अणु, कपि, काल, पूजा, घोटक, तितिक्षी, हेरम्ब, आदि शब्द आए हैं। इसीप्रकार इसमें परशु—सुमेरीय भाषा से, यवन, होड़ा, द्रम्य, खलीन, आदि शब्द ग्रीक से, कीचक प्राचीन-चीनी-भाषा से, तथा मुद्रा, पुस्त, मिहिर शब्द प्राचीन-फ़ारसी से आए हैं।

हिन्दी में तो अरबी, फ़ारसी, तुर्की आदि विदेशी-भाषाओं के अनेक शब्द आ गए हैं। इधर देश में अंग्रेज़ों के आगमन से, ज्ञान-विज्ञान के अनेक यूरोपीय-शब्द अंग्रेज़ी द्वारा हिन्दी में आए हैं। जब से देश स्वतन्त्र हुआ है तथा जब से हिन्दी राज्य-भाषा के पद पर आसीन हुई है तब से इसका और भी विस्तार प्रारम्भ हो गया है और आशा है कि निकट-भविष्य में इसमें विभिन्न-भाषाओं के और भी अनेक शब्द आएँगे।

[ख] अंग्रेजी तथा हिन्दी

भारत में अंग्रेजों के आगमन तथा उनके सत्तारूढ़ हो जाने के कारण धीरे-धीरे अंग्रेज़ी ने इस देश में महत्वपूर्ण-स्थान ग्रहण कर लिया और उच्च-

शिक्षा एवं राजकार्य में उसका व्यवहार होने लगा। इतना होते हुए भी भारत में अंग्रेजी समझने वालों की संख्या तीन प्रतिशत से अधिक नहीं है। एक ओर अंग्रेजी के द्वारा जहाँ भारतीय-भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश आया है वहाँ दूसरी ओर इसने हमारी जनपदीय-भाषाओं को बहुत दबाया भी है। यही कारण है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल भारतीय-जन-गण ने राष्ट्रभाषा के पद पर हिन्दी को प्रतिष्ठापित किया। नीचे अंग्रेजी तथा हिन्दी के पारस्परिक-सम्बन्ध के विषय में विचार किया जायेगा।

इस पुस्तक के आरम्भ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अंग्रेजी भारोपीय-परिवार की भाषा है और इसमें सातवीं-आठवीं शती ईस्वी के प्राचीन-लेख उपलब्ध हैं। इस प्राचीन-युग की भाषा को "प्राचीन-अंग्रेजी" नाम से अभिहित किया जाता है। प्राचीन-अंग्रेजी का एक नाम ऐंग्लो सैक्सन (Anglo Saxon) भी है। इसी में आगे चलकर उच्च-साहित्य की रचना हुई। १०६६ ईस्वी में नार्मन-जाति ने इंगलैंड को हस्तगत किया। ये लोग फ्रांस से आए थे तथा फ्रेंच भाषा-भाषी थे। तभी से अंग्रेजी पर फ्रेंच-भाषा का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। यूरोप की प्राचीन-भाषाएँ ग्रीक और लैटिन का वहाँ की भाषाओं पर उसीप्रकार प्रभाव है जिसप्रकार संस्कृत का आधुनिक-भारतीय-आर्य भाषाओं पर। इसीकारण ग्रीक और लैटिन का भी अंग्रेजी पर पर्याप्त-प्रभाव परिलक्षित होता है। अंग्रेजी-राज्य के विस्तार तथा व्यापार-व्यवसाय एवं उपनिवेशों के द्वारा अंग्रेज-जाति संसार के विविध-अंचलों में जा पहुँची। उनके साथ हीसाथ अंग्रेजी भाषा भी प्रतिष्ठापित हुई और इसप्रकार अंग्रेजी का अन्तर्राष्ट्रीय-स्थान हो गया।

वर्णमाला तथा ध्वनि

अंग्रेजी-वर्णमाला वस्तुतः लैटिन-वर्णमाला है अतएव देवनागरी से उसका सर्वथा पार्थक्य है। लैटिन में च, ज, श, जैसी ध्वनियों का अभाव था अतएव प्राचीन-अंग्रेजी में भी ये ध्वनियाँ नहीं मिलतीं। बाद में ये ध्वनियाँ अंग्रेजी में आईं। इन ध्वनियों का उद्‌भव लैटिन के एकाध अक्षरों के साथ अन्य अक्षरों को संयुक्त करके हुआ। प्राचीन-फ्रेंच भाषा से भी अंग्रेजी प्रभावित हुई। अतएव अनेक-स्थलों पर उसके शब्द-रूप पर फ्रेंच का प्रभाव भी पड़ा। इन्हीं कारणों से अंग्रेजी के ch या tch या t = च; इसीप्रकार dj, j, dg कहीं-कहीं, g = ज तथा sh, ti = श। इसप्रकार विभिन्न-वर्णों के संयोग से इन ध्वनियों को प्रगट करने की विधि, अंग्रेजी में मिलती है। इसके अतिरिक्त प्राचीन और मध्य-अंग्रेजी, लैटिन तथा प्राचीन एवं आधुनिक-फ्रेंच के उच्चारण

एवं शब्द-रूपों का घात-प्रतिघात भी अंग्रेजी में मिलता है और इसीकारण आधुनिक-अंग्रेजी के उच्चारण तथा शब्द-रूपों में एक विचित्र प्रकार का असामञ्जस्य पाया जाता है।

अंग्रेजी-भाषा की ध्वनि-समष्टि हिन्दी की ध्वनि-समष्टि के समान ही समृद्ध है। जहाँ तक इसकी स्वर-ध्वनियों की संख्या और विचित्रता का प्रश्न है, यह हिन्दी की अपेक्षा अधिक है। इस विचित्रता का एक परिणाम यह हुआ है कि एक ही अक्षर विभिन्न-ध्वनियों का प्रतीक बन जाता है। यथा cat, pass, case, call, care में, a — ध्वनि, अऽ, ए, ओ॑, ए य आदि का द्योतक है। इसके साथ ही साथ एक ही ध्वनि के लिए अंग्रेजी में कई प्रकार का वर्ण विन्यास भी मिलता है। यथा a (dame) ai, (maid, tain), ay (way, say), eigh (weigh) आदि। इन दो-कारणों से अंग्रेजी-लिपि अत्यधिक-दोषपूर्ण हो उठी है।

अंग्रेजी की अनेक ध्वनियों का हिन्दी में अभाव है। अंग्रेजी के स्पृष्ट्य-अल्प-प्राणध्वनि K, t, p शब्द के आदि में होने पर ख् ठ् फ् के समान महाप्राणवत् उच्चरित होते हैं। अंग्रेजी के दन्तमूलीय t d हिन्दी में नहीं हैं। हिन्दी की ट् ड् ध्वनियाँ मूर्धन्य हैं। अंग्रेजी के ch, j, हिन्दी के च्, ज् से उच्चारण में पृथक हैं। अंग्रजी में ल् ध्वनि दो-प्रकार की है। एक प्रकार ल् शब्द के आदि में उच्चरित होता है। इसका उच्चारण बहुत कुछ हिन्दी ल् के समान ही होता है; यथा (law, lean) जैसे-शब्दों में। इस ध्वनि को अंग्रेजी में स्पष्ट-ल्-ध्वनि (clear-l) कहते हैं; अन्यप्रकार की ल्-ध्वनि का उच्चारण शब्द के मध्य अथवा अन्त में होता है; यथा well, fell, health, आदि। इस ल्-ध्वनि को अंग्रेजी में अस्पष्ट अथवा (dark-l- ध्वनि) कहते हैं। जब कहीं-कहीं u अथवा w का सम्मिश्रण होता है तो वहाँ कंठीकृत (velarised) ध्वनि उत्पन्न होती है। अंग्रेजी में घोषवत्त श् (sh) ध्वनि है। झ (zh) ध्वनि का हिन्दी में अभाव है। यह अंग्रेजी में, measure pleasure, आदि शब्दों में मिलती है। अंग्रेजी में r तथा th का उष्मवत् उच्चारण होता है। वस्तुतः हिन्दी में इस उच्चारण का अभाव है। अंग्रेजी में w का उच्चारण संघर्षी उकार के रूप में होता है। हिन्दी में इस ध्वनि का भी अभाव है।

नीचे की तालिका में अंग्रेजी-ध्वनि का विश्लेष्णात्मक-विवरण उपस्थित किया जाता है।

अंग्रेजी-व्यञ्जन-ध्वनि

		कण्ठ्य	तालव्य	दन्त मूलीय	दन्त्य	दन्तोष्ठ्य	ओष्ठ्य
स्पष्ट अल्पप्राण	अघोष (प्रारम्भ में) ईषत् प्राण युक्त	k = क (c, cc, ck, k, kk, qu, cqu, ch)		t (= t, tt, th)			p = प (p, pp)
	घोष	g = ग (g, gu, gh)		d (= d, dd)			b = ब (b, bb)
घृष्ट	अघोष		tsh = च (ch, tch, ci, t)				
	घोष		dzh = ज (j, dj, dg, gi, ge, d)				

	घोष	ng = ङ (ng, n)		n = न (nn, n)			m = म (mb, mm)
पार्श्विक	दन्तमूलीय			l (= l, ll आद्य ल)			
(घोष)	कण्ठीकृत (velarised)			l (l, ll अन्त्य l; यथा well fell, felt			
कम्पनजात (trilled)	घोष			r = र (r, rr स्काटलैंड की अंग्रेजी में			
ऊष्म	अघोष	h = : (hand hat (high)	sh = श (sh sch, ch, ti)	s = स (s,ss, sce, ce, ci)	th = थ (thin three)	f = फ़ (f, ff,)	
	घोष	h = ह (per-haps, be-hind)	zh = झ (s– measure, pleasure); ge-rouge	z = ज़ z,s); r (ऊष्म र)	dh = ध (then,this)	v = भ़ (v)	
अर्धस्वर	घोष		y = य (y,iu)				w = व (w)

अंग्रेजी स्वर-ध्वनि

अब यहाँ अंग्रेजी की स्वर-ध्वनियों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। स्पष्टता के लिए यहाँ International Phonetic Association (अन्तर्राष्ट्रीय-ध्वनि परिषद्) के प्रतीकों का उपयोग किया गया है।

i (ह्रस्व इ = i, y); iː (दीर्घ ई, या ईय् = e, ea, ee, eo, əe, ie); e (ह्रस्व ए = e, eh); ae (ह्रस्व ऑ-ध्वनि = a); aː (= कण्ठ्य दीर्घ आ = a); ɔ (ह्रस्व अ-व ध्वनि = o); ɔː (दीर्घ अ-व ध्वनि = au, aw, oa); o (ह्रस्व ओ-कार ध्वनि = o); u (ह्रस्व उ = u, oo); uː (दर्घ ऊ = u, oo, ou); ʌ (विकृत अ-कार ध्वनि, अ', hut, cut आदि में u ध्वनि); ə (ह्रस्व अर्ध-विवृत अ, अं—ago, Russia शब्दों में 'अ' की ध्वनि), əː (दीघ अर्ध-विवृत अ, clerk, her bird शब्दों की ध्वनियों में)।

ऊपर की स्वर-ध्वनियों के अतिरिक्त अंग्रेजी में कई संधि-स्वर (diphthong) भी हैं। यथा—ei (एय् या एइ = ai, ei, ey, ao); au (अउ या आउ = ou, ow, ough); ou (ओउ, उव = o, ough eə (एअॅ = e, ere); iə (इअॅ = i, ire); uə (उअॅ = u, ur, oor), इत्यादि। साहित्यिक अंग्रेजी में इन समस्त ह्रस्व, दीर्घ एवं सन्धि-स्वरों को मिलाकर कुल १८ स्वर-ध्वनियाँ विद्यमान हैं। इनके कारण इनसे बनने वाले शब्दों में पर्याप्त अनियमितता है।

हिन्दी में ʌ (hut), ə (her) əː (hurt) एवं सन्धि-स्वरों का अभाव है।

अंग्रेजी में दीर्घ-स्वर सर्वदा दीर्घ ही रहता है, हिन्दी की भाँति शब्दांश अथवा वाक्यांश के बीच में दीर्घ से ह्रस्व नहीं हो जाता। अंग्रेजी में श्वासाघात, हिन्दी की भाँति ही, साधारणतः, शब्द के आद्य-अक्षर पर ही पड़ता है, किन्तु वाक्य के मध्य में किसी शब्द के श्वासाघात का लोप नहीं होता। एक बात और, अँग्रेजी में अनेक स्थानों पर श्वासाघात के अभाव में स्वर-ध्वनि का लोप हो जाता है।

अंग्रेजी में स्वर-ध्वनियों के अनुनासिक-रूप का अभाव है। इसप्रकार वहाँ अँ आँ इँ, आदि, ध्वनियाँ नहीं मिलतीं।

अंग्रेजी में भी सन्धि है, किन्तु लिखने में उसे प्रदर्शित नहीं किया

जाता; यथा—do+not+you = don't you (उच्चारण—डोन्टिउ, डोन्ट्यू), आदि।

शब्द-रूप—

हिन्दी में अंग्रेजी के समान Definite तथा Indefinite Article का अभाव है। हाँ, कभी-कभी 'एक' के द्वारा Indefinite Article का बोध होता है। यथा—एक राजा, एक आदमी, आदि।

अंग्रेजी का लिङ्ग-विधान हिन्दी की अपेक्षा सरल है। इसमें चार लिङ्ग हैं—पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, उभयलिङ्ग तथा क्लीबलिङ्ग। हिन्दी में केवल दो ही लिङ्ग—पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग हैं। इसका एक परिणाम यह है कि अहिंदी-भाषा-भाषिओं के लिए हिन्दी का लिङ्ग-विधान टेढ़ी खीर है। अंग्रेजी में स्त्री-प्रत्यय के के रूप में—ess प्रत्यय व्यवहृत होता है, किन्तु हिन्दी में कई स्त्री-प्रत्यय हैं—यथा, ई, इनि, आइन तथा संस्कृत शब्दों में—ई एवं आ।

अंग्रेजी में हिन्दी की भांति ही केवल एकवचन तथा बहुवचन, इन दो वचनों, का ही प्रयोग होता है। अंग्रेजी में बहुवचन के रूप —s तथा —es प्रत्ययों के संयोग से सम्पन्न होते हैं—यथा—cow—cows; horse—horses, आदि। हिन्दी के बहुवचन के रूप वस्तुतः सम्बन्ध-कारक के बहुवचन के रूप के ही अवशिष्ट हैं—यथा—हिं० घोटकानाम् = हि० घोड़ों। किन्तु हिन्दी में कभी-कभी बहुवचन-ज्ञापक पदावली की सहायता से भी बहुवचन के रूप सिद्ध होते हैं। वास्तव में यह प्रक्रिया अंग्रेजी में अज्ञात है। यथा—राजा लोग, बहुत आदमी, अनेक विद्वान् आदि। अंग्रेजी में कभी-कभी भीतरी-स्वर को परिवर्तित करके अथवा—en प्रत्यय जोड़कर भी बहुवचन बनता है—यथा—men, oxen; children, kine, sheep, mice; lice आदि। इसप्रकार के बहुवचन बनाने की व्यवस्था हिन्दी में अज्ञात है।

अंग्रेजी में सम्बन्धकारक-विभक्ति के योग से सम्बन्ध होता है। यथा—boy, boy's, बहुवचन में boys, boys'। हिन्दी में विभक्ति की संख्या संस्कृत की अपेक्षा कम होते हुए भी अंग्रेजी की अपेक्षा कम है। षष्टी-विभक्ति के अतिरिक्त अन्य विभक्तियों के लिए, अंग्रेजी में शब्द के पूर्व अनेक कर्मप्रवचनीय-प्रत्ययों का व्यवहार होता है—यथा—to, at, in, from, of, इत्यादि। इस सम्बन्ध में अंग्रेजी तथा हिन्दी में लक्षणीय अन्तर है। अंग्रेजी में कर्मप्रवचनीय प्रत्यय का व्यवहार शब्द के पूर्व होता है किन्तु हिन्दी में इनका प्रयोग, अनुसर्ग के रूप में, शब्द के बाद होता है।

विशेषण

अंग्रेजी तथा हिन्दी, दोनों के, विशेषण-पदों में लिङ्ग-परिवर्तन नहीं होता। यथा—beautiful boy, beautiful girl, सुन्दर बालक, सुन्दर बालिका, किन्तु कभी-कभी संस्कृत के प्रभाव से सुन्दरी बालिका का भी प्रयोग होता है।

विशेषण में तारतम्य प्रकट करने के लिए, अंग्रेजी में दो ढंग हैं—इनमें से एक है—संस्कृत के -इयस्, -ईष्ठ एवं -तर -तम प्रत्ययों की भाँति—er, —est विभक्तियाँ संयुक्त करके तथा दूसरा है more, most एवं less, lesser, least की सहायता से। हिन्दी में तारतम्य प्रकट करने के लिए इन दोनों ढंगों को अपनाया गया है। यथा—सुन्दरतर, सुन्दरतम एवं अधिक सुन्दर, कम सुन्दर, आदि।

संख्यावाचक-शब्द—प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय के स्थान पर first, second तथा third से भिन्न अंग्रेजी के अन्य समस्त क्रमवाचक-शब्द, संख्यावाचक-शब्द में—th प्रत्यय संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं—यथा fourth, ninth, hundredth, इत्यादि। ठीक इसीप्रकार—वाँ प्रत्यय संयुक्त करके हिन्दी के क्रमवाचक-शब्द सिद्ध होते हैं—यथा—पाँचवाँ, सातवाँ, आठवाँ, सौवाँ, हजारवाँ, आदि। हिन्दी में दस के बाद के प्रत्येक दशक के अन्तर्गत के संख्यावाचक-शब्दों के विभिन्न-रूप होते हैं, क्योंकि ये विभिन्न-प्राकृतों से उद्भूत हुए हैं।

सर्वनाम

मध्यम तथा अन्यपुरुष सर्वनामों के हिन्दी में साधारण तथा आदर-प्रदर्शक, दो प्रकार के, रूप होते हैं—यथा—तू, तुम, आप, इस, इन, उन आदि। अंग्रेजी में इसप्रकार के आदरप्रदर्शक अथवा विशिष्ट-रूपों का अभाव है।

सर्वनाम-जात-सम्बन्ध-पदों के दो-प्रकार के रूप, अंग्रेजी में उपलब्ध हैं, एक, विशेषण (atributive), ये शब्द के पहले आते हैं—(यथा, my book your hat, his coat); दूसरा विधेयरूप (Predicative), यह प्रायः शब्दों के बाद में आता है; (यथा—This book is mine, that hat is yours, the coat is his)। हिन्दी में इस दूसरे प्रकार के रूपों का अभाव है।

क्रिया—

क्रिया की काल-निर्देश-प्रणाली में अंग्रेजी तथा हिन्दी में समानता है।

क्रिया के प्रकार (Mood) एवं कर्मवाच्य-गठन में भी दोनों भाषाएँ एक ही प्रणाली का अनुसरण करती हैं। अंग्रेजी में भाववाच्य एवं कर्म-कर्तृवाच्य में पार्थक्य नहीं है, केवल कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य में पार्थक्य अवश्य है।

Auxiliary Verb या सहायक-क्रिया—Shall, Will के योग से अंग्रेजी में भविष्यत् काल का निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त must, ought, would, should जैसे शब्दों की सहायता से अंग्रेजी-क्रिया के काल एवं प्रकार में एक अपूर्व क्षमता आ जाती है। हिन्दी में, अनेक-स्थलों पर, इसप्रकार की क्षमता लाना सम्भव नहीं है।

अंग्रेजी की एक विशेषता है, इसकी क्रियाओं का strong Verb तथा Weak Verb के रूप में विभक्त होना। अंग्रेजी में Simple, Past, तथा Past Participle में धातु के मूल-स्वर में परिवर्तन वस्तुतः Strong Verb की विशेषता है—यथा—Sing, Sang Sung। मूल-भारोपीय में भी यह विशेषता मिलती है। इसे 'अपश्रुति' कहते हैं। संस्कृत में भी यह विद्यमान है यथा—करोति—चकार—कृत = कर्—कार्—कृ। अंग्रेजी की कई धातुओं में, अपश्रुति आज भी विद्यमान है, किन्तु हिन्दी से इसका सर्वथा लोप हो गया है। —d,—ed अथवा—t प्रत्यय के योग से Past तथा Past Participle बनाना वस्तुतः Weak Verb का लक्षण है। अंग्रेजी तथा अंग्रेजी की सहोदरा—डच, जर्मन तथा स्केण्डनेवीय—भाषाओं में भी यह नियम मिलता है। यथा—Love—loved [संस्कृत के अतीत के रूप भी इसप्रकार सम्पन्न होते हैं—करोति—कारयामास—कारयाम्बभूव अथवा कारयाञ्चकार]। हिन्दी में यह प्रणाली अज्ञात है।

अंग्रेजी के वर्तमान-काल में, मध्यम-पुरुष तथा अन्य-पुरुष के क्रियापद, वचन के अनुसार परिवर्तित होते हैं। हिन्दी में भी ठीक ऐसा ही होता है—यथा—Thou goest, तू जाता है; you go, तुम जाते हो; he goes, वह जाता; They go, वे जाते हैं।

हिन्दी की भाँति ही अंग्रेजी में भी कई असम्पूर्ण-क्रियायें मिलती हैं। यथा—am, was, been (= संस्कृत अस्—वस्—भू धातु)।

हिन्दी तथा अन्य आधुनिक-भारतीय-भाषाओं की एक उल्लेखनीय विशेषता है, यौगिक-क्रिया-पदों (Compound Verbs) का प्रयोग। अंग्रेजी में इसका अभाव है।

वाक्यरीति—

इस सम्बन्ध में हिन्दी तथा अंग्रेजी में बहुत अन्तर है। अंग्रेजी हिन्दी की भाँति प्रत्यय बहुला-भाषा नहीं है। यही कारण है कि अंग्रेजी में वाक्य का पदक्रम विशेषरूप से नियंत्रित है। वाक्य-रीति के सम्बन्ध में अंग्रेजी तथा हिन्दी में निम्नलिखित-पार्थक्य उल्लेखनीय हैं—

१. हिन्दी-क्रम—कर्ता+सम्प्रदान+कर्म+क्रिया; अंग्रेजी-क्रम—कर्ता+क्रिया+कर्म+सम्प्रदान; यथा—मोहन ने सोहन को पैसा दिया—Mohan gave money to Sohan.
२. अंग्रेजी में क्रिया-विशेषण-क्रिया के बाद आता है, किन्तु हिन्दी में यह क्रिया के पूर्व आता है—He walks slowly, वह धीरे-धीरे चलता है।
३. अंग्रेजी में Sequence of Tenses का वाक्य-रीति में प्रमुख स्थान है, किन्तु हिन्दी में यह अज्ञात है।
४. अंग्रेजी में Direct तथा Indirect Naration, दोनों, का समानरूप से व्यवहार होता है, किन्तु हिन्दी में प्रत्यक्ष-उक्ति (Direct Naration) का अधिक प्रयोग मिलता है।
५. प्रश्नवाचक अथवा नकारात्मक-वाक्य में, अंग्रेजी में, Auxiliary Verb "to do" का व्यवहार होता है, किन्तु हिन्दी में यह रीति अज्ञात है।

शब्दावली

अंग्रेजी में अपनी निजी धातुओं एवं अपने प्रत्ययों से सम्पन्न-शब्दों की संख्या पर्याप्त है। किन्तु इसमें बहुसंख्यक विदेशी-शब्दों को भी स्थान मिला है। यदि दोनों-प्रकार के शब्दों का तुलनात्मक-अध्ययन किया जाय तो अंग्रेजी में विदेशी-शब्द ही अधिक संख्या में उपलब्ध होंगे। अंग्रेजी ने सहस्रों आवश्यक तथा अनावश्यक शब्दों को लैटिन तथा उससे प्रसूत फ्रेंच-भाषा से ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी ने ग्रीक, इतालीय, स्पेनीय, जर्मन आदि यूरप की तथा संसार के अन्य-देशों की अनेक-भाषाओं को आत्मसात किया है। अंग्रेजी एक प्रकार से 'सर्वग्रासी' भाषा है।

उच्चभाव को प्रकट करने के लिए अंग्रेजी में ग्रीक तथा लैटिन से शब्द लिए गए हैं। अंग्रेजी में स्वतः शब्द निर्माण की शक्ति कम ही है; अथवा होते हुए भी वह उसका कम ही उपयोग करती है। जर्मन में प्रायः अपने प्रत्ययों की सहायता से ही शब्द-निर्माण का कार्य सम्पन्न होता है। यही कारण है कि जर्मन में स्वदेशी-शब्दों का बाहुल्य है। उदाहरण-स्वरूप 'शत' शब्द के

लिए अंग्रेजी में लैटिन का Century शब्द प्रयुक्त होता है, किन्तु जर्मन में jahr-hundert शब्द प्रयुक्त होता है। इसका अंग्रेजी प्रतिरूप होगा, year hundred; अंग्रेजी फ्रेंच-शब्द hotel को अपनाए हुए है, किन्तु जर्मन में इसके लिए Gast-haus प्रयुक्त होता है। अंग्रेजी में इसका प्रतिरूप Guest-house होगा; ग्रीक Telephone के लिए जर्मन में Fern-Sprecher शब्द प्रयुक्त होता है। इसका सुन्दर अंग्रेजी-रूप Far-Speaker है।

अंग्रेजी में भारतीय-भाषाओं के भी अनेक शब्द उधार लिए गये हैं; यथा—Bunglow, Pundit, loot, jungle, Pucca, toddy, Raja, ranee, Avatar, guru, sepoy, Curry, Cheroot, इत्यादि। भारतीय-साहित्य से अन्य कई शब्द भी अंग्रेजी में लिए गए हैं यथा! guna, Vriddhi, sandhi, Ahimsa, dharma, karma, आदि।

अंग्रेजी में समास का प्रयोग होता है; यथा; watch-man, book-keeper, book-shop, blue-beard, long-shanks, इत्यादि। किन्तु साधारणतः आधुनिक-हिन्दी के समान अंग्रेजी में भी शब्दों को पृथक ही रक्खा जाता है; यथा—All India Railway Worker's, Conference, Vernacular-Literature-Socity, इत्यादि।

अंग्रेजी और हिन्दी में बहुत निकट का सम्बन्ध न होते हुए भी दोनों की उत्पत्ति भारत-यूरोपीय-कुल से होने के कारण इनके धातु-पदों, शब्दों एवं प्रत्ययों आदि में बहुत साम्य मिलता है। संस्कृत और अंग्रेजी में यह साम्य और भी स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है; यथा—भ्रू—brow, दन्त-दाँत—tooth (प्राचीन अंग्रेजी में इसका रूप*tanth था); नासा-nose; नख–nale पद–foot; उदर–udder; स्मि–smile; भृ, भर्–bear; तृष्thirst; पितर्, पिता Father; मातर्, माता—mother; भ्रातर्, भ्राता, भाई–brother; स्वसर्, स्वसा–sister, दुहितर्, दुहिता—daughter, सूनुर्—son; विधवा—widow; मूशक mouse, इत्यादि।

व्याकरण-सम्बन्धी प्रत्ययों में भी संस्कृत तथा अंग्रेजी में साम्य है; यथा—

(१) संस्कृत के विशेष्य-पदों के बहुवचन के रूप—अस् प्रत्यय द्वारा सम्पन्न होता है। यथा—मानव + अस् = मानवास् = मानवाः; अंग्रेजी में भी—s—es प्रत्ययों के द्वारा बहुवचन के रूप सिद्ध होते हैं; यथा—Friend-Friends.

(२) संस्कृत में षष्ठी-विभक्ति—'स्य' अथवा 'अस्' प्रत्यय द्वारा सम्पन्न होती है; यथा—मानवस्य, या मनसस् = मनसः। अँग्रेजी में भी-s अथवा es के द्वारा षष्ठी-विभक्ति के रूप बनते हैं; यथा man's, mind's।

(३) संस्कृत में—'इयस्', 'इष्ठ' प्रत्ययों के योग से तारतम्य प्रकट किया जाता है। अंग्रेजी में ये प्रत्यय —er,—est में परिणत हो गए हैं। यथा—स्वादु—स्वादियस्—स्वादिष्ठ—sweet, sweeter, sweetest।

(४) क्रियापदों में भी संस्कृत तथा अंग्रेजी में साम्य मिलता है; यथा अस्मि—am, अस्ति—is, (जर्मन ist), इत्यादि।

(५) संस्कृत में शतृ-प्रत्यय -अन्त् प्रत्यय से सिद्ध होता है। प्राचीन-अंग्रेजी में यह end तथा आधुनिक अंग्रेजी में यह ing में परिणत हो गया है; यथा—भर् + अन्त् = भरन्त = berend—bearing; प्रिय + अन्त् = fri + end = friend

संस्कृत तथा अंग्रेजी के स्वर एवं व्यंजन-ध्वनियों में पार्थक्य होते हुए भी इन्हें कतिपय विशेष-नियमों के अन्तर्गत लाया जा सकता है; यथा, संस्कृत-शब्दों के आदि में जहाँ प मिलता है वहाँ अंग्रेजी में f मिलता है। इसीप्रकार संकृत श, क>h, संस्कृत त्>th, संस्कृत भ>अंग्रेजी b, इत्यादि। भाषा-तत्व के अध्ययन से विद्वानों ने इन दोनों भाषाओं में अनेक साम्य दिखलाया है।

[ग] फ़ारसी तथा हिन्दी

फ़ारसी भी, हिंदी की भाँति ही, आर्य-परिवार की भाषा है। आधुनिक-फ़ारसी की उत्पत्ति प्राचीन-फ़ारसी एवं प्राचीन-इरानीय भाषा से हुई है किन्तु हिन्दी का स्रोत वैदिक-भाषा है। यदि प्राचीन-इरानीय तथा फ़ारसी की संस्कृत से तुलना की जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इन भाषाओं का मूल एक ही है। एक ओर हिन्दी तथा फ़ारसी में मौलिक-सादृश्य है तो दूसरी ओर इन दोनों की लिपियाँ एक दूसरे से सर्वथा-भिन्न हैं। हिन्दी ब्राह्मी से प्रसूत, भारत की राष्ट्रलिपि देवनागरी में लिखी जाती है, किन्तु फ़ारसी ने किंचित् परिवर्तन के साथ लिखावट के लिए अरबी-लिपि को अपनाया है।

अरबी-वर्णमाला में ही कतिपय नवीन-वर्णों का समावेश करके फ़ारसी वर्णमाला की सृष्टि हुई है। साहित्यिक-फ़ारसी का ध्वनिसमूह सरल है। इसमें मूलतः बाईस ध्वनियाँ हैं। 'क' तथा 'ग' के विकृत अथवा तालव्यीकृत-उच्चारण के कारण इसमें दो और नवीन-ध्वनियों का समावेश हो जाता है और इसप्रकार इनकी संख्या चौबीस हो जाती है। आगे की तालिका में उच्चारण-स्थान के अनुसार इन ध्वनियों का विश्लेषण किया गया है।

अरबी की कई ध्वनियों का फ़ारसी में अभाव है, यद्यपि अरबी की इन ध्वनियों के प्रतीक वर्णों को फ़ारसी-वर्णमाला में स्थान दिया गया है। उदाहरण-स्वरूप अरबी ح [=हे] तथा फ़ारसी ہ (=हे) के उच्चारण समान हैं। इसी-प्रकार अरबी में ظ (=ज़ो), ض (=ज़्वाद) एवं ذ (=ज़ाल) के उच्चारण पृथक-पृथक हैं, किन्तु फ़ारसी में इनका उच्चारण ز (=ज़े) के समान ही होता है। ث (=से) तथा ص (=स्वाद, के उच्चारण भी अरबी में भिन्न हैं, किन्तु फ़ारसी में س (=सीन) अथवा दन्त्य 'स' की भाँति ही इनका उच्चारण होता है। ط (=तो) का उच्चारण फ़ारसी ت (=ते) तथा ق (=क़ाफ़) का उच्चारण फ़ारसी में غ (ग़=) के समान होता है। ع (=ऐन) तथा ء (हम्ज़ा) का फ़ारसी में अभाव है।

वस्तुतः फ़ारसी-व्यञ्जन-ध्वनियों में ऊष्म-ध्वनियों का बाहुल्य है।

स्वर-ध्वनियों में फ़ारसी ا (=अलिफ़) महत्त्वपूर्ण है। साधारणतया यह ह्रस्व 'अ' का द्योतक है। वास्तव में अलिफ़ में ज़बर (اَ) लगाकर ही 'अ' का उच्चारण सम्पन्न होता है। इसमें ज़ेर (اِ) लगाकर ह्रस्व 'इ' तथा पेश (اُ) लगाकर ह्रस्व 'उ' का उच्चारण होता है। अलिफ़ के ऊपर यह चिह्न [~] लगाने से विवृत 'आ' ध्वनि उच्चरित होती है। दीर्घ ई तथा 'ऊ' भी फ़ारसी में हैं। इसीप्रकार, दो, सन्धि-स्वर 'ए इ' तथा 'ओ उ' भी हैं। प्राचीन-फ़ारसी में ए तथा ओ ध्वनियाँ भी थीं किन्तु आधुनिक-फ़ारसी में ये दीर्घ ई तथा ऊ में परिणत हो गई हैं। प्राचीन-फ़ारसी में شیر का उच्चारण शेर था, किन्तु आधु-निक-फ़ारसी में इसका उच्चारण शीर हो गया है। उधर दूध (=सं० क्षीर) के लिए भी फ़ारसी में शीर शब्द ही प्रयुक्त होता है। दोनों का उच्चारण अभिन्न होने से अर्थ की प्रतीति केवल सन्दर्भ से ही होती है। दिन के अर्थ में روز (=रोज़) का उच्चारण पहले 'रोज़' ही था। भारत में आज भी यह उच्चारण प्रचलित है, किन्तु आधुनिक-फ़ारसी में इसका उच्चारण 'रूज़' हो गया है। फ़ारसी में साधारणतः शब्द के अन्तिम-अक्षर पर श्वासाघात (स्वराघात) होता है, किन्तु हिन्दी में प्रायः इसके विपरीत होता है।

आधुनिक-फ़ारसी में प, क, त ध्वनियों का उच्चारण, महाप्राण ख, फ, थ की भाँति होता है।

फ़ारसी में भी सन्धियाँ हैं, किन्तु अनेक-स्थलों में उन्हें लिखितरूप में स्पष्ट नहीं किया जाता। व्यञ्जन-सन्धि में तो प्रायः ऐसा होता है। उदाहरणस्वरूप بدتر (=बद्तर) का उच्चारण बत्तर होता है। इसीप्रकार گنبذ (=गुन्बज़्) का उच्चारण गुम्बज़ तथा ناخدا (=नाव-ख़ुदा) का उच्चारण ना-ख़ुदा होता है।

नीचे की तालिका में फ़ारसी की व्यंजन-ध्वनियों का विश्लेषण दिया जाता है।

	कण्ठनालीय (श्वासनालीय)	कण्ठ्य	तालव्य	दन्त्य तथा दन्तमूलीय	दन्तोष्ठ्य	ओष्ठ्य
स्पृष्ट		क् (ک) ग् (گ)		त् (ت ط) द् (د)		प् (پ) ब् (ب)
घृष्ट			च् (چ) ज् (ج)			
नासिक्य		ङ्, क ग के पूर्व (ن)		न् (ن)		म् (م ن)
कम्पन जात				र् (ر)		
पार्श्विक				ल् (ل)		
ऊष्म	ह् (ح ہ)	ख़् (خ) ग़् (غ ق)	श् (ش) झ़् (ژ)	स् (س،ث،ص) ज़् (ز،ذ،ض،ظ)	फ़् (ف) व़् (و) = अँग्रेज़ी v	

विशेष्य-शब्दरूप

फ़ारसी का लिङ्ग-विधान हिन्दी की अपेक्षा सरल है। यहाँ अर्थानुसार ही लिङ्ग-निर्णय होता है। उभय लिङ्गी-शब्दों के पूर्व نر (=नर्) एवं ماده (=मादह् =स्त्री) संयुक्त करके पुल्लिङ्ग एवं स्त्री-लिङ्ग को द्योतित किया जाता है। फ़ारसी में स्त्री-प्रत्यय नहीं हैं, किन्तु अरबी-शब्दों में ये पाए जाते हैं। यथा—ملک (=मलिक्), राजा, ملکه (=मलिकह्), रानी, आदि।

प्राचीन-फ़ारसी का शब्द-रूप संस्कृत की भाँति ही था। आधुनिक-फ़ारसी से प्राचीन सुबन्त-रूपों का प्रायः लोप हो गया है। इसके परिणाम-स्वरूप फ़ारसी का शब्दरूप अत्यन्त सरल हो गया है। बहुवचन के प्रत्ययरूप में यहाँ, प्राणि-वाचक-शब्दों में, ان (=आन्) तथा अप्राणिवाचक शब्दों में ها (=हा) के अतिरिक्त अन्य प्रत्यय नहीं मिलते। आधुनिक-फ़ारसी में तो बहुवचन प्रत्यय-आन् का भी व्यवहार नहीं होता; यहाँ केवल–'हा' प्रत्यय ही व्यवहृत होता है। यहाँ कर्म-प्रवचनीय (preposition अथवा उपसर्ग एवं Post posiiion अथवा अनुसर्ग) द्वारा ही विभिन्न-कारक द्योतित होते हैं। यथा—ازخانه (=अज़ख़ानह्); घर से; بامرد (=बा-मर्द), मर्द (=मनुष्य) के प्रति; مردرا (=मर्द-रा), मर्द (=मनुष्य) का; دستمرد (=दस्त-ए-मर्द), मर्द (=मनुष्य) का हाथ, आदि। इन उपसर्गों के व्यवहार में फ़ारसी तथा अंग्रेजी में समानता है। सम्बन्ध-पद में अधिकारी तथा अधिकृत के बीच 'ए' प्रत्यय (फ़ारसी में इसे 'एज़ाफ़त' कहते हैं) का संयोग, वस्तुतः, फ़ारसी की एक विशेषता है; यथा—دختر بادشاه (=दुख़्तर-ए-बादशाह), राजा की कन्या अथवा राजकन्या।

फ़ारसी Indefinite Article अथवा अनिर्दिष्ट-विशेष्य का अवधारण (यायवह्दत = یای وحدت तथा यायतन्कीर = یای تنکیر) हिन्दी में अज्ञात है। यथा—مرد = मर्द = मनुष्य, किन्तु مردے مردی = मर्दे-मर्दी = कोई एक मनुष्य। बृहत्व अथवा सम्मान प्रदर्शित करने के लिए ی 'ए' को प्रत्ययवत् संयुक्त किया जाता है। इसप्रकार की प्रक्रिया का भी हिन्दी में अभाव है। यथा--خلق ख़ल्क़ = जाति; किन्तु خلقی = ख़ल्क़ी = समग्र-जाति।

विशेषण

फ़ारसी में विशेष्य के अनुसार विशेषण में किसीप्रकार का परिवर्तन नहीं होता। इस सम्बन्ध में फ़ारसी तथा हिन्दी में पूर्ण समानता है। हिन्दी की

भाँति ही फ़ारसी में भी विशेषण प्रायः विशेष्य के पूर्व आता है। यथा—نیک مردمان = नीक मर्द-मान्, अच्छे मनुष्य; هشیار وزیر = होशियार वज़ीर, चतुर मंत्री। किन्तु कभी-कभी विशेषण, विशेष्य के बाद भी आता है और तब दोनों के बीच ی इ-ए प्रत्यय (एज़ाफ़त तौसीफ़ी) का प्रयोग किया जाता है। यथा—بازوی سخت = बाज़ु-ए-सख्त, कठोर बाहु; بندهٔ وفادار = बन्दह-ए-वफ़ादार, विश्वासीभृत्य। हिन्दी में इसप्रकार के प्रयोग का अभाव है।

तारतम्य

यह संस्कृत तथा अंग्रेजी की भाँति تر = तर् एवं ترین = तरीन् प्रत्ययों के योग से सम्पन्न होता है। यथा—به (= बेह्), श्रेष्ठ, بهتر (= बेहतर), अपेक्षाकृत श्रेष्ठ بہترین (= बेहतरीन), सर्वापेक्षा श्रेष्ठ। साधारणतः पञ्चमी एवं षष्ठी (तर् प्रत्यय से पञ्चमी या अपादान, तरीन अर्थात् 'तम' प्रत्यय से षष्ठी या सम्बन्ध) विभक्तियों के योग में तारतम्य प्रदर्शित होता है।

सर्वनाम—

सर्वनाम के सम्बन्ध में संस्कृत तथा हिन्दी के साथ फ़ारसी की अत्यधिक समानता है।

फ़ारसी में, पदाश्रितसर्वनाम, वस्तुतः विशेष वस्तु हैं। हिन्दी में इसप्रकार के सर्वनाम-पदों का अभाव है। फ़ारसी में सर्वनाम के कई विशेषरूप उपलब्ध हैं। ये विशेषरूप, षष्ठी-विभक्ति में विशेष्य-पदों के साथ संयुक्त होते हैं। यथा—मेरे पिता के लिए پدر من = 'पिदर-ए-मन' अथवा پدرم = पिदर्-अम्, पिदरम् (मिलाओ, संस्कृत, मम पिता—पिता-मे); तेरा पिता—پدر تو पिदर्-ए-तू अथवा پدرت = पिदर्-अत्, पिदरत्; उसकी पुस्तक—کتاب او = किताब-ए- ऊ अथवा کتابش = किताब्-अश् , किताबश्, इत्यादि। क्रिया के कर्म होने पर भी इसप्रकार के संक्षिप्त-सर्वनाम क्रिया के साथ संयुक्त होते हैं—यथा, دیدم = दीदम्—'मैं देखता हूँ,' دیدمش -दीदम्-अश् , दीदमश् , 'मैं उसे देखता हूँ' ; زدند ज़दन्द 'उसे मारा', किन्तु 'उसने मुझे मारा,' = مرا زدند मरा ज़ुदन्द अथवा زدندم = ज़ुदन्द-अम, ज़ुदन्दम्।

क्रियारूप—

प्राचीन-फ़ारसी का क्रियारूप पूर्णरूप से संस्कृत के ही समान था। प्राचीन-फ़ारसी-क्रियाओं की अनेक विभक्तियाँ, अवशिष्टरूप में, आधुनिक-फ़ारसी

में भी उपलब्ध हैं। किन्तु आधुनिक-फ़ारसी में कई नवीन विश्लेषमूलक प्रकारों एवं कालरूपों की सृष्टि हुई है। Preposition अथवा अव्ययरूपी-उपसर्गों के द्वारा आधुनिक-फ़ारसी में कई काल एवं प्रकार द्योतित होते हैं।

हिन्दी तथा अंग्रेज़ी के समान ही आधुनिक-फ़ारसी क्रिया के शब्द के रूपों में अस्तिवाचक अथवा इच्छावाचक क्रिया-रूपों को संयुक्त करके कई यौगिक-काल-रूप सिद्ध होते हैं। मोटेतौर पर कुछ अन्तर होने पर भी, हिन्दी एवं अंग्रेज़ी के साथ फ़ारसी-क्रियापदों की तुलना करने पर एकप्रकार की समानता ही मिलती है।

फ़ारसी में एकवचन तथा बहुवचन क्रियारूपों में अन्तर होता है। हिन्दी में भी इसप्रकार का भेद मिलता है।

फ़ारसी-क्रिया के रूप

१. کن, कुन्, धातु-कर्, करो, [सं० कुरु]।
२. کند, कुनद्, वह करे (करोति), [नित्यवर्तमान]।
३. کرد, करद्, उसने किया, [साधारणअतीत]।
४. کناد, कुनाद्, करे, [इच्छाद्योतक-प्रकार]।
५. بکن, बिकुन्, तू कर, [अनुज्ञाप्रकार]।
६. بکند, बिकुनद्, वह करे [वर्तमान, सम्भाव्य-प्रकार]।
७. می کند, همی کند, मी कुनद्, हमी कुनद्, वह करता है [घटमान-वर्तमान]।
८. می کرد, همی کرد, मी करद्, हमी करद्, वह करता था या कर रहा था [घटमान-अतीत]।
९. کرده است, कर्दह्-अस्त या کردست, कर् दस्त, उसने किया है [पुराघटित-वर्तमान]।
१०. کرده بود, कर्दह्-बूद, उसने किया था, [पुराघटित-अतीत]।
११. خواهد کرد, ख्वाहद्-कर्द, वह करेगा [यौगिक-भविष्यत्]।
१२. کرده باشد, कर्दह्-बाशद्, उसने किया होगा [सम्भाव्य-भविष्यत्]।

इनके अतिरिक्त और भी दो-तीन यौगिक काल हैं।

शतृ کنان, कुनाँ, करता हुआ; کننده कुनिन्दह्, करने वाला, کرده कर्दह्, किया हुआ; کردن कर्दन्, करना; کردنی कर्दनी, करने योग्य, इत्यादि।

.फ़ारसी में विशेष्य के साथ 'कर्' तथा 'दा' धातु के योग से अनेक यौगिक-क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं—यथा—رحم کردن, रहम कर्दन्, रहम अथवा दया कर; بیدار کردن, बेदार कर्दन्, जागृत कर; تیار کردن तैयार कर्दन्, तैयार कर, इत्यादि। इसप्रकार के प्रयोग हिन्दी में भी प्रचलित हैं।

वाक्य-रीति—

वाक्य-रीति के सम्बन्ध में .फ़ारसी तथा हिन्दी में बहुत कुछ समानता है।

१. .फ़ारसी में हिन्दी के समान ही वाक्य के आरम्भ में कर्ता, मध्य में कर्म-सम्प्रदान तथा अन्त में क्रिया का स्थान होता है; यथा—طفلاں گفت استاد با, उस्ताद् बा तिफ्लां गुफ्त, शिक्षक ने लड़के से कहा।

२ हिन्दी के समान ही, फ़ारसी में क्रिया-विशेषण, क्रिया के पूर्व ही आता है।

३. कर्ता के वचन के अनुसार ही क्रिया के एक वचन तथा बहुवचन का रूप होता है। यथा—مادر گفت, मादर् गुफ़्, माँ ने कहा, مادران گفتند, मादरान् गुफ़्न्द्, माताओं ने कहा। हिन्दी में, क्रियारूप में, परिवर्तन नहीं होता।

४. गौरवार्थ में एक वचन कर्ता की क्रिया भी बहुवचन की होती है, यथा—خدا تعالی او را دشمن دارند, खुदात्'आला उ-रा दुश्मन् दारन्द्, परमेश्वर उसे शत्रु मानते हैं।

५. अंग्रेजी की भाँति फ़ारसी में sequence of tenses नहीं होता।

६. हिन्दी की भाँति ही इसमें भी अस्ति-वाचक सहायकक्रिया का प्रयोग होता है; यथा—वह हमारा भाई है او برادر من است ऊ बिरदर-ए-मन-अस्त।

शब्दावली—

फ़ारसी में अरबी के अनेक शब्द आ गए हैं। यदि इन शब्दों को पृथक कर दिया जाय तो फ़ारसी के निजी शब्दों एवं संस्कृत-शब्दों में अत्यधिक समानता है। यथा—روز रोज़, दिन (=सं० रोचः, आलोक); شب, शब, रात्रि (=क्षपा=क्षपा); شیر, शीर, दूध (=क्षीर=क्षीर); اسپ, अस्प् (=अश्व), گاو, गाव् (=गौ); خر खर, गधा (=खर); شتر (प्राचीन-फ़ारसी उश्त्र=उष्ट्र); پدر, पिदर, مادر, मादर्; برادر, बिरादर्; خواهر, ख़्वाहर; دختر दुख्तर, (=पितृ, मातृ, भ्रातृ, स्वसृ, दुहितृ); داماد, (=जामाता);

خدا ख़ुदा (=स्वधा), ईश्वर; ایزد, ईज़द्, पूजा, ईश्वर (=यजत), نماز, नमाज़ (=नमः, नमन्); یک, यक (=एक); دو, दो; سه, सह (=त्रि=त्रि), तीन, چهار, चहार, चार, پنج, पञ्ज, पाँच; شش, शश, छै; هفت, हफ़्त, (=सप्त), सात, هشت हश्त् (=अष्ट), आठ; نو, नौ, दह् (= दश) بیست बिस्त (=विंशति); صد, सद (=शत); باد (=वात), हवा; مهر मिहर् (=वैदिक, मित्र), सूर्य; پاک पाक् (=पावक; पाकिस्तान, = पावक-स्थान पवित्र-देश); سر, सर् (=शिरः); دست, दस्त (=हस्त) हाथ; پا, पाँव (= पाद, पद); خود, ख़ुद (=स्वतः); کر कर् धातु (=√कृ, कर); نرم नर्म (=नम्र); شرم, शर्म (=शर्म); گرم गर्म (=घर्म); چرخ चर्ख़ (=चक्र); आदि।

फ़ारसी नामों को तो अत्यन्त सरलता से संस्कृत में परिणत किया जा यथा—इरान् < एरान् < प्रा० फा० ऐर्यानाम् <सं० आर्यानाम; ख़ुसरो < प्रा० फा० हुस्रवओ <सुश्रवः; रूस्तम < प्रा० फा० रउद्स्तम < रोध-स्तम; दाराब < प्रा० फा० < दारयवहुश < धारयवसुः, आदि।

फ़ारसी में अपनी धातुओं तथा प्रत्ययों से बने हुए अनेक शब्द हैं। इनके अतिरिक्त इसमें लगभग ६० प्रतिशत अरबी से उधार लिए हुए शब्द हैं। उच्च-भाव के द्योतक शब्दों के फ़ारसी में रहते हुए भी अरबी के ये शब्द फ़ारसी में ग्रहण किये गये हैं। इसीप्रकार कतिपय ग्रीक, भारतीय तथा तुर्की शब्दों को भी फ़ारसी में स्थान मिला है। इधर इरान में विदेशी-भाषा के रूप में जब से फ्रेंच का प्रयोग होने लगा है तब से ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी अनेक-शब्द, फ़ारसी में, फ्रेंच से भी आए हैं। नवजागरण के फलस्वरूप इधर फ़ारसी-लेखकों तथा कवियों ने अरबी के स्थान पर, अपनी मातृभाषा, फ़ारसी-शब्दों का ही प्रयोग प्रारम्भ कर दिया है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि फ़ारसी आर्य-परिवार की भाषा है तथा उसका संस्कृत से घनिष्ठ-सम्बन्ध है। इस तथ्य को अब इरानी-लोग भी समझने लगे हैं और वहाँ संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की ओर भी उनका झुकाव हो रहा है।

[घ] अरबी तथा हिन्दी

जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है, अरबी, सामी-कुल की तथा हिन्दी आर्य-गोष्ठी की भाषा है। यही कारण है कि दोनों में साम्य की अपेक्षा पार्थक्य ही अधिक है। इस्लाम के आगमन के साथ ही साथ भारत में अरबी का भी आगमन हुआ और धर्म की भाषा होने के कारण इसे पवित्र माना गया। कुरान की अरबी तथा आधुनिक-अरबी में पर्याप्त-पार्थक्य है। भारत में धार्मिक-भाषा के रूप में प्राचीन-अरबी का ही प्रचलन है और इसी दृष्टि से यहाँ इसका पठन-पाठन भी होता है।

अरबी तथा आर्य-गोष्ठी की भाषाओं की गठन-प्रणाली में बहुत अन्तर है। आर्य-भाषा के शब्दरूप इसप्रकार निर्मित होते हैं—इसमें मुख्यतत्त्व धातु है; तदुपरान्त इसमें प्रत्यय तथा विभक्ति को संयुक्त किया जाता है। कभी-कभी धातु के पूर्व उपसर्ग भी आ जाता है। आर्य-भाषा की धातुएँ, एकाक्षर (monosyllabic) होती हैं। कभी-कभी ये धातुएँ परिवर्धित होकर द्व्यक्षर अथवा त्र्यक्षर में भी परिणत हो जाती हैं, किन्तु इनका आधार तो एकाक्षर धातुएँ ही रहती हैं। धातुओं का द्वित्व भी हो जाता है--यथा—संस्कृत, चल् धातु का चल्-अ-ति, चाल्+अय्-अ-ति, प्र-चल्-इत, च-चाल्-अ, आदि। हिन्दी में चल-ता, चल-ता-हूँ, आदि, तथा अँग्रेजी में sleep, slep-t, sleep-er, sleep-ing-ly आदि।

अरबी-धातुएँ त्रि-व्यञ्जनात्मक होती हैं। धातु की इन तीनों-ध्वनियों के पूर्व तथा पश्चात् ही प्रत्यय का संयोग होता है; किन्तु विभिन्न-प्रकार की स्वर ध्वनियों एवं कई विशेष व्यञ्जन-ध्वनियों के आगम द्वारा, इस त्रि-व्यञ्जनात्मक-धातु के भीतर जिसप्रकार का परिवर्तन होता है वही, अरबी, हिब्रू आदि सामी-भाषाओं की विशेषता है। उदाहरणस्वरूप ک [क्], ت (त्), ب (ब्) या كتب = k-t-b क्-त्-ब्, इन तीन-ध्वनियों से जो अरबी-धातु बनी, उसका अर्थ है, लिखना। इसके भीतर के स्वर के परिवर्तन एवं आदि, मध्य तथा अन्त के व्यञ्जन एवं स्वर के योग से ही, अरबी में, अनेक-पदों का निर्माण होता है। यथा—كَتَبَ kataba कॅ तॅ बॅ (ह्रस्व अॅ), उसने लिखा, लिखा है अथवा वह लिख चुका है; كُتِبَ kutiba कुतिबॅ यह लिखित (हुआ) है,

يكتب ya-ktubu याक्तुबु, वह लिखेगा; كتبت katab-tu कातॅाबू-तु, मैं लिखता हूँ; كتب kattaba कात्ताबा, वह बराबर लिखता है; كاتب kātibun कातिबुन, जो लिखता है अर्थात् लेखक; كتابن kitābun किताबुन, किताब अथवा पुस्तक; كتبن kutubun कुतुबुन्, किताबें अथवा पुस्तकें; مكتوبن maktubun माकतुबुन, लिखित; مكتبن माक्ताबुन, लिखन-स्थान, विद्यालय, इत्यादि।

अरबी की समस्त-धातुओं में एक ही प्रकार की स्वर-ध्वनियों का आगम होता है, एक ही प्रकार के उपसर्ग एवं अन्त-प्रत्ययों के योग से धातु के रूपों में परिवर्तन होता है तथा विभिन्न-शब्दों की सृष्टि होती है। एक निर्दिष्ट-रीति अथवा पद्धति के द्वारा ही अरबी-क्रियाओं के रूप चलते हैं। इसे अरबी-व्याकरण में वज़न कहते हैं, और एक वज़न की क्रियाओं के रूप भी एक ही ढङ्ग से चलते हैं। अरबी की कतिपय धातुएँ चार-व्यञ्जनों की और कुछ दो—व्यञ्जनों की भी होती हैं।

व्याकरण-सम्बन्धी धातु-रूपों के पार्थक्य को यदि छोड़ भी दें, तोभी सामी-भाषा तथा आर्य-भाषा में अत्यधिक-पार्थक्य है। वास्तव में दो—विभिन्न-परिवारों की भाषा होने के कारण इनमें साम्य का सर्वथा अभाव है।

अरबी-ध्वनि

प्राचीन-अरबी में हमारी भारतीय-भाषा की "श"—ध्वनि के अतिरिक्त अन्य तालव्य अथवा मूर्धन्यध्वनियाँ नहीं हैं। ख, घ, थ, ध, एवं फ, भ महाप्राण-ध्वनियों का भी इसमें अभाव है और ड़, ढ़ ध्वनियाँ भी इसमें नहीं हैं। इसीप्रकार इसमें कण्ठ्य-ध्वनि ग तथा ओष्ठ्य-ध्वनि प भी नहीं हैं। अरबी ج अक्षर का प्राचीन-उच्चारण ग अथवा ग्य था। आजकल विभिन्न अरबी-भाषा-भाषी-देशों में इसके उच्चारण में भी भिन्नता आ गई है। अरब उपद्वीप तथा ईराक में इसका, उच्चारण आज ज [=j], तथा सीरिया में झ़ [=zh] है; केवल मिस्र में आज भी इसका पुराना उच्चारण ग वर्तमान है। अरबी का ث वस्तुतः ऊष्म-ध्वनि है। इसका उच्चारण थ् (=ग्रीक थीटा) अथवा अंग्रेजी के think एवं three के th के समान है। अरबी ذ=ऊष्म ध्, अंग्रेजी के this,that के th के उच्चारण के समान है। خ तथा غ क्रमशः ख़् तथा ग़् में उच्चरित होते हैं। फ़ारसी में ये दोनों-ध्वनियाँ वर्तमान हैं और पूर्वी-बङ्गाल के लोग भी इसका उच्चारण करते हैं, किन्तु साहित्यिक-बँगला तथा हिन्दी में इनका अभाव है। हिन्दी-क्षेत्र के फ़ारसी और उर्दू-दाँ इन ध्वनियों का शुद्ध-

उच्चारण करते हैं। अरबी की ح तथा ع ध्वनियाँ आर्यभाषा में अज्ञात हैं। ये सामी-भाषा की विशेष-ध्वनियाँ हैं। इन दोनों का उच्चारण अलिजिह्व के नीचे Pharynx अथवा गलबिल के मध्य से होता है। इनसे ح अघोष-ऊष्म-ध्वनि और ع घोष-ऊष्म-ध्वनि है। ق = q का उच्चारण भी अलिजिह्व के निकट से होता है। हिन्दी में इसे क़ रूप में लिखा जाता है। भारतीय-भाषाओं में इसका भी अभाव है। ص ض ط ظ ध्वनियाँ क्रमशः ईषत्-उ-कार अथवा व-कार-संयुक्त दन्त्य अथवा दन्त्यमूलीय स, द, त एवं उष्म ध् ध्वनियाँ हैं। इनका उच्चारण ص = स्व, ض = द्व, ط = त्व् तथा ظ = ध्व् होता है। अरबी के ء (همزه हम्ज़ा) का उच्चारण उत्तरी-भारत के उर्दूदां अये रूप में करते हैं किंतु पूर्वी-बङ्गाल में इसका उच्चारण ह-कार रूप में होता है। अरबी में २७ व्यञ्जन ध्वनियाँ हैं। ये हैं—ء, ب, ت, ث, ج, ح, خ, د, ذ, ر, ز, س, ش, ص, ض, ط, ظ, ع, غ, ف, ق, ک, ل, م, ن, و, ه, ی इनमें से प्रायः १४ ध्वनियाँ हिन्दी में अज्ञात हैं। इनमें से कई ध्वनियों का शुद्ध-उच्चारण तो उर्दू-दाँ और फ़ारसी-दाँ भी ठीक से नहीं कर पाते। अन्य कई ध्वनियाँ तो हिन्दीवालों के लिये नितान्त-दुरूह हैं और उनका ठीक उच्चारण करना उनके लिए बहुत कठिन है। अरबी की स्वरध्वनियाँ अत्यन्त सरल हैं। ये हैं—ह्रस्व ऑ, इ उ, दीर्घ आ, ई, ऊ; संयुक्त स्वर आय, आव। अरबी ऑ, आ का उच्चारण हिन्दी एकार के समान होता है। नीचे की तालिका में अरबी व्यञ्जन-ध्वनियों का विवरणात्मक परिचय दिया जाता है—

	कण्ठनाली (श्वासनालीय)	गलबिल Pharynx	अलिजिह्वा	कोमलतालु	कठिनतालु	दन्तमूल	दन्त्य	ओष्ठ
स्पृष्ट	,=ء(हम्ज़ा)		ق, (क़) (q)	ک, क (k)	ج=ज =(g')		ت त (t) د द (d)	ب ब (b)
उ—मिश्र (कण्ठी-कृत) मुतब्बक velarised						ض द्व (dw)	ط त्व (tw)	
नासिक्य				ن=ङ ک के पूर्व	ن=ञ ج के पूर्व		ن=न (n)	م म (m)
कम्पनजात						ر र (r)		
पार्श्विक						ل=ल (l)		
ऊष्म	ہ=ह (h)	ح=ह' ع='		خ ख़ (x) غ ग़	ش श (ś)	س स (s) ز ज़ (z)	ث थ़ ذ ध़	ف फ़ (f)
उ-मिश्र (कण्ठी कृत) ऊष्म, मुतब्बक velasried						ص स्व sw	ظ ध़्व	
अर्धस्वर					ی य (y)			و व w

संधि

अरबी में सन्धि है किन्तु लिखते समय वह प्रकाश में नहीं आती। उदाहरण-स्वरूप अरबी में Definite Article अथवा निर्देशक-उपसर्ग 'ال' al 'आल्' का ल् जब कतिपय-अक्षरों के पूर्व आता है, तो उन अक्षरों का द्वित्व करके स्वयं लुप्त हो जाता है—ت ث د ذ ر ز س ش ص ض ط ظ ل ن इन अक्षरों को شمسى शम्सी अथवा 'सौर-अक्षर' कहा जाता है। इनके पूर्व ल का लोप हो जाता है। अन्य-वर्णों के पूर्व ल् का लोप नहीं होता। इन्हें قمرى क़मरी अथवा चान्द्र-अक्षर कहा जाता है। यथा—عبدالرحيم 'abdu'-al-rahim अब्दुल-आल्-रहहीम = अब्दुर्रहीम; نظام الدين nizamu'al-din निज़ामु-'आल्-दीन = निज़ामुद्दीन, इत्यादि। अरबी में लिखा نب न्ब् जाता है किन्तु इसका उच्चारण म्ब् होता है। इसप्रकार نبى nabi नबी का बहु वचन انبيا anbiya अन्बिया का उच्चारण 'अम्बिया' होता है। इसी-प्रकार حنبل hanbal हुन्बल् का उच्चारण अरबी में हम्बल् होता है। अरबी में व्यवहृत Difinite Article अथवा निर्देशक 'ऑल्' वस्तुतः एक विशिष्ट-वस्तु है।

शब्दरूप

अरबी में नपुंसकलिङ्ग का अभाव है। संज्ञावाची-शब्दों में स्त्री-लिङ्ग-पदों की ही संख्या अधिक है। इसमें तीन वचन – एक द्वि तथा बहुवचन होते हैं। प्रत्ययों के योग से ही द्विवचन तथा बहु-वचन सम्पन्न होते हैं। यथा- एक वचन مالكن Mālikun मालिकुन्, राजा—द्वि-वचन مالكان Mālikani मालिकानि—बहुवचन—مالكون Malikūna मालिकूना। अरबी में बहुवचन बनाने के लिए कभी-कभी समष्टि अथवा दलवाचक नवीन-शब्दों का भी व्यवहार होता है ملوكن Mulukun मुलूकुन्, राजगण।

अरबी में विभक्ति के योग से तीन कारक – कर्त्ता, कर्म तथा सम्बन्ध—सम्पन्न होते हैं। क्रमशः इनके रूप हैं—मालिकुन्; मालिकान्, मालिकिन् अथवा आल्-मालिकु', 'आल मालिका, 'आल-मालिकि। कर्म अथवा सम्बन्ध के पूर्व preposition अथवा कर्म-प्रवचनीय उपसर्ग का संयोग करके अन्य कारक सम्पन्न होते हैं।

अरबी में विशेषण, विशेष्य के बाद आता है। सम्बन्ध-पद से अन्वित होने पर भी यह विशेष्य के बाद ही आता है। प्राचीन-अरबी में विशेष्य के

लिङ्ग, वचन तथा कारक के अनुसार ही विशेषण की विभक्ति में परिवर्तन होता है।

तारतम्य—

इसके लिए प्रयुक्त विभिन्न-शब्दों के द्वारा सम्पन्न होता है, यथा— كبيرن काबीरुन् = महान् (कबीर) أكبرن आकबारुन = महत्तर ألأكبرو आल् आकबारु = महत्तम।

सर्वनाम—

उत्तमपुरुष के सर्वनाम को छोड़कर मध्यम तथा अन्यपुरुष के सर्वनामों में लिङ्ग-भेद (स्त्री-लिङ्ग तथा पुंलिंग) है। यथा هو हुवा, 'वह' (पुं) هي हिया (स्त्री०), هم हुम् 'उनका' (पु०) هن हुन्ना (स्त्री०)। अरबी में उत्तम मध्यम तथा अन्य पुरुषवाचक सर्वनामों के दो प्रकार के रूप मिलते हैं—एक स्वकीय अथवा स्वतंत्र, दूसरा परतंत्र या पराश्रित अथवा प्रत्ययरूप में व्यवहृत। इनमें परतंत्ररूप का प्रयोग विशेष्य के साथ सम्बन्ध प्रकट करने के लिए तथा कर्मरूप में क्रियापद के साथ होता है। यथा—أنا आना मैं स्वतंत्र); ى 'इ', 'मेरा' نى 'नी', 'मुझको' (स्वतंत्र); कितावुन्, كتابن 'पुस्तक'; كتابى 'किताबी', मेरी पुस्तक'; ضرب 'द्वारबा, 'उसने मारा'; ضربنى द्वाराबानी, 'उसने मुझे मारा',। कर्म-प्रवचनीय उपसर्ग (prepositon) के साथ भी इसीप्रकार. 'पराश्रित सर्वनाम व्यवहृत होता है। यथा— من मिन् from से منى 'मिन्-नी' मिन्नी, मेरे पास से منهم मिन्-हुम्, 'उसके पास से أنت आन्‌ता, 'तू, तुम, किन्तु 'لك लाका' तुम्हारे साथ (पुं०) 'लाकि' तुम्हारे साथ (स्त्री०)।

संख्या-वाचक-शब्द

एक से लेकर दस तक के अङ्कों के, पुंलिंग तथा स्त्रीलिंग में, विशेषरूप होते हैं। ग्यारह, बारह आदि संख्याओं के रूप दस+एक, दस+दो रीति से बनते हैं। इसीप्रकार एकतीस, बत्तीस, बावन, तिहत्तर आदि के रूप भी सम्पन्न होते हैं—यथा—तीस+एक, तीस+दो, पचास+दो, सत्तर+तीन, आदि। साधारण-गणना की संख्याओं को विशेषरूप में परिवर्तित करके ही क्रमवाचक संख्याओं के रूप बनते हैं। यथा—ثلاثتن थाल थातुन्, तीन (पुं०); थालाथुन—तीन (स्त्री०)। क्रमवाचक—ثالثن थालिथुन, 'तृतीय' (पुं०) इसका अर्थ तृतीय व्यक्ति भी होता है। यही शब्द बँगला में सालिस = निरपेक्ष व्यक्ति तथा हिन्दी में सालिस = पंच अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका स्त्रीलिंग-

रूप थालियातुन होता है। एक तृतीयांश के अर्थ में इसका रूप .थुलथुन हो जाता है।

क्रिया-पद—

अरबी में, क्रियापद की गठन का ढंग अपना है। आधुनिक-आर्य-भाषाओं तथा हिन्दी से इसका किसीप्रकार का साम्य नहीं है। अरबी में मौलिक-काल के केवल दो ही रूप उपलब्ध हैं—(१) साधारण-अतीत (२) Aorist अथवा अनिर्दिष्ट-काल-वाचक (भविष्यत् तथा वर्तमान)। इसकी त्रिव्यञ्जनात्मक-धातुओं को पन्द्रह श्रेणियों में रखा जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक धातु इन पन्द्रह-श्रेणियों में जाए हो। इनमें से कतिपय धातुएँ तो केवल आठ या दस श्रेणियों के अन्तर्गत ही रहती हैं। इन पन्द्रह-श्रेणियों के अतीत एवं अनिर्दिष्ट, दो-कालों, के रूप ही मिलते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक श्रेणी के अन्तर्गत विशेषण तथा विशेष्य क्रिया के रूप मिलते हैं। इन समस्त श्रेणियों के कालरूप एवं विशेषण तथा भाव-विशेष्य एवं कई सहायक-क्रियाओं की सहायता से अरबी के विभिन्न कालों एवं प्रकारों के रूप सिद्ध होते हैं। अरबी में अस्तिवाचक धातु 'काना' की सहायता से भी यौगिक-काल के कई रूप बनते हैं।

धातु अथवा क्रिया-प्रदों की विभिन्न श्रेणियों के उदाहरण इसप्रकार हैं—(१) كَتَبَ कातावा [निर्देशक], (२) كَتَّبَ कात्तावा [पौनः पुनिक] (३) كَاتَبَ कातावा [पारस्परिक] (४) أَكْتَبَ आकतावा [प्रयोजक] (५) تَكَتَّبَ ताकात्तावा [द्वितीय श्रेणी का आत्मनिष्ठ प्रकार], आदि, आदि।

क्रिया के कालरूपों में, मध्यम तथा अन्यपुरुष में, तीन वचन तथा दो-लिंग होते हैं। उत्तमपुरुष में लिंग-भेद नहीं है और द्विवचन का भी अभाव है। मध्यमपुरुष में द्विवचन तो है किन्तु लिंग-भेद नहीं है। अरबी में केवल दो वाच्य होते हैं—(१) कर्तृवाच्य (२) कर्मवाच्य।

वाक्यरीति—अरबी में सरल तथा यौगिक, दो-प्रकार के, वाक्य होते है। इसमें मिश्र-वाक्य का अभाव है। विभक्ति-बहुला भाषा होने के कारण अरबी-वाक्यों के शब्दों को क्रमानुसार न रखने से भी कोई हानि नहीं होती। इसमें समास का अभाव है। सम्बन्ध-पद, इसमें, बाद में आता है। उदाहरण-स्वरूप हिन्दी में ईश्वर का दास कहेंगे, किन्तु अरबी में इसे 'आब्दु' आल्लाहि (= अब्दुल्लाह) = (दास ईश्वर का) कहेंगे। अरबी में क्रिया-पद

से ही वाक्य का आरम्भ होता है। यथा—क़ाला-ल्लाहु अर्थात् बोले ईश्वर =ईश्वर बोले। अरबी में अंग्रेजी की भाँति Sequence of Tenses का भी विधान नहीं है। कई बातों में अरबी-वाक्यरीति नितान्त-सरल है। बँगला, हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि जैसी आधुनिक-भाषाओं से इस सम्बन्ध में अरबी का उल्लेखनीय पार्थक्य है।

शब्दावली—इस सम्बन्ध में अरबी पृथ्वी की अन्यतम मौलिक-भाषा है। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा चीनी के समान ही निजी धातुओं तथा अपने ही प्रत्ययों के योग से अरबी में भी आवश्यक शब्द-निर्माण का कार्य नितान्त सुगमता एवं सुन्दरता से सम्पन्न होता है। सिरीय, हिब्रू, ग्रीक, इरानी जैसी भाषाओं से शब्द ग्रहण करके अरबी परिपुष्ट हुई। इसमें दो—चार संस्कृत के भी शब्द[1] आ गए हैं। यथा—नारजील अथवा नारगील=सं० नारिकेल। इसीप्रकार अरबी सुकर√सं० शर्करा। इस्लाम-धर्म तथा मध्ययुग की मुसलमानी-सभ्यता की भाषा होने के कारण अरबी ने पश्चिमी तथा उत्तरी अफ्रीका एवं स्पेन होते हुए भारतीय-द्वीप-समूह तथा रूस और साइबेरिया होते हुए मध्य-अफ्रीका तथा सिंहल पर्यन्त विराट-भूखण्ड की अनेक असभ्य, अर्द्ध-सभ्य तथा सुसभ्य-भाषाओं को प्रभावित किया है। फ़ारसी तथा उर्दू के द्वारा तो अरबी के अनेक शब्द आज हिन्दी में आ गए हैं।

---

२. लिपि की उत्पत्ति तथा विकास

मनुष्य ने लिखना कैसे सीखा, इसकी कहानी अत्यन्त मनोरंजक है। वस्तुतः लिखने की कला का आविष्कार मनुष्य की अन्यतम खोजों में से है। विद्वानों का विचार है कि इस कला की उत्पत्ति भाषा की उत्पत्ति के बहुत बाद हुई। सहस्राब्दियों तक मनुष्य भाषा के माध्यमद्वारा अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता रहा, किन्तु उसके संरक्षण का उसके पास कोई साधन न था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि अनेक जातियाँ अपनी भाषाओं के साथ विश्व के रंगमंच पर आईं और विलीन हो गईं। आज हम इनका नाम तक नहीं जानते हैं। जब भाषा को लिखने की कला का माध्यम प्राप्त हुआ तब एक नवीन-सृष्टि का प्रारम्भ हुआ। तब से मनुष्य अपने ज्ञान-विज्ञान के संचय और संरक्षण में प्रवृत्त हुआ जिससे सभ्यता और संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास हुआ। वास्तव में भाषा और लिखने की कला, ये दो, ऐसी वस्तुएँ हैं जो मनुष्य को पशु से पृथक करती हैं और जिनके सहारे वह निरन्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है।

लिपि के सम्बन्ध में अनुसन्धान करने वाले विद्वानों का अनुमान है कि भाषा की भाँति ही लिखने की कला की उत्पत्ति भी विचारों की अभिव्यक्ति के लिए ही हुई होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि घटनाओं अथवा तथ्यों के संरक्षण की अपेक्षा अपने निकट की वस्तुओं से सहानुभूति प्रकट करने के लिए ही गुहा-मानव ने सर्वप्रथम चित्रों का अङ्कन किया था। उत्तर-पाषाण-काल के ऐसे अनेक-चित्र विभिन्न-देशों की कन्दराओं की भित्तियों पर मिले हैं।

प्रतीकों द्वारा सन्देश

प्रतीकों द्वारा सन्देश भेजने की प्रथा भी अति प्राचीन-काल से विभिन्न-देशों में प्रचलित है। तिब्बती-चीनी सीमा पर जब किसी के पास मुर्गी का कलेजा, उसकी चर्बी के तीन टुकड़े एवं एक मिर्च के साथ लाल कागज में लपेटकर भेजा जाता है तो उसका अर्थ होता है कि युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। यह प्रसिद्ध है कि महाराज शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास ने आशीर्वाद रूप में उनके पास थोड़ी घोड़े की लीद तथा कतिपय प्रस्तर के टुकड़े भेजे थे। इससे

तात्पर्य यह था कि तुम्हारे घोड़े तथा दुर्ग सुरक्षित रहें जिसमें तुम युद्ध में निरन्तर विजय प्राप्त करते रहो।

चित्रलिपि

लिखने की कला का आद्यरूप वास्तव में चित्रलिपि ही है। इसके द्वारा किसी वस्तु को बोध करने के लिए उसका चित्र बनाया जाता है। उदाहरणस्वरूप चित्रलिपि में सूर्य को वृत्त रूप में तथा मनुष्य को उसके रेखाचित्र के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ किसी आख्यान या कहानी को भी अनेक चित्रों के रूप में अंकित किया जाता है। इन चित्रों को देखकर ही लोग उस आख्यान अथवा कहानी को समझ जाते हैं। इसप्रकार विचारों की अभिव्यक्ति तो चित्र-लिपि द्वारा हो जाती है किन्तु यहाँ जो प्रतीक अथवा चित्र प्रयुक्त होते हैं वे ध्वनि का प्रतिनिधित्व नहीं करते। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि चित्र-लिपि के द्वारा अर्थबोध तो हो जाता है किन्तु ध्वनि-बोध नहीं होता।

यहाँ चित्र तथा चित्रलिपि के अन्तर को भी स्पष्टतया हृदयङ्गम कर लेना चाहिए। जहाँ चित्र में मनुष्य का वास्तविक उद्देश्य किसी का अंकन मात्र होता है वहाँ चित्रलिपि में उसका मुख्य उद्देश्य विचारों की अभिव्यक्ति तथा उसका संरक्षण होता है। वास्तव में गुहा-मानव के चित्रों के बाद उन्नति के पथ पर अग्रसर होकर ही मनुष्य ने चित्रलिपि का आविष्कार किया होगा।

चित्रलिपि का प्रयोग प्रायः प्रत्येक देश में पाया जाता है। प्राचीन-युग के मानव ने ही इसका सर्वप्रथम प्रयोग किया था और यह लिपि मिस्र, मैसोपोटामिया, फोनेशिया, क्रीट, स्पेन, दक्षिणी-फ्रांस तथा अन्य-देशों में उपलब्ध हुई है। मध्य-अफ्रीका, उत्तरी-अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया के प्राचीन-मानव ने भी इस लिपि का उपयोग किया था। विभिन्न-देशों में, भोजपत्र, काष्ठपट्टिका, मृग तथा अन्य पशुओं के चर्म, अस्थि, हाथीदाँत एवं समतल चट्टानों पर चित्रलिपि के नमूने उपलब्ध हुए हैं।

भावलिपि

यह एक प्रकार से अत्यधिक समुन्नत-चित्रलिपि है। यह वास्तव में मनुष्य के हृदय के भावों का चित्रात्मक अंकन है। इस लिपि में चित्र, वस्तुओं के प्रतिनिधि नहीं होते, अपितु इन वस्तुओं से सम्बन्धित भावों के द्योतक होते हैं। उदाहरण-स्वरूप भावलिपि में एक वृत्त केवल सूर्य का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता बल्कि वह 'उष्णता' 'प्रकाश' अथवा 'सूर्य से सम्बन्धित देवता' या 'दिन' को

द्योतित करता है। इसीप्रकार भावलिपि के द्वारा किसी पशु का बोध कराने के लिए उसके सम्पूर्ण शरीर का चित्र आवश्यक नहीं होता, केवल उसके शिर के चित्र मात्र से ही उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है। 'जाने की क्रिया' को भी, भावलिपि में, दो पैरों के प्रतिनिधि-रूप, दो-रेखाओं से ही द्योतित किया जाता है।

साधारणतया विभिन्न-देशों की भावलिपियों में बहुत कम अन्तर मिलता है। उदाहरणस्वरूप दुःख के भाव-बोध के लिए आँख का चित्र बनाकर अश्रुपात कराना, प्रायः केलिफोर्निया, अमेरिका के मूल-निवासी, माया तथा एज़टेक जातियों, एवं चीनी लोगों की लिपियों में मिलता है। इसीप्रकार अस्वीकृति के लिए, 'पीठ फेर लेना,' युद्ध के लिए 'शस्त्र लेकर एक दूसरे के सम्मुख डट जाना' तथा प्रेम के लिए, 'एक दूसरे का आलिङ्गन करना' भी विभिन्न-देशों की भावलिपियों द्वारा सहज ही में प्रदर्शित किया जाता है। विशुद्ध भावलिपि के नमूने उत्तरी-अमेरिका के आदिवासियों तथा मध्य-अफ्रीका के हब्शी लोगों से प्राप्त हुए हैं।

ध्वन्यात्मक-लिपि—चित्रलिपि तथा विशुद्ध भाव-लिपि में चित्रों अथवा प्रतीकों का उनके लिए उच्चरित-ध्वनियों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। चित्र अथवा प्रतीक किसी विशेष भाषा के होते भी नहीं। विभिन्न-भाषाओं में उनका समानरूप से प्रयोग होता है। लिपि के इतिहास में ध्वन्यात्मक-लिपि का स्थान सबसे ऊँचा है। वास्तव में आज ध्वन्यात्मक-लिपि ही भाषा की प्रतिरूपा है और लिखने की इस प्रणाली में, प्रत्येक तत्व, भाषा की विशेष-ध्वनि का प्रतिनिधित्व करता है। इस लिपि में चिह्न, वस्तुतः, वस्तु अथवा भाव को नहीं द्योतित करते अपितु वे ध्वनि अथवा ध्वनि-समूहों को प्रकट करते हैं। संक्षेप में, इस प्रणाली में, लिखितरूप, बोलनेवाली भाषा का ही दूसरा रूप होता है। इस प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लिपि तथा भाषा एक दूसरे का अंग बन जाती है और लिपि ही भाषा का प्रतिनिधित्व करने लगती है। यहाँ प्रतीक अथवा चिह्न एक अर्थ द्योतन नहीं करते अपितु वे विभिन्न-भाषाओं के प्रतिरूप बन जाते हैं। अब पृथक चिह्नों के रूप का भी कुछ महत्व नहीं रह जाता तथा जिन वस्तुओं का वे प्रतिनिधित्व करते हैं उनसे भी इनका कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। ध्वन्यात्मक-लिपि के भी दो भेद हैं।

(१) अक्षरात्मक (Syllabic)।
(२) वर्णात्मक (Alphabetic)।

अक्षरात्मक-लिपि—इस लिपि में स्वर-चिह्नों को व्यंजनों के साथ जोड़ने की रीति के कारण लिखने के मूल उपादान अक्षर (syllable) हो गए हैं। उदाहरणस्वरूप संस्कृत के 'विराट' शब्द में 'व् र् तथा ट्', इन तीनों वर्णों के साथ 'इ' 'आ' तथा 'अ' स्वर जुड़े हुए हैं। अक्षरात्मक-लिपि का दोष यह है कि इसके द्वारा ध्वनि का विश्लेषण तनिक कठिनाई से होता है। नागरी-लिपि वस्तुतः अर्द्ध-अक्षरात्मक लिपि है। इसके द्वारा ध्वनि का विश्लेषण तो हो जाता है किन्तु वह विश्लेषण उतनी सुन्दरता से नहीं हो पाता जितना रोमन की वर्णात्मक-लिपि के द्वारा। उदाहरणस्वरूप 'विराट' की ध्वनियों का विश्लेषण नागरी-लिपि के द्वारा व्+इ+र्+आ+ट्+अ होगा। यही विश्लेषण रोमन-लिपि के द्वारा v-i-r-ā-t-a- होगा।

वर्णात्मक-लिपि—लिपि-विज्ञानियों के अनुसार लिपि के विकास में सबसे ऊँचा स्थान वर्णों का है। वास्तव में प्रत्येक-वर्ण ध्वनि का प्रतीक होता है। वैदिक भाषा में कुल ५२ प्रतीक अथवा वर्ण हैं। इसीप्रकार रोमन में कुल २६ वर्ण हैं। इन वर्णों को अल्प-प्रयास से ही बच्चे सीख लेते हैं। इनकी तुलना में चीनी-भाषा को सीखने के लिए कई सहस्र प्रतीकों को सीखना पड़ता है, जिसमें अत्यधिक समय लगता है। वर्णात्मक-लिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि किसीप्रकार की कठिनाई के बिना ही इसकी सहायता से अनेक भाषाएँ लिखी जा सकती हैं। उदाहरणस्वरूप आज नागरी-लिपि में ही हिन्दी, मराठी नेपाली तथा मैथिली, भोजपुरी आदि भाषाएँ एवं बोलियाँ लिखी जा रही हैं। इधर स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद निरन्तर इस बात का उद्योग किया जा रहा है कि भारत की अन्य भाषाएँ—बँगला, उड़िया, असमिया, गुजराती, तामिळ, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ आदि भी नागरी-लिपि में लिखी जायँ। इससे एक लाभ यह होगा कि लोग विविध-लिपियों को सीखने की कठिनाई से मुक्त हो जायँगे।

यूरोप में तो आज रोमन-लिपि प्रायः सर्वमान्य हो रही है और अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इतालीय, स्पेनीय, तुर्की, पोलिश, डच, चेक तथा हुंगेरीय आदि भाषाएँ, इसी में लिखी जाती हैं।

वर्णात्मक-लिपि के आविष्कार से शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में अत्यधिक सहायता मिली है। इनकी सरलता का एक परिणाम यह हुआ है कि आज मुद्रण के अनेक यंत्र बन गए हैं जिनसे तीव्र-गति से साहित्य का उत्पादन एवं प्रकाशन हो रहा है।

भारतीय-लिपियों की उत्पत्ति

लिपि के सम्बन्ध में ऊपर के संक्षिप्त-विवरण के पश्चात्, अब भारतीय-लिपियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। प्राचीनकाल में, भारत में, ब्राह्मी खरोष्ठी तथा सिन्धु-घाटी की लिपियाँ प्रचलित थीं। इनमें से सिन्धु-घाटी की लिपि का पता तो मोहन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई के बाद [सन् १६२२–२७] लगा; किन्तु ब्राह्मी तथा खरोष्ठी का पता विद्वानों को पहले से ही था। भारतीय तथा चीनी-परम्पराओं के अनुसार तो इन दोनों लिपिओं की उत्पत्ति भारत में ही हुई थी। चूँकि ब्राह्मी के प्राचीनतम लेख ५०० ई० पू० के पहले के नहीं मिलते अतएव इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक अनुमान किए गए। कई विद्वानों के अनुसार ब्राह्मी की उत्पत्ति भारत में ही हुई थी, किन्तु अनेक पश्चिमी-विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। इन विद्वानों के मतानुसार ब्राह्मी की उत्पत्ति में किसी न किसी विदेशी-लिपि का अवश्य हाथ था। खरोष्ठी के सम्बन्ध में तो प्रायः अधिक विद्वानों का यह निश्चित मत है कि यह विदेशीलिपि थी तथा व्यापारिक सम्बन्ध के कारण पश्चिमी एशिया से भारत में इसका आगमन हुआ था। सिन्धुघाटी की लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है और इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त-मतभेद है। नीचे इन तीनों लिपियों के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार किया जायेगा।

सिन्धुघाटी की सभ्यता तथा लिपि

आज से कुछ वर्ष पूर्व इतिहास के पण्डितों का विचार था कि भारतीय-सभ्यता का आरम्भ, यहाँ आर्यों के आगमन के बाद, ऋग्वेद के रचनाकाल से हुआ, किन्तु जब सिन्धुघाटी की सभ्यता का पता चला तो विद्वानों को अपने विचार बदलने पड़े। अब इतिहास के विद्वानों का यह स्पष्ट मत है कि आर्यों के भारत-प्रवेश के बहुत पहले, लगभग ई० पू० ३५०० में सिन्धुघाटी के निवासी सभ्यता के उच्च-शिखर पर पहुँच चुके थे। इसका प्रमाण मोहन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई में उपलब्ध सामग्री से सहज ही में मिल जाता है। हड़प्पा पंजाब के मांटगोमरी ज़िले में है और मोहन-जो-दड़ो, सिन्धु के निचले भाग के किनारे, सिन्ध-प्रदेश के लरकाना ज़िले में। हड़प्पा की सर्वप्रथम-खोज मैसन ने सन् १८२० में की थी। सन् १८५३ में कनिंघम ने इस स्थान का अध्ययन किया और सन् १८७५ में यहाँ की कतिपय सीलों का प्रकाशन हुआ। बाद में,

यहाँ सर जान मार्शल के तत्वावधान में, सन् १९२१ की जनवरी में, रायबहादुर दयाराम साहनी ने खुदाई प्रारम्भ की और सन् १९२६ से १९३४ तक श्री मधुस्वरूप वत्स के तत्वावधान में यहाँ महत्त्वपूर्ण खुदाई हुई।

मार्शल ने श्री एस० लैंग्डन, एस० स्मिथ तथा सी० जे० गैड की सहायता से सन् १९३१ में मोहन-जो-दड़ो तथा सिन्धु-घाटी सभ्यता के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण-ग्रंथ प्रकाशित किया। उधर सन् १९३७-३८ में श्री ई० जे० एच० मैकी ने सन् १९२७ से १९३१ के बीच की खुदाई का परिणाम प्रकाशित किया। इसीप्रकार यहाँ की विचित्र-लिपि के सम्बन्ध में श्री जी० आर० हंटर ने अपना विचार व्यक्त किया।

सिन्धुघाटी की लिपि

सिन्धुघाटी की महत्वपूर्ण-सामग्री में चित्र-लिपि से संयुक्त अनेक मुद्राएँ मिली हैं जो प्रागैतिहासिक, एलामीय एवं सुमेरीय मुद्राओं के अनुरूप हैं। इन पर अंकित वृषभ, महिष तथा बारहसिंघा जैसे जानवरों के सुन्दर-चित्रों से इन लोगों के चित्रांकन की कला में दक्षता का परिचय मिलता है। इन मुद्राओं पर अंकित लिपि अभी तक विद्वानों के लिए एक पहेली है। सुमेरीय-सभ्यता तथा लिपि के विशेषज्ञ लैंग्डन, स्मिथ तथा गैड आदि विद्वानों ने इस के पढ़ने में पर्याप्त समय लगाया है किन्तु अभी तक उन्हें सफलता नहीं मिल सकी है। गैड तथा स्मिथ के अनुसार यहाँ की लिपि के प्रतीकों की संख्या ३९६ है, किन्तु लैंग्डन तथा हंटर के अनुसार यह संख्या २८८ तथा २५३ है। स्मिथ ने इन प्रतीकों को तीन-वर्गों में विभाजित किया है। ये हैं आदि के प्रतीक, अंत के प्रतीक तथा संख्या-सम्बन्धी प्रतीक।

लगभग ३०० प्रतीकों सहित सिन्धुघाटी की लिपि न तो वर्णात्मिक प्रतीत होती है और न अक्षरात्मक ही; यह विशुद्ध भावात्मक-लिपि भी नहीं है क्योंकि इसमें प्रतीकों की संख्या अत्यल्प है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ अंशो में यह भावात्मक तथा कुछ अंशों में यह ध्वन्यात्मक (सम्भवतः अक्षरात्मक) है और इसमें निर्धारिक-चिह्न भी हैं। चूँकि इस लिपि में लिखित सभी अभिलेख, सीलों पर ही उपलब्ध हुए हैं अतएव बहुत सम्भव है कि ये व्यक्तियों के नाम हों।

हिन्दू-विश्वविद्यालय के डाक्टर प्राणनाथ, विद्यालंकार, ने आज से कतिपय वर्ष पूर्व, एलामीय, क्रीटीय तथा सिन्धुघाटी-लिपियों का तुलनात्मक

अध्ययन प्रारम्भ किया था। आपने इस लिपि के सम्बन्ध में अत्यन्त निपुणता से अपनी निर्देशिका (Syllabury) भी तैयार की थी। डाक्टर प्राणनाथ के अनुसार सिन्धुघाटी की लिपि का सम्बन्ध प्राचीन-वैदिक-संस्कृत से है। किन्तु यह मत अन्य विद्वानों को मान्य नहीं है।

सिन्धुघाटी-लिपि की उत्पत्ति—श्री हेरॉस के अनुसार सिन्धुघाटी सभ्यता के जनक द्रविड़ थे। हेरॉस ने मोहन जो दड़ो के लेखों को बाँए से दाहिनी ओर पढ़ा है और तमिळ-भाषा में उनका लिप्यन्तर किया है। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि चार सहस्र वर्ष ईसा पूर्व, तमिळ का स्वरूप क्या था, इसकी आज कल्पना भी कठिन है। यही कारण है कि इस सम्बन्ध में हेरॉस का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता। कुछ विद्वानों के अनुसार सिन्धुघाटी-लिपि की उत्पत्ति उस प्राचीन-लिपि से हुई है जिससे बाण-मुख तथा एलामीय लिपियाँ उत्पन्न हुई थीं। जो हो, इस सम्बन्ध में, निश्चयात्मकरूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति

ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, लिपि-विशेषज्ञों में बड़ा मतभेद है। मोटेतौर पर विद्वानों की विचारधारा को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें से पहली श्रेणी के अन्तर्गत वे विद्वान हैं जो ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति, भारत में ही मानते हैं। दूसरी श्रेणी में उन विद्वानों की गणना है जो इस लिपि का सम्बन्ध किसी न किसी विदेशी-लिपि से जोड़ते हैं। नीचे इन विद्वानों का मत, संक्षेप में, दिया जाता है।

[क] ब्राह्मी स्वदेशी लिपि है

(१) द्रविड़ीय उत्पत्ति—एडवर्ड टॉमस तथा अन्य विद्वानों के अनुसार ब्राह्मी-लिपि के मूल-आविष्कर्त्ता द्रविड़ थे। आर्यों ने इन्हीं से यह लिपि सीखी। इस मान्यता की पृष्ठ-भूमि यह है कि आर्यों के आगमन के पूर्व, इस देश में सर्वत्र द्रविड़ निवास करते थे। द्रविड़-सभ्यता आर्य-सभ्यता की अपेक्षा उच्चस्तर पर थी, अतएव सर्व-प्रथम उन्होंने ही लिपि का आविष्कार किया। इस मान्यता के विरुद्ध सबसे बड़ी बात यह है कि लिपि के प्राचीनतम-नमूने उत्तरी-भारत से प्राप्त हुए हैं, जो आर्यों का निवास-स्थान था। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह भी उल्लेखनीय है कि द्रविड़-भाषाओं में सबसे प्राचीन तमिळ में, वर्णों के विभिन्न-वर्गों के, केवल प्रथम और पंचम-वर्ण ही उच्चरित होते

है। इसके विपरीत ब्राह्मी में, प्रत्येक वर्ग के पाँचों वर्ण मिलते हैं। इसप्रकार तमिळ जैसी अपूर्ण-लिपि से ब्राह्मी जैसी पूर्ण-लिपि का आविर्भाव संभव नहीं प्रतीत होता।

आर्य अथवा वैदिक-उत्पत्ति—कनिंघम, डाउसन, लैसन आदि विद्वानों के मतानुसार आदि वैदिक पुरोहितों ने प्राचीन-भारतीय-चित्र लिपि से ब्राह्मी-लिपि को विकसित किया।

बूलर ने ऊपर के मत की आलोचना करते हुए लिखा है 'इन विद्वानों ने ब्राह्मी-लिपि के पूर्व जो चित्रलिपि की कल्पना की है, वह निराधार है, क्योंकि अब तक इसप्रकार की चित्रलिपि कहीं नहीं मिली। इधर जब से सिन्धुघाटी-लिपि का पता चला है तब से बूलर की आलोचना का महत्त्व बहुत कुछ कम हो गया है, क्योंकि सिन्धुघाटी की लिपि चित्रात्मक है। यह सच है कि सिन्धुघाटी लिपि जब तक पढ़ी नहीं जाती तब तक ब्राह्मी के साथ उस लिपि का सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं है, किन्तु ब्राह्मी के कतिपय वर्णों की समता सिन्धुघाटी लिपि से स्पष्ट है।

जो लोग ब्राह्मी की उत्पत्ति भारत में ही मानते हैं, उन्हें चेतावनी देते हुए डेविड डरिंगर ने निम्नलिखित-तथ्यों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया है।

(i) किसी देश में एक के बाद दूसरी लिपि का अस्तित्व इस बात को नहीं सिद्ध करता कि बाद वाली लिपि की उत्पत्ति पहले वाली लिपि से ही हुई है। उदाहरणस्वरूप क्रीट में प्रचलित प्राचीन-ग्रीक-लिपि की उत्पत्ति प्राचीन क्रिटीय अथवा मिनोनीय-लिपि से नहीं हुई थी।

(ii) सिन्धुघाटी-लिपि तथा ब्राह्मी में समता होने पर भी जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि दोनों के ध्वनि-चिह्नों में भी समता है, तब तक यह कहना उचित न होगा कि ब्राह्मी की उत्पत्ति सिन्धुघाटी-लिपि से हुई है।

(iii) सिन्धुघाटी-लिपि सम्भवतः अक्षरात्मक-भावात्मक अथवा दोनों के बीच की अनुवर्ती-लिपि है, किन्तु ब्राह्मी अर्द्ध-वर्णात्मक-लिपि है। अभी तक लिपिओं के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान हुआ है, उसमें कहीं भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला है, जहाँ अन्य किसी लिपि के प्रभाव के बिना अक्षरात्मक-भावात्मक-लिपि, वर्णात्मक में परिवर्तित हो गई हो। इसके अतिरिक्त अभी तक कोई भी लिपि-विशेषज्ञ यह स्पष्ट न कर सका कि सिन्धुघाटी-लिपि से, किसप्रकार अर्द्ध-वर्णात्मक, ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति हुई।

(iv) विशाल वैदिक-साहित्य के अध्ययन से इस बात का पता नहीं चलता कि उस युग के आर्य लिखना भी जानते थे। प्राचीन-देवताओं में ज्ञानदात्री सरस्वती तो हैं किन्तु लिपि की अधिष्ठात्री किसी देवी का उल्लेख नहीं मिलता।

(v) प्राचीन-काल में लिखने की कला के सम्बन्ध में, स्पष्टरूप से, केवल बौद्ध साहित्य में उल्लेख मिलता है।

(vi) ब्राह्मी के जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं उनके आधार पर यही कहा जा सकता है कि ६०० ई० पू० में यह वर्तमान थी।

(vii) इतिहास के पण्डितों के मतानुसार ई० पू० ८०० से ६०० तक युग, भारत में, व्यवसायिक-उन्नति के लिए प्रसिद्ध है। इस युग में, दक्षिणी-पश्चिमी सामुद्रिक-मार्ग से भारत तथा बेबिलन के बीच व्यापार होता था। विद्वानों का विचार है कि इस व्यवसायिक-अभिवृद्धि ने ही लिखने की कला को जन्म दिया होगा।

(viii) आर्यों के प्राचीन-इतिहास के सम्बन्ध में बहुत कम सामग्री उपलब्ध है। पं० बाल गङ्गाधर तिलक की यह धारणा की वेद के कतिपय मंत्रों की रचना ७००० ई० पू० हुई थी तथा श्री शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित का यह विचार कि कतिपय ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना ३८०० ई० पू० हुई थी, पुष्ट प्रमाणों पर आधारित न होने के कारण कल्पना-मात्र हैं।

(ix) ६०० ई० पू० उत्तरी-भारत में ऐसी अद्भुत धार्मिक-क्रान्ति हुई कि इसने भारतीय-इतिहास को अत्यधिक प्रभावित किया। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अक्षर-ज्ञान ने जैन तथा बौद्ध-धर्मों के प्रचार एवं प्रसार में विशेष सहायता दी होगी। जहाँ तक बौद्धधर्म का संबन्ध है, यह निर्विवाद है कि इस युग में लिखने की कला का विशेषरूप से प्रचार हुआ।

(x) मोटे ढङ्ग से, सभी प्रमाणों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में लिखने की कला का उद्भव ८०० ई० पू० से ६०० ई० पू० के बीच में कभी हुआ होगा।

आलोचना

डा० डेविड डिरिंगर के उपर के तर्कों का खण्डन कई विद्वानों ने किया है। डा० राजबली पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'इंडियन पैलिओग्राफी' के पृ० ३८-३९ में, इस सम्बन्ध में जो आलोचना की है उसका सार, संक्षेप में, यहाँ दिया जात है।

डा० डिरिंगर के प्रथम तथा द्वितीय तर्कों की आलोचना में यह कहा जा सकता है कि जब तक स्पष्टरूप से विरुद्ध प्रमाण न मिलें, तब तक, एक देश में, दो-लिपियों के अस्तित्व से यह परिणाम निकालना अनुचित न होगा कि बाद की लिपि का उद्भव पहले वाली लिपि से हुआ है। तीसरे तर्क के सम्बन्ध में निवेदन यह है कि जब तक सिन्धुघाटी-लिपि पढ़ ली नहीं जाती तब तक उसके सम्बन्ध में, अन्तिमरूप में कुछ भी कहना उपयुक्त न होगा। चौथा तर्क पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है। ज्ञानदात्री सरस्वती तथा उनके पति ब्रह्मा के रूपों की जो कल्पना की गई है उनमें दोनों के हाथों में पुस्तक धारण करने की परम्परा है। पांचवें तर्क के खण्डन में प्राचीन-वैदिक तथा बौद्ध-साहित्य में पर्याप्त-सामग्री मिलती है। छठें तर्क के खंडन में कहा जा सकता है कि प्रस्तर आदि के जो शिला-लेख प्राप्त हुए हैं उनके अतिरिक्त भी प्रभूत-सामग्री अन्य रूपों में होगी जो अब विनष्ट हो चुकी है। जहाँ तक सातवें तर्क का सम्बन्ध है केवल व्यवसायिक-सम्बन्ध के आधार पर यह कथन युक्ति-युक्त न होगा कि भारत ने किसी अन्य-देश से ही लिखने की कला सीखी। उसके विपरीत भी हो सकता है। डा० डिरिंगर के आठवें तर्क का सार यह है कि भारतीय-सभ्यता पश्चिमी-एशिया की सभ्यता की अपेक्षा बाद की है। श्री तिलक तथा शंकर दीक्षित के सिद्धान्त, वैदिक-सभ्यता की प्राचीनता के सम्बन्ध में काल्पनिक हो सकते हैं किन्तु बूलर तथा विन्टरनिट्ज़ जैसे पश्चिमी-विद्वानों तक ने वैदिक-सभ्यता का प्रारम्भ ४००० ईसा पूर्व माना है। जहाँ तक नवें तर्क का सम्बन्ध है, इसमें सन्देह नहीं कि जैन और बौद्धों ने प्राकृत-भाषा का प्रचार किया और इसके साथ ही साथ लिखने की कला का भी प्रसार हुआ। किन्तु दोनों धर्मों ने इस बात को स्वीकार किया है कि इनके पूर्व वैदिक-युग में भी लिखने की प्रणाली प्रचलित थी। बुद्ध ने तो स्पष्टरूप से अपने दो शिष्यों को बुद्ध-वचन को छन्दस् (वेद की भाषा) में न लिखने के लिए आदेश दिया। दसवें तर्क के लिए पुष्ट-प्रमाणों का अभाव है। इसमें इस बात की कल्पना कर ली गई है कि लिपि के अन्वेषक आर्य न थे।

ऊपर की आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि डा० डिरिंगर के तर्कों में कोई ऐसी बात नहीं है जिसके आधार पर यह न कहा जा सके की ब्राह्मी की उत्पत्ति भारत में ही किसी प्राचीन-लिपि से नहीं हुई थी।

२—ब्राह्मी की उत्पत्ति किसी न किसी विदेशी-लिपि से हुई है।

जो लोग ब्राह्मी की उत्पत्ति किसी-न-किसी विदेशी-लिपि से मानते हैं, उनके

सिद्धान्तों को दो-समूहों में रक्खा जा सकता है। प्रथम-समूह में वे लोग हैं जो ब्राह्मी की उत्पत्ति ग्रीक-लिपि से मानते हैं, किन्तु दूसरे में वे लोग हैं जो इसकी उत्पत्ति सामी (सेमेटिक-लिपि), से मानते हैं।

ग्रीक से ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त—

प्राचीन यूरोपीय-पंडितों की यह एक विशेषता रही है कि किसी भी भारतीय श्रेष्ठ-वस्तु का उद्भव वे ग्रीक से मानते रहे हैं। श्रो० मूलर, जेम्स प्रिंसेप, सेनार्ट, जोसेफ हाल्वे और विल्सन आदि विद्वानों के अनुसार ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति ग्रीक से हुई। बूलर ने इस सिद्धान्त को सर्वथा अमान्य ठहराया। बात यह है कि ब्राह्मी के सम्बन्ध में जो प्रमाण उपलब्ध हैं उनसे यह स्पष्ट है कि मौर्ययुग के कई शताब्दि पूर्व में, ब्राह्मी-लिपि प्रचलित थी। अतएव ग्रीक-लिपि से इसका सम्बन्ध जोड़ना युक्ति-युक्त नहीं है।

सामी (सेमेटिक) से ब्राह्मी की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त के माननेवाले अनेक विद्वान् हैं, किन्तु सामी-लिपि की किस शाखा से ब्राह्मी की उत्पत्ति हुई है, इस सम्बन्ध में पर्याप्त-मतभेद है। सुविधा की दृष्टि से, इन विद्वानों के विचार, निम्नलिखित-वर्गों के अन्तर्गत, संक्षेप में दिए जाते हैं—

[क] फोनेशीय उत्पत्ति—वेबर, बेन्फ़ जेन्सेन तथा बूलर आदि पण्डितों ने ब्राह्मी की उत्पत्ति फोनेशीय-लिपि से मानी है। इस सिद्धान्त के समर्थन में मुख्यतत्व यह है कि लगभग एक तिहाई फोनेशीय-वर्णों की समानता उसी ध्वनि के प्राचीनतम ब्राह्मी-प्रतीकों से मिलती है। इसके अतिरिक्त एक तिहाई ब्राह्मी और फोनेशीय-वर्णों में बहुत कुछ समानता है और अवशिष्ट वर्णों की समानता भी जैसे-तैसे सिद्ध हो जाती है। इस सिद्धान्त के स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह मानी जाती थी कि जिस युग में ब्राह्मी-लिपि उद्भूत हुई थी उस युग में फोनेशिया तथा भारत का यातायात सम्बन्ध न था। इस सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए डा० राजबली पाण्डेय अपनी पुस्तक में लिखते हैं—* मैं यह नहीं मानता कि १५०० ई० पू० से ४०० ई० पू० में भारत तथा भूमध्यसागर के पूर्वी-किनारे के बीच यातायात का सम्बन्ध नहीं था। इसमें भी सन्देह नहीं कि फोनेशीय तथा ब्राह्मी-लिपि में समानता है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि किस लिपि से कौन लिपि उद्भूत हुई है? इस प्रश्न का

* इण्डियन पैलिओग्राफी—पृ० ४०—४१।

सम्बन्ध फोनेशीय-जाति की उत्पत्ति से भी है। ग्रीस के प्राचीन-इतिहास के पण्डितों के अनुसार, फोनेशीय-लोग, पूरब की ओर से, समुद्र के मार्ग से, भूमध्यसागर के पूर्वी-किनारे पर गए थे। ऋग्वेद के प्रमाण से प्रतीत होता है कि फोनेशीय-लोग भारत के निवासी थे। फोनेशीय तथा पश्चिमी-एशिया की सामी-लिपियों में साम्य का अभाव भी यह इंगित करता है कि फोनेशीय-लोग कहीं बाहर से आए थे। इससे इसी बात की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि भारत से ही फोनेशीय-लिपि भूमध्यसागर के तट पर गई थी।

[ख] दक्षिणी सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त—

टेलर, डिके तथा कैनन के अनुसार ब्राह्मी-लिपि दक्षिणी सामी-लिपि से उद्भूत हुई थी। इस मत को स्वीकार करना कठिन है। यद्यपि प्राचीन-काल में भारत और अरब के सम्पर्क की संभावना है, किन्तु इस्लाम के अभ्युदय के पूर्व भारतीय संस्कृति पर अरबी-संस्कृति का तनिक भी प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके अतिरिक्त ब्राह्मी तथा दक्षिणी सामी-लिपि में किसीप्रकार का साम्य नहीं मिलता। इसप्रकार इन दोनों-लिपियों में पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा ही हास्यास्पद है।

[ग] उत्तरी सामी-लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त —

इस सिद्धान्त के सबसे बड़े पोषक डा॰ बूलर थे। दक्षिणी-सामी-लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति सम्बन्धी कठिनाइयों की ओर इंगित करते हुए डाक्टर बूलर लिखते हैं "जब हम उत्तरी सामी-लिपि से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो ये कठिनाइयाँ सहज ही में दूर हो जाती हैं। दोनों को समता के उद्योग में बेबर को जो कठिनाइयाँ हुई थीं वे बाद में प्राप्त रूपों के मिलाने से दूर हो गई और अब इस सिद्धान्त को मानने में कोई कठिनाई नहीं रह गई कि समीप-चिह्नों को किसप्रकार भारतीय-प्रतीकों में परिवर्त्तित किया गया होगा।" उत्तरी सामी-लिपि से ब्राह्मी की व्युत्पत्ति देते हुए बूलर ने ब्राह्मी-लिपि की निम्नलिखित-विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

ब्राह्मी के वर्ण, जहाँ तक संभव है, सीधे हैं और ट, ठ, तथा व को छोड़ कर प्रायः सबकी ऊँचाई भी समान है।

ब्राह्मी के अधिकांश-वर्ण ऊपर से नीचे की ओर लम्बवत् हैं। और उनके नीचे तथा ऊपर ही कतिपय जोड़ मिलते हैं, किन्तु किसी भी दशा में केवल ऊपर जोड़ नहीं मिलते।

ऊपर की विशेषताओं की व्याख्या करते हुए बूलर ने उत्तरी सामी-लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति पर विचार करते हुए उनको आधारभूता, हिन्दुओं की निम्नलिखित-प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है—

१—पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति।

२—क्रमबद्ध-रेखाओं के अनुकूल, प्रतीक-निर्माण की प्रवृत्ति।

३—वर्णों के शिर पर किसीप्रकार के जोड़ अथवा भार देने की प्रवृत्ति की ओर से उदासीनता। बूलर के अनुसार इसका कारण यह प्रतीत होता है कि भारतीय अपने वर्णों को ऊपर से नीचे लम्बवत् आती हुई रेखा की सहायता से अधोभाग में लटकते हुए रूप में लिखते थे। इसमें व्यञ्जनों के सिर की पट रेखा स्वरों का प्रतिनिधित्व करती थी। वर्णों के सिर पर किसीप्रकार के जोड़ अथवा भार की उपेक्षा करने के कारण कई सामी-वर्णों को, ऊपर के जोड़ से मुक्त करके, एकप्रकार से उन्हें उलट दिया गया। अन्त में बाएँ से दाएँ लिखने के कारण भी सामी-लिपि को ब्राह्मी में बदलते समय अनेक-परिवर्तन आवश्यक हो गए।

ऊपर के तथ्यों पर विचार करने के बाद, बूलर इस परिणाम पर पहुँचे कि ब्राह्मी के २२ वर्ण उत्तरी सामी-लिपि से, कतिपय वर्ण प्राचीन-फोनेशीय लिपि से, कुछ मेसा के शिला-लेख से तथा ५ असीरिया के बाटों पर लिखित अक्षरों से लिए गए। ब्राह्मी के शेष वर्ण भी, कतिपय परिवर्तन के साथ, बाहरी लिपि से ही लिए गए। बूलर ने अपनी पुस्तक में इन समस्त लिपियों की तुलनात्मक-तालिका उपस्थित करके ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला।

उत्तरी सामी-लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त के दूसरे बड़े समर्थक डा० डेविड डिरिंगर हैं। इस सम्बन्ध में विचार करते हुए आप अपनी पुस्तक 'अल्फाबेट' के पृ० ३३६-३३७ में लिखते हैं—सभी उपलब्ध ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक-तथ्य इस ओर इंगित कर रहे हैं कि मूलतः ब्राह्मी लिपि, आर्मेइक [उत्तरी-सामी] लिपि से ही उद्भूत हुई है। ब्राह्मी तथा सामी-लिपि की समता भी यही सिद्ध करती है। मेरे विचार में इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भारतीय-व्यापारियों का सर्व-प्रथम आर्मीय-सौदागरों से ही सम्पर्क स्थापित हुआ था।

आगे चलकर डा० डिरिंगर पुनः लिखते हैं—

आज से साठ वर्ष पूर्व, रायल एशियाटिक सोसाइटी के मंत्री श्री आर० एन० कस्ट ने सोसाइटी के जर्नल [भाग १६, सन् १८८४, पृ० ३२५-३५६]

में "भारतीय लिपि का उद्भव" [ओरिजिन ऑव द इंडियन अल्फाबेट] शीर्षक लेख प्रकाशित किया था। तब से अनेक नवीन खोजें हुई और ब्राह्मी-लिपि के उद्भव के सम्बन्ध में सैंकड़ों पुस्तकों एवं लेखों में विचार किया गया किन्तु आज भी मैं उनके प्रथम दो निर्णयों से बहुत कुछ सहमत हूँ—

(१) किसीप्रकार भी, भारतीय-लिपि, इस देश के लोगों का स्वतंत्र अनुसन्धान नहीं है। हाँ, यह दूसरी बात है कि अन्यत्र से उधार ली हुई लिपि में भारतीयों ने अद्भुत परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किया।

(२) इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि स्वर तथा व्यञ्जन-ध्वनियों की प्रतीक स्वरूपा, विशुद्ध वर्णात्मक (ब्राह्मी) लिपि पश्चिमी एशिया की लिपि से ही उद्भूत हुई।

[यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि भारतीय-लिपि अर्द्ध-वर्णात्मक लिपि है, विशुद्ध-वर्णात्मक लिपि नहीं]।

अपने सिद्धान्त के समर्थन में डा० डिरिंगर ने निम्नलिखित-तर्क-उपस्थित किया है—

(१) हमें यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए कि ब्राह्मी सहजरूप में आर्मयि-लिपि से प्रसूत हुई है। यद्यपि ब्राह्मी के कई वर्णों के रूपों पर सामी लिपि का प्रभाव है और मूलतः इसको दाहिने से बाएँ लिखने की प्रणाली भी सामी ही है तथापि मुख्यरूप में, ब्राह्मी के सम्बन्ध में जो बात स्वीकृत की गई थी वह सम्भवतः इसके वर्णात्मक-रूप में लिखने की पद्धति थी।

(२) कुछ विद्वानों का यह मत है कि चूँकि भारतीय-लिपि का रूप अक्षरात्मक है, अतएव यह वर्णात्मक-लिपि से नहीं प्रसूत हुई होगी, क्योंकि प्रगति के क्षेत्र में वर्णात्मक-लिपि का स्थान, अक्षरात्मक की अपेक्षा ऊँचा है। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि ये विद्वान् यह बात प्रायः भूल जाते हैं कि सामी-लिपि में स्वरों का अभाव रहता है और जहाँ लिखावट में, सामी-लिपि में, स्वर छोड़ा जा सकता है, वहाँ भारोपीय-भाषाओं में इनका उपयोग आवश्यक होता है। ग्रीक-लोगों ने इस समस्या का समाधान सफलतापूर्वक किया था, किन्तु भारतीय इसमें सफल न हो सके। सम्भवतः इसका कारण यह था कि ब्राह्मी के अन्वेषक, वर्णात्मक-लिपि के मूलतत्व को समझ न पाए। यह भी सम्भव है कि उन्हें सामी-लिपि अर्द्ध-अक्षरात्मक प्रतीत हुई हो, जैसा कि वह भारोपीय-भाषा-भाषियों को प्रतीत होती है।

उत्तरी सामी-लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त की आलो-

चना के पूर्व, सर्वप्रथम इन दोनों लिपियों की तुलनात्मक-विशेषता के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है।

सामी-लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क हैं—

(१) ये दोनों लिपियाँ एक दूसरे से मिलती हैं।

(२) प्राचीन भारतीय-लिपि चित्रात्मक थी, किन्तु किसी भी वर्णात्मक-लिपि की उत्पत्ति, चित्रात्मक-लिपि से नहीं होती। उधर ज्ञात लिपियों में प्राचीनतम सामी ही है। अतएव अर्द्ध-अक्षरात्मक ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति सामी से ही सम्भव है।

(३) मूलतः, ब्राह्मी भी, सामी की भाँति, दाहिने से बाएँ लिखी जाती थी।

(४) ५०० ई० पू० के लिखावट के नमूने का भारत में अभाव है।

आलोचना

ऊपर के तर्कों पर एक-एक करके विचार करना आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर-पश्चिमी एशिया की फोनेशीय तथा आर्मीय-लिपियों का ब्राह्मी से सादृश्य है, किन्तु केवल इसी के आधार पर यह सिद्ध नहीं होता कि ब्राह्मी की उत्पत्ति इन सामी-लिपियों से हुई है। बूलर ने तो नितान्त विचित्र-ढंग से ब्राह्मी की उत्पत्ति, सामी-लिपि से दी है और यदि उसे स्वीकार कर लिया जाय तो इसकी व्युत्पत्ति केवल फोनेशीय अथवा आर्माइक-लिपि से ही नहीं, अपितु संसार की किसी भी ज्ञात लिपि से दिखलाई जा सकती है।

डा० राजबली पाण्डेय के अनुसार फोनेशीय तथा ब्राह्मी-लिपि में जो साम्य है उसका कारण यह है कि फोनेशीय-लोगों का मूलनिवास भारत ही था और वे लोग यहीं की लिपि अपने साथ ले गए थे। वहाँ सामी-लोगों के बीच रहने के कारण इस लिपि में पर्याप्त अन्तर पड़ गया, किन्तु उनकी लिपि ने भी उत्तरी सामी अथवा आर्माइक-लिपि को प्रभावित किया। वास्तव में इस आर्माइक लिपि ने दक्षिणी-सामी तथा मिस्र की लिपियों को छोड़कर पश्चिमी-एशिया की अन्य लिपियों को प्रभावित किया। इसप्रकार ब्राह्मी की उत्पत्ति फोनेशीय तथा आर्माइक-लिपियों से नहीं हुई, अपितु इन दोनों लिपियों की उत्पत्ति प्राचीन-ब्राह्मी-लिपि से हुई।

जहाँ तक डिरिंगर के दूसरे तर्क का सम्बन्ध है, यह युक्तियुक्त नहीं है कि चित्र-लिपि से वर्णात्मक लिपि का विकास नहीं होता। यह निर्विवाद तथ्य है कि प्राचीन-युग की प्रायः सभी लिपियाँ चित्रात्मक ही थीं। मनुष्य ने सर्वप्रथम चित्रों के द्वारा ही लिखना सीखा। यह दूसरी बात है कि चित्रलिपि के

किन अन्वेषकों ने अपनी लिपियों को विकसित करके उन्हें वर्णात्मकरूप प्रदान किया। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि भारत की प्राचीनतम-लिपि सिन्धु-घाटी की लिपि है, किन्तु यह विशुद्ध चित्रलिपि नहीं है। यह ध्वन्यात्मक एवं अक्षरात्मक-लिपि प्रतीत होती है। अतएव यह तर्क ठीक नहीं है कि ब्राह्मी की उत्पत्ति सिन्धुघाटी लिपि से नहीं हो सकती।

डिरिंगर का तीसरा तर्क यह है कि मूलतः ब्राह्मी दाहिने से बाएँ लिखी जाती थी, अतएव इसकी उत्पत्ति सामी-लिपि से ही हुई होगी। इस तर्क का आधार भी सन्देहपूर्ण है और इस सम्बन्ध में जो सामग्री उपलब्ध है वह भी पर्याप्त नहीं है। जब बूलर ने अपनी इंडियन पैलिओग्राफी नामक पुस्तक लिखी थी तब दाहिने से बाएँ लिखित ब्राह्मी-लिपि के निम्नलिखित-नमूने ही प्राप्त थे—

(१) अशोक के अभिलेखों में केवल कुछ अक्षर।

(२) मध्यप्रदेश के सागर ज़िले के एरण नामक स्थान में कनिंघम द्वारा प्राप्त सिक्के का अभिलेख।

(३) इनके अतिरिक्त मद्रास प्रदेश के यरगुडी नामक स्थान में प्राप्त अशोक के लघु शिलालेख की लिपि।

बूलर ने ऊपर के संख्या १ तथा २ नमूनों को अत्यधिक महत्व दिया और उनके अनुसार ये दोनों शिलालेख उनके सामी-लिपि से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त के सम्पुष्ट करने वाले थे। किन्तु बूलर की यह खोज बहुत सबल नहीं है। सर्वप्रथम ऊपर के दोनों नमूने नितान्त संक्षिप्त एवं थोड़े हैं। इनके विपरीत बाएँ से दाएँ ओर लिखी हुई ब्राह्मी-लिपि के प्रभूत उदाहरण उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि कभी-कभी साँचे बनाने वालों की भूल के कारण भी सिक्कों पर के लेख उलट जाते हैं; अतएव ऐसे लेखों के आधार पर कोई निश्चित-परिणाम नहीं निकाला जा सकता। यही कारण है कि हुल्श और फ्लीट, बूलर के मत को स्वीकार नहीं करते। जहाँ तक यरगुडी के अशोक के लघुलेख का प्रश्न है, यह विचित्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन अक्षरों के काटनेवाले ब्राह्मी-लिपि के लेखन सम्बन्धी कुछ नवीन-प्रयोग में व्यस्त थे। इस लेख की पहली पंक्ति बाएँ से दाएँ ओर और दूसरी पंक्ति दाएँ से बाएँ हलावर्त्तरूप में लिखी गई है। इससे यही प्रतीत होता है कि इस शिलालेख के लेखक एक नए ढंग से लिखने का प्रयोग कर रहे थे। अतएव केवल इस शिलालेख के आधार पर

ही ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति सामी लिपि से मानना युक्ति-संगत न होगा। डिरिंगर का चौथा तर्क भी बहुत युक्ति-संगत नहीं है। चूँकि ३५०० ईसा पूर्व सिंधु लिपि के बाद भारत में ५०० ईसा पूर्व से लिपि के नमूने मिलने प्रारम्भ हुए हैं अतएव इस बीच के काल में लिपि के नमूने न मिलने से यह कैसे मान लिया जाय कि कहीं इसप्रकार के नमूने थे ही नहीं। इस बात की बहुत संभावना है कि भारत की आर्द्र-जलवायु तथा नदियों की बाढ़ के कारण लिपि-सम्बन्धी बहुत से नमूने नष्ट हो गए होंगे। जहाँ तक साहित्यिक-प्रमाण का प्रश्न है भारतीय-साहित्य में इसप्रकार के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनसे यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि यहाँ के लोग बौद्ध-युग के बहुत पहले से ही लिखना जानते थे। इस बात को प्रकारान्तर से बूलर ने भी स्वीकार किया है। सिंधु घाटी के दो-शिलालेख मिले हैं। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन-युग में विनष्ट होने वाली कोमल वस्तुओं पर भी लिखा जाता था। इस परिस्थिति में ब्राह्मी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अन्वेषण करने के लिए किसी विदेशी-लिपि की ओर जाना उचित नहीं प्रतीत होता।

अन्य किसी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति की खोज करने के पूर्व, इसकी निम्नलिखित-विशेषताओं पर भी ध्यान देना आवश्यक है—

(१) प्रायः सभी उच्चरित-ध्वनियों के लिए ब्राह्मी में निश्चित-चिह्न अथवा प्रतीक हैं।

(२) इसमें वर्णों का उच्चारण ठीक उसीरूप से होता है जिसरूप में वे लिखे जाते हैं।

(३) इसमें स्वरों एवं व्यञ्जनों की संख्या पर्याप्त है।

(४) ह्रस्व एवं दीर्घ-स्वरों के लिए इसमें भिन्न-भिन्न चिह्न हैं।

(५) इसमें अनुस्वार अनुनासिक एवं विसर्ग के चिह्न भी हैं।

(६) उच्चारण-स्थान के अनुसार इसमें वर्णों का ध्वन्यात्मक वर्गीकरण है।

(७) इसमें स्वरों और व्यञ्जनों का संयोग मात्राओं द्वारा होता है।

ऊपर की विशेषताओं से सम्पन्न ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति सामी से सम्भव नहीं जान पड़ती, क्योंकि इन विशिष्टताओं का सामी-लिपि में सर्वथा अभाव है। उत्तरी सामी-लिपि में तो अठारह-ध्वनियों के लिए बाइस ध्वनि-चिह्न हैं। इसमें वर्णों के रूप तथा उनके उच्चारण में भी एकता नहीं है। इसमें एक ध्वनि के लिए कई वर्ण हैं। इसमें न तो ह्रस्व तथा दीर्घ-स्वरों के लिए ही

कोई चिह्न है और न अनुस्वार एवं विसर्ग के लिए ही कोई प्रतीक है। इसमें स्वरों की संख्या भी कम है और व्यञ्जनों के साथ स्वरों का संयोग भी इसरूप में होता है कि उसे विभिन्न-रूपों में पढ़ा जा सकता है। ऐसी अपूर्ण-लिपि से ब्राह्मी जैसी पूर्ण-लिपि का उद्भव नहीं हो सकता।

बूलर ने ब्राह्मी की ध्वन्यात्मक तथा व्याकरण-सम्बन्धी श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए यह स्वीकार किया है कि इसके प्राचीन-निर्माता भारतीय ही थे। आप लिखते हैं––"फिर भी, इससे सन्देह नहीं कि ब्राह्मी के प्राचीनतम उपलब्ध रूप, विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा निर्मित हुए।"

ब्राह्मी-लिपि के स्वरों और व्यञ्जनों की पर्याप्त-संख्या एवं उच्चारण-स्थान के अनुसार उसका विभिन्न-वर्गों में वर्गीकरण, यह स्पष्टरूप से प्रमाणित करता है कि इसके निर्माण में भाषा-शास्त्र तथा व्याकरण में निष्णात ब्राह्मणों का हाथ था। इस लिपि की उद्भावना भी व्यवसायिक-सुविधा के लिए नहीं हुई थी अपितु पवित्र वैदिक-साहित्य को लिपिबद्ध करने के लिए ही उसका निर्माण हुआ था। इसका प्राचीनतमरूप सिन्धुघाटी-लिपि में उपलब्ध है और वस्तुतः यही लिपि चित्र, भाव तथा ध्वन्यात्मक-लिपि की विभिन्न-अवस्थाओं से होती हुई ब्राह्मी-लिपि में परिणत हुई थी।

ब्राह्मी का विकास एवं प्रसार

मौर्य-युग की ब्राह्मी-लिपि के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में ही ब्राह्मी, लिखावट की कला में, पूर्णता प्राप्त कर चुकी थी, क्योंकि इसके द्वारा ध्वनियों का विश्लेषण हो जाता है; किन्तु इस लिपि में लिखित प्राकृत-शब्दों को देखने से ज्ञात होता है कि द्वित्व-व्यञ्जन वर्णों को लिखने में यह लिपि समर्थ न थी। उदाहरणस्वरूप वस्स शब्द, इस लिपि में, वस या वास रूप में लिखा जाता था।

भारतीय-संस्कृति के प्रतीक स्वरूप वस्तुतः ब्राह्मी-लिपि ही भारत के विविध-प्रदेशों एवं भारत के बाहर विदेशों में फैली। प्राचीन एवं बाद के मौर्य एवं शुङ्ग युग की ब्राह्मी, चौथी शताब्दि में, गुप्त-ब्राह्मी में परिणत हुई। यह गुप्त-युग की ब्राह्मी ही भारतीय-धर्म-प्रचारकों द्वारा मध्य-एशिया पहुँची, जिसमें वहाँ की पुरानी-खोतनी तथा इरानी एवं तोखारी-भाषाएँ लिखी गईं।

गुप्त-युग की पश्चिमी-शाखा की पूर्वी-उपशाखा से, छठीं शताब्दि में, सिद्धमात्रिका-लिपि का विकास हुआ। इसके आकार के कारण बूलर ने

इसका नाम 'न्यून कोणीय लिपि' भी रखा है। सन् ५८८-८९ ई० का बोध-गया का प्रसिद्ध लेख, सिद्धमात्रिका-लिपि में ही है।

सातवीं शताब्दि में, गुप्त ब्राह्मी में परिवर्तन हुआ। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् तो उत्तरी-भारत की राजनैतिक-एकता छिन्न-भिन्न हो गई जिसके परिणामस्वरूप उत्तरी-भारत में अनेक स्वतंत्रराज्य स्थापित हो गए। इसका प्रभाव लिपि पर भी पड़ा। उत्तरी भारत की लिपि निम्नलिखित तीन-प्रकार की लिपियों में विभक्त हो गई। ये हैं—[क] शारदा [ख] नागर तथा [ग] कुटिल। इन तीनों-लिपियों से ही उत्तरी-भारत की आधुनिक-युग की लिपियाँ प्रसूत हुई हैं। इनके सम्बन्ध में नीचे विचार किया जाता है।

[क] शारदा

इस लिपि का प्रचार एवं प्रसार उत्तरी-पश्चिमी-भारत, कश्मीर, पंजाब तथा सिंध में हुआ। स्थानीय-भेद के अनुसार इस लिपि के तीन स्वरूप—टक्री, लण्डा तथा गुरुमुखी मिलते हैं। ग्रियर्सन के अनुसार तो शारदा, टक्री और लण्डा वस्तुतः भगिनी-स्वरूपा लिपियाँ हैं। अर्थात् इन तीनों की उत्पत्ति एक लिपि से हुई है। किन्तु बूलर के अनुसार टक्री अथवा टक्करि की उत्पत्ति शारदा लिपि से हुई है और यह टक्क लोगों की लिपि है। टक्क-जाति के लोग किसी समय प्राचीन साकल तथा आधुनिक स्यालकोट में निवास करते थे। इसका प्रचलन निम्नश्रेणी के व्यापारियों में है। महाजनी-लिपि की भाँति इसके स्वर अपूर्ण हैं। इससे प्रसूत अनेक-रूप, पंजाब के उत्तर तथा हिमालय के निचले प्रदेशों में प्रचलित है।

डोग्रीलिपि

इसका प्रयोग पंजाबी की डोग्री-भाषा के लिखने में होता है। यह भाषा जम्मू राज्य के आस-पास प्रचलित है।

चमेआली-लिपि

इस लिपि का प्रयोग चम्बा प्रदेश की पश्चिमी-पहाड़ी-भाषा, चमेआली, के लिखने में होता है। चमेआली भाषा-भाषियों की संख्या ६५,००० के लगभग है। जहाँ तक स्वरों का सम्बन्ध है, चमेआली में इनकी संख्या पर्याप्त है और यह देवनागरी-लिपि की भाँति ही बहुत अंशों में पूर्ण है। छपाई में भी इसका प्रयोग होता है। साथ ही चमेआली में अनूदित-बाइबिल के कुछ अंश भी इसमें प्रकाशित हुए हैं। मंडेआली-लिपि का प्रयोग मंडी तथा सुकेत के राज्यों में होता

है। मंडेआली भाषा-भाषियों की संख्या मंडी-राज्य में डेढ़ लाख तथा सुकेत-राज्य में ५५,००० है।

सिरमौरी-लिपि

यह भी टक्री लिपि की ही एक उपशाखा है जो पश्चिमी-पहाड़ी की सिरमौरी बोली के लिखने में प्रयुक्त होती है। सिरमौरी बोलनेवालों की संख्या सवा लाख के लगभग हैं। सिरमौरी-लिपि पर देवनागरी-लिपि का प्रभाव स्पष्ट है।

जौनसारी लिपि

सिरमौरी-लिपि से यह लिपि बहुत मिलती जुलती है। यह उत्तर प्रदेश के पहाड़ी-प्रदेश-जौनसार बावर में प्रचलित है। जौनसारी-भाषा की गणना भी पश्चिमी-पहाड़ी के अन्तर्गत है। उसके बोलनेवालों की संख्या ५०,००० के लगभग है। इस प्रदेश में देवनागरी-लिपि का भी प्रयोग होता है।

कोछी-लिपि

इस लिपि का प्रयोग, शिमला-पर्वत की पश्चिमी-पहाड़ी बोली, किउठाली को उपभाषा, कोछी के लिए होता है। यह लिपि भी टक्री का ही एक भेद है। कोछी-भाषा-भाषिओं की संख्या बावन हज़ार के लगभग है। स्वरों की अव्यवस्था के कारण यह लिपि भी बहुत कुछ अपूर्ण है।

कुल्लुई-लिपि

यह कुल्लूघाटी (पञ्जाब) में प्रचलित है। कुल्लुई-भाषा की गणना भी पश्चिमी-पहाड़ी के अन्तर्गत है। इसके बोलनेवालों की संख्या ५५ हज़ार है।

कश्टवारी-लिपि

ग्रियर्सन के अनुसार यह लिपि टक्री तथा शारदा के बीच की कड़ी है। कश्टवारी बोली को लिखने के लिए यह लिपि प्रयुक्त होती है। कश्मीर के दक्षिणपूर्व में, कश्टवार की घाटी में, कश्टवारी बोली का क्षेत्र है। यह मूलतः कश्मीरी की ही एक उपभाषा है, किन्तु इस पर पहाड़ी तथा लहंदा का अत्यधिक-प्रभाव है।

लंडा-लिपि

लंडालिपि का प्रचार पञ्जाब तथा सिन्ध में है। यद्यपि यह यहाँ की राष्ट्रीय-लिपि है, तथापि इसका सर्वाधिक-प्रचार व्यवसायियों तथा दूकानदारों में ही है। लण्डा-लिपि का प्रयोग लहंदा तथा सिन्धी-बोलियों के लिखने के लिये होता है। लहंदा भाषा-भाषियों की संख्या ७० लाख तथा सिन्धी बोलनेवालों की संख्या ३५ लाख के लगभग है। टक्री तथा महाजनी-लिपियों की भाँति ही लंडा-

लिपि का पढ़ना भी कठिन है। इसके कई स्थानीय-भेद हैं। टक्री की तरह यह भी अपूर्ण-लिपि है और इसमें भी स्वरों के प्रयोग के सम्बन्ध में अत्यधिक अव्यवस्था है।

मुल्तानी-लिपि

लंडा-लिपि के अनेक स्थानीय-भेद हैं। इन्हीं में से मुल्तानी भी एक है। लहंदा की २२ बोलियों में मुल्तानी का प्रमुख स्थान है। मुल्तानी बोलने-वालों की संख्या २५ लाख है।

सिन्धी-लिपि

आज से सौ वर्ष पूर्व प्रकाशित, जार्ज स्टैक के सिन्धी-व्याकरण में, लंडा से प्रसूत, एक दर्जन बोलियों का उल्लेख है। इनमें हैदराबाद में प्रचलित खुडवाडी लिपि मुख्य है और प्रायः देश भर के व्यापारी इस लिपि का प्रयोग करते हैं। सिन्ध में प्रचलित लंडा-लिपि को बनिया या वानिको कहते हैं। सन् १८६८ में यह सरकारी लिपि बन गई। सिन्ध में स्कूली पुस्तकों की छपाई के लिए भी इस लिपि का प्रयोग होता है। सिन्ध के लगभग ३० लाख मुसल-मान अरबी-फारसी लिपि का प्रयोग करते हैं। इधर पाकिस्तान के निर्माण के बाद, सिन्धी-लिपि केवल कुछ हिन्दुओं में ही सीमित है और सिन्धी तथा बाहर से गए हुए मुसलमान, अरबी-फारसी-लिपि का ही प्रयोग करते हैं।

गुरुमुखी-लिपि

लंडा-लिपि में ही कतिपय सुधार करके, सिक्खों के दूसरे गुरु श्री अंगद [१५३८-५२] ने गुरुमुखी-लिपि का निर्माण किया। कुछ लोग भ्रमवश इसे पंजाबी-लिपि भी मानते हैं। आजकल पंजाबी लिखने के लिए भी इस लिपि का प्रयोग होता है। इसके प्रयोग करने वाले भी प्रायः सिक्ख ही हैं। पंजाब के हिन्दुओं में देवनागरी का ही प्रचार है।

[ख] नागर-लिपि

इसे नागरी अथवा देवनागरी-लिपि भी कहते हैं। प्राचीन-काल में पश्चिमी-उत्तरप्रदेश, गुजरात, राजस्थान एवं महाराष्ट्र में इसका प्रचार एवं प्रसार था। नागरी का मूल अर्थ क्या है यह निश्चितरूप से कहना कठिन है। कतिपय विद्वानों के अनुसार बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ललित-विस्तर' की नाग-लिपि ही नागरी है; किन्तु डा० एल० डी० बार्नेट के अनुसार नाग-लिपि तथा नागरी में कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ लोग गुजरात के नागर-ब्राह्मणों से

इसका सम्बन्ध स्थापित करते हैं, किन्तु अन्यलोग इसका सम्बन्ध नगर से बतलाते हैं। चूँकि देवभाषा, संस्कृत के लिखने के लिए भी इसका प्रयोग किया गया, अतः इसे देवनागरी नाम से भी अभिहित किया गया।

मध्यदेश की लिपि होने के कारण देवनागरी अत्यन्त महत्वपूर्ण-लिपि है। इसमें लिखित सबसे प्राचीन-लेख सातवीं-आठवीं शताब्दि के हैं। ग्यारहवीं-शताब्दि तक यह लिपि पूर्णता प्राप्त कर चुकी थी और उत्तरी-भारत में इसका सर्वत्र बोलबाला था। गुजरात, राजस्थान तथा महाराष्ट्र में, इसमें ताड़पत्र पर लिखे हुए अनेक प्राचीन-हस्तलिखित-ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं।

देवनागरी-अर्द्ध-अक्षरात्मक-लिपि है। इसमें ४८ चिह्न हैं जिनमें से १४ स्वरों एवं सन्ध्यक्षरों तथा ३४ मूल-व्यञ्जनों की संख्या है। इन व्यंजनों को ही अक्षर कहते हैं। इसके व्यंजन सात वर्गों, कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, ओष्ठ्य अर्द्ध-स्वर तथा ऊष्म तथा अनस्थ में विभाजित हैं। इसप्रकार अपनी सर्वांङ्गपूर्णता से नागरी-लिपि भारत की सर्वाधिक प्रचलित एवं प्रतिष्ठित लिपि है। भारत के संविधान में इसे राष्ट्रलिपि के पद पर आसीन किया गया है और संस्कृत तथा संस्कृत लिखने के लिए प्रयुक्त होने के कारण यह निखिल-भारतीय-लिपि है। भारत की एकता के लिए आज यह सोचा जा रहा है कि इसी लिपि में सभी प्रादेशिक-भाषाएँ लिखी जायँ।

पश्चिमी-हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, मध्य-भारत, मध्य-प्रदेश, एवं हिमाचल-प्रदेशों की बोलियों के अतिरिक्त बिहार की बोलियाँ तथा वहाँ की अनार्य-भाषाओं, मुण्डा और संथाली लिखने के लिए भी आज नागरी-लिपि का प्रयोग हो रहा है।

गुजराती-लिपि

गुजरात में तीन-प्रकार की लिपियाँ प्रयुक्त होती हैं—(१) देव-नागरी, जो पहले पुस्तकों की छपाई में प्रयुक्त होती थी किन्तु अब इसका स्थान गुज़राती लिपि ने ले लिया है। (२) गुजराती-लिपि—यह गुजरात की स्वीकृत-लिपि है और समस्त सरकारी कार्यालयों तथा पुस्तकों की छपाई में भी इसका प्रयोग होता है। (३) बनियाई (सं०-वणिक) या सराफी (=सर्राफ़) अथवा बोडिया (बोडी=मोड़ी) लिपि—इस लिपि का प्रयोग दूकानदार तथा व्यवसायी-लोग करते हैं। इसमें मध्य में, प्रयुक्त होने वाले स्वरों की बड़ी अव्यवस्था है। यही कारण है कि शुद्ध-रीति से इसे पढ़ने में बड़ी कठिनाई होती है।

महाजनी-लिपि

समस्त राजस्थान में पुस्तकों की छपाई आदि में, देवनागरी-लिपि का ही प्रयोग होता है। किन्तु यहाँ के व्यवसायी-लोगों में मारवाड़ी अथवा महाजनी लिपि प्रचलित है। बहीखातों तथा हिसाब-किताब में इसी लिपि का प्रयोग होता है। देवनागरी-लिपि से ही यह लिपि प्रसूत हुई है। यह शीघ्र-लिपि की भाँति लिखी जाती है और लिखते समय इसमें स्वर प्रायः छोड़ दिए जाते हैं जिसके कारण इसका पढ़ना अत्यधिक दुरूह हो जाता है।

महाजनी-लिपि के कई स्थानीय-भेद हैं जिनमें से एक मध्यप्रदेश की मालवी बोली के लिखने में प्रयुक्त होती है।

मोड़ी-लिपि

महाराष्ट्र में छपाई आदि में नागरी-लिपि का ही प्रयोग होता है। किन्तु त्वरा-लेखन के लिए यहाँ मोड़ी-लिपि भी प्रचलित है। इसके आविष्कर्ता शिवा जी के चिटणीश, बालाजी आवाजी (सन् १६२७-१६८०) बतलाए जाते हैं; किन्तु मोड़ी में लिखित कई कागज़-पत्र इसके पहले के भी उपलब्ध हुए हैं, जिससे प्रतीत होता है कि यह लिपि भी बहुत पहले से महाराष्ट्र-देश में प्रचलित थी।

कोंकणी बोली कोंकण तथा गोआ में प्रचलित है। यह प्रायः कन्नड़-लिपि में लिखी जाती है, किन्तु वहाँ के रोमन-कैथलिकों में प्रायः रोमन-लिपि ही प्रचलित है।

[ग] कुटिल-लिपि

इस लिपि का प्रचार पूर्वी-उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल, आसाम, उड़ीसा मनीपुर तथा नेपाल में हुआ। तिरछे तथा टेढ़े मेढ़े ढंग से लिखने के कारण इसका नाम कुटिल-लिपि पड़ा।

बिहारी-लिपि—भाषा की दृष्टि से पूर्वी-उत्तरप्रदेश, पश्चिमी-बिहार का ही एक भाग है। आजकल बिहार में पुस्तकों की छपाई तथा साधारणतया लिखने में भी नागरी-लिपि का ही प्रयोग होता है। किन्तु बिहार की प्रचलित लिपि कैथी है। चूँकि इधर सरकारी-कार्यालयों में लिखने पढ़ने का सबसे अधिक कार्य कायस्थ-जाति के लोग ही करते रहे, अतएव इस लिपि का नामकरण कैथी लिपि किया गया। इसके तीन स्थानीय भेद हैं।

(१) तिरहुता कैथी-लिपि— जिसका प्रयोग तिरहुत के लोग करते हैं। यह बहुत सुन्दर लिपि है।

२—भोजपुरी-कैथी-लिपि—भोजपुरी-बोली के लिखने में इस लिपि का प्रयोग होता है। भोजपुरी-बोली पूर्वी-उत्तरप्रदेश तथा बिहार की मुख्य बोली है। इस प्रदेश में प्रचलित कैथी, नागरी से बहुत मिलती जुलती है। अतएव इसके पढ़ने में विशेष कठिनाई नहीं होती।

३—मगही-कैथी-लिपि—यह बिहार की एक अन्य बोली, मगही के लिखने में प्रयुक्त होती है। पटना तथा गया ज़िलों में इसका सर्वाधिक-प्रचार है। पहले छपाई में भी इस लिपि का प्रयोग होता था, किन्तु अब इसका स्थान नागरी-लिपि ने ले लिया है।

४—मैथिली-लिपि—उत्तर-बिहार की बिहारी-भाषा की, मैथिली बोली के लिखने के लिए इस लिपि का प्रयोग होता है। इसे तिरहुती-लिपि भी कहते हैं। बिहार के इस अंचल में तीन-प्रकार की लिपियाँ लिखने में प्रयुक्त होती है।

१—देवनागरी – साहित्यिक-मैथिली तथा हिन्दी के लिखने तथा छापे में इस लिपि का प्रयोग होता है।

२—तिरहुती कैथी-लिपि—इसके सम्बन्ध में ऊपर लिखा जा चुका है।

३—मैथिली-लिपि—इसका प्रयोग केवल मैथिल-ब्राह्मणों तक सीमित है। ब्राह्मणेतर-जातियाँ इसका प्रयोग नहीं करतीं। यह लिपि बंगला-लिपि से बहुत मिलती-जुलती है किन्तु यह पढ़ने में बँगला की अपेक्षा कठिन है।

बँगला-लिपि

बूलर के अनुसार प्राचीन-बँगला-लिपि का उद्भव, ११वीं शती में भारत के पूर्वी-अंचल में प्रचलित, नागरी-लिपि से हुआ था। श्री एस० एन० चक्रवर्ती [इस सम्बन्ध में देखो, बंगाल की रायल एशियाटिक सोसाइटी, भाग ४, सन् १६३८, पृ० ३५१-३६१] के अनुसार प्राचीन-बँगला-लिपि का विकास, सातवीं शती की उत्तर-भारत की लिपि से हुआ। यह लिपि जौहरियों [सोने-हीरे के व्यवसायियों] में प्रचलित थी। फरीदपुर (बंगाल) के दानपत्र में इस लिपि का प्रयोग हुआ है। सातवीं से नवीं शती तक, यह लिपि, स्वतन्त्र-रूप से, बंगाल में विकसित होती रही। दसवीं शती में, इस पर नागरी-लिपि का भी प्रभाव पड़ा और इसप्रकार प्राचीन-बँगला-लिपि के रूप में एक नवीन-लिपि अस्तित्व में आई। प्राचीन-बँगला-लिपि में ११वीं, १२वीं शती की हस्त-लिखित-पुस्तकें प्राप्त हैं। १५-१६वीं शती तक बँगला-लिपि पूर्णतया विकसित हो गई थी। बँगला-वर्णों की संख्या तथा उनका क्रम भी ठीक देवनागरी का ही है।

असमिया-लिपि

यह बँगला लिपि का ही एक भेद है और असमिया-भाषा के लिखने में प्रयुक्त होती है। असमिया भाषा-भाषियों की संख्या २० लाख के लगभग है। असमिया तथा बँगला-लिपियों में मुख्य अन्तर यह है कि असमिया में "र" तथा "व" के रूप भिन्न हैं।

उड़िया-लिपि

उड़िया-लिपि का मूलस्रोत वही है जो बँगला का, किन्तु दक्षिण की तमिळ तथा तेलुगु-लिपियों के प्रभाव से उड़िया की लिखावट विचित्र हो गई है। इसके वर्ण वर्त्तुलाकार हो गए हैं। प्राचीन-काल में, दक्षिण तथा उड़ीसा में, ताड़पत्रों पर लोहे की शलाका से लिखा जाता था। अतएव ताड़पत्रों पर खड़े-खड़े अक्षर लिखने से उनके फट जाने की आशंका रहती थी। इससे बचाने के लिए ही दक्षिण-भारत तथा उड़ीसा की लिपियों का आकार वर्त्तुलाकार बनाया गया। उड़िया-लिपि के आज तीन भेद प्रचलित हैं—

(१) ब्राह्मनी—इसका प्रयोग केवल ताड़पत्रों पर लिखने के लिए होता है। धार्मिक-ग्रंथों के लिखनेवाले ब्राह्मणों तक ही, प्रायः, यह लिपि सीमित है।

(२) करनी—कागज-पत्रों (दस्तावेजों) के लिखने में यह लिपि प्रयुक्त होती है। इस लिपि के उद्भावक करण कायस्थ हैं।

(३) गंजाम ज़िले के कुछ भाग में जो उड़िया-लिपि प्रचलित है, वह वर्तमान उड़िया-लिपि की अपेक्षा और भी अधिक वर्त्तुलाकार है। इसका मुख्य कारण तेलुगु का अधिक प्रभाव ही है।

प्राचीन-मनीपुरी-लिपि

प्राचीन-मनीपुरी-लिपि की उत्पत्ति भी सम्भवतः बँगला लिपि से ही हुई थी। १७वीं शती में तिब्बती-बर्मी शाखा की भाषा, मनीपुरी को लिखने के लिए इस लिपि का प्रयोग किया गया था। आजकल यह लिपि बहुत कम प्रयोग में है।

प्राचीन-नेपाली अथवा नेवारी

इस लिपि की उत्पत्ति भी प्राचीन-बँगला-लिपि से हुई थी। नेवारी भाषा तिब्बती-हिमालय की एक उपभाषा है। नेपाल के नेवार-बौद्ध हैं और नेवारी में बौद्ध-धर्म सम्बन्धी-साहित्य प्रचुर-मात्रा में उपलब्ध है। नेपाल की राजभाषा गोरखाली है। इसके लिए नागरी-लिपि व्यवहृत होती है।

दक्षिणी-भारत की लिपियाँ

दक्षिणी-भारत में ब्राह्मी लिपि का विकास भिन्न प्रकार से हुआ। इसके दो मुख्य रूप दक्षिण में प्रचलित हुए। इनमें एक था उत्तरी-रूप तथा दूसरा दक्षिणी-रूप। वस्तुतः उत्तरीरूप से ही तेलुगु तथा कन्नड़ लिपियाँ उत्पन्न एवं विकसित हुई हैं।

दक्षिणी-लिपि से, तमिळ देश में प्रचलित-प्राचीन ग्रंथ-लिपि का उद्भव हुआ था। संस्कृत-ग्रंथों के लिखने के लिए ही व्यहृत होने के कारण इस लिपि का नाम ग्रंथ-लिपि पड़ा। इसका प्राचीनरूप वट्टेळुट्टु नाम से प्रख्यात है।

सिंहल [सीलोन] की सिंहली-लिपि का विकास भी ब्राह्मी से स्वतंत्र-रूप में हुआ था।

तिब्बती-लिपि का विकास भी सिद्धमात्रिका तथा कश्मीरी-लिपि से हुआ था। सातवीं-शती की इस लिपि का प्रयोग चीन तथा जापान के बौद्ध आज भी करते हैं।

दक्षिणी-लिपि ही विभिन्न-युगों में हिन्द-चीन [इन्दो-चीन] तथा हिन्देशिया [इन्दोनेशिया] में पहुँची और इसीने वहाँ की लिपियों को जन्म दिया। इन दोनों के सम्मिश्रण तथा विशेषरूप से दक्षिणी-लिपि के प्रभाव से मॉन अथवा तलङ्ग लिपियाँ अस्तित्व में आईं। इस लिपि को १०वीं शती में उत्तरी-ब्रह्मा के मंगोल लोगों ने अपनाया। आधुनिक बर्मी-लिपि इसी से विकसित हुई।

द्वितीय शती, ईस्वी पूर्व की दक्षिणी-लिपि से कम्बोडिया की लिपि उत्पन्न हुई और कुछ परिवर्तन के साथ इससे स्याम की लिपि उत्पन्न हुई।

दक्षिणी-लिपि का ही एक रूप सुमात्रा तथा जावा द्वीपों में पहुँचा तथा इसीसे जावा तथा बाली-द्वीप की लिपियों की उत्पत्ति हुई। सुमात्रा की बटक-लिपि तथा सेलिबीज एवं फिलिपाईंस की लिपियों का जन्म भी इसी दक्षिणी-भारतीय-लिपि से हुआ।

खरोष्ठी

ब्राह्मी के साथ ही साथ भारत में एक अन्य लिपि भी प्रचलित थी जो खरोष्ठी कहलाती थी। प्रसार की दृष्टि से ब्राह्मी तथा खरोष्ठी में मुख्य अन्तर यह था कि ब्राह्मी जहाँ निखिल-भारतीय-लिपि थी वहाँ खरोष्ठी का प्रचार केवल

पश्चिमोत्तर-भारत में ही था। यद्यपि १७५ ई० पू० से १०० ई० के बीच के सिक्कों पर, खरोष्ठी के बहुत नमूने मिले हैं तथापि जब से शाहबाजगढ़ी के पड़ोस में, प्रस्तर पर लिखित अशोक के शिलालेख का अनुवाद खरोष्ठी में उपलब्ध हुआ तब से इस लिपि का महत्त्व बढ़ गया। इसके बाद सर आरेल स्टाइन के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप 'निय' तथा चीनी-तुर्किस्तान में खरोष्ठी में लिखित महत्त्वपूर्ण प्रभूत-सामग्री प्राप्त हुई।

सामी-लिपि की भाँति ही खरोष्ठी-लिपि भी दोषपूर्ण है। इसमें स्वरों की अव्यवस्था तथा दीर्घ-स्वरों का अभाव है। इसमें स्वर, व्यञ्जनों ही पर आश्रित रहते हैं तथा ये स्वर भी ह्रस्व ही हैं।

खरोष्ठी के बैक्ट्रीय, इन्दो-बैक्ट्रीय, आर्य, बैक्ट्रो-पाली, उत्तरीपश्चिमी-भारतीय, काबुलीय आदि कई अन्य नाम भी मिलते हैं, किन्तु इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध खरोष्ठी ही है।

खरोष्ठी नामकरण के कारण

इसके नामकरण के कारणों के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त-मतभेद है। नीचे इस सम्बन्ध में संक्षेप में विचार किया जाता है—

१—इस लिपि का आविष्कर्ता खरोष्ठ नामक कोई व्यक्ति था। खरोष्ठ शब्द का अर्थ गधे का होंठ है।

२—यवन, शब्द तथा तुखार-लोगों की भाँति खरोष्ठ भी जाति-वाचक शब्द है। खरोष्ठ-लोग असभ्य तथा बर्बर थे और उत्तरी-पश्चिमी-भारत के निवासी थे।

३—खरोष्ठी-शब्द, मध्य-एशिया-स्थित, काशगर का ही संस्कृत प्रतिरूप है।

४—खरोष्ठ-शब्द, इरानीय खर-पोस्त शब्द का भारतीय-रूप है। सम्भवतः, गर्दभ-चर्म पर लिखने में, इस लिपि का अधिक प्रयोग होता था।

५—हिब्रू में खरोशेथ शब्द का अर्थ लिखावट है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी से प्राकृत में पहले खरोट्ठ, खरोष्ठी शब्द बने और बाद में इसे संस्कृत रूप देकर खरोष्ठी शब्द बनाया गया।

चीनी-परम्परा के अनुसार इस लिपि का नामकरण, इसके अन्वेषक खरोष्ठ नामक व्यक्ति के नाम पर ही हुआ। परम्परा के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में अन्य-तथ्यों का अभाव है। डा० राजबली पाण्डेय के अनुसार गधे के चलते मुँह के समान अनियमित तथा अव्यवस्थित होने के कारण इस लिपि का नाम

खरोष्ठी पड़ा होगा। (इंडियन पैलिओग्राफी पृ० २५)। किन्तु 'खरोशेथ' से इसकी व्युत्पत्ति अधिक सम्भव जान पड़ती है।

उत्पत्ति

ब्राह्मी की भाँति खरोष्ठी की उत्पत्ति भी विवादास्पद है। बूलर के अनुसार इसकी उत्पत्ति आर्मेइक-लिपि से हुई है। डेविड डिरिंगर इस मत का समर्थन करते हुए अपनी पुस्तक अल्फाबेट [पृ० ३०२] में लिखते हैं—"यह बात प्रायः मान ली गई है कि खरोष्ठी की उत्पत्ति आर्मेइक-लिपि से हुई है। इस सिद्धान्त के दो महत्त्वपूर्ण आधार हैं (१) इन दोनों के कई चिह्नों एवं ध्वनियों में समानता है। (२) दोनों लिपियाँ दाहिने से बाएँ लिखी जाती हैं। तक्षशिला में, तीसरी शती ईस्वी पूर्व का, आर्मेइक में, जो शिलालेख उपलब्ध हुआ है उससे भारत के साथ आर्मेइक-लोगों का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। उत्तरी-पश्चिमी-भारत में खरोष्ठी-लिपि का उद्भव ५०० ई० पू० में हुआ होगा। इस समय यहाँ फ़ारस के लोगों का राज्य था और आर्मेइक भाषा तथा लिपि के प्रचार के लिए यह अनुकूल समय था। ऐसा प्रतीत होता है कि खरोष्ठी के उद्भव में ब्राह्मी का भी कुछ प्रभाव था। यह प्रभाव निम्न-लिखित बातों में, विशेषरूप से, दृष्टिगोचर होता है—

१—इसमें व्यञ्जन के साथ-साथ स्वर-वर्ण भी वृत्त अथवा पड़ी-रेखा के रूप में आते हैं जिससे यह लिपि अक्षरात्मक बन गई है।

२—आर्मेइक लिपि में घ्, ध् तथा भ् वर्णों का अभाव है, किन्तु खरोष्ठी में इसके चिह्न वर्तमान हैं।

३—खरोष्ठी के दाएँ से बाएँ लिखने की प्रणाली पर भी ब्राह्मी लिखावट का प्रभाव है।"

आलोचना—

इसमें सन्देह नहीं कि लिखावट तथा ऊपरी रूपरेखा आदि के सम्बन्ध में खरोष्ठी तथा ब्राह्मी में कुछ सादृश्य अवश्य है, किन्तु यह सादृश्य यहीं तक सीमित भी है। बूलर ने खरोष्ठी के लिपि-चिह्नों की आर्मेइक से उत्पत्ति दिखलाते हुए अत्यधिक कष्ट-कल्पना से काम लिया है। सच बात तो यह है कि संसार की लिपियों के सभी वर्ण, रेखाओं, अर्द्धवृत्तों, वृत्तों आदि से ही सम्पन्न होते हैं और इनमें आवश्यक-परिवर्तन करके किसी भी लिपि के वर्णों का उद्भव अन्य लिपि से सिद्ध किया जा सकता है। बूलर के सिद्धान्त की निस्सारता उस समय और भी स्पष्ट हो जाती जब वह ब्राह्मी की उत्पत्ति आठवीं-दसवीं शती ईसा

पूर्व की आर्मेइक-लिपि से और खरोष्ठो का उद्भव पाँचवीं शती ईसा पूर्व की आर्मेइक लिपि से सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। लिखावट की समता के आधार पर भी खरोष्ठो की उत्पत्ति आर्मेइक से बतलाना ठीक न होगा। भारत जैसे विशाल-देश में दो विभिन्न-प्रकार की—एक बाएँ से दाएँ तथा दूसरी दाएँ से बाएँ लिखी जाने वाली—लिपियों का होना असम्भव नहीं है। खरोष्ठी में दीर्घ-स्वरों के अभाव का यह भी कारण हो सकता है कि प्राकृत के लिखने के लिए ही इसका प्रयोग हुआ है।

जहाँ तक ५०० ई० पू० में, उत्तरी-पश्चिमी-भारत में, फ़ारसवालों के शासन का प्रश्न है, इस सम्बन्ध का न तो खरोष्ठी में कोई शिलालेख उपलब्ध हुआ है और न आर्मेइक में ही। इससे तो यही प्रतीत होता है कि प्रत्यक्षरूप से इस प्रदेश पर फ़ारस वालों का कभी शासन था ही नहीं।

ऊपर की आलोचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आर्मेइक से खरोष्ठी-लिपि की उत्पत्ति सिद्ध करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। जैसा कि डिरिंगर का मत है, इस लिपि पर ब्राह्मी का प्रभाव प्रत्यक्ष है। तब प्रश्न उठता है कि खरोष्ठी का उद्‌भव कैसे हुआ?

भारतीय उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त—पश्चिमी-पण्डितों के तर्क में अधिक तत्व न देखकर इधर भारतीय-विद्वान् खरोष्ठी का उद्‌भव भारत में ही मानने लगे हैं। इस सम्बन्ध में सब से पहली विचारणीय बात खरोष्ठी के उद्‌भव और प्रसार का क्षेत्र है। खरोष्ठी में लिखित अशोक का प्राचीनतम-शिलालेख ३०० ई० पूर्व का है। बाद के अन्य शलिलेख बलूचिस्तान, अफगानिस्तान तथा मध्य-एशिया में प्राप्त हुए हैं। ये शिला-लेख भी उन भारतीयों के द्वारा लिखे गए हैं जो धर्म-प्रचारार्थ अथवा अन्य-कार्यों के सम्बन्ध में इधर गए थे। दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि भारत के बाहर भी इस लिपि का प्रयोग केवल भारतीय-भाषाओं के लिखने के लिए ही किया गया है। दाएँ से बाएँ लिखे जाने पर भी इसकी रूपरेखा भारतीय ही है। इसमें अनुस्वार का भी प्रयोग मिलता है और ब्राह्मी की भाँति ही बहुत अंशों में यह अक्षरात्मक लिपि है।

ऊपर की परिस्थितिओं को ध्यान में रखते हुए ऐसा लगता है कि इस लिपि का उद्‌भव उत्तरी-पश्चिमी-भारत में ही हुआ था। चीनी-परम्परा के अनुसार तो इसका उद्‌भव कर्ता खरोष्ठ नामक भारतीय था। जब उत्तरी-पश्चिमी भारत पर मौर्यों का आधिपत्य हुआ तो उस प्रदेश के शासन के लिए उन्होंने

खरोष्ठी-लिपि अपनाई। इसके बाद बैक्ट्रीय, पार्थीय, शकों तथा कुशाणों ने भी भारतीय-भाषाओं के लिए, ग्रीक के साथ खरोष्ठी-लिपि का व्यवहार किया। बौद्ध-धर्म के प्रसार के साथ-साथ यह लिपि भारत के बाहर के उपनिवेशों में भी जा पहुँची। जब गुप्त-साम्राज्य के अभ्युदय के साथ, भारत-राष्ट्रीय-एकता के सूत्र में आबद्ध होने लगा तो धीरे-धीरे खरोष्ठी का स्थान ब्राह्मी ने ले लिया। इसप्रकार खरोष्ठी का उद्भव और पराभव भारत में ही हुआ।

रोमक-लिपि

भारत में यूरोप वालों के आगमन तथा देश में अंग्रेजी-राज्य के प्रसार के साथ-साथ रोमक अथवा रोमन-लिपि के प्रचार का भी प्रारम्भ हुआ। पहले अंग्रेजी-भाषा के पठन-पाठन तक ही यह लिपि सीमित थी किन्तु धीरे-धीरे ईसाई मिशनरियों ने देशी-भाषाओं के लिखने के लिए भी इस लिपि का व्यवहार प्रारम्भ किया। लन्दन में पालि-ग्रंथों के प्रकाशन का कार्य जब आरम्भ हुआ तथा जब इसके लिए पालि-टेक्स्ट-सोसायटी की स्थापना हुई तब वहाँ यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इसके लिए किस लिपि का व्यवहार किया जाय। पालि की पुस्तकें उस समय बर्मी, सिंहली आदि लिपियों ही में उपलब्ध थीं। अच्छा हुआ होता कि पालि-टेक्स्ट-सोसायटी इस कार्य के लिए नागरी-लिपि का चुनाव करती। किन्तु सोसायटी ने अन्त में रोमन में ही मूल-पालि-ग्रंथों को छापने का निश्चय किया और त्रिपिटक रोमनलिपि में छपा भी।

भारत तथा बाहर के प्राच्य-विद्या-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं ने भी संस्कृत तथा पालि आदि के उद्धरणों को छापने के लिए रोमन-अक्षरों का ही व्यवहार किया और शुद्ध-लिखने के लिए रोमन के स्वरों एवं व्यंजनों में विभिन्न-चिह्नों का प्रयोग किया। उधर भाषा-शास्त्रियों ने भी भारतीय-बोलियों के अध्ययन में विविध-चिह्नों के साथ रोमन-लिपि का प्रयोग किया और अन्तर्राष्ट्रीय-ध्वनि परिषद् (इन्टरनेशनल फोनेटिक् ऐसोशियेशन) ने संसार की विभिन्न-भाषाओं को लिखने के लिए रोमन को नवीन ध्वनि-चिह्नों से सम्पन्न किया। भारतीय-फौजों में नागरी तथा उर्दू-लिपियों का बहिष्कार करके उनके स्थान पर रोमन को बिठाया गया और जब हिन्दू-मुसलमानों के विषम राजनैतिक-दृष्टिकोण के फल-स्वरूप देवनागरी तथा उर्दू-लिपि का प्रश्न राजनीतिज्ञों के सामने आया तो अनेक लोगों ने इससे बचने का मार्ग रोमन-लिपि की स्वीकृति में ही देखा।

जब से देश की स्वतन्त्रता के लिए कांग्रेस ने आन्दोलन प्रारम्भ किया

तब से भारतीय-एकता के प्रश्न पर सबसे अधिक जोर दिया जाने लगा। भारत जैसे विशाल-देश में अनेक भाषाएँ तथा लिपियाँ प्रचलित हैं। राष्ट्रीय-प्रतीष्ठा के अनुकूल एक भाषा तथा एक लिपि का अनुभव राष्ट्रीय-नेताओं को होने लगा। राष्ट्रभाषा का पद तो हिन्दी जैसी देशव्यापी-भाषा को ही देना उचित समझा जाने लगा, किन्तु लिपि का प्रश्न इस मार्ग में फिर भी बाधक था। उधर स्थानीय-लिपियों के रहते हुए भी, नागरी-प्रचारिणी-सभा तथा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन एवं पं० मदन मोहन मालवीय तथा बाबू पुरुषोत्तम दास जी टंडन के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप नागरी-लिपि केवल हिन्दी-प्रदेश में ही नहीं अपितु दिल्ली, पंजाब, हिमाचल-प्रदेश, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, विंध्य-प्रदेश, बिहार, मध्यभारत, मध्य-प्रदेश तथा हिन्दी को अपनाने वाले अन्य छोटे-मोटे राज्यों में भी प्रचलित हो गई। महाराष्ट्र में नागरी-लिपि पहले से ही प्रचलित थी और संस्कृत के साथ-साथ अन्य राज्यों में भी इस लिपि का प्रचार एवं प्रसार हो चुका था, किन्तु यह होते हुए भी कई विशेषताओं के कारण रोमन-लिपि की ओर कुछ विद्वानों का झुकाव रहा। प्रसिद्ध भाषा शास्त्री डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने सन् १९३५ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के जर्नल, डिपार्टमेन्ट ऑफ लेटर्स, भाग २७ में, 'भारत के लिए रोमन-लिपि' (रोमन अल्फाबेट फॉर इंडिया) शीर्षक निबन्ध प्रकाशित किया। इसमें डा० चटर्जी ने भारत की समस्त भाषाओं को रोमन-लिपि में लिखने की नवीन-प्रणाली बतलाई। डा० चटर्जी का यह निबन्ध नितान्त-वैज्ञानिक है अतएव इसने देश के अनेक राष्ट्रीय-नेताओं तथा विद्वानों का भी ध्यान आकर्षित किया। रोमन-लिपि के सम्बन्ध में डा० चटर्जी के निम्नलिखित-तर्क द्रष्टव्य हैं।

(१) आज भारत में अनेक लिपियाँ प्रचलित हैं। ये हैं—देवनागरी, बँगला, गुजराती, कैथी, गुरुमुखी, उड़िया, तेलुगु, कन्नड़ तमिळ, मलयालम, आदि। इनमें देवनागरी-लिपि सर्वाधिक प्रसिद्ध है, क्योंकि संस्कृत लिखने के लिए आजकल प्रायः समस्त-भारत में इसी लिपि का प्रयोग किया जाता है।

(२) उर्दू तथा सिन्धी के लिए फ़ारसी-अरबी लिपि का प्रयोग होता है।

(३) गोआ के इसाई, कोंकणी के लिए रोमन-लिपि का प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त फौज तथा उत्तरी-भारत के इसाईयों में भी रोमन-लिपि प्रचलित है।

ऊपर की लिपियों में नं० २ अर्थात् फ़ारसी-अरबी लिपि के सम्बन्ध में विचार ही नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह नितान्त अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक-

लिपि है। इसमें स्वरों का कोई मूल्य नहीं है तथा कई व्यंजनों का रूप भी एक ही तरह का है और केवल नुक्तों के द्वारा व्यञ्जनों का अन्तर स्पष्ट किया जाता है।

नं० १ की प्रादेशिक-लिपियों में केवल देवनागरी ही एक ऐसी लिपि है जिसे राष्ट्रीय-लिपि कहा जा सकता है। पहले संस्कृत, प्रादेशिक-लिपियों में ही लिखी जाती थी, किन्तु, इधर, संस्कृत लिखने के लिए तो देवनागरी, निखिल-भारतीय-लिपि बन गई है। डा० चटर्जी के अनुसार देवनागरी तथा ब्राह्मी से प्रसूत अन्य-लिपियों में निम्नलिखित-त्रुटियाँ दीख पड़ती हैं और इनमें सुधार की गुंजायश है—

(१) लिखावट में, देवनागरी तथा अन्य भारतीय-लिपियाँ रोमन की अपेक्षा अधिक जटिल हैं।

(२) देवनागरी अक्षरात्मक-लिपि है, रोमन की भाँति वर्णात्मक नहीं।

(३) संयुक्त-वर्णों को देवनागरी में, लिखने में, कठिनाई होती है, क्योंकि कभी-कभी तो इसके लिए वर्णों के आधे-रूप को ही लेना पड़ता है तथा कभी-कभी वर्णों का नया रूप ही आ जाता है।

ऊपर की त्रुटियों के सम्बन्ध में विचार करते हुए डा० चटर्जी लिखते हैं—संसार की लिपियों में, भारतीय-लिपियों की यह विशेषता उल्लेखनीय है कि इनके वर्णों के क्रम नितान्त वैज्ञानिक हैं। [स्वरों के अतिरिक्त इनके व्यञ्जन-वर्ण कंठ, तालु, मूर्धा, दन्त तथा ओष्ठ से उच्चरित होने वाले कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग में विभक्त हैं।] जिन लोगों ने वर्णों को इस क्रम में सजाया था अथवा जिन लोगों ने यह वर्णमाला तैयार की थी, वे वास्तव में उत्कृष्ट ध्वनि-शास्त्री थे। किन्तु इसके साथ ही साथ विभिन्न भारतीय-लिपियों के वर्णों के रूपों की कठिनाई भी कम नहीं है। सच बात तो यह है कि ईसा पूर्व तीसरी-शताब्दि की ब्राह्मी-लिपि आज की नागरी तथा अन्य प्रादेशिक-लिपियों की अपेक्षा अधिक सरल थी। उदाहरण-स्वरूप मौर्य ब्राह्मी का + [क] आज की देवनागरी, बँगला, गुजराती तथा अन्य प्रादेशिक लिपियों की अपेक्षा सरल था। यही बात ब्राह्मी 'ख' एवं 'ग' के रूपों एवं अन्य वर्णों के सम्बन्ध में भी है।

वैज्ञानिक-लिपि की वस्तुतः दो विशेषताएं होती हैं। इनमें से एक तो यह है कि इसके द्वारा शुद्ध लिखा जाय; दूसरी विशेषता यह है कि जो कुछ लिखा जाय उसकी ध्वनियों का विश्लेषण हो सके। यह तभी सम्भव है जब

लिपि विशुद्ध-वर्णात्मक हो। नागरी-लिपि वस्तुतः अर्द्ध-अक्षरात्मक है। इसके द्वारा शुद्ध तो लिखा जाता है और ध्वनि का विश्लेषण भी हो जाता है, किन्तु जितनी सुन्दरता के साथ विश्लेषण का कार्य वर्णात्मक-लिपि के द्वारा सम्पन्न होता है उतनी सुन्दरता से नागराक्षरों द्वारा यह सम्भव नहीं है। उदाहरणस्वरूप धर्म, तथा सह्य शब्दों को नागराक्षरों तथा रोमन-लिपियों में लिखकर उनकी ध्वनियों का विश्लेषणात्मक-अध्ययन किया जा सकता है। इन दोनों शब्दों को क्रमशः ध – र्म = dha-rma एवं स-ह्य = sa-hya रूप में नागराक्षरों में लिखा जाता है। इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि अर्द्ध-अक्षरात्मक-लिपि होने के कारण नागरी-लिखावट में र्म तथा ह्य ध्वनियाँ समूहों में आती हैं और इस-कारण धातुओं तथा प्रत्ययों का स्पष्टरूप से विश्लेषणात्मक-ज्ञान नहीं हो पाता। वास्तव में इन दोनों शब्दों में 'धर्' एवं 'सह्' धातुएँ तथा 'म' एवं 'य' प्रत्यय हैं। इन दोनों-शब्दों को रोमन में लिखने से धातु एवं प्रत्यय का विश्लेषणात्मक-ज्ञान हो जाता है; यथा, dhar-ma = धर्-म तथा sah-ya = सह् – य। बात यह है कि रोमन में वर्ण या प्रतीक एक के बाद दूसरे आते जाते हैं और वे ध्वनि-क्रम से ही आते हैं। इसके साथ ही, रोमन-लिपि में, वर्णों के पूर्णरूप लिखावट में आते हैं। किन्तु रोमन-लिपि में भी दो बड़े दोष हैं। इन में एक तो यह है कि इसके वर्णों का नाम तो एक है किन्तु वे प्रतिनिधित्व किसी दूसरी ध्वनि का करते हैं। उदाहरण स्वरूप A = 'ए' तथा K = 'के', क्रमशः 'अ' तथा 'क्' ध्वनियों के प्रतीक हैं। रोमन का दूसरा दोष यह है कि इसके वर्णों की सजावट अवैज्ञानिक है। डा० चटर्जी का मत है कि इन दोनों दोषों को दूर करके भारतीय-भाषाओं के लिखने के लिए रोमन-लिपि अपना लेनी चाहिए। डा० चटर्जी ने अपने निबन्ध में जो लिपि प्रस्तावित की है उसके वर्ण तो रोमन के हैं किन्तु उन्हें भारतीय-उच्चारण क्रम से सजाया गया है। इसप्रकार की लिपि में, आपने भारत की प्रसिद्ध, प्राचीन एवं अर्वा-चीन भाषाओं को, शुद्धरूप में लिखकर प्रदर्शित किया है।

आलोचना--

जहाँ तक पूर्ण वैज्ञानिकता का प्रश्न है, डा० चटर्जी के तर्क अकाट्य हैं; किन्तु यहाँ यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि नागराक्षरों के द्वारा भी ध्वनियों का विश्लेषण हो जाता है। सच बात तो यह है कि भारत की ही नहीं, अपितु भारत के बाहर की बर्मी, सिंहली, स्यामी, तिब्बती तथा एशिया के पूर्वी-द्वीपों की

लिपियाँ भी ब्राह्मी से ही प्रसूत हैं और उनके वर्णों का क्रम भी देवनागरी का ही है। इन सभी लिपियों के स्थान पर रोमन को बिठाने की अपेक्षा यह सरल है कि यह स्थान देवनागरी को प्रदान किया जाय। यदि पूर्वी-एशिया के द्वीपों को छोड़कर भी, केवल विभिन्न भारतीय-लिपियों के स्थानपर देवनागरी का व्यवहार होने लगे, तो भारतीय-भाषाएँ बहुत अंशोंमें एक दूसरे के निकट आ जायँ। आज से लगभग ४०-४५ वर्ष पूर्व जस्टिस शारदाचरण मित्र ने कलकत्ते में एक-लिपि-विस्तार-परिषद् की स्थापना की थी और उसके तत्वावधान में 'देवनागर' पत्र निकालकर समस्त-भारतीय-भाषाओं को नागरी में लिखने का प्रयत्न किया था। मैं समझता हूँ कि इस कार्य के लिए अब उपयुक्त अवसर है। डा० चटर्जी के निबन्ध के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि यह सन् १९३५ ई० में प्रकाशित हुआ था। तब से देश की परिस्थिति बहुत कुछ बदल चुकी है। इधर स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय-जनगण ने एक मत से हिन्दी को राष्ट्रभाषा तथा देवनागरी को राष्ट्रलिपि के पद पर आसीन किया है। यह भारत की प्रतिष्ठा के सर्वथा अनुकूल है। हमारे राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री ने भी, भारतीय-एकता के लिए, समस्त-देश को नागरी-लिपि अपनाने की सलाह दी है। वास्तव में भारतीय-संस्कृति के प्रतीक, नागरी के प्रचार एवं प्रसार में ही इस देश का अभ्युदय है।

नागरीलिपि में सुधार

जैसा पहले लिखा जा चुका है, नागरी तथा भारत की अन्य-लिपियाँ ब्राह्मी से ही विकसित हुई हैं। इस विकास का भी एक लम्बा इतिहास है और इसमें विविध-परिस्थितिओं का भी पूरा योग है। इधर जब नागरी को रोमक-लिपि के मुकाबिले में आना पड़ा तब उसके समक्ष एक नवीन समस्या आ खड़ी हुई। यद्यपि रोमक-लिपि में कई दोष हैं, किन्तु इसमें अनेक ऐसे गुण भी हैं जिससे उसका विश्व में प्रसार होता जा रहा है। इधर तुर्की तथा अफ्रीका के कई प्रदेशों में, जहाँ पहले सामीलिपि प्रचलित थी, रोमक अपना ली गई है। जिस तीव्र-गति से रोमक का प्रचार बढ़ रहा है, उसे देखते हुए ऐसा प्रतीत हो रहा है कि निकट-भविष्य में सामी-लिपि केवल कतिपय विशेषज्ञों तक ही सीमित रह जायेगी और उसका स्थान रोमक-लिपि ग्रहण कर लेगी। वर्णात्मक-लिपि के साथ-साथ रोमक-लिपि की अल्प-संख्या, उसके अति-सरलरूप तथा टङ्कन एवं छपाई की सुविधा ने भी संसार के लोगों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट किया

है। नागरी में टेलीप्रिंटर (जिसके द्वारा समाचार-पत्रों के लिए देश-विदेश के समाचार छप जाते हैं) तथा मोर्सकोड (जिसके द्वारा तार भेजे जाते हैं) के अभाव ने भी, नागरी की अपेक्षा रोमक को ही श्रेष्ठ-लिपि सिद्ध किया है। इस २०वीं शताब्दि में विज्ञान ने एक ओर जहाँ रोमक को छपाई आदि के कार्यों में अनेक सुविधाएँ प्रदान की हैं वहाँ दूसरी ओर नागरी उनसे वंचित है। यह बात नागरी के समर्थकों को बहुत अखरी। फिर क्या था, अनेक व्यक्ति नागरी-लिपि के सुधार के लिए कटिबद्ध हो गए। दुर्भाग्य से इन सुधारकों में कई ऐसे व्यक्ति भी थे जो न तो नागरी के इतिहास एवं परम्परा से ही परिचित थे और न वर्णात्मक तथा अक्षरात्मक-लिपि के अन्तर को ही जानते थे। हाँ, इनमें कुछ लोग ऐसे अवश्य थे जिन्हें टाइप तथा छपाई आदि का पूरा ज्ञान था और इस दृष्टि से वे लिपि-सुधार के सम्बन्ध में जो राय देते थे उसमें पर्याप्त-मात्रा में व्यवहारिकता थी।

यहाँ एक बात और स्मरण रखने योग्य है; नागरी-लिपि के सुधार का कार्य यहाँ उस समय प्रारम्भ हुआ था जब देश परतन्त्र था और जब राज-कार्य में न तो नागरी का व्यवहार ही आवश्यक था और न वह राष्ट्रलिपि के रूप में ही स्वीकृत थी। उस समय चारों ओर यह आवाज सुनाई पड़ती थी कि नागरी, टाइप-राइटर के लिए अयोग्य है, इसके लिखने में गति नहीं है और इसकी छपाई में भी शिथिलता है। इधर विधान द्वारा नागरी के राष्ट्रलिपि घोषित होते ही बिना किसीप्रकार के सुधार के ही इसमें टेलीप्रिंटर तथा मोर्सकोड का आविष्कार हो गया और कई ऐसे नए टाइपराइटर' भी बन गए जिन्हें पर्याप्त सुधरा हुआ तथा सफल कहा जा सकता है। मेरा ऐसा विचार है कि विविध-प्रयोगों के बाद अल्प-सुधार से ही बहुत अंशों में छपाई आदि के लिए, निकट-भविष्य में, नागरी, पूर्ण-लिपि हो जायेगी।

नागरी-लिपि के सुधार का इतिहास तथा इसमें परिवर्तन-सम्बन्धी सुझाव

कदाचित 'अ' को बारहखड़ी [यथा—अ, अा, अि, अी, अु, अू, अे, अै, आदि] का प्रचलन सर्व प्रथम महाराष्ट्र के सावरकार-बन्धुओं ने किया था और व्यवहारिक-रूप में इसे मराठी समाचार-पत्रों ने अपनाया था। उधर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सन् १६३५ के २४वें अधिवेशन, इन्दौर में, राष्ट्रपिता गाँधी जी के सभापतित्व में, नागरी-लिपि में, सुधार के लिए एक छोटी उपसमिति बनाई गई और श्री काका कालेलकर इसके संयोजक नियुक्त किए गए। बापू के मन

में बहुत दिनों से यह बात चल रही थी कि किसीप्रकार यदि देवनागरी-लिपि के वर्णों की संख्या में कुछ कमी हो जाय तो देशकी साक्षरता में उससे सहायता मिले। इसी के परिणामस्वरूप इस समिति का निर्माण भी हुआ। कई वर्षों के निरन्तर उद्योग के बाद सम्मेलन ने निम्नलिखित १४ सुझाओं को स्वीकार किया—

१. लिखने में शिरोरेखा लगाना आवश्यक नहीं है। छपाई में साधारण-रीति से शिरोरेखा लगाना ही नियम रहे। किन्तु विशेष-स्थानों में, अक्षरों की विभिन्नता प्रकट करने के लिए शिरोरेखाहीन अक्षर भी प्रयुक्त हो सकते हैं। सम्मेलन की सिफारिश है कि विशेष या छोटे अक्षरों में जहाँ शिरोरेखा होने से छपाई की स्पष्टता में कमी आ जाती हो, वहाँ शिरोरेखा विहीन अक्षरों का प्रयोग करना अच्छा होगा।

२. प्रत्येक वर्ण, ध्वनि के उच्चारणक्रम से लिखा जाय।

(क) जब तक कोई सन्तोषजनकरूप सामने न आये, तब तक 'इ' की मात्रा अपवाद रूप से वर्तमान पद्धति के अनुसार ही 'ि' लिखी जाय, यथा 'शिर'।

(ख) ए, ऐ की मात्रायें, वर्ण के ठीक ऊपर न लगाकर, दाहिनी-ओर जरा, हटाकर, वर्तमान-पद्धति के अनुसार, ऊपर लगाई जायँ; यथा — दे वता, अने क।
ओ और औ भी ऊपर के सिद्धान्त के अनुसार लिखे जायँ; यथा — अ ोला अ ौरत।

(ग) उ, ऊ, ऋ की मात्रायें अक्षर के बाद आयें और पंक्ति में ही लिखी जायँ; यथा — क ुटिल, प ूजा, स ृष्टि।

(घ) अनुस्वार और अनुनासिक के चिह्न भी अक्षर के बाद ऊपर लिखे जायँ, यथा — अ ंश।

(ङ) रेफ से व्यक्त होनेवाला अर्द्ध 'र' उच्चारण क्रम से, योग्य जगह पर, लिखा जाय, यथा — ध र्म।

(च) संयुक्ताक्षर में द्वितीय 'र' सामान्यरूप से लिखा जाय, यथा — प्र त्र।

(छ) संयुक्ताक्षर में भी, सर्वत्र, वर्ण, उच्चारण-क्रम से एक के पीछे एक लिखे जायँ; यथा — द्‌वारका (द्वारका नहीं), विद्‌वत्ता (विद्वत्ता नहीं)।

३. स्वरों और मात्राओं में समानता तथा सामञ्जस्य करने के लिए 'इ, ई, उ, ऊ' के वर्तमान रूप छोड़कर केवल 'अ' में ही इन स्वरों की मात्राएँ लगाकर इन स्वरों के मूल-स्वरूप का बोध कराया जाय; अर्थात् अ की बारहखड़ी की जाय, यथा—अ, आ, अि, अी, अु, अू, अृ, अे, अै, ओ, औ, अं, अः ।

४. दक्षिण की लिपियों के स्वरों में ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व ओ के स्वरूप आते हैं, उनके लिए ह्रस्व मात्राएँ बनाई जायँ ।

५. पूर्ण अनुस्वार के स्थान पर '°' लगाया जाय और अनुनासिक के लिए केवल बिंदी '·' लिखी जाय; यथा— सि°ह, चांद । व्यंजन के पूर्व हलन्त 'ङ, ञ, ण, न, म' की जगह पर जहाँ प्रतिकूलता न हो, (यथा, वाङ्मय, तन्मय) अनुस्वार लिखा जाय; यथा—च°चल, प°थ, प°प, आदि ।

६. छपने में, अक्षरों के नीचे, बाईं ओर, यदि अनुकूल स्थान पर बिंदी लगाई जाय तो उसका अभिप्राय होगा कि उस अक्षर की ध्वनि, उस अक्षर की मूल-ध्वनि से भिन्न है। उस ध्वनि का निर्णय प्रचलन के अनुसार होगा । यथा—फ़ारसी क़, ख़, ग़, ज़, फ़, मराठी च़, सिंधी ज़, इत्यादि ।

७. विराम-चिह्न, आजकल, सब भारतीय-भाषाओं में जैसे प्रचलित हैं, वैसे ही कायम रखे जायँ । पूर्ण-विराम का चिह्न पाई '।' रहे ।

८. अंकों के स्वरूप इसप्रकार रहें—

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ० ।

९. वर्तमान 'ख' के स्वरूप के परिवर्तन करना आवश्यक है। उसके स्थान पर गुजराती ख 'स्वीकार किया जाय ।

१०. अ, झ, ण की जगह बम्बई के अ, झ, ण रखे जायँ और ळ, श की जगह हिंदी के रूप ल, श रखे जायं । 'क्ष' का 'क्ष' रूप प्रचलित किया जाय । बीजगणित आदि वैज्ञानिक-साहित्य में संज्ञारूप 'क्ष' आ सकता है ।

११. मराठी, गुजराती, कन्नड़, तेलुगु आदि भाषाओं में विशिष्ट-ध्वनि के लिए जो ळ प्रयुक्त होता है, वही रखा जाय, ड या ल से न व्यक्त किया जाय ।

१२. ज्ञ के उच्चारण में प्रान्तीय-भिन्नता होने से ज्ञ का रूप जैसा है, वैसे ही रखा जाय।

१३. संयुक्त-अक्षरों के बनाने के लिए जिन वर्णों में खड़ीपाई अन्तिम भाग में है, जैसे ख, ग, घ, च, ज, ञ, ण, त, थ, ध, न, प, ब, भ म, य, ल, व, श, ष, स उनका संयोज्य-रूप खड़ीपाई हटाकर समझा जाय: यथा ख्, ग्, घ्, च्, ज्, ञ्, ण्, त्, थ्, ध् इत्यादि। क और फ का वर्तमान संयोज्य-रूप क्, फ् स्वीकृत किया जाय।

जिन अक्षरों में खड़ीपाई अन्तिम भाग में नहीं है उनका संयोज्य-रूप चिह्न (-) लगाकर समझा जाय। संयोजक-चिह्न पिछले अक्षर से मिला रहे; यथा—विद्-या, विट-ठल, उच्छ्-वास, बुड-ढा, ब्रह्-मा।

१४. शिरोरेखा हटाकर लिखने में भ और ध को, म और घ से पृथक करने हेतु, भ और ध में गुजराती की तरह घुंडी लगाई जाय।

ऊपर के सुझावों का व्यवहारिक प्रयोग राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति, वर्धा, द्वारा संचालित परीक्षाओं तथा वहाँ से प्रकाशित पुस्तकों में तो हुआ किन्तु जिन प्रदेशों में काव्य-भाषा तथा साहित्यिक-भाषा के रूप में हिन्दी का प्रसार था वहाँ ये सुझाव स्वीकृत न हो सके। इसका सर्वाधिक-विरोध तो काशी के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में हुआ और इसके विरोधियों में प्रमुख-स्थान नागरी-प्रचारिणी-सभा के सदस्यों का था। सम्मेलन के ऊपर के सुझावों में से अधिकांश व्यवहारिक थे, किन्तु उस समय नागरी-प्रचारिणी-सभा तो किसी भी प्रकार के सुधार के लिए तैयार न थी।

काशी सम्मेलन के ठीक दस वर्ष बाद, १९४५ में, न जाने किस प्रेरणा से, नागरी-प्रचारिणी-सभा ने यह निश्चय किया कि उपयोगिता और प्रचार की दृष्टि से वर्तमान नागरी-लिपि में सुधार और पुनःसंस्कार की आवश्यकता है। इसके साथ ही सभा ने सुधार के सम्बन्ध में कतिपय सिद्धान्त भी निर्धारित किया और अपनी ओर से देश के प्रमुख हिन्दी-पत्रों में यह सूचना प्रकाशित की कि इस दिशा में कार्य करने वाले सज्जन और संस्थाएँ अपने-अपने प्रयत्न की सूचना और सामग्री, सभा की समिति के पास भेजने की कृपा करें। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि सुधार के प्रयत्नों में केवल श्री श्रीनिवास का प्रयत्न ही समिति को विशेष संगत प्रतीत हुआ। श्री श्रीनिवास ने बड़े प्रयत्न से अपनी प्रस्तावित वर्ण-माला में एकरूपता लाने का उद्योग किया है किन्तु फिर भी इस लिपि में अनेक त्रुटियाँ हैं। आपके प्रस्तावित-सुधार में सबसे पहली त्रुटि यह है कि इसमें नागरी

के अनेक वर्णों का रूप विकृत हो गया है। आपने अपनी वर्णमाला में समूचे अ की बारहखड़ी नहीं की है जो विज्ञान और व्यवहार दोनों की दृष्टि से भ्रामक और अशुद्ध है। इसके अतिरिक्त अल्पप्राण-वर्ण में ही प्राण जोड़कर आप महाप्राण बनाते हैं। यह प्राण-चिह्न इतना सूक्ष्म है कि उसके स्पष्ट न होने पर कुछ का कुछ पढ़ा जा सकता है।

छपाई को दृष्टि में रखकर डा० गोरखप्रसाद ने भी कतिपय व्यवहारिक सुझाव रखा है। आपका पहला प्रस्ताव यह है कि 'उ' ऊ, ए, ऐ तथा अं की मात्राओं को थोड़ा सा दाहिनी ओर हटाकर लगाया जाय। इससे यह लाभ होगा कि ७०० के बदले केवल १५० या यदि सभी वर्तमान संयुक्ताक्षर रखे जायँ तो २०० टाइपों से कम्पोज़िंग हो जाया करेगी। वर्तमान टाइपों से भी, बिना उनमें किसीप्रकार का परिवर्तन किए, इतने में कम्पोज़िंग का काम चल सकेगा। डा० प्रसाद का दूसरा सुझाव यह है कि छोटे [८ पाइंट से कम नाप के] अक्षरों से कम्पोज़ करने में शिरोरेखा विहीन अक्षरों से काम लिया जाय। आपने इसप्रकार के टाइप तैयार कर नमूने के लिए छपाई भी की है। इसमें सन्देह नहीं कि इन छोटे टाइपों के अक्षर स्पष्ट हैं और उन्हें पढ़ने में कठिनाई नहीं होती। इस टाइप में कोष आदि छापने से उनका मूल्य आधा हो जायेगा और छपाई के संसार में क्रान्ति मच जायेगी। आपके इस सुझाव में इसके अतिरिक्त कोई त्रुटि नहीं है कि शिरोविहीन नागरी लिपि सुन्दर नहीं प्रतीत होती।

उत्तरप्रदेश की सरकार ने भी आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में नागरी-लिपि-सुधार-समिति का निर्माण किया। इस समिति का संघटन ३१ जुलाई सन् १९४७ में हुआ था। समिति की कुल ६ बैठकें हुईं। केन्द्रीय-शासन की ओर से जो हिन्दुस्तानी-शीघ्रलिपि तथा लेखन-यंत्र-समिति सन् १९४८ में नियुक्त हुई थी उसके साथ भी इस समिति ने विचार-विमर्श किया। जो योजनायें इसे समिति के पास विशेषज्ञों ने भेजी थीं, उन पर भी समिति ने समुचित विचार किया तथा कुछ सज्जनों का साक्ष्य भी लिया। अन्त में इस समिति ने २५-५-४६ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में समिति ने अपने नकारात्मक तथा स्वीकारात्मक, दोनों प्रकार के सुझावों को प्रस्तुत किया। समिति के नकारात्मक-निश्चय निम्नलिखित हैं—

१. निश्चय हुआ कि श्री श्रीनिवास जी के एकमात्रिक और द्विमात्रिक आदि स्वरों के भेद समिति को मान्य नहीं हो सकते।

२. 'अ' की बारहखड़ी या काका कालेलकर के अनुसार 'अ' की स्वराखड़ी नहीं बनाई जा सकती।
३. 'इ' की मात्रा को छोड़कर अन्य मात्राओं के वर्तमानस्वरूप में परिवर्तन न किया जाय।
४. किसी व्यञ्जन के नीचे कोई दूसरा व्यञ्जन-वर्ण न लगाया जाय।
५. कुछ लोग नागरी-लिपि में सुधार के नाम पर आमूल-परिवर्तन करना चाहते हैं जो वांछनीय न होने के कारण उन 'सुधारों' पर विचार करने के लिए उनके प्रेषकों को बुलाने की आवश्यकता नहीं है।
६. केवल मशीन की सुविधा के लिए कोई अवांछनीय परिवर्तन न किये जायं।

ऊपर के नकारात्मक निश्चयों के देखने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समिति कितनी सावधानी से लिपि-सुधार के कार्य में प्रवृत्त हुई। अब नीचे समिति के स्वीकारात्मक सुझाव (सिद्धान्तगत अनुरोध) दिए जाते हैं—

साधारण लिपि संबन्धी अनुरोध

१. मुद्रण और टाइपराइटिंग की सुविधा के लिए आवश्यकतानुसार मात्राओं को थोड़ा हटाकर केवल दाहिनी ओर ही बगल में ऊपर और नीचे लगाया जाय। यथा, महात्मा गांधी, पटेल, कैकेयी, संपूर्ण (=सम्पूर्ण), आदि।

२. शुद्ध अनुस्वार के स्थान पर "०" शून्य लगाया जाय। व्यंजन के हलन्त ङ्, ञ्, ण्, न्, म् की जगह पर जहाँ प्रतिकूलता न हो (यथा; वाङ्मय, तन्मय) शून्य लिखा जाय। अनुनासिक स्वर के लिए "ँ" बिन्दी का प्रयोग हो। यथा—हँसना, किन्तु ह०स (पक्षी)।

३. शिरोरेखा लगाई जाय।

४. ऋ, लृ की मात्रायें भी अन्य मात्राओं के ही सदृश थोड़ा हटाकर दाहिनी ओर नीचे लगाई जायं।

५. जिन वर्णों का उत्तरार्ध, खड़ीपाई युक्त हो उनका आधारूप, खड़ीपाई निकाल कर बनाया जाय। यथा—,ग पूर्णरूप, ॰ अर्धरूप। उदाहरण—वक्र (वक्र), ध-म (धर्म), वस्त्र (वस्त्र)।

६. जिन वर्णों का उत्तरार्ध खड़ीपाई युक्त नहीं है उनका आधारूप, "क" और "फ" को छोड़कर, हल चिह्न मात्राओं के ही समान, बगल में,

नीचे की ओर, लगाकर बनाया जाय। यथा, 'ङ' का आधा रूप ङ्; राष्ट्र (राष्ट्र), विद्या (विद्या); ब्राह्मण (ब्राह्मण)।

७. ह्रस्व "इ" की मात्रा भी दाहिनी ओर लगाई जाय।

समिति के स्वीकारात्मक सुझाव (रूपगत अनुरोध)

(१) स्वरों में 'अ' का रूप अब केवल 'अ' रहेगा।

(२) व्यंजनों में छ, झ, ण, ध, भ, र, ल, ह के केवल निम्नांकितरूप ही स्वीकृत हुए हैं—

छ, झ, ण, ध भ, ल, न और ह।

(३) मात्राओं में ह्रस्व "इ" की मात्रा का रूप ी होगा।

(४) ख और श के स्थान पर ख और श से काम लिया जायेगा। इसप्रकार इन परिवर्तनों के हो जाने के अनन्तर हमारी वर्णमाला और अंकों का लिपि-सुधार-समिति की ओर से अनुरोधित रूप निम्नांकित ढंग का होगा।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ

ओ औ ऋ अं अः

क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व श

ष स ह श

विशेष अक्षर क्ष, ओ३म् तथा ळ होंगे।

(५) विराम-चिह्न यथासम्भव वे सब ले लिए जायँ जो इस समय अँग्रेज़ी में प्रचलित हैं। केवल पूर्ण-विराम के लिए खड़ीपाई स्वीकार की जाय।

यदि समिति के सुधार-सम्बन्धी ऊपर के सुझावों का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्टरूप से ज्ञात होगा कि समिति ने यथासम्भव कम से कम ही सुधार किया है। कतिपय सुधार-सम्बन्धी सुझावों के साथ-साथ समिति ने जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है वह है नागरी-लिपि का स्थिरीकरण [Standardisation]। इस समय विभिन्न-प्रदेशों में, कई वर्णों के दो-रूप लिखने

तथा छापने में चालू हैं। उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित-वर्णों के इस समय दो रूप प्रचलित हैं—

(१) अ छ झ ल र ह ध भ
(२) अ छ झ ल न ह ध भ

ऊपर नं० (१) के अक्षर प्रायः उत्तर-प्रदेश में प्रचलित हैं, किन्तु दूसरी पंक्ति के 'न', ध, तथा भ अक्षरों को छोड़कर शेष उत्तर प्रदेश से सर्वथा बहिष्कृत हैं, ऐसी बात भी नहीं है। इसके साथ नं० [२] के अक्षर बम्बइया टाइप में उपलब्ध हैं और निर्णय-सागर प्रेस की संस्कृत की तथा बम्बई से प्रकाशित होने वाली हिन्दी की पुस्तकें प्रायः इसी टाइप में छपती हैं। बम्बइया टाइप वाले अक्षर ही समस्त महाराष्ट्र में प्रचलित हैं और ध और भ तो स्पष्टरूप से गुजराती हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि एक ही अक्षर के इन दो-रूपों में से किस एक को स्वीकार किया जाय? प्रचलन की दृष्टि से नं० (२) के अक्षरों का ही स्वीकार करना उचित है और समिति ने यही किया भी है। 'झ' के इस दूसरे वाले रूप को इसलिए स्वीकार करने की जरूरत है कि पहली पंक्ति के 'झ' के आगे वाले भाग के टूटने से यह 'भ' बन जाता है और दूसरी पक्ति के घुंडी वाले ध और भ को इसीलिए मान लेने की आवश्यकता है कि पहली पंक्ति के ध और भ के घ एवं म में परिणत होने की सदैव आशंका रहती है। स्थिरीकरण की दृष्टि से समिति के ये सुझाव बड़े काम के हैं।

नरेन्द्रदेव कमेटी की रिपोर्ट के बाद, उत्तर-प्रदेश-शासन ने नागरी-लिपि में सुधार-सम्बन्धी-सुझावों पर विचार करने के लिए, लखनऊ में, विभिन्न राज्यों के मंत्रियों तथा कतिपय चुने हुए विद्वानों की एक सभा की। जहाँ तक, अक्षरों के रूप से सम्बन्ध है, इस सभा में आमंत्रित विद्वानों ने, एक-दो परिवर्तनों के साथ, नरेन्द्रदेव-समिति द्वारा सुझाए हुए रूपों को ही स्वीकार कर लिया। इनमें से एक परिवर्तन तो 'ख' के सम्बन्ध में है। इसके वर्तमान रूप में दोष यह है कि इससे र और व का भ्रम हो जाता है। यही कारण है कि इस सभा में समवेत विद्वानों ने इसे यह रूप [ख] दिया है। नरेन्द्रदेव-समिति ने 'क्ष' को स्वतंत्र अक्षर के रूप में स्वीकार नहीं किया था, किन्तु लखनऊ की समिति ने इसकी स्वतंत्रसत्ता स्वीकार कर ली है। नरेन्द्रदेव-समिति ने ह्रस्व 'इ' की मात्रा का जो रूप दिया था उसे इस समिति ने बदल दिया; यथा—हीन्दी [=हिन्दी]। संयुक्ताक्षरों के सम्बन्ध में इस समिति ने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

तथा नरेन्द्रदेव-समिति के सुझावों को प्रायः उसीरूप में स्वीकार कर लिया। लखनऊ की समिति में यह भी निश्चय हुआ था कि विभिन्न-राज्यों में यह सुधरी-लिपि ही प्रचलित की जायेगी और उत्तर-प्रदेशीय-शासन की ओर से कई आरम्भिक पुस्तकें इसी लिपि में छापी भी गई। यह आशा की गई थी कि हिन्दी-भाषी अन्य-सरकारें भी इस कार्य में उत्तर-प्रदेश का अनुसरण करेंगी, किन्तु इधर जो समाचार मिल रहे हैं उनसे ऐसा लग रहा है कि अन्य प्रदेश के शासन इस सुधरी हुई लिपि को उतने उत्साह के साथ नहीं अपना रहे हैं। उत्तर-प्रदेश की जनता भी इस लिपि को नितान्त शंका की दृष्टि से देखती है।

जहाँ तक सुधरे हुए अक्षरों के रूप का प्रश्न है, लोगों को उतनी आपत्ति नहीं है, किन्तु ह्रस्व 'इ' की मात्रा तथा संयुक्ताक्षर [विशेष रूप से 'र' के साथ संयुक्तवर्ण, यथा—प्रेम (=प्रेम), शीघ्रता (=शीघ्रता) क्षेत्र (=क्षेत्र), आदि के रूप देखकर लोग बुरी तरह भड़कते हैं। लिपि का सम्बन्ध, वास्तव में समग्र साक्षर-जनता से होता है अतएव किसी लिपि को जनता में प्रचलित करने लिए यह आवश्यक है कि उसकी सहानुभूति प्राप्त करके ही आगे बढ़ा जाय।

अनुक्रमणिका (१)

भाषा तथा लिपि

अनुक्रमणिका (२)

ग्रंथ तथा शिलालेख आदि

अनुक्रमणिका (३)

स्थानवाची-नाम

अनुक्रमणिका (४)

व्यक्तियों के नाम